प्रेमघन सर्वस्व

[द्वितीय भाग]

गोलोकवासी

चौधरी पं० बदरीनारायण उपाध्याय

'प्रेमघन', 'अभ्र' का गद्य काव्य संग्रह

संपादक

श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय

श्री दिनेश नारायण उपाध्याय

एम० ए०, 'साहित्यरत्न'
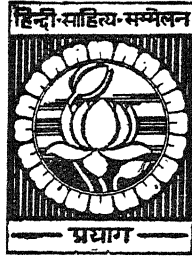
२००७

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

स० २००७ वि०
प्रथमावृत्ति

मूल्य १०)

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

उपाध्याय पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

(सभापति, तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता, १९६९)

प्रकाशकीय

श्री प्रेमघन जी भारतेन्दु मंडल के सब से अधिक निकट के प्रतिभावान् नक्षत्र थे--रचना शक्ति, जीवन-पद्धति और यहाँ तक कि वेश-भूषा में भी भारतेन्दु जैसे। इस दृष्टि से पंडित बदरी नारायण चौधरी की कृतियाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। उन्हीं की कृतियों का यह संग्रह प्रेमघन सर्वस्व आपके सामने है। इसके प्रथम भाग में काव्य और इसके दूसरे भाग में गद्य-सामग्री संकलित कर हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखते हुए हमें संतोष है। आशा है, सहृदय पाठक इस गद्य-संग्रह का उचित स्वागत करेंगे।

कार्तिकी पूर्णिमा, २००७ }

कृष्णदेव प्रसाद गौड़,
साहित्य मंत्री

विषय सूची

विषय		पृष्ठ संख्या

भूमिका

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में वाणी के जिन साधकों ने हिन्दी को प्राणदान दिया है, उनमें प्रेमघन जी का अन्यतम स्थान है, वे आधुनिक हिन्दी के उन उन्नायकों और प्रवर्तकों में से हैं, जिन्होंने स्वान्तः सुखाय ही हिन्दी की सेवा द्वारा हिन्दी काव्यमंडल में अपना अमिट स्थान प्राप्त किया।

प्रेमघन और भारतेन्दु हिन्दी साहित्य के तत्कालीन धुंधले आकाश में प्रतिभा सम्पन्न दो नक्षत्र थे जिनके प्रकाश से तत्कालीन टिमटिमाते हुए और नक्षत्र प्रकाश पाते थे।

मनुष्य के लिए अतीत की स्मृति में स्वाभाविक आकर्षण है। मनुष्य अतीत की स्मृति के खोज में, उसके रहस्यों के उद्‌घाटन में लोकोत्तर आन करता है। वही उसका मुक्तिलोक है जहाँ उसे अपना प्राचीन गौरव, प्राचीन आदर्श, प्राचीन परम्परा का मनोहर चित्र मिलता है। जिसमें उसे अपनेपन का गर्व, और अपने अस्तित्व की आस्था का पता चलता है। जहाँ, अतीत मनुष्य का मुक्तिलोक है वहाँ वर्तमान उसका कार्यक्षेत्र है, समय का चित्र है–जो अतीत सा मनोरम तो नहीं है, पर चिर सत्य है, जिसमें अपने व्यक्तिगत जीवन की मधुर और कटु अनुभवों की झाँकी है। "अवश्य ही यह अपूर्व और अनोखा मेला काशी के गौरव और गर्व का हेतु है, क्योंकि हम जानते हैं कि इस चाल का दूसरा मेला न कदाचित् भारत भर ही में वरञ्च सारे संसार में भी कहीं नहीं होता होगा।।इस कारण कौतुक प्रिय लोगों के लिए इसे एक बार देख लेना मानो एक मुख्य विषय है, और नृत्य गान-रूप रसिक प्रेमियों के लिए तो निःसन्देह यह अवसर अलभ्य लाभ का वा यों भी कहिए कि यह काल कराल काल ही है। जैसा कि किसी ने कहा है—"

"डूब जायें कहीं गंगा में न काशी वाले,
नौजवानों का सनीचर है, "ये बुढ़वा मंगल"

यह है वर्तमान की मनोहरता। पर अतीत की मृदु स्मृति इससे कम प्रभावशालिनी नहीं है, लेखक अपने अतीत पर कम गर्वान्वित नहीं होता:—

"कैदी के सम रहत सदा आधीन और के।
घूमत लुंडा बने शाह शतरंज तौर के॥"
"जीर्ण जनपद"

अतीत की मधुर स्मृति और वर्तमान की वास्तविकता का जो समन्वय भारतेन्दुयुग में हुआ है वह भारतेन्दु युग की देन है। प्रेमघन जी ने अपने काव्य में जिस प्रकार व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति को संनिविष्ट किया है, उसी प्रकार मानव जीवन के स्मृत्याभास के चित्र अपने काव्य जीर्ण जनपद, "अलौकिक लीला", "कलिकाल तर्पण" आदि कविताओं में प्रतिष्ठित किया है। कवि के अतीत स्मृति वाले काव्यों में समय की गहरी छाप है, क्योंकि उसकी व्यापक मनोदृष्टि जगत और जीवन की ओर पड़ी है।

इसी से लेखक समय का सच्चा आलोचक बन जाता है उसके हृदय में उदारता, भावुकता तथा गंभीरता की प्रधानता है। देश की व्यापक दुर्व्यवस्था से कवि हृदय क्षुभित है उसके हृदपटल पर भारतीय भव्याकाश के भग्नावशेषों का स्मृतिचित्र अंकित है। सच है सुख और दुख के बीच का वैषम्य जैसा मार्मिक और हृदय स्पर्शी होता है वैसा ही उन्नति और अवनति, प्रताप और ह्रास के बीच का। इस वैषम्य के प्रदर्शन में प्रेमघन जी ने भारतीय पतनकाल के असामर्थ्य, दीनता, विवशता, उदासीनता के करुणोत्पादक चित्र को अपनी कविताओं में रख कर अपनी काव्यभूमि को चिरंतनता प्रदान की है।

वहीं पर साथ ही साथ ऐश्वर्य काल के प्रताप, तेज-पराक्रम के वृत्त स्थान स्थान पर रख कर कवि ने अपनी इन्हीं आशाओं पर उज्ज्वल भविष्य के मंगलमय मंगल का उच्च प्रासाद निर्मित किया है।

भारतीय परिस्थितियों के गंभीर चिंतन के अतिरिक्त प्रेमघन जी को जब कल्पना जगत् पर हम विचरण करते पाते हैं, तब कवि भावपक्ष तथा विभावपक्ष से संयुक्त प्रेम काव्य की परम्परागत भावनाओं का चित्रण करता हुआ, प्रेम की विविध दशाओं को, (आलम्बन और उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत)

मानव जीवन के नित्य और सामान्य स्वरूप से युक्त कर अपने काव्य को अमर करता हुआ दिखाई पड़ता है, जिससे हमें कवि के व्यापक मनो दृष्टि का परिचय मिलता है।

जिस प्रकार प्रेमघन जी के काव्य-कानन में कविता-कामिनी अपने पुष्प से भारतेन्दु युग की काव्य-वाटिका को सुवासित करती है, उसी प्रकार उनका गद्य काव्य भारतेन्दु युग में प्रेमघन जी को गद्य काव्य का उत्कृष्ट रचयिता सिद्ध करती है।

प्रेमघन जी का काव्य-क्षेत्र संकुचित न था। उनके समक्ष तत्कालीन सभी परिस्थितियाँ उपस्थित थीं, और उनकी बहुरंगी प्रतिभा सर्वतोमुखी होकर हिन्दी काव्य कानन में "कलम की कारीगरी" दिखाती थी। हिन्दी गद्य के इतिहास की ओर जब हमारा ध्यान आकृष्ट होता है, उस समय हमें भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी गद्य के विकास का प्रादुर्भाव भले ही दिखाई पड़े पर गद्य का कोई स्थिर स्पष्ट रूप तब तक नहीं दिखाई पड़ता है।

प्रेमघन जी ने गद्य को जो स्थिरता प्रदान की है, उसमें जो प्रौढ़ता और परिष्कार किया है वह उनके काव्य के अप्रकाशित होने के कारण हिन्दी संसार के समक्ष न आ सका इसका उत्तरदायित्व हम पर विशेष रूप से है।

काव्य का मानव जीवन से अन्यतम् सम्बन्ध है, सच पूछिए तो काव्य में मानव जीवन ही विविध रूपों में वर्णित रहता हैं। प्रेमघन जी का काव्य उनके जीवन की विविध घटनाओं से युक्त है जो समय समय पर उनके "कलम की कारीगरी" के रूप आनन्द में कादम्बिनी और नागरी नीरद की छटा से हिन्दी काव्याकाश को सुशोभित करता है।

भारतेन्दु युग नवीन और प्राचीन भावनाओं का संधि काल था। यदि एक ओर कवि प्राचीन परम्परा की महानता पर गर्वान्वित होता है, तो दूसरी ओर उसे नवीनता आकृष्ट करती है, पर अपने आदर्श और गौरव का जहाँ पर भी त्याग दिखाई पड़ता है, वहाँ वह क्षुभित होता है और अपने देश काल और जीवन की अनेक समस्याओं को लेकर अपने लेखों द्वारा अपनी भावनाओं को देश और समाज पर प्रकाशित करता हुआ दिखाई पड़ता है। लेखक प्राचीन आदर्शों के पोषक के रूप में जहाँ दिखाई पड़ता है वहाँ कहता है:—

"हम लोग वीर वंश के हैं, भारत वीर देश है, यद्यपि इसमें किसी को सन्देह हो तो, है के स्थान पर था कह देने से कदाचित् फिर जिह्वा संचालन

का अवसर उसे न रहेगा क्योंकि महाभारत भारत ही में हुआ था, और कई सौ वर्ष तक रुधिर की नदियाँ यहीं प्रवाहित होती रही हैं। उस समय जब कि संसार में लोग केवल ढेले पत्थर और लाठी सोटे ही को अस्त्र शस्त्र अनुमान करते थे, हमारे यहाँ धनुर्वेद के आचार्य विद्यमान थे। सुतराम् यदि हम साहंकार यह कहें कि हम वीर वंश हैं, तो कोई वारण करनेवाला नहीं है। हाँ चाहे कोई मुस्करा कर यह क्यों न कह दे कि "हमारे दादा ने घी खाया था, हमारा हाथ सूंघ लो" की कहावत के अनुसार पुरानी कहानी क्यों गा रहे हो आज अपनी दशा देखो। इस उदाहरण से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि लेखक प्राचीन आदर्शों के प्रति गर्वान्वित होकर अपने अतीत की स्मृति में अपने प्राचीन गौरव पर गर्वान्वित होता है, और अपने देशवासियों को गर्वान्वित होने के लिए उत्साहित करता है। वह प्राचीनता का पोषक है।

जहाँ पर उसे अपने देश वासियों में इस भावना का ह्रास दिखाई पड़ता है, और वे आधुनिकता की ओर अधिक प्रभावित हो अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति अवहेलना की बुद्धि रखते हैं; उस समय वह क्षुब्ध हृदय से अपनी आर्तवाणी में अपने अद्भुत निबंध गुप्त गोष्ठी गाथा में अपने अनन्य मित्र ज्योतिधारी मिस्टर निशाकर धर बेरिस्टर एटला के चरित्र चित्रण में उनके चरित्र द्वारा इस भावना को और स्पष्ट करते हैं। "जोकि एक बड़े बाप के बेटे विलायत जाकर वहां की सुहावनी सभ्यता लख अब प्रायः सभी अच्छे होटलों के खाने का स्वाद चख, निज देश में आ जाति से वहिष्कृत हुए हैं।

रात दिन इन्हें अपनी मेम साहिबा की सुश्रूषा करते बीतता, अथवा उन्हें हवा खिलाने, और गेंद खिलाने मित्रों, से मिलने क्लब कमेटी, थिएटर और होटलों में मिलने, वा कमरा और पाईबाग सजाने, गाड़ी घोड़े और कम्पाउन्ड साफ़ कराने, बिल और नौकरों का हिसाब चुकाने, अथवा शाम्पेन के सुरूर में उनसे बतलाने और परस्पर ज्ञान और गुण सीखने सिखलाने से जो समय बचता उसमें उन्हें प्रथम तो फैशन का विचार आवश्यक रहता है।

कभी तो इधर झुके तो शास्त्र और पुराण ही की निन्दा कर ब्राह्मणों को गाली दे दे कर अप्रान कर चले, और बात बात में हम लोगों को जंगली और असभ्य बनाने लगे। आप धर्म तो कोई भी नहीं मानते क्योंकि

यह भी मानो आजकल की अंग्रेजी सभ्यता का सार है, परन्तु हाँ ब्रह्मसमाज ......से कुछ सहानुभूति है और कहते हैं कि जो जितना अपने पुराने धर्म से आगे बढ़ता है उतना ही हम उसको धन्य समझते हैं।"

आपका चरित्र एक विचित्र ही चरित्र है, वास्तव में भारतीयता का इनमें नाम ही नहीं है। भारत को वे परम असभ्य और जंगली देश समझ कर उसके निवासियों को परम दलित और पराजित जाति की सम्पत्ति मानते हैं। लेखक इनके आचरण पर क्षुब्ध होता है और अपने देश में भारत के प्रति इन भावनाओं के उदय पर क्षुब्ध होकर स्थान स्थान पर भारतीयों को अपनी प्राचीन गरिमा और आदर्श की ओर आकृष्ट कर अपने देश और जाति के उन्नति का प्रार्थी होता है।

प्रेमघन जी ने अपने काव्य में चा हे वह गद्य हो चाहे पद्य इस भावना को जितनी प्रधानता दी है उतना भारतेन्दु युग के किसी अन्य लेखक के अन्तर्गत हमें इतने स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में नहीं दिखाई पड़ता है। कवि प्रेमघन भारत की दुर्दशा पर बोल उठता है :—

"मरे विवुध नर नाह सफल चातुर गुन मंडित
विगरो जन समुदाय बिना पथ-दर्शक पंडित
सत्य धर्म के नसत गयो बल बिक्रम साहस
विद्या बुद्धि बिवेक विचार रह्यो जस ।"

प्रेमघन जी ने अतीत/वर्णन के द्वारा देश में उत्साहवर्धन का कार्य प्रारम्भ किया। इसकी आवश्यकता कवि को इसलिए प्रतीत हुई कि कवि अतीत के वर्णन द्वारा यदि एक ओर भारत की अधोगति का चित्रअंकित करता, तो दूसरी ओर जन साधारण के अन्तर्गत अतीत के भावपूर्ण आख्यानों की स्मृति का जागरण करा कर जनता में उत्साहवर्धन का कार्य करता था।

प्रेमघन जी में भारतीयता कूट कूट कर भरी थी। कवि भारत का, भारतीयता का और भारत-हितैषियों का परम पोषक था। वह भारत उन उन्नायकों और देशभक्तों में था जिसे अपनी मर्यादा का सदा ध्यान था।

दादा भाई नौरोजी के ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में काला कहे जाने पर कवि हृदय क्षुब्ध हो बोल उठा :—

"कारन ही के कारन गोरन लहत बड़ाई ।
कारन ही के कारन गोरन लहि प्रभुताई ॥"
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे
ता सो कारे कारे शब्दहुँ पर है बारे ॥"

आत्मसम्मान की इस भावना के अन्तर्गत प्रेमघन जी का विस्तृत मातृ-भूमि प्रेम चित्रित है।

प्रेमघन जी उस व्यक्ति को मनुष्य नहीं समझते जिसे अपनी जन्मभूमि प्रिय नहीं हैं :—

"वह मनुष्य कहिबे के योग न कबहुं नीच नर।
जन्म-भूमि निज नेह नाहि जाके उर अन्तर ॥"

जिस प्रकार प्रेमघन जी ने अपनी कविता द्वारा जन्म-भूमि की प्रशंसा की है वैसे ही अपने अग्रलेखों तथा निबंधों द्वारा देश प्रेम की भावना को कूट कूट कर अपने काव्य में भर दिया है। प्रेमघन जी ने महारानी विक्टोरिया के राज्य-काल की जो प्रशंसा की है वह चाटुकारिता नहीं थी। कम्पनी के राज्य काल में जो अराजकता और अस्थिरता थी, नवाबी के समय के लूट-पाट के जो चित्र उनके समक्ष उपस्थित थे, उससे तुलना करने पर जब विक्टोरिया के समय में उन्हें सुव्यवस्था दिखाई पड़ी। उसका प्रकाशन तत्कालीन समय की माँग थी। पर लेखक जहाँ प्रशंसा करता है वहाँ उसे तत्कालीन समय की राज्यनीति तथा कूटनीति का भी ध्यान था, क्योंकि वह कहता है :—

"अंग्रेज राज सुख साज सबै अति भारी
पै धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी ॥"

यह थी उनकी व्यापक मनोदृष्टि! इसी प्रकार नेशन कांग्रेस की दुर्दशा शीर्षक लेख में प्रेमघन जी कांग्रेस की फूट पर क्षुब्ध होते है, पर उन्हें अंग्रेजों की कूटनीति की जिससे देश के उन्नति में बाधा पड़ती है उसको भी स्पष्ट शब्दों में कहने में कोई हिचक नहीं दिखाई पड़ती :—

"वास्तव में अंग्रेजी शासन का अभिप्राय निस्वार्थ भाव से केवल भारतोन्नति है, परन्तु बहुत दिन आशा लगा कर भी जब देख पड़ा कि वे मनोहर बातें केवल कहने ही भर को थी, कार्य में आने वाली नहीं, वरञ्च उसके विरुद्ध अब प्रत्यक्ष देश के अर्थ निपट हानिकारक अनेक कार्य होते ही चले

जाते और सामान्यतः प्रजामत के विरोध से कोई फल नहीं होता, तब उसके प्रतीकार, वा देशोद्धार का अर्थ इस नेशनल कांग्रेस की सृष्टि की जो स्वदेश दुर्दशा देख कर असन्तुष्ट देश के शिक्षित समुदाय की महासभा थी जिसके द्वारा बीस वर्ष चिल्ला कर साम्राज्य से न तो कुछ सच्चा फल और न प्रतिष्ठा ही पाकर, हताश अनेक बाधाओं को झेलता अपनी जान पर खेलता देश में यह नवीन दल जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करता ही चला जाता जिसमें तीन ही वर्ष में देश की दशा ही पलट दी, उत्पन्न हुआ।"

जिस प्रकार कांग्रेस के उद्भव से लेखक प्रसन्न होता है उसी प्रकार वह तत्कालीन नर्म और गर्म दल के फूट के कारण कांग्रेस की फूट पर क्षुभित हो कह पड़ता है कि "निदान कांग्रेस टूट गई उसके लिखते लेखनी कम्पित होती है। सुनने के अर्थ श्रवण सन्नद्ध नहीं होते। सुनकर वरञ्च वास्तव में टूट जाने पर भी जिससे चित्त विश्वास करने पर तत्पर नहीं होता, किन्तु हाय भारत के भाग्य! दीन सन्तानों ने इस परम अनिष्ट कृत्य को करी डाला जिस कारण समस्त भारत लज्जित और शोक मूर्छित हुआ है" इस प्रकार प्रेमघनजी को भारतीय भावनाओं में उत्तरोत्तर चमत्कार दिखाई पड़ा, पर इतना मानना पड़ेगा कि प्रेमघन जी भारतीय स्वदेश जागरण के उन जागरूकों में से एक हैं जिन्होंने अपने देश के समक्ष जिस गान को गाया उसका प्रभाव तत्कालीन जन समुदाय पर ही न पड़ा, वरञ्च उस समय के क्रान्तिकारी वर्ग पर भी पड़ा और यह स्पष्ट हो गया कि अंगरेजों के चकमें में पड़े हमको भारतीय स्वतंत्रता के लिए स्वयम् खड़ा होकर अपने उन दुर्व्यसनों और दुर्व्यवस्थाओं को ठीक करना है जिनके कारण स्वतंत्रता भारत से भागती है।

चेतना के इस युग में प्रेमघन जी की दृष्टि समाज और धर्म पर भी पड़ी और प्रेमघन जी ने अपने गद्य तथा पद्य काव्य को इन भावनाओं से प्रभावित कर तत्कालीन समाज तथा धर्म की समुचित व्यवस्था का चित्र ही बना डाला। प्रेमघन जी के काव्य पर तत्कालीन स्वामी दयानन्द सरस्वती के साहचर्य का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा, "विधवा विपत्य वर्षा" इसका एक अपूर्व उदाहरण है। जिस प्रकार विधवा विपत्ति वर्षा में प्रेमघन जी विधवा की दशा का वास्तविक चित्र चित्रित करते हैं उसी प्रकार हिन्दू धर्म के आडम्बरों, अनाचारों, तथा कुविचारों की भी बड़ी कटु आलोचना करते हैं। प्रेमघन जी के पद्य के अन्तर्गत आर्य समाज के समालोचनात्मक आलोचना खंड

ने, भजन की प्रणाली का रूप नहीं ग्रहण किया वरञ्च उनकी विशेषता मधुर वाणी द्वारा भावोपदेशों के व्यक्त करने की प्रणाली का गहन करना है।

प्रेमघन जी ने एक ओर तो अपने साहित्य मे हिन्दू धर्म के आडम्बरों, तथा अनाचारों की कटु आलोचना की, तो दूसरी ओर हिन्दूधर्म को नवीन विचारों की ओर अग्रसर कर, नवीन उन्नतिमय मार्ग का प्रदर्शन कराया.—जिसके फल स्वरूप प्रेमघन जी के साहित्य मे सामाजिक लेखों की विशेष प्रधानता दिखाई पडती है। प्रेमघनजी सामाजिक भावनाओं को कितने स्पष्ट रूप मे व्यक्त करते हैं:—"आप यदि हमारे पश्चिमीय विद्या विशारद नवीन ज्योतिधारी युवक समूह चमकीले पीतल के झूठे गहने और भड़कीले गिलट के बरतनों के समान केवल ऊपरी तडप झडप रखने वाली पश्चिमीय सभ्यता पर मोहित न हो, आपने वास्तविक सदाचार के सच्चे सुनहरे और जड़ाऊ गहने जिन पर मूर्खता की मैल जम गई है देकर उसे मोल न लेते, वे इस प्राचीन प्रसाद तुल्य समाज का सस्कार झाड पोंछ मरम्मत वा चूना कलई करने के बदले गिरा कर एक नया फूस का अगरेजी बगला बनाने के अर्थ न विह्वल होते। यदि वे भारत को यूरप न बना कर केवल वहाँ के उत्तम विषयों के समूह से इसकी शोभा वृद्धि करने मात्र का मनसूबा रखते, यदि वे स्वयम् क्रिस्तान वा म्लेच्छाचारी न बन उन्हे केवल उत्तम गुणों ही से सुसम्पन्न हो आत्मोन्नति के लोलुप लखाई पड़ते, यदि वे अपने समाज मे मिले हुए स्पष्ट और प्रकाश भाव से आन्दोलन कर उसे आगे न बढाने के अर्थ बद्धपरिकर दिखाते, स्वयम् उसे छोड अलग होने को यदि वे इस नौका की पतवार बन पीछे से उचित मार्ग से ले चलने के अर्थ उद्योगी होते, तो अवश्यमावश्य इसकी दशा शीघ्र ही प्रशसनीय होती, परन्तु वे तो उसे छोड अपनी और उसकी दोनों की दुर्दशा ही को अपनी इति कर्तव्यता मानते हैं, वे नहीं चाहते कि हम अपने उद्योग से इस पुरानी वाटिका के कटक निकाल प्राचीन फूल फल वाले वृक्षों को गोड और सींच कर तथा नवीन उत्तमोत्तम वृक्षों से भी इसे युक्त करें, वरञ्च एक साथ सबको काटकर केवल दूब लगा कर एक रग हरा कर दिखलाये जैसे कि स्वाभाविक सब भूमि हरी है। ठीक यही दशा आजकल के भारतीय समाज सस्कार वा धर्म सस्कार व्यक्ति और समाजों की भी है, जो वास्तव में देश की रही सही सम्पत्ति आर्य मर्यादा और कायरता चिन्ह चक्र को भी मिटा देगी।"

तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का प्रेमघनजी के काव्य में जैसा समुचित चित्रण हुआ है, वैसा ही तत्का-

लीन साहित्य निर्माताओं के काव्य में कम दिखाई पड़ता है। प्रेमघनजी की बहुमुखी प्रतिभा वहाँ भी थी और उसी के कारण हमें उनके काव्य में भी तत्कालीन प्रत्येक विषयों पर उनका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

सामाजिक भावनाओं के साथ साथ उन शाश्वत भावनाओं का आपने अपने काव्य में समावेश किया है, जो चिरंतन काल से मनुष्य के अन्तर्गत होती हुई काव्य में आई है। यदि लोक गीतों द्वारा कवि ने जनता के हृदय को पहचाना तो जन साधारण की भाषा में कजली की मधुर तानों द्वारा जागरण के गान मुखरित किये।

प्रेमघनजी गान-विद्या के आचार्य थे, उन्हें साहित्य और संगीत दोनों का पूर्ण ज्ञान था। वे जानते थे कि साहित्य और संगीत दोनों का चिर साहचर्य तभी सम्भव है जब कवि साहित्य को संगीत के आवरण से मुक्त कर मानव जीवन के उत्थान, पतन, उत्कर्ष,अपकर्ष नाना लीलाओं के गान में देश-व्यापी भावनाओं को मुखरित करें। समाज का परिज्ञान प्रेमघनजी को इतना अधिक था कि उन्होंने अपने समय में एक चतुर चितेरे की भाँति देशकाल की सम-सामयिक परिस्थितियों का पूर्ण चित्रण तो किया ही, वरञ्च उन्होंने एक उप-देशक की भाँति समय समयपर अपने पत्र तथा पत्रिकाओं द्वारा जनता को सदैव सद्मार्ग निर्दिष्ट करके उनके हृदय में समय का वास्तविक तथा सच्चा परिज्ञान करा दिया।

लोक-हित की भावना उनके काव्य में जितनी प्रचुरता से प्रस्फुटित हुई है उतनी हमें तत्कालीन लेखकों में कम मिलती है। इस भावना के अन्तर्गत उनके पद्य, गद्य, नाटक, सभी हैं वह यह मानते थे "बिगरो जन समुदाय बिना पथ-दर्शक पंडित" और साथ ही साथ उन्हें बृटिश शासन का भी बड़ा कटु अनुभव हुआ, कवि हृदय बोल उठा "ब्रिटिश राज्य स्वातंत्रमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ।"

भारतेन्दु काल हिन्दी के गद्य के विकास का प्रथम प्रभात सिद्ध हुआ है। भारतेन्दु के पहले गद्य का ब्रजभाषा रूप भले ही था पर गद्य को चिरंतनता उस समय तक न मिली। भारतेन्दु काल में खड़ी बोली की कविता का जो उदय हुआ, और प्रेमघनजी ने जिस प्रकार खड़ी बोली का परिमार्जन किया वह उनके काव्य से स्पष्ट है और उसके लिए उनका भगीरथ प्रयत्न श्लाघ्य है। पर खड़ी बोली पद्य के साथ साथ खड़ी बोली गद्य का भी प्रेमघनजीने

पूर्ण परिष्कार किया और जिसके फल स्वरूप गद्य-काव्य में उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक लेख ही न लिखे वरञ्च उन्होंने गद्य के अन्तर्गत सजीवता का भी संनिवेष किया। 'बेसुरी तान' शीर्षक लेख के अन्तर्गत जिसमें उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना की है सजीवता का सुन्दर उदाहरण मिलता है। "प्रिय पाठकों, हमने जो अपने पत्रिका की प्रथम संख्या में लिख दिया था कि (सच पूछो तो जब से कवि वचन सुधा से सुधा का स्वाद स्वधा सुरपुर में जा बसा और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के चन्द्रिका में चमकीलापन और मनोहरता का गुन तमाम कर डाला, और उर्दू की जो उने आधार हो रही हैं होनहार-दुर्दशा सोच, ये मारे सोच के अभी से विह्वल ह गए। क्या करें, क्यों न चिन्ता करें और इस छुपे-मुंदे मरम के खोल देने पर क्यों न कड़बड़ायें। पर अब टुक श्रीमान् महाराज शाहजहाँ के खानदान की बची बचाई सब कुछ मुगलानी उर्दू की दुख्तरे नेक अख्तर बीबी चन्द्रिका का जौहर जिसका इस वृद्धावस्था में विद्यार्थी शौहर हुआ है। देखिये वाह वह!! क्या क़हना है यह चटक मटक, ये सुभान अल्लाह मैं सदके। मैं कुर्बान। माशा अल्लाह। चश्में बददूर। बीबी तुम्हारे इस सिन व साल पर इन नये नखरों ने तो वल्लाह बस बेतरह आफ़त मचा दिया, वाह क्या बोली है कि रोने में भी जो टटोली है पर तिस पर भी आपके बड़े भाई हजरत मौलाना कवि वचन सुधा साहब की जिनका दिमाग़ उर्दू की बू से फटा चाहता है यों फरमाते हैं कि "अगर कादम्बिनी हट जाय तो चन्द्रिका दिखाई पड़े, सच है कादम्बिनी से चन्द्रिका सदा दबी रहती है" गद्य के इस आविर्भाव काल में प्रेमघनजी ने प्राचीन प्रणाली का अनुसरण नहीं किया। उन्होंने न तो लल्लू लाल के ब्रजभाषापन को अपनाया न सदल मिश्र के पूर्वी पन को राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन तो उन्हें असह्य ही था, आपने अपना नवीन मार्ग ही प्रतिष्ठित किया। आपकी विशेषता जिस प्रकार पद्य के अन्तर्गत खड़ी बोली की प्रतिष्ठा से है उसी प्रकार गद्य के अन्तर्गत भी।

आपने अपने गद्य-काव्य में अलंकारिकता को प्रधानता दी है क्योंकि उनका ध्यान 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' पर सदैव रहता था अनुप्रास उन्हें गद्य के अन्तर्गत भी उतना ही आवश्यक समझ पड़ता था जितना कि पद्य में। भाषा में श्लेषात्मकता लाकर प्रभावात्मकता उत्पन्न करना, हास्य और परिहास, व्यंग और विनोद, उनकी शैली के प्रमुख अंग थे। आपने सदा अपने काव्य में चमत्कार और अनूठेपन की विशेषता रक्खी

है। कितना सुन्दर उदाहरण अलंकारिक भाषा का त्रिवेणी तरंग में मिलता है।

"दुर्ग के पूर्व त्रिवेनी अपने गौरवयुक्त झाँकी को कोहिरे से आवेष्टित किए हुए है जान पड़ता है कि अकबर का प्रबल प्राचीन दुर्ग विद्रोही जहाजों से जो अपने विशाल पताकों को चढ़ाए हुए है आक्रमित है। बाल पतंग की अरुण किरणें जो भूसी के वृक्षों से विस्फुटित हो कोहिरे में धंसी है विद्रोही सेना प्रयुक्त लक्ष अग्नि बाण सम दुर्ग को लक्ष्य किए सी जान पड़ रही है। सारी त्रिवेणी मानों तोपों के धूम्र उद्गमन करने से अन्धकारमय हो गई है। दुर्ग के पूर्वीय फाटक से वटराज के पूजनार्थ घुसते आर्य्य सन्तानों को देख यही अनुमान होता है कि विद्रोही बल ने दुर्ग को पराजय किया"।

जिस प्रकार गद्य का अलंकारिक रूप उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है और लेखक की व्यापकता तथा परिमार्जित भाषा का आभास इससे स्पष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्रेमघन जी के ही शब्दों में भाषा कैसी होनी चाहिए, इसका स्पष्टीकरण आज से बहुत दिन हुए या यों कहिए कि आनन्द कादम्बिनी के प्रथम प्रादुर्भाव के साथ ही साथ संवत् १८३६ वैक्रमीय में विज्ञप्ति के रूप में इस प्रकार निकला "और ईश्वर ने चाहा तो क्या आश्चर्य कि........समस्त संसार को एकमात्र राज राजेश्वरी महारानी संस्कृत देवी की चिरंजीवी बालिका नागरी कुमारी के नवीन बानक और हाव भाव कटाक्ष की चोखी छुरियों से बीबी उर्दू को जो सदैव अपनी छल-क्षुद्रता के कारण सम्मान के अभिमान से नाक भौं चढ़ाया करती हैं, बाँये हाथ से नाक पकड़ दाहिने की मदद से काट कर चिहरा सफा चट्ट कर के तब छोड़ूं और अधिक कहाँ तक कहूँ भगवान ने चाहा तो कर के दिखलाता हूँ"।

इस उत्साह के साथ प्रेमघन जी ने हिन्दी काव्य जगत में पदार्पण किया और अपनी लेखनी द्वारा अपने सद्उद्देशों की पूर्त्ति की।

प्रेमघन जी कवि ही नहीं थे वरञ्च वे उच्च कोटि के हिन्दी के गद्य लेखक भी थे उनका साहित्य पद्य में तो बहुमुखी था ही, पर गद्य में भी आपोंने निबन्ध, आलोचना, नाटक, प्रहसन, लिख कर तत्कालीन परिस्थितिया का अपने निबन्धों तथा नाटकों में बड़ी पटुता से निर्वाह किया है।

आपके निबन्धों का जब हम वर्गीकरण करते हैं तब वे व्यक्तिगत सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा आलोचनात्मक निबंध के रूप में मिलते हैं

व्यक्तिगत लेखों के अन्तर्गत प्रेमघन जी के बनारस का बुढ़वा मंगल गुप्त गोष्टी गाथा दिल्ली दरबार में मित्र मंडली के यार प्रमुख हैं जिनके परिचय की आवश्यकता उनके समझने के लिए परम आवश्यक है।

बनारस का बुढ़वा मंगल

इसमें प्रेमघनजी ने बनारस के प्राचीन लगभग आज से सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बनारस के बुढ़वा महादेव के विवाह में फाल्गुन मास के अन्त में उनके विवाह के उपलक्ष में जो उत्सव मनाया जाता था उसका वर्णन किया है। इस मेले में नृत्य, गान और उत्सव के उपलक्ष राजघाट से अस्सी घाट तक नावों के बजरे पाटे जाते थे, उसी पर नृत्य गान की छटा रहती थी। बनारस तथा आस पास के सम्भ्रान्त रईसों की अपनी अपनी अलग नौकायें रहती थीं और साधारण वर्ग के भी लोग अपने शक्त्यानुसार नावें सजाते थे, और मेले में अपना उत्साह दिखाते थे। प्रेमघन जी के शब्दों में बुढ़वा मंगल की परिधि और छटा इस प्रकार है।

"यों तो अब भी राजघाट से अस्सी तक उसी भाँति सजी धजी सहस्राविधि नौकायें दृष्टिगोचर होती हैं पर प्रायः...भोसला घाट पर स्थित...वह नौका जिसकी लाल पताका फहराती हुई "मंगलायतनो हरिः" पुकारती थीं। कहाँ हैं ...सुन्दर सुसज्जित उस विशाल नौका पर बीसों तायफों का जमघट जिसमें न केवल रंडिया ही; वरञ्च भाँड़ और कथक तथा अन्य अनेक प्रकार के गुणियों का संग्रह रहता कि जिसमें कोई भी काटने वा छाँटने योग्य नहीं जो खड़ा हुआ बस सब के मन को अपने हाथ में लिया। यदि किसी वस्त्र-विलासिनी की रूप राशि और सौकुमार्य मन को विह्वल करती, तो किसी के यौवन की शोभा और हाव भाव कटाक्षादि को चूर्ण करने में समर्थ, यदि किसी का गाना क़हर का, तो, दूसरे का बताना जहर का असर रखता। यों ही किसी के नाच की गति देख मन की और ही गति होती, और प्रत्येक तोड़े दिल-दर्पन को तोड़े डालते थे।

किश्ती के कोने से नालों* की नदी बहती, कहीं लोग कुरंग कटाक्षों की चोट से लहालोट तो कोई प्रेम के प्याले से लोट पोट, कोई गुणी रसिक जो रस में डूबता, तो कोई प्रेमी जीवनाशा से था, और शेष टकटकी लगाये वाह वाह की रट लाये, सुध बुध गँवाये, लिखित चित्र में स्थित हैं।"

---

* प्रेमोच्छ्वास से।

यह मेला चार पांच दिनों तक होता था जिसमें अन्तिम दिन मंगल का उत्सव ही इसके नामकरण का हेतु था। इस मेले में दूर दूर के संगीत और नृत्य विशारद आकर सम्मिलित होते थे, संगीत का जिन्हें पूर्ण परिज्ञान रहता था। प्रेमघनजी के शब्दों में "उस मजलिस में यह न था कि तायफ़ा खड़ी होकर मनमाना जो चाहे नाच गाकर समय बिताये वरञ्च गाने में समय के अनुकूल राग रागिनी सच्चे स्वर और साँचे में ढली लय में होनी तो आवश्यक ही है आगे तान वाजी और गले के दम खम का दिखलाना तो योग्यतानुसार प्रसन्नताका हेतु है।"

मंगलायतनो हरिः वाली नौका का वर्णन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कच्छे का वर्णन है और उस पर विराजमान उनकी अन्तरंग मंडली है। प्रेमघन जी के शब्दों में उस मंडली की स्मृति "बहुतेरा चाहते हैं कि उन बातों को अब भूल जाँय पर जिह्वा सभी अवसरों पर कुछ न कुछ उसी मंडली की चर्चा छेड़ बैठती है" के रूप में हमें उसके हृदयग्राही रूप का परिचय देती है।

इस लेख का दूसरा अध्याय संवत् १९५० वैक्रमीय के नागरी नीरद में प्रकाशित अंश है। जिसमें वल्लभकुल भूषण कांकरौली के श्रीमान् महाराज श्री बालकृष्णलाल जी के मेले का है, जहाँ पर प्रेमघन जी से उनका साक्षात् प्रथमवार हुआ है। कितना मधुर स्मरण है "जिनके चेलों की आनन्द गोष्ठी का आनन्द पाकर चित्त अपनी ऐसी सम्मति स्थिर किए है कि उनके गुरुओं के इस वृहद् आयोजन की शोभा भी देख लेना परम आवश्यक जान पड़ा।

इस मेले में महाराज काशिराज से लेकर मदनपुरा के जुलाहों तथा श्मशान घाट के डोमरों की नावें "कोई पटैलों पर बाँसों का ठाट ठाटे, तो कोई घटहा पाटे, कोई बजड़े पर झाड़ फनूस जलाये, तो कोई मोर पंखी सजाये, कोई कट्टर भिड़ाये, तो कोई पनसुही दौड़ाये घूम घूम कर मेला देखते थे।"

इस लेख में प्रेमघनजी ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को कितनी सजीवता तथा पटुता से प्रदर्शित किया है स्पष्ट है। यह उनके व्यक्तिगत निबन्धों ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त साहित्यिक और यथार्थ प्रबन्ध है।

दिल्ली दरबार में मित्र मंडली के यार

यह लेख भारत सम्राट एडवर्ड सात के राज्याभिषेक के प्रसंग में हुए

भारती दरबार जो लार्ड कर्जन के राजप्रतिनिधित्व में दिल्ली में हुआ था उसका वर्णनात्मक कथोपकथन शैली में उत्कृष्ट निबन्ध है।

इस लेख की विशेषता इसके अन्तर्गत आये हुए चरित्रों के चरित्र का विकास है। श्रीमान् विज्ञानेश्वर शास्त्री, श्रीमान् करुणा निधान सिंह जू देव नवाब बेकरारु छोला बहादुर, लाला डरपोकमल, श्रीमान् भयंकर भट्टाचार्य और बैरिस्टर निशाकर धर, जिनका चरित्र चित्रण और रहस्य गुप्त गोष्ठी गाथा नामक निबन्ध में भी सन्निविष्ट है।

इस लेख की विशेषता भिन्न भिन्न पात्रों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा का विन्यास है, उदाहरणार्थ बूढ़े मियाँ से देहलवी उर्दू का फारसी शब्दों से संयुक्त चुस्त और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग जैसे "इनाम" के लिए "इन आम" यहाँ के लिए "ह्याँ" खिल्लतें के लिए "खिल अतें।" इसी प्रकार बँगालियों द्वारा "प्रणाम" के स्थान पर "प्रोनाम" चौबे जी की बगीची में ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली शास्त्री जी की भाषा में विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है।

इस लेख के अन्तर्गत व्यंग, परिहास का भी प्राचुर्य है जैसे "जिस प्रकार यह सवारी गाड़ी मुसाफिरों से कसी थी उससे अधिक अवकाश तो कदाचित् मालगाड़ियों में भी होता होगा। हाथरस तक तो हाथ पैर भी हिलाया जा सकता था पर अलीगढ़ से तो मानो गाड़ी गढ़ पर अली के सैनिकों का आक्रमण आरम्भ हुआ। ग़ाज़ियाबाद पहुँचते पहुँचते तो ग़ाज़ी बनने का सा दुख हुआ और गाड़ी सिराजुद्दौला की काल कोठरी बन गई।" "विन्ध्याचल स्टेशन पर कालीखोह के निकट पर इंजन ने सीटी दी मानों महाकाली के भय से महिषासुर चिल्लाता और चिग्घाड़ता प्राण लेकर भागा।"

जहाँ तक ज्ञात होता है श्री विज्ञानेश्वर शास्त्री पंडित चन्द्र भूषण जी व्याकरणाचार्य, प्रधानाध्यापक वैदिक पाठशाला सरजूबाग अयोध्या के तत्कालीन आचार्य थे, जिनसे प्रेमघन जी का सख्यभाव था और वे आनन्द कादम्बिनी के लेखकों में से भी थे। सेठ डरपोकमल मिरजापूर के सेठ बिहारीलाल जी थे जो उनके बाल सखा तथा अनन्य मित्र। भयंकर भट्टाचार्य बाबू दुर्गप्रसाद खत्री थे। आप से भी उनका दिन प्रति दिन का बागविलास होता और हास परिहास का जमघट एक दूसरे के घर पर जमता था। करुणानिधान सिंह आपके सखा श्री कृष्णदेव शरण सिंह जूदेव "गोप" भारतेन्दु मंडल के उन व्यक्तियों में से थे जिनका निर्वासन बृटिश राज्याधिकारियों ने

कर के पंगु बना दिया था। आप राजा भरतपूर के वंशज थे और निर्वासित रूप में बनारस में अरदला बजार के पास एक बँगले में रहते थे। आप कवि लेखक तो थे ही आपको कल पुरजों के काम से भी बड़ी रुचि थी। संक्षेप में आप छोटे मोटे एक इंजिनियर भी थे। प्रेमघन जी का उनसे साख्य भाव ही था तभी तो उन्होंने उनके चरित्र को गुप्त गोष्ठी गाथा तथा दिल्ली दरबार में मित्र मंडली के यार के अन्तर्गत चित्रित कर के अमर बना दिया। निशाकर धर वैरिस्टर मिरज़ापूर के बाबू श्रीराम वकील थे जो पास ही में रहते और सदा प्रेमघन जी के साहित्य संगीत के समारोहों में भाग लेते और उनके मंडली को उत्साहित और सफल बनाया करते थे। नवाब वेकरारूद्दौला का चरित्र नबाबी साम्राज्य के भग्नावशेष विभूतिधारी एक उनके मित्र का चरित्र है और इसका चित्रण आपके व्यक्तिगत निबन्धों में अद्वितीय और परम सफलता से विकसित हुआ है।

व्यक्तिगत निवन्धों में प्रेमघन जी ने जितनी पटुता से सरलता और स्वाभाविकता का इन निबन्धों में समावेश किया है उतनी ही तत्परता से सामाजिक धार्मिक तथा ऐतिहासिक निबन्धों में भी इन भावनाओं को संनिविष्ट किया है। सामाजिक, धार्मिक, तथा ऐतिहासिक, निबन्धों के अन्तर्गत उनकी आत्मा तत्कालीन सामयिक परिस्थितियों से ओतः प्रोत हैं।

प्रेमघनजी के समक्ष हिन्दी गद्य लेखन कला में किसी लेखक का उदाहरण नहीं था! आपने अपनी प्रतिभा से अपनी शैली का निर्माण स्वयम् किया, जिसमें आपके कलम की कारीगरी की ही महानता थी। आप हर एक विषय तथा वाक्य को कलात्मकता प्रदान करके उसकी पूर्ण विवेचना करते थे। क्योंकि आपका उद्देश्य ही था :—

"कलम करी कारीगरी, कारीगर के हेतु,
कुटिलन को कारी छुरी, कारीगर धर देत।"

प्रेमघन जी ने खड़ी बोली के शब्दों का ही गद्य में प्रयोग किया, जिनमें मधुरता, मनोहरता तथा बोधगम्यता रहती थी। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द अलंकारिक योजना के साथ प्रयुक्त होते थे। यथा "साहित्य सौदामिनी" "हास्य हरितांकुर" "नियम निर्घोष" पर प्रेमघन जी के काव्य में परिस्थिति के अनुरूप उर्दू और फारसी शब्दों का भी वस्तुकाल के अनुसार प्रयोग किया है, आपका विश्वास था कि मुसलमानों के मुख से संस्कृतयुक्त भाषा का प्रयोग उचित नहीं है। नवाब बेकरारुद्दौला का चरित्र इसका सद उदाहरण है।

इन व्यक्तिगत निबन्धों से परिचित हो जाने पर हमें यह कहने में संकोच न होना चाहिये, कि जिस प्रकार अंगरेजी साहित्य में मौन्टेन निबन्ध लेखन कला का जन्मदाता माना जाता है, उसी प्रकार प्रेमघन जी भी हिन्दी के मौन्टेन कहे जा सकते हैं।

प्रेमघन जी के व्यक्तिगत निबन्ध उनके वैयक्तिक प्रयास हैं, जिसमें व्यक्तिगत विचार जिस क्रमबद्धता से जीवन के अन्तर जगत के मार्मिक विचारस्थलों को स्पष्ट करते हैं, उसी प्रकार जीवन के सच्चे स्वरूप को भी। व्यक्तिगत निबन्धों में आप का विषय तो निश्चित ही रहता है, पर उनके विचार किसी परिधि के भीतर आवेष्ठित नहीं रहते, जो प्रासङ्गिक विषय इन प्रसंगों के अन्तरगत आते हैं, उनका वहाँ वर्णन पूर्णरूपेण होता है। इन निबन्धों में शृंखलाबद्ध विचार है। पण्डित वर श्री विज्ञान शेखर शास्त्री, विद्या वाचस्पति के धर्म भीरुता का चित्र "गुप्त गोष्ठी" में बड़ी पटुता से चित्रित है। तत्कालीन समय में भारतेन्दु का व्यक्तित्व एक महान और अनुकरणीय था। प्रेमघन जी ने जिस प्रकार "शोकाश्रु बिंदु" में भारतेन्दु की महानता और अपना उनसे व्यक्तिगत साख्य-भाव के प्रदर्शन का अमिट चित्र ("मित्र क्यों न रोवै तेरो शत्रु क्यों न होवै तऊ पूरो पशु होवै ना तो क्या मजाल रोवै ना") लिख कर चित्रित किया है, उसी प्रकार गद्य में भी भारतेन्दु अवसान पर अपने हृदय के उद्‌गारों को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है।

गद्य, काव्य, मीमांसको ने गद्य के चार खण्ड किये हैं, वे हैं शब्द, वाक्य, पैराग्राफ, तथा अलंकार।

प्रेमघन जी का शब्द चयन बड़ा मधुर तथा उपयुक्त होता था। वे हर एक शब्द को बहुत सोच समझ कर प्रयोग में लाते थे, और शायद यही उनके पत्र-पत्रिकाओं के ठीक समय पर न प्रकाशित होने का मुख्य कारण था। आप जब प्रूफ देखते थे तो कभी कभी उचित शब्दों के प्रयुक्त न होने के कारण पूरा प्रूफ ही उलट देते थे। क्योंकि उन्हें तो शब्द मैत्री का, अनुप्रास का, तथा भाषा में जिन्दादिली का, होना आवश्यक समझ पड़ता था।

क्योंकि उन्हें तो 'नियम निर्घोष सुनाया,' "तड़ित समाचार" में तार की खबरें आईं "विज्ञापन की वीर बहूटियाँ नीरद ने दिखलाईं" और "संग्रह सुरेन्द्रा युध" में अनुभूत और उपयोगी औषधियाँ बताईं ऐसी भाषा प्रिय थी।

वाक्यों के प्रसंग में हमें यह कहना पड़ता है कि उनके वाक्य बड़े लम्बे और सारगर्भित होते थे। आचार्य रामचन्द्र के शुक्ल के शब्दों में प्रेमघन

जी के वाक्यों की व्याख्या बड़ी पटुता से हुई है "और कभी-कभी ऐसे पेंचीले मजबून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में रह जाता था,—फिर भी उनका पद विन्यास व्यर्थ के आडम्बर के रूप में नहीं होता था।"

आपके वाक्यों में अलंकारों की छटा और विचारों का गाम्भीर्य है। वाक्यों के अन्तर्गत शृंखलाबद्धता के कारण लम्बे लम्बे एक एक कालम तक के उनके होने में भी शैथिल्य नहीं दिखाई पड़ता, आपके वाक्य खंडों में यह जानने की उत्कंठा सदा रहती है कि उसके अन्त में क्या व्यक्त करना चाहते हैं जैसे "चाहे हम रोवैं, चाहे गावैं, चाहे उपवास करें, चाहे डूब मरें, किन्तु बिना ऐक्य के स्वराज्य नहीं प्राप्त होगा।"

प्रेमघन जी के वाक्य समूह या पैराग्राफ बहुत बड़े-बड़े होते हैं, जिनका तात्पर्य विचार गांभीर्य से तो है ही, वरञ्च यह उनके शैली की विशेषता है। कि उन्हें किसी बात को सीधे ढंग से कहना रुचिकर प्रतीत नहीं होता है वे सदा पेचीले मज़मून बांधते थे क्योंकि उन्हें कलम की कारीगरी दिखाना रहता था।

प्रेमघन जी के गद्य शैली की समीक्षा करते समय हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वे खड़ी बोली गद्य के प्रथम आचार्य थे। उनके समक्ष उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, आदि व्यक्तियों का समुदाय था, पर उनकी प्रतिभा इन लोगों के प्रभाव से प्रभावित नहीं हुई, वरञ्च उनकी अपनी विलक्षण शैली इन लोगों से पृथक् ही रही। प्रेमघन जी ने गद्य लेखन को भी एक कला के रूप में ग्रहण किया क्योंकि उनके अनूठे पद विन्यासों, कोमलकान्त पदावलियों, ने जस परिष्कृत तथा परमार्जित भाषा का रूप हमें दिया है वह उनकी निजी देन है। उनके पद विन्यास व्यर्थ के आडम्बरों से युक्त नहीं हैं, इनमें अर्थ गाम्भीर्य तथा सूक्ष्म विचार बड़ी पटुता से व्यक्त हैं। जिस कलात्मकता से उनके निबन्ध एक सूत्र में सजीवता और रोचकता के धागे से बंधे हैं, कि कहीं एक शब्द भी इधर उधर किया जाय तो उनकी क्रम बद्धता ही नष्ट हो जाती है। व्यक्तिगत निबन्धों के अन्तर्गत जितनी सजीवता है उतनी ही मधुरता भी है, सामाजिक निबन्धों में व्यङ्ग के हल्के हल्के छींटे हैं। भाव अभिव्यं-जना तो सब जगह बड़ी पटुता से प्रदर्शित की गई है।

पत्र पत्रिकाओं के प्रादुर्भाव में आलोचना का सूत्रपात प्रारम्भ हुआ। आलोचना का जो चलन हिन्दी साहित्य में चली उसमें आलोचनात्मक निबन्धों का ही रूप सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुआ। छोटी छोटी टिप्पणिया जिनमे कुछ सामयिक समाचारों के ऊपर आलोचनाये रहती थीं बड़ी पटुता में छपती थीं। इन टिप्पणियों में देश के समय समय के आख्यान हैं जिनको हमने खण्ड ६ के अन्तर्गत उदाहरण के लिए रख दिया है।

साहित्यिक समालोचना का सूत्रपात प्रेमघन जी ने हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम किया। "समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन कर के उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।" रामचन्द्र शुक्ल—

प्रेमघन जी के साथ प० रामचन्द्र शुक्ल का घरेलू सम्बन्ध था। जिस समय आनन्द कादम्बिनी अंतिम बार निकलती थी उस समय प० रामचन्द्र शुक्ल मिरजापुर मिशन स्कूल में ड्राइङ्ग मास्टर थे और शहर के पास ही रमई पट्टी में रहते थे। प्रेस में प्रूफ ठीक करने का कार्य वे वैतनिक रूप से करते थे। उसी समय की जो उनकी धारणा थी उसका चित्रण प्रेमघन सर्वस्व भाग ४ की भूमिका में उन्होंने किया है। पर शुक्ल जी ने प्रेमघन जी की आलोचना पद्धति तथा उनकी शैली पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला।

प्रेमघन जी के समालोचना का सूत्रपात हमें सम्वत् १९३८ वै० में आनन्द कादम्बिनी की सख्या ४, ५ में "दृष्य रूपक वा नाटक" शीर्षक लेख के अन्तर्गत मिलता है। यहीं से हमें आपकी आलोचना का बीजाङ्कुर दिखाई पडता है। आपने इस लेख मे जो नाटकों का आलोचनात्मक इतिहास लिखा है उससे आपकी आलोचना की ऐतिहासिक समीक्षा Historical Criticism पद्धति का हमें पूर्णआभास मिल जाता है, उदाहरणार्थ—
"कारण यह कि कोई न तो कुछ वृत्त दे, न प्रस्तावना स्पष्ट रीति से लिखे और लेख का ढग निराला रखते, कितने ऐसे कि दोनो क्या बल्कि अपने नाम को भी मिला तीना खा जाते, बहुतेरे पात्रों के नाम का भी अनुवाद करके आप रूप बन जाते, और पूर्व कविकीर्ति का कलेवा करना चाहते"। इस लेख में प्रेमघन जी ने तत्कालीन नाट्य साहित्य के लेखकों की आलोचना की है।

इस प्रतिभा का आभास हमें प्रेमघन जी के आलोचना के शैशव काल में मिलता है पर आगे चल कर आपने व्याख्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया पर जिसमें काव्य वस्तु के अतिरिक्त आपने सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक बातों पर भी विचार किया है। उदाहरण के लिए संयोगिता स्वयम्बर की आलोचना ले लीजिये। नाट्य शास्त्र के अनुसार उसमें कौन कौन सी त्रुटिताँ आई हैं इसका जिस पटुता से प्रेमघन जी ने वर्णन किया है वह उस समय के लिए महान् है।

रस पात्र, कथा वस्तु, कथोपकथन इत्यादि विषयों की सद् आलोचना इस लेख के अन्तर्गत प्रेमघन जी ने की है जैसे:—

"जिस रस को चाहे ल्याये, जिसका चाहा नाश कर दिया अन्त को लिख दिया जवनिका धीरे धीरे गिरती है। (आप हर अंक में जवनिका गिराते हैं) अब पुरुषों की लड़ाई से सन्तुष्ट न हो स्त्रियों को लड़ाना चाहते हैं।"

सद् समालोचना करने का प्रेमघन जी को कटु अनुभव हुआ था। उन्हें अपने शब्दों में कहना पड़ा था कि यद्यपि सद् आलोचना से सद् साहित्य का निर्माण होता है, पर आलोचक यदि सद् आलोचक है तो उसे उलाहना की चिन्ता नहीं करना चाहिए। "पर विशेष ध्यान रखना चाहिए......

चाहे ग्रन्थकर्ता रुष्ट क्यों न हो जाय, परन्तु चापलूसी और खुशामद सम्पादकों के कलङ्क का कारण है, हमारी कई समालोचनाओं पर क्रुद्धित हो अनेक ग्रन्थकर्ता ग्राहकों ने कादम्बनी लेना बन्द कर दिया परन्तु उसके लालच वा हानि के कारण हम अपनी उचित और उद्गार सम्मति को प्रकाश करने से बन्द नहीं कर सकते।"

उर्दू बेगम पुस्तक की आलोचना तथा वंग विजेता की आलोचना संयोगता स्वयम्बर सी नहीं है, इन्हें हम रिव्यू ही कह सकते हैं पर प्रेमघन जी के आलोचना साहित्य के अध्ययन के लिए इनका ऐतिहासिक महत्व है।

साहित्यिक आलोचना का जो सूत्रपात प्रेमघन जी ने किया उसके अतिरिक्त हमें उनकी आलोचना का एक दूसरा रूप भी दिखाई पड़ता है। जिसके अन्तर्गत उनकी समसामयिक परिस्थितियों, व्यक्तियों तथा अनाचारों की भी आलोचना मिलती है। व्याकरण विषय पर महावीर प्रसाद द्विवेदी, तथा बालमुकुन्द गुप्त का जो विवाद चला था उस पर "नागरी के समाचार पत्र

और उनके सम्पादकों का समाज" शीर्षक लेख मे उनके विवादास्पद शैली की सुन्दर आलोचना है ।

प्रेमघन जी ने आलोचना की कोई अलग पुस्तक नही लिखी जिसमें उनके व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक आलोचना का रूप स्पष्ट हो सके। उन्होंने ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति का प्रादुर्भाव किया और उसका जो परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप हमारे सामने ला सके उसके लिए वे धन्य हैं। आनन्द कादम्बिनी और नीरद उनके काव्य के प्रकाशन के मार्ग थे, उनका समय समय पर बन्द हो जाना आलोचना शैली के लिए परम अहितकर सिद्ध हुआ, नही तो उन्होने अपनी शैली को और विकसित किया होता ।

प्रेमघन जी आलोचक ही नहीं थे वरञ्च एक सद् सम्पादक भी थे। 'सम्पादकीय समीर सार" स्तम्भ उनके स्पष्ट विचारों के ही लिए था। आनन्द कादम्बिनी के प्रत्येक वर्षारम्भ के अग्र लेखो मे उनकी व्यापक मनोदृष्टि तथा तत्कालीन समस्याओं का स्पष्टीकरण मिलता है । वास्तव मे प्रेमघन साहित्य के अध्ययन की महानता उनके अग्र लेखों के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकती है। आप अपनी पत्रिका आनन्द कादम्बिनी को ठीक समय पर न निकाल सकते थे, जिसका कारण भाषा का परिमार्जन, प्रूफ का ठीक करना तो था ही पर बाद के जानन की कटु और दुखदाई परिस्थितियाँ भी थीं। क्षुब्ध हृदय बोल उठा था —

"अब तो इन नीचन बीचन मे बसि कै यह बैस बितावनो है"

सम्पादकीय टिप्पणियाँ आपकी बड़ी प्रभावशाली होती थीं। व्यग से चुहचुहाते चित्र हमें यत्र,तत्र दिखाई पड़ने हैं। 'आनन्द कादम्बिनी का प्रथम प्रादुभाव' यदि उनकी प्रथम ललकार है तो नीरद का नवीन वर्षारम्भ हिन्दी के पाठक वा ग्राहकों की दशा का यथार्थ चित्र है ।

चातक विबुध जन तोषि रसिक मयूर मन मोहत हरै,
बरषै सुविद्या वारि जासों नागरी सरवर भरै।
हरिआय आरज वश छिति अरु ताप कुमतिन को टरै,
आनन्द कादम्बिनी भारत छाय नित मगल करै।

इसी मगल कामना से प्रेमघन जी का साहित्यिक जगत मे प्रादुर्भाव हुआ

और यथाशक्ति आपने अपने शक्त्यानुसार इसका सन्देश लेकर आधुनिक हिन्दी के प्रथम उत्थान में अपना सहयोग प्रदान किया।

प्रेमघन सर्वस्व भाग २ को हमें हिन्दी संसार के समक्ष उपस्थित करने में अत्यन्त प्रसन्नता होती है। हमने इसके अन्तर्गत ६ खण्ड किए हैं। खण्ड १ में आपके साहित्यिक निबंध नियुक्त हैं, इसके अन्तर्गत जितने लेख संनिविष्ट हैं वे सब क्रमिक विकास के अनुसार संग्रहीत हैं जिससे प्रेमघन जी के गद्य के क्रमिक विकास का पाठकों को पूर्ण आभास मिल सकता है।

खण्ड २ में आप के व्यक्तिगत निबंधी हैं, जिनके अन्तर्गत प्रेमघन जी की भाषा परम प्रौढ़ हो जाती है और आप की प्रतिभा का पूर्ण विकास हमें उसके अन्तर्गत मिल जाता है।

खण्ड ३ में सामाजिक तथा धार्मिक निबंध रखे गए हैं' जिनके द्वारा हमें प्रेमघन जी के जागरूक और समाज तथा धर्म के सुधारक रूप का पूर्ण आभास मिल जाता है।

खण्ड ४ आप के ऐतिहासिक निबंधों का सदसमुचय है, इसके अन्तर्गत उनकी भारतीयता तथा उनका देश प्रेम जितनी प्रचुरता से उनके गद्य में प्रस्फुटित हुआ है प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रेमघन सर्वस्व भाग १ में कजलियों के सामाजिक गान आप लोगों ने देखा हो होगा। पर उसके ऐतिहासिक तथ्य को कोई तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह "कजली कुतूहल" से अनभिज्ञ है। कजली कुतूहल के अन्तर्गत कजलो के त्योहार, कजर—हिया के मेले, दुनमुनियां के मेले की मनोरंजक कहानी तो दी ही गई है वरञ्च मिरजापूर जहाँ कजली का त्योहार बड़ी सज धज से होता था वहाँ का तत्कालीन इतिहास बड़ी मनोहरता से व्यक्त है। ग्राम्य गीतों में कजली की जो विशेषता है तथा उनमें कैसे सुधार होने चाहिए यह भी प्रेमघन जी ने बड़ी पटुता से व्यक्त किया है। तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के आसन से प्रेमघन जी ने जो भाषण दिया था वह भी अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है।

खण्ड ५ में प्रेमघन जी के आलोचनात्मक लेखों का क्रमिक विकास है—जो समय-समय पर उनकी पत्रिका द्वारा तत्कालीन हिन्दी समाज के लिए लिखा गया था और आज हमारे आलोचना साहित्य के इतिहास का प्रथम अध्याय बन गया है।

खण्ड ६ में हमने उनके सम्पादकीय अग्रलेखों को स्थान दिया है और इनके अन्तर्गत उनके परम प्रौढ़ लेख हैं जो उनके समय के इतिहास तथा उनकी प्रतिभा को स्पष्ट रूप से हमारे सामने ला देते हैं। नागरी नीरद तथा आनन्द कादम्बिनी दो ही आपके उमड़ते विचारों के प्रकाशन के मार्ग थे और उन्हीं के प्रधान-प्रधान अग्रलेखों को मैंने इस संग्रह में स्थान दिया है। प्रेमघनजी के नोट कैसे होते थे, उनके विज्ञापनों के प्रकाशन की क्या शैली होती थी, वे स्थानीय सम्वादों को किस प्रकार प्रकाशित करते थे तथा वे दूसरे पत्रों में समाचार जो छपने को भेजते थे उनका क्या रूप होता था इसका पूर्ण ज्ञान हमें "पंच के विज्ञापन", "स्थानिक संवाद", "प्रेषित पत्र" शीर्षक उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा। डा० ग्रियरसन तथा श्रीधर पाठक को प्रेमघन जी ने जो दो पत्र लिखे थे, मेरे पास थे, उनको मैंने इसमें स्थान दे दिया है। दुःख है कि प्रेमघन जी के और पत्र-व्यवहार मुझे प्राप्त न हो सके।

प्रेमघन जी के समय की बहुत सी बातों को जानने के लिए तथा इस ग्रन्थ को सुचारु बनाने में मुझे अपने पूज्य पिता जी से तथा अपने बड़े दादा जी से बड़ी सहायता मिली है जिसके लिए मैं उनका परम आभारी हूँ।

इस प्रकार प्रेमघन सर्वस्व भाग २ हिन्दी साहित्य के समक्ष प्रकाशित होने जा रहा है, आशा है लोग उसका समुचित आदर करेंगे।

प्रेमघन जी का स्मरण हिन्दी साहित्य के प्रथम उत्थान का स्मरण है।

शीतल सदन
मसकनवाँ
गोण्डा
६-१२-४६

दिनेशनारायण उपाध्याय

समाचारपत्र या अख़बार किसे कहते हैं

समाचार पत्र को जिसे प्राय: अन्य ऐसे मनुष्य कि जो भली भाँति इसके स्वाद से वञ्जित हैं, केवल यही समझ लिया है, कि कलकत्ते में एक लड़की हुई जिसके एक सींग, दो नाक, तीन हाथ, चार पैर और पाँच आँखें हैं। ऐसी ऐसी बे सिर पैर की खबरें और समाचार पंसारियों की पुड़ियाँ बाँधने के लिए छपे काग़ज़ की पोटली या पुलिन्दा को समाचार पत्र न्यूज़ पेपर और अख़बार कहते हैं। परन्तु वस्तुत: जब विचार कर विचार जनों के विचार के अनुसार विचारो तो यह आजकल के काल का कल्पद्रुम है, और सबी अच्छी और उत्तम देशोन्नति, विद्या, बुद्धि, सभ्यता के प्रचार का उपाय, और देश वा जातियों में एकता के उत्पन्न करने को और फूट के फल के सेवन से उत्पन्न रोगमात्र की एकमात्र औषधि और राजा और प्रजा के बीच की सत्य इच्छा और दुख सुख तथा प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रगट करने का एक उत्तम सम्बन्ध है; जो दीन अवस्था में पड़े एक देश के भाइयों की दशा को जता दूसरे देश-बान्धवों से उनका उपकार कराने वाला धर्म्म कार्य्य, एक छोटी सी बात को भी दूर दूर के बड़े बड़े मनुष्यों पर विदित करने में समर्थ दूत यही है।

अमेरिका वालों ने आज कौन सी कल की नई रचना की और योरोप ने कल कौन सी नई उन्नति की है, लन्डन और फ्रान्स में क्या रौनक है अयोध्या और इन्द्रप्रस्थ की क्या उजाड़ सी सूरत है, अङ्गरेज़ कैसे विद्वान, ज्ञानमान, वीर और क्या साहसी हैं, हिन्दू कैसे मूर्ख, निर्बुद्धि, कायर और आलसी हो गए हैं, हम लोगों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए, वा मूँछ पर ताव देना चाहिए; चोली, कुर्ती, ओढ़नी, ओढ़ पर्देनशीन होना चाहिए वा निर्लज्ज हो कोट, पतलून, चुर्ट धारण कर व्यर्थ मिथ्या अङ्गरेज बन मिस्टर गड्डामियर कहलाना चाहिए; इन बातों को एक जिह्वा से कह करोड़ कानों में पहुँचा देना यह इसी का काम है! यह वह सैरबीन है जो घर बैठे सारे संसार का सैर कराती है, और यह वह नाट्यशाला है जो देश के प्रत्येक दशा का दृश्य दिखा योग्या-योग्य कार्य्य और कर्तव्य कथा के प्रबन्ध का तमाशा दिखाता है, फिर क्या धर्म्म क्या कर्म्म क्या

विद्या और क्या नीति, शिल्प, कृषि, वाणिज्य, व्यापार, आदि सभी शिक्षा का श्रेष्ठ शिक्षक, कभी वह धर्म्मशास्त्री बन धर्म्म का मार्ग दिखाता, और मोलवी या पादरी हो दाढ़ी हिला हिला कर वाज़ सुनाता; कभी नाना विद्याओं के कथन से अपनी योग्यता प्रगटाता, कारीगरों को दूर दूर की अनोखी और विचित्र कारीगरियाँ जिन्हें वे नहीं जानते जनाता, कृषिकारों को कृषि कर्म, व्यापारियों को संसार भर के सौदे सुलफ के भाव और पड़ता तथा वाणिज्य की विधि बतलाता, विद्यार्थियों को विद्या, वकील मुख्तारों के लिए नियम और नीति के नवीन आशयों को प्रगट करता, राजाओं को राजनीति शिक्षा दान छोड़ गवर्नमेंएट की इच्छा का प्रकाश, और गवर्नमेंएट से प्रजा की दुर्दशा, अप्रसन्नता प्रगट करता है; हास्य प्रिय जनों को हास्य, रसिकों को रस, कवियों को काव्य, सभ्यों को सभ्यता के लेख, कहाँ तक कहें कि समस्त मनुष्यों को उनके इच्छा के अनुसार रूप भर प्रसन्न ही करता है, सदा सब के उपकार के अर्थ शोच निमग्न होकर हित वचन सोच विचार कर कहा जाता है और अपने ऊपर आपत्ति सहकर भी उचित धर्म्म का परित्याग नहीं करता। जिस बात को कोई भी नहीं कहता उसे ये कह ही डालता और किसी के ग्राम सन्देश और इच्छा को संसार से भी कह कर उसके नाम को गुप्त रखते हैं, कहाँ तक कहें ये सदा सबको नई बात सुनाते सिखाते और जताते हैं।

श्रावण १९३८ वै० आ० का०

नागरी भाषा (या इस देश की बोल चाल की भाषा)

[भाषा की समस्या प्रेमघनजी के समय में भी जटिल रूप धारण किए थी हिन्दी के अस्तित्व पर आक्षेप करने वाले उपस्थित थे, वास्तव में हिन्दुस्तानी की ही परिभाषा हिन्दी को दी जाती थी। प्रेमघन जी ने हिन्दी के क्रमिक विकास और उसके प्रादुर्भाव का रेखाचित्र इस लेख में दिया है जब भाषा विज्ञान का अध्ययन हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ भी नहीं हुआ था।—सम्पादक]

यह वह विषय है कि जिसमें बड़े बड़े बुद्धिमानों ने अपनी शक्त्यानुसार दिल दौड़ा और बुद्धि को बहुत श्रम दे, कलम को घिस डाला और बड़े बड़े लम्बे चौड़े तख्तों की गड्डियाँ की गड्डियाँ रंग डालीं, आज हम भी उसी विषय की विवेचना पर तत्पर हो कलम उठाते हैं।

देखना चाहिए कि बहुतेरों का क्या मत है। कोई कहता कि नागरी भाषा अथवा हमारी आर्य्य भाषा कदापि यहाँ की भाषा नहीं और न इस देश के किसी भाग या प्रान्त में कभी बोली जाती थी, और न अब भी ठीक कहीं बोली जाती है। यह केवल यारों की ईजादेजदीद और नवीन कल्पना है। कितनों की यह राय है कि ज़बान उर्दू को हिन्दी हरफ़ों में लिखने से नागरी नाम होता है। कोई कहता है कि यह खिचड़ी पचमेल है और बेबुनियाद और निर्मूल वस्तु का नमूना है। अनेक भाषा में अन्य अरबी, फ़ारसी, तुर्की, ईरानी, तूरानी आदि के शब्दों से इसकी शोभा बतलाते, बल्कि इसके व्याकरण में अरबी की गर्दान और तमाम जहान के ज़बान की पूरी योग्यता होने पर वर्णमाला पढ़ाने के योग्य ठहराते हैं। और कोई ऐसे हैं कि वे दूसरी भाषा के लफ़्ज़ों से क़सम खा चाहे आठ शब्दों से भी कठिन से कठिन शब्द खुद कोष या लोग़त देखकर निकालकर लिखेंगे, चाहे पढ़नेवाला उसे न समझे, पर प्रचलित और आम फ़हम दूसरी भाषा के शब्द न रखकर अवश्य उसका अनुवाद करके लिखने को ही भाषा कहते हैं। कोड़ियों कृपानिधान क्रुद्धित हो यह कहते हैं कि भाषा बनाई नहीं जाती, किन्तु जो हमारे लड़के-बाले, औरतों के बोल चाल में मिले, और जिसे हम भी उनके साथ बोलते चालते

हों, वही भाषा है, यो आप लोग आकबत् का डर छोड आज कल के अदा-लत के इजहार की तरह, जो चाहिए कह डालिए।

खैर। अब मैं पूछता हूँ कि यह भाषा यहाँ की नही तो क्या यूरप, अमेरिका, अफ्रिका के किसी जगली वा पहाडी असभ्य जाति की है, वा काबुल के मुगलों की, वा दुनिये के बाहर कही के शैतानो की बोली है, वही रायज है।

बङ्गाल देश की बोली बॅगला, गुजरात की गुजराती, ओडीसा की ओडिया, और तेलङ्ग की तैलङ्गी, महाराष्ट्रों की महाराष्ट्री, इसी प्रकार अँगरेजों की अगरेजी, जरमनियों की जर्मनी, और अरब की भाषा अर्बी के होने मे क्या प्रमाण आपेक्षित है। अन्त को इस प्रश्न का यही उत्तर है कि "हाथ के कङ्गन को आरसी क्या," जो भाषा जहाँ की है वहाँ बोली और बरती जाती है। समाचार पत्र और किताबे उसी भाषा मे लिखी जाती हैं। फिर क्या कारण है कि हमारी भाषा जिसका अर्थ ही बोली है हमारी भाषा न समझी जाय, और आर्य्य भाषा अनार्य्यों की वा हिन्दी हिन्दुओं की छोड मुसलमानों की भाषा ठहराई जाय। रहा यह कि यह ईजादजदीद अर्थात् नवीन निर्मित है और आज कल के लोगों ही से इसने जन्म पाया है। उत्तर मे हमे इतना ही कह देना काफी होगा कि भाषा तो बनाई नही जा सकती किन्तु स्वय बन जाती है। और यदि यह भाषा नवीन है तो क्या आगे के लोगों की बोली फारसी थी या अर्बी? या अगले मनुष्य गूगे थे या बोलने की आवश्यकता ही न थी? और सहस्त्रावधि ग्रन्थ जो इस भाषा मे मिलते हैं और तुलसी-दास, सूरदास को छोड चन्द इत्यादि कवियों की कविता प्राचीन नहीं तो क्या आज की बनाई गई है, लोग चट कह बैठेगे कि हजरत आप बृजभाषा को क्यों साने डालते हैं।

जानना चाहिए कि प्रथम जब सस्कृत यहाँ की मुख्य भाषा थी और सभ्य समाज राज पाट और सरकारी दरबार मे बोली चाली या बर्ती जाती थी, गद्य पद्य मय कविता इसी भाषा में बनती नृत्यादि में सस्कृत गान और सस्कृत नाटको के अभिनय सर्व साधारण न केवल देखते किन्तु उनके गूढार्थ को समस्त प्रकार से समझते थे रात दिन की बोल चाल के फेरफार में ग्राम्य और स्त्रियादिकों से उसके अशुद्ध उच्चारण, और लाघव के कारण प्रकृत से सिद्ध प्राकृत प्रचलित नागरिक और सभ्य जनों के अतिरिक्त ग्राम्य

और असभ्य ग्राम और दिहाता की घरऊ बातचीत की भाषा और प्राय स्त्रियों के नाज व अन्दाज के कारण नजाकत वज दारी से रहित न हो प्रचलित थी। कि आज तक सस्कृत के नाटकों मे स्त्रियो की बोली प्राकृत ही रहती है, और इसी प्रकार सूरसेनी, मागधी, पैशाची, इत्यादि प्राचीन भाषा देशकाल के अनुसार प्रचलित और नष्ट हो गई ।

सारांश यह कि सदा से एक नागरी और दूसरी ग्राम्य भाषा प्रचलित रही। परन्तु अत्यन्त आदिकाल मे जिसे सृष्टि का आदि कहो वा सत्ययुग, मनुष्यों के पूर्व अवस्था का प्रथम समय अथवा सभ्यता की पहली झलक देख पडने की बोली उस समय केवल एक बोली बोली जाती थी। क्योंकि वह इसके प्रादुर्भाव का समय था, मानो तब इस बीज अर्थात् सार्थक शब्द ने केवल एक ही अकुर निकाला था कि जिसका नाम देववाणी अर्थात् वेदभाषा है। इस वेदभाषा अर्थात् देववाणी का सस्कृत से बहुत कम सम्बन्ध था, बल्कि उसको पहली अथवा पुरानी सस्कृत कहना योग्य है कि जिससे अब के सस्कृत के बडे बडे विद्वानों मे (सो भी केवल वे कि जिन्हे उस पूर्वोक्त अर्थात् वेद भाषा के ज्ञान की समस्त सामग्री और अङ्गो से ज्ञान है) छोड कदापि साधारण सस्कृत के पण्डित नहीं समझ सकते, राजपाट सरकार दर्बार, हाट बाज़ार और सर्व साधारण या आम वा खास क्या सभ्य और क्या असभ्य, क्या नागरिक और क्या ग्राम्य, सब इसी की बोली बोलते और वर्तते, क्या कविता क्या साधारण लेख वा धर्म्म पुस्तके सब की सब इसी मे लिखी जाती थी। सारांश यह कि समस्त ससार मात्र की भाषाओं की मा कहो या दादी, खान कहो वा मूल (जड) अथवा मूल का बीज रूप सब पूर्वोक्त रीति और वर्णन के अनुसार प्रथम ही अकेली इस पवित्र भूमि भरत खण्ड में अखण्ड प्रताप से युक्त हो जन्म ग्रहण कर अपना राज्य स्थापन किया, और समस्त प्रकार के मनुष्यो के उपकार और ज्ञान का उदय कराने वाली और लाभ पहुँचाने वाली लौकिक और पारलौकिक अशेष विद्याओं को इसने प्रकाश मे किया। इसी भाषा के बोलने वाले ऋषियो ने बासो की पोपियों और केवल नेत्रो ही के द्वारा निरजन जङ्गलों और पर्वतों के शृङ्गों पर अकेले अपने बुद्धि की तीक्ष्णता से सब तारागणों और नक्षत्रो को पहचाना, उनकी गति और चाल के महाकठिन और असंख्य हिसाबो को उँगलियो पर गिन गिन ठीक कर ऐसा शुद्ध बताया कि आज तक पाव रत्ती का विरोध कहीं से न आया कि जिनको आधुनिक बडे

बड़े भारी अङ्गरेज विद्वान् लाखों क्या करोड़ों रुपये लगा २ दूर्वीन और कलों के ठड्ढे खड़ा कर उसे जाँचते और मिलाते, और उस समय के उनके दिखाये दरों के देखने को इतने आलड्वाल और मकान क्या किन्तु हाते के हाते भरी हुई पुस्तकों और यन्त्रों को उलट पलट करते और सोचते सोचते दाँत तले उँगली दबाते पर आज को उसे ठीक और यथार्थ पाते हैं। न केवल यही विद्या किन्तु जितने सूत्र हमारे महामान्य पूज्यपादारविन्द ऋषियों के हैं, अथवा और भी जो आर्य ग्रन्थ हैं, उनके देखने ही से यह निश्चय हो जायगा कि ये काम उन्हीं के थे जिन्होंने किये और यह भाग वा हिस्सा विद्या का उन्हीं के वाटे में भगवान ने दे दिया, फिर न केवल एक विद्या किन्तु क्या ज्योतिष, क्या व्याकरण, क्या न्याय, और क्या मीमांसा, क्या सांख्य, और क्या योग, क्या वेदान्त, क्या शिक्षा, कल्प, निरूक्त, वैद्यक-शास्त्र, काव्य, रसायन, सङ्गीत, शिल्प, तन्त्र, मन्त्र, भूगोल, इतिहास, गणित, और नीतिशास्त्र, धर्म्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, नाटक, प्रहसन भाँड़ और कहाँ तक कहें क्या न था; इन पूर्योक्त विद्याओं में जो बड़ी है, बड़ा मज़ा है कि वे प्राचीन हैं।

यद्यपि अब महात्मा मुहम्मदीय मतावलम्बी बादशाहों की कृपा से हमैं उस समुद्र का एक चुल्लू पानी मिलना बच कर शेष रह गया कि जिसके इतने बच रहने का भी आश्चर्य है, ईश्वर की सृष्टि जो कभी किसी वस्तु से रहित नहीं होती, अतएव लाख उपद्रव अग्नि से जली रस्सी की ऐठन से उसके पूर्व रूप का अनुमान करना पड़ा, तिस पर ये सब आज मौजूद और प्रस्तुत मिलते फिर उस संस्कृत के चमकीली चमक की क्या दशा रही होगी स्थाली पुलक न्याय से जानने योग्य है।

निदान जब वह देववाणी अर्थात् शब्द भाषा जो मनुष्य के सृष्टि के साथ स्वयम् सृष्टि पाई, अथवा सृष्टि में आई अर्थात् मनुष्य के आत्मीय विषयों में गणना योग्य हुई, वा नेत्र में दृष्टि और नासिका में गन्ध के तुल्य रसना इन्द्री में रस ज्ञान के संग वाक् शक्ति भी आई अर्थात् बोल निकली और स्वाभाविक उत्पत्ति से उत्पन्न हुई, जैसे कि घोड़े का हिनहिनाना, हाथी का चिंघाड़ना, गदहे का रेंकना, कुत्ते का भौंकना, एवम् मोर का कूकना, सारस का चीखना इसी रीति भुजंङ्गियों का "ठाकुरजी', रव "नबीजी भेजो" इत्यादि की रीति जैसे प्रायः बहुतेरी चिड़ियाओं का सार्थक शब्द तथा पद और वाक्य का कहना, अथवा ईश्वर की स्वाभाविक शिक्षा से शिक्षित हो अपने कंठ वा जिह्वासे उनके प्रयोजन के अनुसार तथा रूप गुण के तुल्य बोली का बोलना

सीखना वा आरम्भ किया, मनुष्य भी अपनी बोली बोलने लगा। लोग कहेंगे कि इस बोल को तो आप अपनी ओर से सार्थक बनाते हैं और आपके मानने से वे सार्थक होती हैं, किन्तु हैं वे निरर्थक, नहीं तो वे भला अज्ञानी जीव सार्थक शब्द क्या जानें ? परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है क्योंकि मानने ही से शब्द सार्थक होते हैं, यदि न मानें जावें तो क्या, घट का अर्थ घड़ा न मानने वाले को कौन समझा सकता है, लड़का यदि रोटी को टोटी पुकारे जब तक हम उसे रोटी का वाची न मानें कैसे काम चलेगा, वा किसी पञ्जाबी के कोड़ा कहने को घोड़ा वा बंगाली के लक्खी कहने को लक्ष्मी न मानै तो कभी ठीक न होगा; क्योंकि जिस शब्द के जिस वस्तु के अर्थ के लिए एक मंडली के मनुष्यों ने नियत किया है वही उस अर्थी का अर्थ है; रहा यह कि वे अज्ञानी जीव केवल निष्प्रयोजन और व्यर्थ बोलते हैं वस्तुतः उनसे कुछ अर्थ से सम्बन्ध नहीं रहता तो यह सन्देह केवल इसी बात पर ध्यान देने से जाता रहता है कि प्रायः देखने में आया है कि एक चिड़िया बोली बोली, और सब वहाँ पहुँच चारा चुगने लगीं, किसी प्रबल पक्षी को देख एक बोलो बोली कि सब एक साथ उड़ गईं, तो इससे निश्चय हुआ कि पशु पक्षी आदि भी केवल व्यर्थ बोली नहीं बोलते किन्तु वचन द्वारा अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने कार्य को साध्य कर सकते हैं। निदान इसी रीति मनुष्य भी प्रथम जो स्वाभाविक सार्थक वचन बोलने लगे उसी का नाम देववाणी अर्थात् देवताओं की बोली अथवा ईश्वरी बोली या अमानुषी भाषा वा जिसकी रचना मनुष्य द्वारा न हो केवल दैवी कृपा और कर्तव्य से हुई है; क्योंकि यदि वह कहै कि भाषा मनुष्य ने बनाया, और जो जो वस्तु देखते गए एक एक शब्द उसके लिए नियत करते गए, तो यह बात ध्यान में नहीं जँचती, क्योंकि मनुष्य की तो इस रीति पर व्यवस्था हुई, परन्तु भुजङ्गी को ठाकुर जी व इसके तुल्य वाक्य बोलने का किसने नियम किया कि जिसमें आज तक कुछ भी हेर फेर न हुआ; इससे निश्चय हुआ कि ऐसा नहीं है।

देखिये प्रथम जब लड़का बोलना आरम्भ करता है "मा ऐसा शब्द उच्चारण करती है; यही कारण है कि प्रायः माता शब्द मकार से अधिक सम्बन्ध रखता है, यथा माँ, माई, माता, मातर, मादर, मदर, माँमा, अम्मा, अम्वा, इत्यादि; परन्तु जैसे शुक सारिकादि पक्षी मनुष्य के सिखाने के अनुसार शिक्षित हो बात चीत करने लगती हैं, और आश्चर्य जनक व्यापार और

बोलियाँ बोलते है, इसी रीति मनुष्य मे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि और चतुर जनो तथा देवता, ऋषि, मुनि द्वारा वह स्वाभाविक भाषा अर्थात् देव वाणी वा वेद भाषा सस्कार पाकर अर्थात् सुधर कर और सुडौल तथा नियम बद्ध होकर, वा नूतन सभ्यो की सभ्यता के सस्कार से सस्कृत नाम पडा धारण किया, और नवीन दुति के कारण चमक दमक में देववाणी से भिन्न शोभा को प्राप्त भई मानो जटाम (अर्थात् वे साफ किए रेशम की जटा) से शुद्ध साफ किये रेशम के लच्छे के तुल्य हुई, कि मानों तभी प्रथमत. मनुष्य ने भाषा मे काट छाँट आरम्भ किया, उसी ईश्वरी भाषा देववाणी रूपी बीज से प्रथम ही यह सस्कृत रूपी अङ्कुर निकला जिसके पल्लवित वृक्ष की नागरी एक प्रमुख शाखा है।

भाद्र पद १९३८ वै० आ० का०

ऋतु वर्णन

[प्रकृति चित्रण में प्रेमघन जी ने परम्परागत शैली का जहाँ पर निरूपण किया है वहाँ पर तो रीतिकाल का आभास मिलता है। पर उन्होंने प्रकृति को पोषक और संहारक, दो रूपों में विभक्त किया है। प्रकृति का निरीक्षण, प्रकृति का जड़ और जंगम पर प्रभाव लेख में स्पष्ट है। समन्वय की भावना का लेख में अमिट छाप है]

रसिको! जिस उपद्रवी हिम ऋतु के आगमन से संसार मैला, कुचैला, छवि हत, और कूड़ा करकट से भर गया था, विचारे शिशिर ने स्वयम् तीक्ष्ण वायू की झाड़ू हाथ में लेकर और मानापमान का कुछ भी ध्यान न कर पीले और सूखें पत्ते वृक्षों और लताओं, से दूर कर इस असंख्य कूड़े को दिशाओं के अन्त में अर्थात् (ईश्वर के म्यूनिसिपल के सीमा के बाहर) जा फेंका, और बाँसों को भी रगड़ रगड़ कर आग निकाल समस्त भूमि की छविहत सूखी घास जला उसके राख का भी लेश पूर्वोक्ति रीति से न रक्खा।

चटपट वसन्त आकर सजावट और बनावट की सामग्री नाना प्रकार के समारम्भ में लगाकर, तुरन्त सब कुछ सब प्रकार सुशोभित किया; फूलने वालों को नूतन पल्लव से पल्लवित और फलने वाले वृक्षों को कुसमित कर आज्ञा की, कि देखो सब प्रकार पुष्प फल युक्त हो ठीक रहो; निदान इस रीति साव-धानी से सब को सावधान कर अपने सहायक ग्रीष्म को नियुक्त कर आप तो कर्पूर सौरभ समान चल बसा, कि कोयलें कूक कूक कर लगीं आज्ञा सुनाने।

कि अरे सावधान! देखो देखो ये जो छुद्र जलाशयों के बचे बचाये यत्-किंचित शेष जल दुर्गन्ध युक्त हो कष्ट के कारण हुए थे, यद्यपि उसे सोख सूर्य ने सुखाया, परन्तु मृत्तिका का भी हृदय शुष्क रहने योग्य है, कि जो सुगन्धि का कारण हो;ये आम्र के हरित फलों को तुरन्त पीतकर वृक्षों की नूतन पत्रावलियों को जिनपर अभी हरा रङ्ग दिया गया है सुन्दर तीक्ष्ण धूप में सुखा कर उस पर शीघ्र शोखी और निखराहट की वार्निश फेरा कि रङ्गत खुल पड़े।

देखो पुरवाई ऐसी तीक्ष्ण गति से चली मानों रेल का वेग बन गई, पङ्क वृष्टि के मिस धूम आकाश में छाया, झिल्लियों ने सीटी बजाया, वाह विद्युत्

समाचार स्वयं विद्युत लाई; अरे यह क्या एक छोटा सा टुकड़ा बादल का भी सिगिनल सा झुका दिखाई देता है; तब निश्चय हो चुका कि महाराज पावस की स्पेशल ट्रेन देखो, यह आन के आन में आ पहुँची और चातक चारण और मयूरियों ने मधुर स्वर में वाराङ्गनाओं के समान गान आरम्भ किया।

सुनकर संजोगिनी ससिमुखियों ने सहेलरियों से शासन किया कि ! अरी खस खास की टट्टियो को हटाओ और वायुयन्त्र (हवाकश) को दूर करो तहखानों से शीघ्र चल कर वाटिका के बंगलों को सजाकर तैयार करो, जल यंत्र और फौआरों को बन्द करने की आज्ञा करो; और जो कि अब शर्वती, संदली और अरगजे के वस्त्रों के दिन गये; अतएव सूहा, गुलेनार, गुल अब्बान्सी, करौंदिया, और सुआपंखी, सबज़ः जमुरदी, जङ्गारी गन्धकी धानी रङ्ग के वस्त्रों को केवड़े केतकी और जूही के इत्र से सुगन्धित करो क्योंकि अब मिट्टी और खस के इत्र के सुगन्ध की बहार गई; फूलदानी में बर्साती फूलों के गुच्छे लगाये जायँ; गान करने वालियाँ वाराङ्गनाओं से कहो कि धूरिया मलार को छोड़ जल्द मेघ मलार और वर्साती गीतों के गान का आरम्भ करें, मैं प्यारे प्रीतम के सङ्ग अभी वहाँ वर्षा विहार अवलोकन के अर्थ आऊँगी। और बिचारी वियोगिनी वनिताओं के प्रान प्रयान करने लगे।

परिपूर्ण पावस

सत्य है ! वे क्यों कर जी सकें जब कि ऐसा प्रवल शत्रु अर्थात् महाराज पावस वीरेश कि जिसकी सहायता के विना काम बेकाम सा रह सकाम कृपा कटाक्ष की कामना करता है, अपने समस्त साज समाज को साज आज आया; देखो यह गरज के मिस तोपैं छूटने लगीं, कि आकाश धूम स्याम घन सघन से घिर समस्त संसार को अंधकारमय बना दिया; इन्द्र धनुरूपी धनुष से बूंदियों के वाणों की वर्षा होने लगी, बकावलि सैन समूह के संग देखो यह बिजली के पटा को फिराता कौन चला आता, क्या यह सावन सेनापति है ? अवश्य ! देखो यह दादुरन की बोली हैं।

निश्चय वसन्त से रितुराज पद को छीन कर आज आपही सच्चा रितुपति बनना चाहता हैं और सत्य भी है कि जब वह एक प्रबन्ध कर्त्ता आज्ञाकारी स्वामी की उपाधि को धारण करै, कैसे क्रोध न आवै, और फिर व्यथित ब्याकुल वियोगी विचारे भी कि जो व्यर्थ कहने मात्र को जीवित हैं, वस्तुतः वे मृतक यथा "गिनती गिनिबे कों रही छतहूँ अछत समान। अब सखि ये

तिथि ओम लौं परे रहैं तन प्रान ॥" और फिर 'लोग अक्सर मेरे जीने का गुमाँ रखते हैं' जिससे न मारा गया स्वयं स्वामी को क्लेश उठाना पड़ा क्यों न कुत्सित कहा जाय। जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का गङ्ग ढङ्ग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा भूमी हरी भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, कि मानो मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई, सुन्दर हरित पत्रावलियों से भरित तरू गनों की सुहावनी लतायें लिपट लिपट कर मानों मुग्धा मयङ्क मुखियों को अपने प्रियतमों के लिये अनुरागालिङ्गन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों ने मानो हरित कंचुकी से आवेष्टित युवतियों के कलित कठोर कुचका अनुकरण किया, सुन्दरी दरी समूह से स्वच्छ श्वेत जल प्रवाह मानों पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर जुगल पार्श्व की हरी भरी भूमि कि जो मारे हरेपन के स्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई हैं, बीचोबीच माँगसी काढ़ मन माँग लिया और पत्थल की चट्टानों पर सुम्बुल अर्थात् हंसराज की जटावों का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है कि जिन्हें दुष्ट पशु न चर लें रखवाली के लिए कन्द-राओं में केहरी गुर्राहट का भयङ्कर नाद करते हैं, जिसे सुन मत्त मातङ्गमाला चिङ्घाड़ती हुई भागती सन्मुखस्थ वृक्षों को तोड़ती बन में घुसतीं, कि जहाँ शूकर को गुरगुराते देख शेर चटक कर चढ़ धाता, और चीते को दौड़ाते रीछ वृक्षों पर भी चढ़ जाते; कहीं नीलगाय की झुण्ड आती, कहीं घोड़े रोज़ की फौज़ जाती, नदियों के ऐसे कूल कछार और पुलिनों में कि जिसके सघन वृक्ष समूह स्वादिष्ट मिष्ट फलें और सुन्दर रङ्ग तथा सुगन्ध से युक्त फूले से फबे हैं, उन पर बैठे हुए लंगूरों की लम्बी और सजीली पूंछे लटक रही हैं और ऊपर चोटियों पर जिनके नाना प्रकार के विहङ्ग भाँति भाँति की सुहावनी बोलियाँ बोलते मानों फलों को चख उनके स्वाद का बर्णन कर रहे हैं। कहीं कलित कुञ्ज कलापी कुल की कूक और नृत्य, कपोत, कीर, कोकिल, स्यामा, मैना हरेवा, हरदी, हारिल, भृङ्गराज, दहिअर, लाल, मुनिया, तूती, कुमरी, फ़ाख्ता, चकोर, चातक की चँहँकार और किलकार से कूजित मानो ईश्वर के चिड़िया खाना (बिहङ्गालय) की गौरव जता चित्त चोर लेते, और बीच की बेकीच हरी और कोमल दूर्बाओं से सुशोभित भूमि में कुरङ्गी और सारङ्ग समूह अर्थात् कस्तूरी वा स्याम मृग और बारहसिंघे इत्यादि अपने अपने मृग वत्सों से घिरे चरते, और पङ्कज बन में टहलते, मराल मन्डली और सारस समूह

कलख करते मन हरते गयन्द गति का अनादर कर निज गति की मति मानों मयङ्क मुखीयों को दे रहे हैं। अहा यह ज्योतिष्मतीलता (माल काकुन) फलवती हो कैसी शोभित भई, बनबेले (कोरैया) फूल कर बाग के बेलों को लजाया। न यह शोभा केवल पर्वतों ही ने पाया किन्तु पुष्य-वाटिकाओं पर भी यौवन आया, देखो कदम्ब ने काम के कामिनी के कलित कुचों की तुल्य फूल फुलाए, मौलश्री ने भी अपनी पुष्पश्री की अधिकाई-दिखाई, परिजात अर्थात् हरसिङ्गार ने कुसमालङ्कार से सिङ्गार किया कि जिनकी शोभा देख अनुरागवती युवती समान ललितलताओं ने मानों मदन के उन्माद से विमोहित अधैर्य्य हो आलिङ्गनान्दार्णव में निमग्न होने से न बचीं, कृष्ण कान्ती कृष्णाकान्ती के ध्यान मानो कृष्णकान्तिमय हो प्रत्यक्ष कृष्णकान्ति को दरसाया। इश्क़ पेचां उसके इश्कपेचों में पड़ पेच दर्पेच में पेचोताब खाये मानों लाल मुकुलों के मिस कलेजे की बोटियाँ काटे हज़तें इश्क़ के नज्र के लिए लिए मौजूद है, मालती मालती हो मालइव गले पड़ी, केवड़ों ने कुसुम की कटार से कुसुमायुध के कराल करवाल को काटा। दोपहरी फूलों के प्याले लहू से भरे, चाँदनी ने अपनी चाँदनी छिटकाया, गुले अब्बास ने अपनी सुवास फैलाया, शब्बों पर खुशबू की बाढ़ आई, नगर नागरियों की भाँत गुलमेंहदी ने भी मिहँदी लगा नया रंग लाई, अलबेला बेला इस बेला चमेली के बीच मेली मिलापीपन जना जुही की तरह जवाहिर जरित जेवरों से सज्जित मानों सुगन्ध की सार खींच शेष सुमन से सुगन्ध शब्द में से सकार का लोप कर नाज़ करना आरम्भ किया, जब गुलेचीन चीन से जा नवीन छबि उड़ा लाया। हौज तालाब और सरोवर स्वच्छ जल से पूर्ण हो मानों शोभा से भर कर रूप गर्विता नाइकाओं की भाँति निज सौंदर्य अवलोकनार्थ अनगिन्त नैन कमल और कुमोदिनी के बहाने से खोले, नदियाँ बाढ़ की बाढ़ पर आ खसी खास्शाक (घास पात) बहातीं, हरहरातीं, चद्दरैं फेकती, भौंरों में घूमतीं, तोड़ और तीक्ष्ण धार को धारे, करार गिरातीं चली जातीं, कि जिनकी धुधलेपन की रंगत ने मानों उन्हें जवानी की दुति दे दिया, जिन पर भाँति भाँति के कीड़े मकोड़े फतङ्गे मानों बर्फी समुन्दर के ऊपर घोड़ों के सदृश दौड़ रहे हैं।

दिहातों और बस्तियों के खेतों पर भी सब्जी छाई धान के हलकोरों ने धानी रङ्ग की लहरें ला जल भरे स्थल की शोभा दिया, कि जिन पर चढ़ी बीर बहूटियाँ मानों लाल की लड़ी सी कुछ अकथनीय शोभा को दिखला देतीं।

रात को जुगुनुओं की ज्योति मानों अँधेरी रात देख भगवान ने तारागणों को आकाश से भूमि पर भेज कर प्रकाश दिया, अथवा आगामी दीपावली (दिवारी) की सूचना दिया है।

पावस प्रस्थान

निदान जब कलित कालेबलाहकों की क़तार से अन्धकारमय संसार की अपार बहार बिहार के अनुसार अनुभव भई, भूपति भाद्रपद ने अपनी प्राण प्यारी निसा सुँकुमारी को आलिगन करना आरम्भ किया, कि अनादर के ग्लानि से अभिमान रहित सोक सहित लज्जित उज्वल दुति वाली तारावली तरुणियों ने अपने अनुपम और अमन्द आनन को अदृश्य किया। तो मोह मय मलिन मन अपमान का औसर अनुमान मानकर मयङ्क-मरीचिकाओं ने भी मूँ छिपाकर छपाकर के आकर में जाकर अपने उसे भी न जाने कहाँ छिपाया। अब ऐसे अनुकूल अवसर में खद्योतों को भी जब अपनी चमक दमक दिखाने का अवसर मिला, तो प्रायः सभी छुद्र द्युति धारी उष्मज जन्तुओं को घमण्डके घन्टेका बजाना सुलभ हुआ, और सभी निज निज शक्त्यायानुसार लगे जुग जुगाने; उसी काल में मानों साक्षात् काल से विशाल व्याल कराल रूप धारण किए संग में अशेष शेषावतन्सों का सैन समूह लिए आये और अपनी अपनी मणि धर धर के लगे इधर उधर घूमने कि अभागे कीड़े फतङ्गे पाँखी और फनगे इत्यादि दीपक के धोखे से लगे चाव भाव से आवने कि जिन्हें रखवाली के सुभट लोग भोग लगाने। लगे, उधर भ्रमण करते भुजङ्ग भोजन के खोज में बिलों में घुस घुस मूंस घूस को ठूंस ठूंस चाभते, कोई पकड़ कर दादुर ही को दरदराये डारते। कहीं अजगरों का दूर ही से पशुओं को खींच २ कर निगल जाना, कहीं काली नागिनों का उस ओस आसव पान से उन्मत्त हो बलखा खा कर तलमलाना, कहीं काले नाग फन फैलाए फूंकारते, कहीं विषभरे कराइत अहङ्कार से हुङ्कारते, कहीं अपने तीक्ष्ण तालू के दातों के गर्व से गर्वित गोहुँअन गुरगुराते, कहीं घोड़ कराइत घोड़े की भाँति हिनहिनाते, कहीं डोड़हे आते, कहीं असड़िहे जाते कहीं धामिन धातीं, वो कहीं चीतरें चिङ्घारती, कहीं बिच्छू और खनकजूरे डोलते, तो वहीं गोह और विषखोपड़े बोलते। निदान इसरीति जब अत्यन्त घोर और भयंकर समय व्यतीत होने लगा, दीन जीव व्याकुल हो बिलख बिलख कर लगे कोलाहल करने ज्योंही देखा कि मेघे अत्यन्त जोर से सोर कर रहे हैं, झींगुर झिल्ली और रींवें भी रींव रींव कर अपना सुर मिलाने लगे जिसके बीचो बीच

छपया चुहचुहिया, चम्मे कैसे सुन्दर रंग के साथ समका ताल गिराते; टिट-हरी, उल्लू, खूसट भयंकरी इत्यादि विहंगों ने चतुरंग तराना, तिखट की अलाप अलापा कि जिसे सुन सुजान सरहँस विबस हो लगे।

संगीत रस के एक मात्र प्रथम श्रेणी के रसिक सिखी समूह भी षड्ज स्वर से कराहने लगे, इधर जब कोइलें पञ्चम स्वर को संवार गिट गिरी भर भरकर कूकने लगीं, तो उधर पपीहे भी ऋषभ स्वर को साध पिंहकारने लगे; अब जो पीय पीहो ! पिया कहाँ की ? की धुन सुन परी-विचारी कृष्णाभिसारिका नायिका कि जो इस समय असित सिंगार साजे स्याम निसामें मिलीं पूर्वोक्त भुजंग मणियों से प्रदर्शित मार्ग में शीघ्र बेग से अपने प्रीतमों से मिलने जाती थीं रुककर सोचने लगीं कि हैं ! क्या वह वहाँ नहीं ! (सोचकर) ऐं, है, ये तो पापी पपीहा है ? अरे ये दई मारे ! इतनी देर कर भला तुझे क्या फल मिला ? तदपि ऐसे कह कर चलीं, पर तो भी विप्रलब्धाओं की भाँति चित्त में सोक सरिता की कहर लहरें उठने लगीं, और बिप्रलब्धाएँ नदी कूलस्थ वृक्षों की भाँति जीवन से हताश हुईं, वासकसज्जाएँ कि जो सुथरी सेजै सवाँर सोलहो सिंगार साजे दर्पण में अपने आनन की द्युति देख प्रसन्न मन पिया के पैर की आहट सुनने को ध्यान लगाए बैठी थीं, सुनते ही उनके मयङ्क मुख की द्युति मन्द हुई, मन पर मानो नैराश्य की घटा घिर आई, और उत्कंठिताओं की भाँति उत्कंठा की अधिकाई होने लगी, फिर उत्कंठिता की उत्कंठा के पूर्ण समय में जो यह बोली सुन पड़ी गोली सी लग गई मूर्छित हो मयंक मुखी पर्यङ्क पर बिजली सी गिर पड़ी, आगत पतिकावों की आखें फिर सावन भादों सी मोतियों की लड़ी सी आसुवों की झड़ी लगा दिया, सीरी उसासों के सहारे सहेलियों से कलेजा थाम कहने लगीं कि अरी ! संखिये की पुड़िया और हलाहल का प्याला जल्दला !! बस अब मैं जी चुकी और वे आचुके !!! मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका भोरी भामिनियों ने चौकन्नी हो चित्रमृगी सी टकटकी लगा सोच कर फिर व्याकुल हो कहने लगीं कि हाय ! में कुछ नहीं जानती ! तू उसी बिसासी से पूछ ! मैं तो अब मरने जाती हूँ। मुझे इतना अवकाश कहाँ जो बताऊँ कि वे कहाँ जाँयगे, हाँ ! मेरे प्राण अवश्य सुरपुर जाते हैं वे चाहे जहाँ जाँय, इससे मुझे क्या; अब वे विधुवदनी वियोगिनी बाला अर्थात् प्रोषितपतिकावों की कौन दशा कही जाय कि जो इस धुनि को सुन चौंकी, आँखे खुली तो छाती पर हाथ पटक कर बोली कि आह ! अब क्या करूँ ? कहाँ जाँऊ ? क्या खाँऊ ? और कैसे मरूँ ? न जाने

वह निगोड़ा विधाता इतना मेरे पीछे क्यों पड़ा है ? मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जो ऐसा दुख केवल मुझी को उसने झकेल रखा है, अरेबिसासी ब्रह्मा क्या तू ने ऐसे मेरे मनोहर और सुकुमार अङ्ग केवल अनङ्ग के बाणों ही के लक्ष्य हेतु बनाया था;हाय ! ए निर्दयी क्या तुझे दया का नाम भी भूल गया जो ऐसे शुक लोचन से पाला डाला; हाय ! क्या तूने असंख्य तारागणों के सहित संसार सुखद सशाङ्क के अपमान के लिए सूर्य को नहीं संवारा ? और कुमोदिनी को शोक मूर्छा से मूर्छित नहीं किया ? बाचाल चंचरीक को चम्पे पर चकित कर कमल कलिका का अनादर नहीं कराया ? अथवा स्वाती सुस्वाद सलिल के स्वाद से बिचारी चातकी को वञ्चित कर सदैव तृषित नहीं रक्खा ? या केवल जल भुनकर राख हो जाने ही के अर्थ व्यर्थ परवाने को दीपक का प्रेमी नहीं बनाया ? इसी रीत हमसीं अभागिनी के काम तमाम करने को काम और पावस का बनाना क्या किसी और का काम है ? अरे नहीं ! नहीं !! नहीं !!! पर ! तू चाहे जो कर इसमें किसी का क्या चारा है ? नहीं तो यहीं समय आज सब को सुख का साज साज रहा है; कोटियों सौभाग्य-वती ससिमुखी अपने प्रियतमों के छाती से लगीं मधुर अधरासव पान दान से उन्मत्त करते उनके हृदयों को कलित कठोर कुचाग्र अकुंश से छेदतीं, कोई अपने चंचल चारु चखों के बाण उनके चित्त में चुभातीं, कोई रंग महलों में उमङ्ग भरी अनङ्ग के रङ्ग से रंगी केलि कथा कह कह कलोल करती हुई उनका मन हरतीं । हाय कोई अटावों पर बैठी सूही सारी की छटा से कारी घटा के बीच आप दामिन बन नैनों की पटा फेर उनके धीरता के गढ़ को कटा करतीं, कोई बाटिकाओं और उपवनों में अपने प्यारे पी के संग सुरा पीके गले में हाथ डाले टहलतीं पावस की शोभा देख देख मगन मन मनमानी चुहलें करतीं; कभी संग ही संग हिंडोरे और झूलों पर सहेलरियों की सहायता से झूलतीं मलार और कजली सावन की अलापैं सुनतीं सुनातीं वा गातीं हुई तनिक भी झोंका के लगते ही भयभीत हो चट चिमट कर प्यारे से लिपट जातीं और व्यर्थ भी ससङ्कित सी सतरातीं कभी उसी रस में नाक भौं सिकोरतीं, कभी मदनोन्माद से उन्मत्त हो मुस्करातीं और तरह तरह से चोंचले बघारतीं हैं ।

स्वकीयायें दोनों कंज से कर के ऊपर मिंहदी का रंग जमाये, मानो अपने अभागे निष्फल प्रेम के प्रेमीजनों के निज पातिव्रत धर्म्म की छुरी से हलाल किए उनका लहू हाथों में लगा कर अपनी संगदिली और बेदिली, तोते चश्मी

और बेरहमी निर्दयता और निष्ठुरता, रुखाई और ढिठाई, बड़े घर वालियों की मर्यादा, और सच्ची सुन्दरताई का स्वाद, कुलङ्गनाओं का धर्म और पक्के प्रीतिपात्रों के कर्म्म का सुबूत सबों को दरसा कर मानों प्रेम के पन्थ चलने वालों को यह सन्मार्ग अर्थात् राह है इसकी शिक्षा सी देतीं। समय को अनुकूल जानकर अनुकूल प्रिय के प्रिय कार्य्य में जी लगाये, चन्दन में घिसी केसर जोवन से भरे उभरे जोबनों पर लगातीं गोल लोल कपोलों को मृग मद से चित्रित कर, कलानिधि से अमल ललाट पर अफ़शां, और सितारें सजाती हुई मुक्तामय अलङ्कारों से अलङ्कृत हो सूही वा सब्ज़ सारी से सुशोभित होती परकीयायें अपने उपपति यार के तार में नैनों की कटार की धार पर सुरमें की वार संवारती, भौंहों की तलवार सुधार कर सिवार से बार के फन्दे बना फन्दे में लाने के हेतु तैय्यार होतीं, कुसुम्भी आंगी में मस्ती से उठे आते नहीं समाते भी, पीन पयोधरों को कस कस कर भी कस कर बन्द बाँधती, कि वे काहे को मानते उन्मत्त बीरों की भाँति आगे ही बढ़ते हुए कंचुकी दरकाए देते, इसी रीत घांघरी घरी घरी कस कर बीर वेष बन, मल्ल मन भावन में मन दिये, समर के समर का साज साजे, तन कर छाती ऊँची किये, अभिमान भरे चारु आँखों से चारों ओर चौकन्नी चितै रही हैं?' वाराङ्गनायें अर्थात् सामान्या अपने सघन घनोपम अलकों के बीच बिजली से विजली को चमका अपने बैसइक यारों के दिलों पर बिजली सी गिरातीं; ज़मुर्दी ज़री के काम के कलीदार पाजामे पर धानी (पेशवाज़) पहने मोर मछली वाले पत्ते से चान्द को ढाँपे और गुले अब्बासी रेशमी रूमाल लिए सुशोभित आपही सावन भादों बनी जवाहिरों से जरित जुगनू को जुगजुगातीं मिशकीं काकुलें काला नागिनों से अपने आशिकों को डसवातीं सतरातीं, मलार का अलाप, और सावन की लय, कजली के तान से मियाँ तानसेन के भी कान काटतीं, नृत्य में चंचलता से चंचला को लजातीं, सुन्दर रस टपकते भाव से कलेजे पर घाव कर तन मन धन के दाव को मार, बेदिल दिल देने वालों को दीन और दुनियाँ दोनों से ले डालतीं। अतएव "मरिजैबो भलोविष घूंटि अलीन, बियोग में बैस बितैबो भलो" पर यहाँ कौन इस झंझट को झेलै, ज़हर में भी लहर की लहर सुनतीं हूँ और हमें लहर से क्या मतलब यहाँ आनन्द के अक्षर मन्द भाग्य में लिखे नहीं गये, निदान यह कहकर कर में कटार ले कहा कि, रे निरदई दई! ले अब सन्तुष्ट हो, और रे कुटिल

दुखसे तू अनभिज्ञ नहीं पर तो भी तुझे मुझ पर तरस न आई, परन्तु अब तू अपना काम तमाम कर ! क्योंकि मैं अपना काम तमाम किए देती हूँ, अरे पापी पावस ! अब तू भी प्रसन्न होकर अपनी विजय की दुन्दुभी विनोद से बजा, और ये कठोर चितचोर ! जो तेरे कटाक्षों के कोर की करद, और जुग भौंहों की मरोर की तलवार की धार से जीव बिहंग बच रहा था, वर्षा वधिक उसे आज तेरे विरह के विसिख से मारा, अब तू विदेस का मनमाना मज़ा लूट, मन मेरा जो तेरे पास मरने पर जायगा, यदि तुझे याद दिलासके स्मरण रखना, और तो जान चुकी प्रीत की रीत, तथा प्रेम के नेम, अब यह वियोग का सोग़ नहीं सहा जाता, अतएव ले मैं तो अब तेरे हवाले हुई, निदान यह कह उस बेकल कलकामिनी ने कटार कलेजे को सौंप आप अपनी आँखे मूँद लेट गई; बस फिर क्या था इस अकथनीय अनर्थ को देख कर आकाश की भी छाती अरे से फट गई अर्थात् दामिन के मिस दरक गई, गरज के व्याज अत्यन्त आर्तनाद से लगा चिंघाड़ कर डाहैं मार मार रोने, कि आँसुवों के बूँद की झड़ी लगा दिया।

जब इस रीत चञ्चला चमकने लगी तो घुमड़े घन घनघोर सोर कर मुशलधार जल बरसने लगे अरे ! यह तो ऐसे जोरसे तड़पा कि मानों कहीं बिजली गिरी, देखो ! क्या चपला की चमक से चखों में चौंधी लगते ही चपला सी चमक चिहुंक कर चटपट मानिनी भामिनियाँ सेजों से उचट प्रिय से लिपट लिपट कर मुँ चूमने लगीं; अब इस चमक के आगे सर्प से ले खद्योत पर्यन्त जीवों की दुति अदृश्य हुई और धूर्वाओं की धुन को सुन चिड़ियाओं इत्यादि की चुन मुन भी नक्कार ख़ाने में तूती की आवाज हो गई।

निदान अब अरुणशिखा बैतालिकों ने समय की सूचना करना आरम्भ किया कि हे धर्म्मावतार ! अब महाराज उठें ! विचारी चकई चकवे के वियोग से अत्यन्त व्याकुल विलाप करती हुई निज पति के मिलाप की आज्ञा माँगती है, सुगन्धित शीतल वायु स्वच्छ जल परमाणुओं के लिए उपस्थित है; यह सुन कर ज्योंही उठे और जब शयनागार से निकले और दिन के बादतुअन के दर्बार में रौनक अफ़रोज़ हुए (पधारे) कि चंचलखञ्जरीट दूत आकर अर्ज करने लगा, कि हे महाराज सच्चे ऋतुराज राज ! सरदार सरद ने निवेदन किया है कि मैंने हुज़ूर के प्रस्थान के समाचार को सुन यद्यपि अत्यन्त क्लेशित हुआ, पर तो भी उन समस्त आज्ञाओं को सुन कर सावधानी

से सब प्रकार के प्रबन्ध में तत्पर हुआ; जो यह आज्ञा हुई थी कि तू सारा देश देख कर शीघ्र समय और देश दशा की विज्ञप्ति कर ! अतएव समस्त भूमि भ्रमण कर देखा तो हर देश को हर तरह सुख से भरा सुहावना पाया, प्रजा समूह प्रसन्न मन गुनगान कर महाराज को आशीर्वाद देती हैं अतएव सविस्तर समाचार यों निवेदन है, कि गवंई गाँव में किसानों के खेतों में धान, जड़हन, सावां, कांकुन, कोदो, मकरा, मकाई, ज्वार, वाजरा, मूंग, मोथा, उरद, इत्यादि सब शस्य साल भरसे भी अधिक सब के खाने भर को भरपूर हैं; राज कर देने के अर्थ ऊख, कतारे, और पौढ़े बहुत हुए हैं, गृहस्थी और किसनई के कार्य्य के निर्वाहार्थ सनई और पटुआ भी कम नहीं, शीतकाल में शीत से अभीत होने भर को कपास और नमी भी अच्छा है, तेल के लिए तिलभी और एरन्ड भी कम नहीं, अतिथि के आतिथ्य और मेहमानों की मेहमानदारी तथा बड़े आदमियों के सत्कार और नज्र के लिए अच्छे जड़हनों की भी क्यारियाँ लहरातीं कि जिनमें 'रानीकाजल', राजगोल, राजहंस, शकर चीनी, कनकजीर, नौआब पसन्द, बासमती इत्यादि उत्तम हैं; व्यापारी कृषिकार भी नील की, मील की मील क्यारी देख मारे मोद के फूले नहीं समाते, योहीं कोयरी और काछी भी अच्छी तरकारी और भाजी देख राज़ी हुए अपनी आराज़ी में से खीरा, फूट, पिंहटा, परवर, खेकसा, कुनरू, कुहंड़ा, केला, लौआ, नेनुआ, तरोई, भिण्डी, भाँटा, भटेस, सेम, सेमा, केवांच, बोड़ा, ग्वालिनी, मरसा, सुथनी, गर्आ, शकरकन्द, ज़िमींकन्द, अल्वी, वराडा, इत्यादि खोदते, तोड़ते, धोते, सजाते, बेचने के लिए जाते। ग्रामीन दीन जनों की स्त्रियाँ नवीन कोपलें, चकौंड़ की तोड़ और दुद्धी, पथरी, पोई, और अंठगंठवा इत्यादि के शाक ऊसरों से नोच खसोट और खोंट खोंट लातीं,इसी रीत तालों में से भी करेमुआ और गिड़नी, बनचौरैया, अमलोनी; तथा गाती हुई खेतों में निराती भी लहेसुआ, सुरुआरी इत्यादि के शाक लिए आतीं, कि आनन्द से सपरिवार खातीं और एकपंथ दो काज करतीं प्रमुदित हैं; धन मानों की बाटिकाओं और बगाचों में आम, इमली, अनार, केले, कैत, कटहर, बड़हर, नारियल, नीबू, नारङ्गी, रायकरौंदा, अमला इत्यादि के वृक्ष फलों से लदे ऐसे गरुआ गये कि फेंकने को भी नहीं सिरांते, कहाँ तक कहैं कि रविशों पर की मिहंदियाँ भी फलवती हो ऐसी फबी हैं कि मानों कुरङ्गलोचनी कामनियों के कञ्ज से कलित हाथों पर की बुनकीदार मिंहदी लगी चित्रताई की छबि छीन ली। उपवनों में केवटी

लताएँ श्वेत पुष्पों से ऐसी सोहतीं कि मानो सुफेद चादर सी ओढ़ ली हैं, अमृता (गुर्च) भी मिली वृक्षों से सुहातीं, अमर बौंर अर्थात् आकाश बौंर ने तो ऐसा बहुतेरे वृक्षों को जकड़ लिया कि जैसे तमाशवीनों का सरबस रस कसबियाँ चूस लेती हैं; कि जिसे देख बिचारे तमाल कमाल सोच में पड़ काले पड़ गए, बबूल अपने स्वर्णमय सुमन के रक्षा के हेतु चोखे नोकदार काँटों की साँग साज सजग हुए; सूमड़े ताड़ आकाश में जा अपने फल फलाये, तो देखा देखी विल्वने भी कठोर ताई की कोठरी में बैठने के फल से पीले पड़ गये, परन्तु इस क्षुद्र व्यवहार से रुष्ट वट फलों के ब्याज मारे क्रोध के लाल हो उदारता से बरोहियों के हाथ पसार कर आरम्भ किया, कि उदार पीपर, पाकर, गजहँड़ इत्यादि वृक्ष मारे हर्ष के फलों को स्वादिष्ट कर खिलाया, यहाँ तक कि नीम का फल भी मीठा हुआ, मधूक वा महुआ का फल भी मारे मधुराई के चूने लगा; अब इस ईश्वरीय सत्र (सदाबरत) से परिपूर्णोदर भोजन कर चिड़ियाएँ सुख से घोसलों में बैठी टुकुर टुकुर ताकतीं और इस लूटा लूट का आनन्द देखतीं। जङ्गलों में इधर जङ्गली बिहङ्गों का ढेरा हँसि, बैर, मकोय, वनकरौंदे, के पके फलों को देख (बेर कटा) यानी उन्नाव ने भी उन्नाबी बस्त्र से सजित संतुष्ट किया, जब देखा कि बन्यजन तरकारी खा खा कर अघा गये तो पेंडार ने अपने फल पीले कर मानो सोने के वरक लपेटे लड्डू से लटका कर चिड़ियों को ललचाया, तुरन्त मैन फल के फल भी सोने के बताशे बन गये, फिर तो समुद्र फल और ढेर भी फलों का ढेर लगा दिया। हर्रा, बहेरा तथा आँवला (अर्थात् तृफला) फलों से वृक्ष इस लिए लद पड़े कि कदाचित् फलों की बहुतायता से पक्षियों को अजीर्ण न हो जाय, मानो ईश्वरीय औषधालय खुल गया। यद्यपि करमा, टिकुरी, कुआँट, अँवंण सावन, अमिलवेत, पलाश, झुनझनी सिरसा भी फलों से पूर्ण हुए पर इन्हें कौन पूँछता है क्योंकि कन्दमूल इत्यादि के आधिक्य से निरादर किए गए तपस्वी और ऋषिकुमारों से परवर, खेकसे डूंडर, करेरुये, बिम्ब, इत्यादि लताओं के फल, फल कर फैले हुए सघन द्रुमावलियों ही की अटारी पर चढ़े, पक कर लाल हुए मानो पूर्वोक्त जनों से नेह का नाता दूर कर खग वृन्दों पर स्नेहयुक्त हो प्रवाल समलाल दुकूल से मढ़े जब नूतन प्रीति पात्रों के मुख चुम्बन करने लगे तो गुले अनार के द्युतिधारी बुलबुल खाना के फलों को बुलबुलों ने खाना आरम्भ किया। यद्यपि कपटी इंदारून के फलों ने भी दम्भ कर ऊपर से कैसी ही शोभा को

क्यों न धारण किया पर तो भी भीतरी आखोर से निरादर के भाजन हुए; इस दशा में शोभापुञ्ज गुञ्ज ललित वेष बनी आन्तरीय कठोरता के कारण मूँ काला कर अपने करतव का फल पाकर चिटकने लगीं; जब देखा कि इसी रीति रत्ती रत्ती स्यामताई ले रत्ता (कोड़ेना) भी चिटका चाहती है कञ्जा कञ्जई रंग में लपेटे फलों को खारदार जिरवख्तर पिन्हाया कि न तो चिटके न चिड़ियें चोंच चलावैं। किवाँच ने किमाचीरंग की बानात की खोल में फलों को भर खुजली पैदा करने वाली सफूफ उस पर भुरभुराया बिछवावों ने भी अपने पञ्जे में चोखे काँटों का बिछुआ लगाया।

न केवल पक्षी ही ऐसे सुखी हुए किन्तु धूलि के नाम भी न रहने से स्वच्छ सुशोभित भूमि, पर्वत, शृंग, गुफा, कन्दरा, दरी, कानन, कुञ्ज, कछार कूल, पुलिन, हरी घास, गुच्छ, गुल्म, कन्द मूल, फल, फूल, की अधिकाई से पशुवृन्द भी आनन्दित हुए; और ससा, साही, शृगाल, लोमड़ी चरखे, लकड़-बग्घे वृक, गैंडे इत्यादि तथा पूर्वोक्त पशु उस कुश, गँडरा और खर के बीच चले जाते भी नहीं लखाते, कि जिन्हें उनके शत्रु (दीन को प्रबल पशु) और व्याधा तथा शिकारी झख मारते हकँवा भी कराते पर नहीं पातेमानों उन्हें यह बैरियों से बचने के लिए क़िला हो गया है। अब नदी, नाले,झरने, सोत, सर, वापी तड़ाग भी जल स्वच्छ कर शोभा युक्त हुए क्योंकि सरितावों ने समस्त संसार की गर्दगुबार ले जाकर अपार सागर में जा बहाया; और लहर, भवँर चद्दर, तोड़, छटन, तीक्ष्णधार कम हुई कि पाताल की भी मछलियाँ पन्न पन्न पर मारती नज़र आने लगीं, कि नक्र, मकर, ग्राह, सूंस, कछुहे, ऊद इत्यादि के भी भोजन में अब कठिनाई न रह गई अतएव वे आनन्दित मन स्वच्छन्द बिहार करने लगे; कोई मेढकी की खोज में नदी कूलस्थ नाना प्रकार की घास तथा नर, नरकुल, वेंत, नदनरई, औरवों का इत्यादि की वेतरों में जो शोभा से भरी हैं घुसे खोजते, कोई और कहीं शिकार की तार में छुपे बैठे हैं; आकाश में उड़ती हुई ठहरीं धोबइन, तलीचरैया, कौड़ेनी, चब्भा इत्यादि (वारि बिहङ्ग) आबी चिड़ियायें मछलियों पर निशाना साध चब्भ से घुस पानी में से शिकार ले चलीं कि छेमकरी उनसे भी छीन कर चाभ गईं, अब फिर वे बिचारी अपनी ताक में लगीं, पन बुड्डी, तलही, वतक, ताल वतकी, कौआरी इत्यादि तो दरियाई घोड़े के समान पानी पर दौड़ दौड़ आहार कर विहार करतीं; तट पर भी जांघिल, जलकाक, करांकुल, क्रौञ्च, बक, टिटिहरी, चकवाक, सारस, मराल, इत्यादि भी

भोजन की कमी न देख मज़े में मस्त प्रमुदित घूमते; कुलस्थ वृक्षों पर जुर्रे, बाज, बहरी इत्यादि वीरविहंग भागते चले जाते भी पञ्जे से दबूच चोंच से चमड़ी नोचकर खरगोश का गोश्त खा भूख दूरकिये ग़रीब गौरैयों को गर्व से घूर रहे हैं; कि हारिल, कबूतर, तोता, तीतर, लवा आदि भी भय के अग्नि में भुन कर मानों लावा या कबाब बने जाते हैं; सुश रवौत्रा किस मज़े से छछूंदर और धूंस को चैन से चूस चूस खाकर तृप्त होता है, भुजैटा फनगों को खाता कटफोरवा आँखफोरवा को आँख मूंद निगल जाता, जब भृङ्गराज खड़ो बिस्तुय्या लील गया, तो नीलकंठ गिरगिट का कण्ठ कर गट से कंठ के भीतर उतार भ्रटपट भागा; दुष्ट कौवे अधमरे रोगी जीते हुए पशुओं के भी चोंच से खोद कर आँखें निकाल मलाई के लड्डू से उदर में उतार गये तो चील्ह चिड़ियों के अंडों को ओला सा उड़ा गईं; परन्तु साधु गृद्ध; गरुड़ बक्राब आदि पक्षी केवल मुरदे जीवों के मांस से अपनी उदर पूर्ति कर आनन्द में आँख मूंद ईश्वरध्यानावस्थित हैं।

बिशाल ताल और भ्रील समूह इस काल कमाल उदारता पर सन्नद्ध हुए मानों निज बपु वृक्ष के फल तुल्य तीर्नी, बेरा, सिंघाड़ा, सेरुकी, कसेरू, मृणाल इत्यादि से भरे पूरे मानों अब त्यागी व फलाहारी तथा व्रत रहने वाले भक्तों को आश्वासन दे रहे हैं। भगवती बसुन्धरा जैसे बृद्ध रोगी, और नवयुवक सयोगी जनों पर मानों दया कर नाना रोगों का नाश करने वाली तथा बल और वीर्य्य की वृद्धि करने वाली औषधियों को यथाशतावरी, मूशली, ब्राह्मी, सहदेवी भृङ्गराज, मयूर शिखा, रत्नमाला, ईश मूल, पुनर्नवा, कपूरी, हुरहुर, हंसराज आदि को उत्पन्न किया; तैसे ही वियोगी जनों पर भी कृपा कर उनके वियोग के रोग छूटने के अर्थ सिंगिया, कौआरी, कनैल, करियारी इत्यादि प्राण हारक विष (ज़हर क़ातिल) को प्रकाश किया कि उनके लाल मुकुल गुलेगुलहड़ की लालित्य को लजाते अपने रङ्ग की शोखी से खून टपकाते मानो आपना .खून करने (.खुद कुशी) का तरीक़ा बताते हुए कहते कि जो हमें खाते वे चटपट मर जाते हैं इससे आओ और खाओ तथा सांसारिक दुःख एवम् वियोग का सोग दूर बहावो।

निदान अब समस्त संसार के जीव मात्र सुखपूर्वक निज निज आहार बिहार से सुखी आनन्द निमग्न भये महाराज का गुनगान करते हैं; जो फल फूल खिलने में देर किये थे खिले, कुछ कसर किसी प्रकार की न रही। राह और मार्ग स्वच्छ हुए महाराज के चरण कमलों से पवित्र होने के अभि-

लाषा करते वे राह ताकते; अतएव हे महाराजाधिराज़ ऋतुराज राज महाराज। जो चरण कमल कृपा सौरभाश्रित बसन्त के खिले सुमन सौरभ से वञ्चित मतिमन्द मलिन्द उसका दम भरते थे वे कमल कलिका के कारागार में पड़े सुगन्ध की धुकनो से अम्लाननाकों में दम आ गया है जिनके त्राहि त्राहि का पुकार करते मरते हैं, क्योंकि अपने प्रिय सूर्य्य के दर्शन बिना कमल के कलित मुकुल केवल सूर्यमुखी के मुकुलों के मुख सूर्य के मुख की अनुहार जान निहार कर आज लौं तो किसी भाँति अपने प्राणों को रक्खा, परन्तु अब जो वे भी दसो दिशाओं में दृष्टि देकर सूर्य को न देखा अतएव अपनी अभाग्य की सन्ध्या समय जान समय को न पहचान दिशा भ्रम होने के समान चौकन्ने से संकुचित सिर• नीचे किये अदब से अपने दुःख का निवेदन कर रहे हैं; अतएव अब आज्ञा हो कि यद्यपि काली उर्दी की जङ्गी सैन्य अर्थात् स्याम घन घटा समूह की असंख्य पलटनें जा चुकीं, पर अब ये श्वेत वस्त्रधारी फौज को भी आज्ञा हो कि आवश्यकतानुसार रह जाँय, और भगवान् प्रभा-कर की प्रभा को आने में अटकावन करें, कि जिसमें सूर्य मुखी और कमल के फूल खिलें, तथा अपनी मूर्खता का फल पाकर दया योग्य हो गये दीन मधुकर भी दुख हीन हों; तथा मयङ्क मरीचिकाओं को दरसा कुमोदिनी कामिनी के मुख मुकुल को खिलावें।

आश्विन १६३८ वै० आ० का०

बेसुरी तान

वाह क्याही ढंग पर आये ! अच्छे रहे ! शाबाश ! शाबाश ! क्यों न हो आप ही तो है, क्या कहना है, आपही का काम था, कि जिसका कविवचनसुधा नाम था, पर जब से आगे का कवि चला गया, और पीछे से शब्द सुधा भी सूधा निकल गया, केवल वचन बच रहा, तिस पर भी आप ने जो इतना टिन्न फिस्स किया तो बड़ा परिश्रम पड़ा, यह बेसुरी तान और यह अनजान राग बन्धन, यह धन्य आप का साहस है। पर पहिले क्या आप पड़े सोते थे जो अब जगे। या तब आप अपने आपे में न रहकर कहीं हरियाली की सैर करने तो नहीं गए थे। वा कुछ पत्र का मतलब ही न समझ में आया ! अथवा पढ़ा नहीं था ! परन्तु न पढ़े होते तो अपने नम्बर ३ भाद्र शुक्ल ४ के पत्र में ऐसा क्यों लिखते कि "हम बड़े हर्ष के साथ आनन्द कादम्बिनी नामक मासिक-पत्रिका को स्वीकार करते हैं; इसके विषय भी मनो-रंजक और उत्तम है ईश्वर इसे चिरायुव करे" जिसका गत संख्या में हमें भी बहुत सोच साच के धन्यवाद देना पड़ा; यद्यपि हमको इसके कारण की खोज तभी से थी, परन्तु अब निश्चय हुआ कि इससे अलग कोई इसका और कारण नहीं, अर्थात् सम्पादक महाशय पूंछहिलौअल कर सुनी बात अनसुनी करना चाहते थे, कि कोऊ लानत -मलामत दे दढ़ किया कि नहीं ! कुछ जवाब देना अवश्य चाहिए, झूठा हो या सच्चा उचित हो या अनुचित, चुपचाप बैट जाना ठीक नहीं; अब लिखने वाले की खोज हुई (क्यों की आपका लिखा तो कदाचित साल में कहीं एकाध पंक्ति, किसी विज्ञापन वा सूचनादि में हो तो हो नहीं तो नहीं सही) निदान लेख आया अब विचार होने लगा कि क्या लिखूं, कहाँ से दोष ले आवें इसके शरीर में श्यामता कैसे कह बतलावें, फिर सूर्य के प्रकाश से चमकती दोपहरी में तम कहाँ दिखलावें।

अब बिचारे को बिचार से लाचार हो अनाचार पर कमर बाँधनी पड़ी निदान जो वहाँ नीबू के नमकीन आचार का स्वाद आया, जी खट्टा हो गया उकलाई आने लगी व्याकुलता से जा समालोचना साहित्य के गढ़े में

गिर तो पड़े, बस आर्तनाद से करुणा क्रन्दन करने लगे, अरे अकिल की टाँग तो टूट गई रे "लंगड़े" तो हो गए। अब तो "नेस्तनाबूद" हुआ जानो अब खैर नहीं! बहुत दिनों की लालसा थी सो "सुरपुर" अब चले। बस हाय हाय मच गई रोने की आवाजें आने लगीं, सुनिये वह! चन्द्रिका का चेंचें स्वर अलग सुनाई दे रहा है।

प्रिय पाठको! हमने जो अपने पत्रिका की प्रथम संख्या में लिख दिया था कि (सच पूछो तो जब से कवि वचन सुधा से सुधा का स्वाद "सुधा सुर पुर" में जा बसा और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के चन्द्रिका में चमकीला पन और मनोहरता का गुन मोहनपन के परदे से ढँप गया इत्यादि) इन दोनों पंक्तियों ने इन दोनों का काम तमाम कर डाला, और उर्दू की जो उन्हें आधार हो रही है होनहार दुर्दशा सोच ये मारे सोच अभी से बिह्वल हो गए, क्या करे! क्यों न चिन्ता करें, और इस छुपे मुदे मरम के खोल देने पर क्यों न कड़बड़ायें। पर अब टुक श्रीमान महाराज शाहजहाँ के खानदान की बची बचाई सब कुछ मुगलानी उर्दू की दुखतरे नेक अख्तर बीबी चन्द्रिका का जौहर कि जिसका इस वृद्धावस्था में विद्यार्थी शौहर हुआ है देखिए, वाहवा! क्या कहना है, येः चटक मटक! ऐ सुभान अल्लाह, मैं सदके! मैं कुर्वान! माशा अल्लाह! चश्मे बद्दूर। बीबी तुम्हारे इस सिन व साल पर इन नए नखरों ने तो वल्लाह बस बेतरह आफ़त मचा दिया। वाह क्या बोली है कि रोने में भी ठिठोली है, पर तिसपर भी आप के बड़े भाई हज़रत मौलाना कविवचन सुधा साहब कि जिनका दिमाग उर्दू की बू से फटा चाहता है यों फर्माते हैं कि "हाँ अगर कादम्बिनी हट जाय तो चन्द्रिका दिखाई पड़ै" सच है काद-म्बिनी से चान्द्रका सदा दबी रहती हैं। लेकिन यह आपके जनाव ऐडिटर साहब बेतरह फरमाते हैं, हजरत समालोचना ही न की समालोचना क्या है, गोया समालोचना सत है, नवनीत है सार है, जौहर है लुब्बेलुबाब है, खुलासा है, निचोड़ हैं; अपनी करनी से पाक हो जाना है, जवाब देही से बरी होना है, इधर उधर से सोच साँच कहीं से जवाब के बदले कुछ कह देना है, नाहक का झगड़ा मोल लेना है, सेतमेत का ठेना है, वल्लाह 'क्या बेगार टालना है, गोया बड़े भारी फ़र्ज़ के बोझे का उतारना है; सच है यह आप के बेजार होने का इज़हार है, और सूकूत के आलम का सुबूत है, मेरी हिमाकत का बयान आपकी लियाक़त की सिदाकत करता है। आपकी बोलियाँ आपी के हक में बन्दूक की गोलियाँ हो रही हैं, भला वह आप ने

क्या लिखा, क्या हिन्दू होकर भी वेद मंत्रों के बल को आप ने कुछ न समझा और फिर आप व्याकरण और संस्कृत को हमसे पूछते हैं, सच है ! जब आप हिन्दी, उर्दू, नहीं जानते तो व्याकरण और संस्कृत का कौन कहै ! विद्यार्थी न ठहरे। अब जो आपने संस्कृत व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया है, यदि परिश्रम कीजियेगा तो बोध संस्कृत का होगा। (पर खूब जानिये कि हिन्दी बे जाने संस्कृत से काम नहीं चलने का) और जो आप लोग अपने बगल में लिपटी हुई उर्दू के लिए चिल्लाते हैं, उसका कारण यही है कि उर्दू और हिन्दी का भेद आप को ज्ञात नहीं इसलिए मैंने आदि ही में (नागरी भाषा) का वर्णन आरम्भ किया उसे तो पढ़ लिया होता, इतनी जल्दी का कौन प्रयोजन था, जान तो लेते पर अब कहीं इस लेख में उर्दू देख न चौक उठियेगा, यह केवल इसलिये लिख दिया कि आप लोगों को जिन्हें उर्दू से शौक है लिखने का ढंग आवै; पर बड़ा सोच तो यह है कि जिसे आप शुद्ध देखते हैं, उसे भी अशुद्ध लिखते हैं, इसका क्या चारा है। यद्यपि आप लोगों के पत्रों को मैं कई बेर झाँक चुका पर सब तरफ और ही सूरत नजर आई, आप का पता जब कहीं न लगा, दूसरों के लेख से भरे पुलिन्दे में केवल समालोचना और सूचना मात्र जिसे हमें लाचार हो आप लोगों का लिखा लेख स्वीकार करना पड़ता है। इतनी ही जगह से आपके दोष आपके सामने दिखलाते और आगे के लिए इसलाह और सलाह देकर सोचते हैं, कि कृपाकर अब ऐसा न लिखिए।

आप इकराम फरमाते हैं कि "यह पत्रिका मिरजापुर से निकलने लगी है" वाह क्या कोई मुहाविरेदारी है "खैर यह बड़े ही एक आनन्द का मोका है कि बीबी उर्दू के बगल में लिपटी हुई रहते भी" तीन शब्द उर्दू, अर्बी फारसी, के आने पर तीनों अशुद्ध होते हैं। 'अस्तु लोगों में उसका तिरस्कार होने लगा' यह सच ही दिखलाई दे रहा है ! "ईश्वरी कृपा से शनैः शनैः औरों के संग को लोग छोड़ते जायगें" पर आप (उर्दू) से कदापि यह न होगा, आप तो अवश्य लिपटी ही रह जायँगी, चाहे ऊपर से नखरे तिल्ले और ग़मज़े करिश्मे क्यों न किया कीजिए, "हम तो चाहते हैं कि" अहा, हाहा, क्या मजा है क्या अच्छा ढंग है सदा रहमत ! "कादम्बिनी अज्ञान ग्रीष्म सन्तापितों को सुखदायिनी हो" कैसे हो जब आप देखकर भी अशुद्ध लिखे "आर्य्या भाषां धन्य ! "अलङ्कार चन्द्रिका यह पुस्तक जैसा नाम आकार से सुन्दर" अपने नामही के शब्द के तुल्य शब्द में भी जहाँ लिङ्ग भेद की

याद नहीं "एकाद ही" एक आध लिखना चाहिए! बेशक भूल गए "यह पुस्तक आनन्द देने वाला है, नई चाल का, पढ़ाए जाते हैं" हाँ हाँ हाँ फिर वही बात! भारत जननी काव्य छप गया है! अजी नपुंसक का ख्याल छोड़िए, इन्हें अपने तरह समझिए "अन्न वत्रे छुटी" ऐसी योग्यता कि ठेठ गिन्ती में गलती "मत्सर वा अभिमान से" च्यखुश "स्मरण देता है" धन्य! धन्य! "बन्धुओं की प्रार्थना करते हैं" क्यों नहीं! पर सच कहो क्या इतना भी ज्ञान नहीं फिर तो राम बेड़ा पार करैं। "दक्षण टिकिटिकी" हुजूर यह कौन सी जुबान है! "हक्क" वे अदवी मुआफ नीचे एक नुक़ता लगाइए। "उसमे नाम देने को ठीक पड़ेगा" यह बंगाली मुहावरा क्यों न हो। "तगाजा" गरीब परवर लफ़ज तकाज़ा है "अक्क"बस अब हम नहीं कुछ कह सकते।

न बीबी चन्द्रिका साहिबा सिर्फ कादम्बिनी ही पर जल भुन कर खाक़ हो गई, बल्कि पिनक में आकर आपने समस्त हिन्दी के पत्र मात्र को तुच्छ ठहरा कर निकम्मा बना दिया, मित्र विलास, भारत मित्र, उचितवक्ता, विहार बंधु, क्षत्रिय पत्रिका, हिन्दी प्रदीप, परन्तु अन्त के दोनों पर तो अत्यन्त कोप प्रकट करती है, और प्रदीप पर तो दाँत पीस पीस रह गई, पर आप को याद रहै कि इनमें से कोई ऐसे नहीं है कि जो आप के निन्दा करने योग्य हों, आप से सब अच्छे हैं।

यद्यपि आप हमसे लड़कर पीछे से गोल मगोल दीन वचन और अपनी हीनता भी कहती है अर्थात "हम लोगों की दशा पूरी बिगड़ी अतएव बंधुओं को सचेत करना ही है।" खूब! "बात बात पर झगड़े होने लगे, हम अपने सामने किसी को विद्वान या चतुर नहीं समझते" सच्च है। "चाहे जैसे मन माने अवाच्य और असफल लेख भी पक्षपात वा अज्ञता से प्रसिद्ध करने में हमें तनिक नहीं लजाते।" ठीक है निहायत दुरुस्त है। ऐसा काहे को कभी अपने ठीक ठीक ऐब कोई बताता है। "हम लोगों की बुद्धिमत्ता दिन दिन मारी जाती हैं!"हाँ यदि ऐसा है तो अब हम तुम्हें अधिक नहीं सुनाना चाहते, पर आप तो नाहक छाप की गलतियाँ और हस्त दोष को पाकर उड़ चली; इससे मुझसे भी न रहा गया। 'जोहर के जहर' वाह क्या शुद्ध लेख है, फिर नकल की यह शकल "नेस्तनाबूद के" यह उर्दू नहीं! बू से भरे कवि-वचन सुधा की, जिनकी ग़लतियाँ मैं नहीं लिखता "क्यों कि आप की लेखनी

विचारी कलम की कारीगरी पर वारी फेरी हो जाती है" तो कलम की कारीगरी के विषय में आप लोगों का कथन दो बात की सूचना करता है एक तो आप लोगों के समझ में उसका अर्थ न आना, और दूसरा छोटे मुंह बड़ी बात।

आश्विन १९३८ वै० आ० का०

दृश्य, रूपक वा नाटक

यद्यपि कुछ दिन से यहाँ नाटकों का प्रचार हो चला, पर तो भी ऐसा नहीं जैसा चाहिये; देखिये कि इसी भारत भूमि में एक दिन इसका ऐसा प्रचार था कि जैसा समस्त संसार में नहीं; कालीदास, भवभूति, श्रीहर्ष से महाकवियों ने अपनी विद्या बुद्धि और कविता शक्ति को सावधान हो प्रायः बड़े बड़े उत्तम और मनोहर नाटकों ही के रचना में व्यय कर डाला; और असंख्य कवियों के सहस्रावधि नाटक उत्तम श्रेणी के बन गये। जो यवनों के इतने उत्पात और उपद्रव पर भी आज गए बीते दिन पर सैकड़ों नाटक संस्कृत के हमें देखने में आते, और पूर्व समय के दशा की साक्षी देते तथा उस उन्नति की याद दिलाते हैं। बड़े बड़े महाराजाओं और महाजन, साहूकारे और विद्वानों के मन के बहलाव क्या, किन्तु चित्त के सन्तोष के कारण थे और सदैव सभ्यों के समाज और नरेशों के दरबार तथा हर्ष के कार्यों में इसी से काम रहता, बड़े बड़े गुणी चारण, कथक वा वेश्या, जिन्हें अपनी चतुराई की चमत्कारी दिखानी होती नाट्य में प्रवृत्त होते; और इससे उत्तम दूसरी कोई रीति भी न थी कि जिससे उन्हें उत्तम प्रकार से जीविका प्राप्त होती।

चतुर और उत्साही राजकुमारों को वीरता के नाट्य में खेल का सुख, और राजकुमारियों के महलों के नाट्यालयों में इस विद्या में अभ्यास के लिए सदा उत्साह और व्यसन सा हो गया था।

समस्त प्रकार से यही मुख्य और सभ्य तथा शिक्षादाई उत्साह का उपजाने वाला, राग रंग की सभा और तमाशा मात्र का शिरोमणि समझा जाता हुआ यहाँ प्रचलित रहा।

परन्तु यवनों के कृपा से, दश वर्ष पूर्व यहाँ इसे यह भी नहीं जानते थे कि किस जानवर का नाम है, केवल संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों की गणना हम नहीं करते परन्तु उन्हें भी अभिनय अर्थात् तमाशा देखने के आनन्द का ज्ञान न था, पर अब धीरे-धीरे कलकत्ता और बम्बई के बंगाली और पार्सी लोगों तथा गुजराती, और महाराष्ट्रों ने भी इसका आरम्भ किया और कुछ कुछ स्वाद लोगों को अनुभव कराया पर निःसंदेह गुजराती और महाराष्ट्रों की वीर

नाट्यप्रणाली अच्छी है परन्तु सामग्री इत्यादि बिल्कुल नष्ट और भ्रष्ट है बहुत ही कम नाट्यालय के रङ्गभूमि तथा परदे अच्छे हैं और बड़े बड़े बखेड़ों की कौन गणना है। बङ्गालियों के नाटक और उनके विषय भाव तथा कविता उत्तमोत्तम, नृत्य वाद्य नाट्य भी अच्छा, और भी सामान अच्छेई हैं परन्तु तो भी पारसियों से उत्तम नहीं।

इनके परदे और नाट्यालय के सजावट के साज, सुन्दर और सजीले, अभिनय के चारों गुण से युक्त पात्र, और उनकी समस्त प्रकार की बनक, हाव, भाव, कटाक्ष, कहाँ तक गिनावें सभी अच्छा है। केवल भाषा अभी अच्छी तरह शुद्ध और साफ़ नहीं है। सो भी यदि अन्य भाषा कि जिसे वे काम में लाये हैं ध्यान किया जाय तो इस कठिनाई के आगे उस न्यूनता का होना आश्चर्य नहीं, रही यह बात कि उन लोगों ने उर्दू बोली की जो इस देश में सदा हीन और दीन रही है, उसी से कार्य्य साधन का करना चाहा है--यह अवश्य कथनीय है।

यद्यपि योरपीय देश के इस विषय में उन्नति का वर्णन करना हमें आवश्यक नहीं पर तो भी जैसे अनन्य महाकवि शेक्सपीयर की कविता है, कि जिसके देखने से निश्चय होता है कि न जाने कालिदास सैर करता कहीं विलायत में जा वहाँ अपने नाम के संग कविता की चाल भी तो नहीं बदल डाली और संस्कृत में कविता शक्ति दिखा कर भी न तृप्त हो, अंगरेजी सी भ्रष्ट विद्या में अपनी करामात दिखा कर प्रतिष्ठा क्या दिया, मानों विचारों के भाग जागे।

तो जब उसी काल में ऐसे कवियों के बनाये नाटक कि जो मनोहरपन से पूर्ण हैं बन गये, और जहाँ तब से नित्य नई उन्नति होती रही; तहाँ के उन्नति की दशा का आज वर्णन करना मानों इस पत्र को और विषय से शून्य करना है।

निदान अब जो देखा देखी, एतद्देशीयों को जो उत्साह उत्पन्न हुआ, तो धीरे धीरे हिन्दी में भी नाटक लिखना लोगों ने प्रारम्भ किया और बहुतेरे युवक जब अभिनय के हेतु कहीं कहीं छोटी छोटी मण्डलियाँ भी नियत कीं और एक आध जगह दो चार नाटकों के अभिनय भी हुए; पर यह काम तो ऐसे छोटे उत्साह का नहीं—और अधिकतर जो यहाँ के लोग प्रायः आरम्भ शूर हुआ करते हैं, अतएव अब फिर वही पूर्ववत सन्नाटा खींच लोग चुप हो

बैठे, फिर भला जब आदि ही में कि जब वह कार्य, अन्त की कौन कहे मध्यावस्था को भी नहीं पहुँचा और लोग तृप्त से हो गए, तो फिर आगे का क्या कहना है।

यद्यपि हम इसका ठीक कारण नहीं कह सकते, पर तो भी जहाँ तक अनुमान कर सकते लिखते हैं।

अर्थात् प्रथम तो जो नाटक हमारी भाषा में अब तक देखे जाते हैं, उन में बहुतेरे तो प्रायः दूसरी भाषा से अनुवादित हैं पर उनमें भी कई बातें कथनीय हैं कि बहुतेरों में कहीं गान और छन्द का नाम भी नहीं है, जैसे शकुन्तला, बेणी संहार, रत्नावली, उत्तररामचरित्र, इत्यादि का अनुवाद; पर तो भी ये खेलने योग्य हैं, बिलकुल छन्दों ही में शकुन्तला का जिसे नेवाज कवि ने अनुवाद किया या दोहा चौपाई में प्रबोध चन्द्रोदय की तरह व्यर्थ तो नहीं, हम नहीं जानते कि जिन कृपानिधानों ने इसे बनाया उन्होंने क्या समझ कर इस व्यर्थ श्रम को स्वीकार किया, और उन महात्माओं को क्या पड़ी थी जिन्होंने इन्हें बनवाया और गुनाह बेलज्ज़त के भागी हुए; अब ये दोनों प्रकार के अनुवाद कर्त्ता दो बातों से लाचार हो अपने अपराध से बरी और मुक्त होते हैं, अर्थात् उनको पद्य रचना की सामर्थ्य नहीं, और ये गद्य लिखने से क़सम खाये हाथों में पिसान लगाये भण्डारी और शहीदों में नाम लिखाने बिना व्याकुल, हम प्रथम अनुवाद कर्ताओं का परिश्रम व्यर्थ कह बहुत सोच नहीं करते पर द्वितीय श्रेणी वालों के अर्थ अवश्य चुप भी नहीं रह सकते। इनके अतिरिक्त थोड़े अनुवाद ऐसे भी हैं, कि जो गद्य पद्यमय है पर उनमें भी कितने कुछ कुछ दोष से रहित नहीं हैं, बहुतेरे ऐसे हैं कि जिनमें पद्य के नाते केवल छन्द मात्र है, और गाने का जो नाटक का जीव है वहाँ समावेश नहीं—बहुत ऐसे कि भाषा अच्छी तो छन्द खराब पद्य उत्तम तो गद्य अधम, कितनों में नाट्य विरुद्ध क्रम, और थोडे ऐसे भी हैं कि जिन्हें न तो अनुवाद कह सकते हैं न नवीन, उनकी चाल ही दूसरी है, एक आध ऐसे भी हैं कि आदि से अन्त तक पढ़ जाइये पर तो भी यह न मालूम हो कि यह क्या था, जैसे कृतकैय वा कार्तिकेय या कृतकेटक कि जिसका ठीक नाम भी याद नहीं उसका अर्थ कौन जाने।

कारण यह कि कोई न तो कुछ वृत्त दे, न प्रस्तावना स्पष्ट रीति से लिखैं और लेख का ढङ्ग निराला रखते, कितने ऐसे कि दोनों क्या बल्कि अपने नाम को भी मिला तीनों खा जाते, बहुतेरे पात्रों के नाम का भी अनुवाद

करके आप रूप बन जाते और पूर्व कवि कीर्ति का कलेवा करना चाहते, यदि नाम का भी अनुवाद किया जाय तो पूर्व अंश कुछ रहै, पर विवरण हो तो भी चिन्ता नहीं, पर जानना चाहिए कि चाहे अनुवाद हो या कल्पित, परन्तु नाटक की तो कुछ लिखावट ही जुदी है, यह साहब जज की तज़वीज नहीं कि फ़र्राटे से तर्जुमा करते चले जाइये, यह तो कविता है कुछ बुद्धि को क्लेश दीजिए और दिल को दौड़ा कर कुछ करतूत कर दिखाइये, "सत्तगुर दत्त शिव दत्तदाता" से काम नहीं चलने का, ऐसी भी हथ-लपकौअल ठीक नहीं कि जो बेतरह उधर से कुछ उड़ा लिया और इधर ठूस दिया और असल में कुछ काट छाँट किया, और बदले उसके कुछ अपनी अकल लगा दिया। किन्तु जिस ग्रन्थ का आप अनुवाद करना चाहते और वैसे ही रखते, अवश्य उस श्वेत स्वच्छ वस्त्र को सुन्दर हल्के गुलाबी (प्याज़ा) रङ्ग से रङ्ग कर, सुशोभित कीजिए, पर ऐसा अमौआ की बोर न बोरिये कि धुलाने पर भी हाय हाय २ मँच जाय, और अपने श्रम के संग कागज़ का दाम, छापने वाले, लेने वाले, पढ़ने वाले, सुनने वाले, खेलने वाले और देखने वालों को भी हैरान परीशान, तंग और तबाह न कर चलिए, निश्चय जानिए कि योग्य कवि के कविता के अनुवाद का योग्य ही कवि का होना अत्यन्तावश्यक है।

अब आगे चलिए और नवीन रचयिताओं के रचित नवीन नाटकों की ओर ध्यान दीजिए।

प्रथम अभी नवीन नाटक जो सच पूछिए तो कोई उत्तम श्रेणी का ऐसा नहीं बना कि जिसका नाम हम यहाँ बतलावें, किन्तु मध्यम श्रेणी के भी कम हैं, परन्तु जिन नाटकों की गणना कर यह समझा जाता है कि इतने नाटक नवीन भाषा में रचे गये जब उनपर ध्यान दीजिए तो केवल इस भाषा के उपहास, हीनता, वा दोष प्रगट करने और इसके गौरव के नाश करने के सिवा और कुछ उनसे लाभ नहीं हैं। क्या आपने ग्रामी पाठशाला नाटक, शिक्षादान वा जयनारसिंह सबके गुरू गोवर्धनदास, इत्यादि को कभी नहीं देखा ? कि कोई तो दीदी ! बहिनी ! ऐसे ऐसे मेहरऊ शब्द से व्यर्थ भरे हैं, कि जिन्हें लिखते कलम को भी लज्जा आती है, और ग्रन्थकर्त्ता महाशय ने इस पर भी न सन्तोष कर गाली गुफ्ते और अत्यन्त असभ्य असभ्य शब्दों को लिखकर इच्छा अपनी पूरी की है, माना कि वे प्रहसन कह इनके दोषों को छिपाते हैं, पर क्या प्रहसन उस रूपक को कहते हैं कि जिसमें गाली हो ? कभी नहीं ? ऐसे भद्दे नाटक केवल फाड़ कर फेंक देने के सिवा और किसी

काम के नहीं; लोग कह बैठेंगे कि न सब की कविता एक सी और न सबकी बुद्धि एक सी होती है, पर हम इसको कब नहीं मानते, परन्तु सत् कवियों का अनुकरण तो करना चाहिए, गालिप्रदान, और ग्राम्य, व्रीड़ा, अश्लील, शब्दों के न रखने बिना कौन घाटा था।

इसका मुख्य कारण तो यह है कि अपनी जीभ और अपनी गीत फिर क्या मसल है कि "खुदा की दी मुफ्त दाढ़ी जब चाहा नोच लिया" बस जिसको जो सूझा अंट संट लिख नाम उसका एक नाटक लिख दिया, कवियों के रजिस्टर में नाम लिख गया, चलो छुट्टी हो गई, सच है "लोगन राम खेलौना जाना" वाह! नाटक और कविता कहाँ यह तो एक दिल्लगी ठहरी; हमने भी अपने नगर में सुना है कि लड़के गोली और गुल्ली डण्डे के खेल पर नाटक बनाते हैं, हम इसको स्वीकार करेंगे कि चाहे कल का लड़का नहीं आज का हो, और इससे भी क्षुद्र विषय पर कोई नाटक लिखै तो भी कोई दोष नहीं, पर नाटक हो तो।

देखना चाहिए कि योरोप देश के विद्या प्रभाकर महाकवि श्री शेक्सपीयर के कई नाटक बहुत ही छोटे छोटे विषयों पर लिखे गये, और अत्यन्त छोटे और प्रसिद्ध प्रसिद्ध किस्से और कहावतों पर भी उसने अपने नाटक बनाये, पर पीपल के बीज से मानों बड़ा भारी वृक्ष कर सबकी बुद्धि चौकन्नी कर दिया। "मर्चेन्ट आफ़ वेनिस (Merchant of Venice) नाम नाटक जो उसने लिखा है एक अत्यन्त क्षुद्र किस्सा से उसकी जड़ है, कि जो इस देश में भी काज़ी के न्याय के नाम से प्रायः प्रसिद्ध है, हमारे यहाँ के कवियों ने भी ऐसा किया, कविवर भवभूति कि जिसे कालिदास ने अपने मुँह से अपने बराबर कवि माना है "अहम् वा भवभूति र्वा" उसने मालती माधव केवल मालती (एक फूल) और माधव (वैशाख का महीना) इन्हीं नामों का काम तमाम कर डाला पर केवल वैसवारे के रहैया आहिन* कह तो काम नहीं चलने का, निदान अब हम इसको यहीं समाप्त कर आगे इसके उन नाटकों की ओर अपने कलम को रूजू करते हैं कि जो अच्छे कहाते हैं। वर्तमान काल के अच्छे लेखकों से लिखे गये, इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि रचयिता कोई प्रसिद्ध वा

---

*यह कटाक्ष शायद पं० प्रताप नारायण मिश्र के ऊपर किया गया है—इसका कुछ आधार पंडित जी का एक पत्र है—जिसमें उन्होंने लिखा है "हम वैसवारे के रहैया अहनि...हम दुसरेन का चराय आइत है"—सं०

बड़ा मनुष्य अथवा कवि नहीं, या कि नाटक बड़ा भारी वा गूढ़ाशय नहीं, किन्तु हम केवल विषय के अनुसार लेख और बिना पक्षपात के शुद्ध रीत से उसके गुण और दोष को देखेंगे, और उसी में उचित स्थान पर योग्यायोग्य प्रबन्ध की विवेचना करेंगे, शेष से हमें कुछ मतलब नहीं; देखना चाहिए कि "दुःखिनी बाला" नामक एक अत्यन्त छोटा सा रूपक कि जिसका लिखने वाला एक बालक अर्थात् चिरञ्जीवी श्री राधाकृष्णदास कि उसके देखने से कदाचित यह नहीं अनुमान होता कि यह एक बालक का लिखा है, हम क्यों कर व्यर्थ उसको बुरा कहें।

अब बड़े बड़े नाटकों में प्रथम श्री बाबू हरिश्चन्द्र जी के जैसे 'सत्य हरिश्-चन्द्र" 'मुद्रा राक्षस" "कर्पुर मञ्जरी" कि जिन का अनुवाद अच्छा है—अच्छे हैं, और उनके रचित नाटकों में भी चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, भारत जननी, इत्यादि अवश्य अच्छे नाटक कहे जायँगे; लाला श्री नेवास दास कृत "रण-धीर प्रेम मोहनी" पर बहुतों ने समालोचना की है, हमारे कहने की आवश्य-कता नहीं श्री बालकृष्ण भट्ट हिन्दी प्रदीप सम्पादक का चन्द्रसेन, पद्मावती भी अच्छों की संख्या में कहे जा सकते हैं, अनुवाद में पूज्यवर पण्डित गदाधर जी मालवीकृत तथा विक्रमोर्वशी की भी बुरों में गणना हम नहीं कर सकते यद्यपि वे मुख्य ग्रन्थकर्ता के सजाये हुए भी अभी अभिनय अर्थात् खेलने में दर्शकों को पूर्ण रूप से आनन्द दाई न कहे और समझे जायँ, पर हम तो उसको दूसरी भाषा में सीधे सीधे कह देने को भी बहुत समझते हैं, किन्तु नमक मिर्च और अपनी अधिकाई और विचित्रताई छोड़ थोड़े दोष को भी कलानिधि का कलंक जान बहुत लिहाज नहीं करते।

अब हम इसके आगे इसके कारणों पर दृष्टि देते हैं, तो यद्यपि यह नियम है कि किसी कार्य के आरम्भ में कुछ न कुछ कमी उन गुणों की कि जो उसके मध्य वा अन्त अवस्था में प्राप्त होते हैं रहती ही है, तथापि हमें जैसे अपने देश-बान्धवों से देश-दशा पर उद्योग और उन्नति की इच्छा है, जिस प्रकार से और विषयों में पश्चाताप और निराशा होती है वैसे ही इसमें भी न केवल नाटक रचयिता और नटों (अर्थात् अभिनयकर्ताओं) ही से किन्तु पाठक, दर्शक, श्रीमान और विद्वान् मात्र से भी, क्योंकि वे "गाहक गुन कौन काम को" अगर गुन गाहक हों तो क्यों न गुनदिखायँ, पर हा ! यही तो कसर है।

हम इस पचड़े को बहुत न बढ़ा और सब के बखेड़े को छोड़ केवल ग्रन्थ कर्ताओं ही के विषय लिखने योग्य जान कर अब और उन कसरों को लिखते

हैं कि जो केवल उन्हीं के लिए आवश्यक हैं। प्रथम हमारे भाषा के नाटक लिखने वालों के अर्थ भाषा दृश्य काव्य के निरूपण, और लक्षण तथा भेद, रीति, नियम और उदाहरण का बतलाने वाला कोई साहित्य का ग्रन्थ नहीं, और जो संस्कृत में "षष्ठ परिच्छेद" साहित्य दर्पण में श्री विश्वनाथ कविराज रचित, दश रूपक सूत्र इत्यादि हैं, अब उनमें बहुत से गड़बड़ समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गये, और कितनी बातों का विरोध पड़ गया; अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर और उस समय से इधर के बने नाटक तथा अंगरेज़ी, बंगला, इसी रीत से हमारी भाषा के भी (जो हैं) और गुजराती, महाराष्ट्री से भी जाँच कर नये तरह पर ख़ास कर इस नागरी भाषा में कोई ग्रन्थ होना अत्यन्त आवश्यक है।

यही कारण है जो कि "मन माना घर जाना" वाली मसल लोग किया करते और मनमन्ता प्रबन्ध और रीत नित्य निकाले चले जाते हैं। किसी ने प्रस्तावना फ़ज़ूल समझी तो कोई लक्षण मात्र को अनुचित ठहरा मुख्य केवल अपनी बुधि ही को सर्वस्व जान लिया, कोई ट्रेजडी की लालसा के मारे सिन्दूर दान के बाद जैमाल डाल बेमतलब भी भीतर से हाय हाय पुकार करा नाहक नायक को मार डालैंगें और नायिका को बालरण्डा बनावैंगे, न परस्पर नायक नायिका की प्रीत का वर्णन वा दर्शन, न कुछ उसका मतलब न प्रयोजन खुलेगा पर वह अपना काम कर जाँयगे। कहाँ तक कहैं कि कदाचित् बालू चाभने में स्वाद हो और विष बुझी बर्छी में कुछ कष्ट न हो पर ऐसी कविता का हाल तो फिर अनुभव किया हुआ जन जानैं; कोई नाटक विरहे का मजा लाते, कोई प्रहसन से होली के कबीरों को भी लजाते हैं; अब ऐसी अवस्था में वे ग्रन्थ कैसे मनोरञ्जक हो सकते हैं, और जब जड़ की यह दशा तब शाखा अर्थात् अभिनय की इसके सिवा क्या हाल होगी अनुमान से जान लीजिए, पर यही बड़े शोच का स्थान है कि ऐसे ही नाटकों के अभिनय करने से मंडलियाँ अपने को कृतार्थ मानतीं और इन्हीं को दिल से उत्तमोत्तम जानतीं, पस अब लाचारी के सिवा और कौन चारा है।

जानना चाहिए कि नाटक वहाँ तक नहीं है कि जहाँ तक उसमें नक़ल पन आवै, किन्तु नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब देखने वाले को इसका परिज्ञान न रह जाय कि हम नाटक देखते हैं वा सत्य लीला; जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर नये आनन्द का मज़ा मिलता जाय और देखने वाले उस रस में रंग कर तनमय दशा को प्राप्त हो जाँय, अवश्य

उत्तम नाटक और अभिनय वही है परन्तु तब तक यह कैसे हो सकता है कि जब तक सत्कवि की कविता न हो, और चतुर नट नाटय में प्रवीण न हो, निश्चय जानिये कि दोनों एक एक मिल तब इगारह की संख्या प्राप्त करते हैं, केवल बनाने वाला क्या करेगा जब खेलने वाला ठीक नहीं "गुरू क्या करैं जब चेला न पढ़ै" हम कह सकते हैं कि यदि कोई उत्तम मण्डली हो तो नाटक तक हर्ज़ नहीं क्योंकि मण्डली जो बड़ी होती है कवि से खाली नहीं रहतीं, अच्छे अच्छे नाटकों को भी वे अपने तौर पर संवारती और बनाती भी हैं, बस यदि वे नाटक जिन्हें हम अच्छे श्रेणी में गिना आये हैं इस रीत से दुरुस्त करके खेले जाँय तो क्या बुराई हो, लेकिन "नट कुपठित" होने से तो फिर बुड़न्त हो जाती है; इससे यथार्थ अभिनय तहाँ तक नहीं हो सकता जब तक सुन्दर, मधुर स्वर; नाट्य कला कुशल, पढ़े पढ़ाए पात्र, नाट्यालय और उसके सब साज अर्थात् स्टेज, पर्दे, वस्त्र, भूषण, रूप और शृङ्गार सामग्री और और नाना प्रकार की यथाऔसर की वस्तु न हों, तथा कवि और नृत्य, गान, बाद्य, नाटय के गुण शिक्षक प्रायःपात्र सब नौकर हों फिर किसी उत्तम प्रबन्धकर्ता के प्रबन्ध से युक्त, दर्शक रसिकों की उत्कण्ठा और द्रब्य से पूर्ण हों, तो अवश्य यथार्थ आनन्द अनुभव हो; पर यह द्रब्य के आधीन द्रव्य अरसिकों के आधीन, वे मूर्खता और मूर्ख मन्त्रियों के आधीन, फिर कहिए कैसे बनै; लेकिन अगर सिलसिला चला जाय तो कुछ न कुछ फल उसका अवश्य हो, और कहाँ तक कुछ उन्नति न हो परन्तु यही तो घाटा है।

हम पहले लिख आये हैं कि हमारे देश के मनुष्य प्रायः आरम्भ शूर हुआ करते हैं थोड़े दिन हुए इसकी एक धूमसी मच गई थी, नित्य नये नाटक के चरचे और नये रचे नाटक भी दो चार देखने में आये, अभिनय की भी खबरें आने लगीं, लोगों के मन में मज़े की फुरफुरी भी उठी, पर कहीं कुछ नहीं। यद्यपि हम इसके बहुत से कारण कह चुके पर तो भी एक बड़ा भारी सबब जो बचा है वह सबसे अधिक बिचारणीय है, अर्थात् जब यहाँ के अर्धशिक्षितों को कुछ अंड बंड नाटकों के देखने और कुछ यों त्यों के अभिनय अर्थात् नाटकों के खेल देखने में आये, तब कुछ उमङ्ग का रंग मन पर चढ़ा, खेलने वाले जो बिचारे निरे नये उत्साही और मन के बहलाव या महज़ शौक़ से इस काम को उठाये थे, कुछ २ हर्षित और उत्साहित हुए कि उसी समय पारसी नाट्य मंडलियों का यहाँ आ जाना मानों इसके काल का आ जाना हुआ; देखने वालों को तो एक दम से देखने का मज़ा, इनकी गौरव, इज्जत

और मान अर्थात् आदर हुआ, पर लेखक और अभिनयकर्त्ताओं के उत्साह को तो यह कुल्हाड़ा हो गया, इनके आने के इधर न कोई नाटक बना देखने में आया न कहीं अभिनय होते सुना, यादि उग विचित्रता से बढ़कर विचित्र ताई दिखा सकने की आशा इन्हें होती, चट यह अब तक उनसे कहीं अच्छी उन्नति की दशा पर हो गये होते और फिर उनको इधर आने का उत्साह न होता। बल्कि हमारी कम्पनियों को उधर बढ़ने और अन्य देशों में भ्रमण करने की उत्कंठा होती।

निदान अब हम यहीं से लेखनी को रोकते हुए अपने देश के विद्यानुरागी और नाट्य रसिकों से अत्यन्त विनय के संग निवेदन करते हैं कि हतोत्साह न होकर फिर इसके उन्नति की अभिलाषा से बद्धपरिकर हो इसके उद्योग में प्रवृत्त हों, और धनमान लोग उन्हें उत्साह देने में ज़रा भी जी न चुरायें, और ईश्वर इस विद्या में इस देश को फिर उन्नत कर इस देश की उन्नति करे।

कार्तिक १६३८ वै० आ० का०

त्रिवेणी तरंग

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिखानुविद्धा ।
अन्यत्र मालां सितपङ्कजाना मिन्द्रावरैरूत्खचितान्तरेव ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्ब संसर्गवतीव पंक्तिः ।
अन्यत्र काला गुरुदत्तपत्रा पक्तिर्भवश्चदन कल्पितेव ॥
क्वचित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शवलीकृतेन ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रंध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः ।
समुद्र पत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ॥
तत्वाववोदार्थं विनापि भूयस्तनु त्यजां नास्तिशरीर बन्ध !॥

(रघुवंश १३ सर्ग ६४—६८)

१२ वर्ष बीत गये । अभी कलही सब हुआ सा जान पड़ता है । इन वर्षों के प्रत्येक पत्रों के कोष्ठस्थ तिथियों को जिन्हें झांकने का कोई प्रयोजन सिवा सूर्योदय सूर्यास्त वा मास की कौन तिथि है जानने के और कुछ न था, एक बार छोटी दर्पनियां सी यदि नेत्र के समक्ष उपस्थित की जाँय, तो साहसेन्द्र (मैकवेथ) के डाइनों के दर्पन सी कुछ कम भयावनी मनोद्वेग उपजाने वाली न ठहरैंगी ! क्यों ? इनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जिनके देखने से यह सन्तोष हो कि अमुक में उचित कर्त्तव्य परोपकार वा अपने सुधार में समय व्यय होने का प्रीतबिम्ब देख पड़ रहा है, हाँ कुछ दिन अवश्य जब पूज्य कवि के प्रार्थना के साथ हम लोगों को भी यही जी से इच्छा थी:—

पावन अवनि भारत सुतीरथराजबट सुभ फल फरै ।
गङ्गा कलिंदी सरसुती संगम त्रिवेनी तम तरै ॥
जातीय सम्मिलनी महा यह पर्व्व दुख देसहिं दरै ।
आरज यवन अंगरेज़ को संगम नवल मंगल करै ॥

(भारत सौभाग्य—नान्दी)

मन की आँखै अभी त्रिवेणी के चित्र विचित्र वायु से फड़फड़ाते पताकों में से वाञ्छित चिन्ह को ढूंढ़ रही हैं, नाव, तूमड़ो, तिलगे, पंखो, मोर, चौपड़ इत्यादि पर आँखैं चौकन्नी हो उस एक पर विश्राम लेतीं। प्रातःकाल रेल के पुल पर थर-थरातीं गाड़ी धीमे धीमे मानों बोझ के मारे भाड़े के घोड़ों सी चलतीं यात्रियों की आँखो को एक बार इस तीर्थराज की ओर फेर देतीं। दुर्ग के पूर्व त्रिवेणी अपनी गौरव युक्त झांकी को कोहिरे से आवेष्ठित किये हुए हैं। जान पड़ता है कि अकबर का प्रबल प्राचीन दुर्ग विद्रोही जहाजों से जो अपने विशाल पताकों को चढ़ाए हुए हैं, आक्रमित है। मेले का किर्र घोर कलकल का अनुकरण कर रहा है, बाल पतंग की अरुण किरणैं जो सेना झूंसी के वृक्षों से विस्फुटित हो कोहिरे में धँसो हैं विद्रोही सेना प्रयुक्त लक्ष अग्निवाण सम दुर्ग को लक्ष्य किये सी जान पड़ रही हैं। सारी त्रिवेणी मानों तोपों के धूम उद्गमन करने से अन्धकार मय हो गई है। दुर्ग के पूर्वीय फाटक से बटराज के पूजनार्थ घुसते आर्य्य सन्तानों को देख यही अनुमान होता है कि विद्रोही बल ने दुर्ग को पराजय किया।

थोड़े काल में सूर्य्य के आतप से यह झीना आवरण उठा लिया जाता और दर्शकों के निमित्त धाईधावा के मन्दिरों के पट सा खुल जाता तब त्रिवेणी अपने अनुपम छटा को दिखलाती है। कहीं पञ्जाबिनैं अपने घुटुन्नेदार पायाजामों को उतार एक ओढ़नी मात्र ओढ़े मेले में सिमटी हुई जल से आर्द्र त प्रौढ़ शरीर के प्रत्येक अंग को दिखा 'लोला निलज्ज लखावहीं" क्या इस देश की स्त्रियाँ स्नान नहीं करतीं हैं? पर इस प्रकार नहीं कि ऐसे भारी मेलों में घर से भी बुरी रीति से स्नान करे। क्या उनके पुरुषों को ऐसी रीति के विरुद्ध शिक्षा देना उचित नहीं? क्या भारी सारी जिससे शरीर भी ढक सके, पहिनना बुरा है? कहीं रामरज से रंगे कुंडल किरीट मुकुट लगाये, श्री रामचन्द्र, श्री लक्ष्मण जी बनाये घन्टा बजाते पाखण्डी उदर पोषणार्थ हमारे प्राचीन मत का उपहास सा करते दिखाते हैं। परन्तु प्रेम से पगे दृढ नियमी हिन्दुओं को तो इस पुण्य पर्व्व के अवलोकनार्थ स्वर्ग को छोड़ भगवान् स्वयं आये से जान पड़ते हैं।

कहीं नग्न शरीर नागा लोगों का अखाड़ा हरहर करते निकल रहा है। इन्हें देख जी में बलात्कार तत्काल यही भावना होती कि--ऐसे ही आए हैं और ऐसे ही जाँयगे? इस नश्वर जीवन की ममता क्षण भर को बिदा हो जाती और उनकी सौम्य मूर्ति पर लोचन ठक से बँध जाते। पर क्या यह भावना

दृढ़ संस्थाई होगी। क्या सहस्रों मिथ्या जंजालों से कभी जी हटेगा! क्या जब फिर गृहकार्य में प्रवृत्त होंगे, इस बात की इच्छा कभी होगी कि यदि थोड़े ही दिन रहना है, तो क्यों न निष्कण्टक हो रहें! दूसरे के शान्ति मय जीवन को क्यों कण्टक मय करें? हा कैसी भक्ति है! कैसा प्रेम है! देखो साधुओं के चले जाने पर लोग उस मार्ग की धूर उठा शरीर में मल रहे हैं। कोई उसमें लोट तक गये हैं!

कहीं त्रिवेणी में दम्पति गाँठ जोरे स्नान करते अपने मन की कामनाओं को वेणीमाधव से सहज भाव युक्ति बुड़कियों से माँगते, दौरियों फूल, घड़ों दूध, सुगन्धित द्रव्य तारिणी गङ्गा को साथ चढ़ाते, संग ही कपूर की आरती करते, अर्घ देते हैं। दोनों की मधुर मुस्कुराटट को देख कौन यह निश्चय कर सकता होगा कि इनके जी में भी कुछ अन्तर है? पर हा! संसार अद्भुत है! कदाचित् इन्हीं थोड़े वर्षों में वे किसी दूसरी मोहिनी के वश हो अपनी परम विनीता अनुयायिनी प्राण-प्रिया को तिरस्कार कर, बुढ़ाई में दूसरे विवाह के दुखद सुख को बलहीन हो भी इतर भावों से सुखी करने की चेष्टा कर भोगते होंगे।

कहीं स्वामी के दुःख से दुःखी हो, अपनी तीक्ष्णता पर श्री लक्ष्मण जी का चेतनावस्था प्राप्त करना निर्भर जान और भी बेगवान बन, मार्ग के कारणोपस्थित बिलम्बों से और भी व्यग्रता से शीघ्रता धर, हिमालय पहुँच मृतसञ्जीवनी को न पहिचान धवलागिरि को शिर पर धारण कर, रात्रि भर के परिश्रम की सफलता से प्रसन्न हो, थके महाबीर मानो अकबर-दुर्ग रूपी लङ्का गढ़ की त्रिवेणी परिखा में, प्रातःकाल फिर भी अपने घोर गर्जन से राक्षसों को डरपाने को गहिरी नींद में सो रहे हैं, और अपने बोझ से कई हाथ पृथ्वी में धँस गये से जान पड़ते हैं। इनके दर्शन करने को नीचे उतरते, भक्त लोग खाद्य सामग्रियों को चढ़ाते मानों प्रातःकाल उनके जलपान के अर्थ इसे प्रस्तुत करते।

कहीं अक्षयवट के लुटेरू प्रकाश द्वार (रोशनदान) को दोगों से ढाँके भक्तों से एक एक पैसा बत्ती जलाने के अर्थ ले रहे हैं, नहीं जानते इन्हें इस द्वार के ढाँकने का अधिकार कहाँ से मिल गया है। कही सिंहासन पर बैठे पण्डित जी भक्त जनों के अर्थ पुराणों से अमृत वर्षा कर रहे हैं, श्रोतागण मेले के कौतुक को भूल इसमें दत्तचित्त हो चित्र से खिंच गये हैं। कहीं

साधुओं की पर्णकुटियों में भक्त जनों की भीड़ लग रही है और उनके वचनों से जीवन सफलकारी अलभ्य लाभ प्राप्त कर रही है। धन्य यह पर्व है, नहीं तो कहाँ से इतने महात्मा एकत्रित हो सकते थे, जिनके दर्शन मात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है। त्रिवेणी के पूर्व दोनों धारों से मिश्रित श्रीगङ्गा जी की छटा कुछ और हो रही है, जान पड़ता है कि आज श्रीगङ्गा जी की तीक्ष्ण धारा सदा वसन्त व्यापी नन्दन कानन को बाढ़ में बहा लाई है, क्योंकि अनगिनत फूलों से आज नदी का पाट पट गया है।

माघ १९५० वै० आ० का०

समय

काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

यह विख्यात है कि त्रिभुवन में विजय की पताका फहराने वाला, अपने कुटिल कुत्सित परिवार से ब्राह्मणों को दुख देने वाला बली प्रतापशाली, मायावी रावण जब भगवान् रामचन्द्र के रुधिरपाई बाणों से छिन्न भिन्न हो पृथ्वी पर अपना पर्वत सरीखा अपार शरीर लिए गिरा, और आकाश त्रिभुवन के हर्षनाद से पूरित हो गया, और अन्तिम झटके उसे श्वास के आने लगे, तब अपने जेता के पूछने पर उसने कहा,—"आवश्यक कृत्यों के सम्पादन में विलम्ब करना उचित नहीं। मैंने दो तीन कृत्य करना आवश्यक समझा था, और उसे टालता चला आता था. आज उन्हीं के न करने से मुझे शोक है, और उन्हीं भूलों का फल मुझे तत्काल ही मिलेगा" ! रावण यह नहीं जानता था कि त्रिभुवन त्राणदाता के सामने वह क्या कह रहा है। जब उसे स्वयं उन्होंने अपने हाथों से निधन किया तो अब इसके आगे उसे क्लेश मिल ही क्या सकता था निश्चय जब अवसर चला जाता है, हाथ मलना ही भर रह जाता है। आलस्य से भरे भद्दे स्वभाव में बेकार बैठे रहने की इच्छा प्रबल होती है और जी यही कहता है आज नहीं कल, कल नहीं परसों यह करेंगे, जिसको तत्काल ही कर डालना उचित है, यह बान बुरी है। जब तक किसी कृत्य को अपना कर्त्तव्य समझ मनुष्य दृढ़ उद्देश्य से उसे न करेगा, कर्त्तव्य शून्य स्वभाव अलहदी बन जायगा। आलस्य लोहे की मुर्चा सी लिपट जौहर खा जायगी फिर किसी कार्य्य के करने का उत्साह जाता रहेगा। क्या आश्चर्य कि "छाती पर की गूलर" मूँ में डालने को दूसरे से कहना हो।

संसार में मनुष्य को जो कुछ सीखना करना और निपटाना है उसके अर्थ समय बहुत ही कम मिला है; उसके जीवन के दिन गिने भये हैं, इससे इसको व्यर्थ न जाने देना चाहिए।

यदि अपने समय के प्रत्येक पल की चिन्ता मनुष्य रक्खे तो थोड़ी आयु को भी बहुत बढ़ा सकता है, जिसे वह एक मास में कर सकेगा

उसी को बहुतेरे जीवन पर्यन्त में भी नहीं कर सकेंगे। यदि उसका ध्यान उचित और उत्तम कृत्यों में निमग्न है तो समय सुख से व्यतीत करता है नहीं तो बहुतेरों का जीवन भारभूत सा हुआ रहता है। दिन रात जम्हाते बीतता है इनकी दीर्घ सूत्रता और रात दिन के वर्ताव को देखने से यही जान पड़ेगा कि मानों ये अपने को अमर समझे हुए हैं। बहुतेरे खूब खाकर पेट पर हाथ फेरते पान कूचते तकिया का आश्रय ले पलंग पर जा सो जाते हैं और बारह चौदह घन्टा अपना समय नींद में खोते हैं। वैद्यों और डाक्टरों का मत है कि छः घन्टा शारीरिक स्वास्थ्य के निमित्त सोना उपयुक्त है। यदि इतना ही सोने का अभ्यास किया जाय तो कितना समय बच सकता है। अधिक सोने से केवल समय हानि ही नहीं होती, शरीर के जितने अवयव हैं शिथिल और अयोग्य हो जाते हैं, और १२ घन्टे सोने के बाद उतनी ही व्याकुलता और अशक्तता कार्य्य करने में होती है। शरीर और मन दोनों को इससे हानि पहुँचती है। फिर खाने के पश्चात् तुरन्त सो जाने से आलस्य हाड़फूटन, अपच, म्लानता, शिरोव्यथा होती है, यद्यपि नींद झटपट आ जाती है।

यदि मनुष्य अपने अमूल्य समय को न खोना चाहे तो उसे क्षुद्र कामों में प्रवृत्त न होना चाहिए। ऐसे कृत्यों का करना अनुचित है जिसे पीछे समझ मनुष्य लज्जित होता है और पछताता है। मनुष्य को अपने पद और योग्यता के अनुसार काम करना उचित है। यदि राज्य का भार आप पर है और आपने नाचने गाने में कथक, कलावंतों को मात किया, कपड़े सीने में दरज़ी को हटाया, वा बहुत उत्तम पाक बना लिया तो क्या इससे आप की ख्याति होगी वा आपके राज्य का काम सरैगा। गत हज़रत नवाब वाजिदअली शाह को यदि किसी ने कैसर बाग की बारहदरी के भरे महफिल में पेशवाज पहिने नाचते देखा होगा, कभी भी भला बतला सकता था कि ये धुरीण हैं जो इस तरह गाने में कठिन से कठिन मोड़े ले रहे हैं, और अपने नाचने बनने बतलाने और भाव से गुणग्राही रसिक मंडली का चित्र सा खींच दिये हैं वा 'इन्दरसभा' में गुल्फाम बने, अपनी माधुरी मूर्ति और सुरीले स्वर से चमचमाती जवाहिर से जड़ी एकता अनूठी सब्जपरी को लुभाये हुए हैं और उसके यह कहने पर कि 'अरे मैं वहाँ तुझसे कहती थी, क्यों न माना हाय तूने मेरा कहा' मूं लटकाये हुये हैं, वा बसन्ती पट पहिने सैकड़ों केसर से रंगी सुमुखियों के खोजने पर भी नहीं मिलते। भूलभुलैया खेल रहे हैं और लंका की सीढ़ियाँ कामि-

नियों के सहारे उतर चढ़ रहे हैं। क्या ही उत्तम कृत्य ये राजा के हैं जिसपर करोड़ों की रक्षा का भार है! कैसी अवस्था की बरबादी है।

बहुतेरे शारीरिक सजावट ही में अपना समय बहुत खोते हैं, घन्टों कपड़ा पहिनने बाल बनाने में लग जाते हैं, पर इससे क्या सिद्धि होगी? ढोढ़ी चिकनी बाल छल्लेदार बनेंगे? शरीर का स्वच्छ रखना स्पृहणीय है, परन्तु क्या कभी अस्तबल में बंधा, जलेबी और महेला खाता चिकना सुंदर घोड़ा घुड़ दौड़ में जीता बचेगा, वा सांसारिक सग्गड़ की डीलदार भूसे से पेट भरने वाले बैलोंके समान खींच सकेगा! कोई बटेरको पञ्जे में दाब घंटों उसकी टँगड़ी खींचा करते, बुलबुल उँगली पर बिठा अड्डे पर उछाला करते, तीतिर को दीमक के वास्ते घुमाया करते, बाज के संग आखेट में जङ्गलों में बहेलियों से भरमा करते, शतरञ्ज चौपड़ खड़खड़ाया करते, ताश गञ्जीफा फेरते, साल भर टैय्यों की सोरही चिकनी करते हज़ारों का हेर फेर किया करते हैं। यही काम यहाँ के बड़े आदमियों को करना उचित है! क्या ही अंधेर है, एक दो दिन कौन कहे जीवन भर इसी में बीत जाता है।

प्रातःकाल उठ मनुष्य को विचार कर निर्णय कर लेना उचित है कि उसे उस दिन क्या क्या और कितना करना है, तब उसके करने में तुरन्त प्रवृत्त हो जाना उचित है। किसी उत्तम दशा के आनेपर या वर्तमान दशाके परिवर्तनपर किसी नूतन और लाभदायक कृत्य को करेंगे विचारना व्यर्थ है। केवल उन क्षणों को जो व्यर्थ जाते जा रहे हैं यदि सम्भाल लो तो सबकुछ हो सकता है और समय का उचित बर्ताव तभी होगा जब नियम वा क्रम से मनुष्य अपने समय को बाँट देगा। जिसने ऐसा अभ्यास नहीं डाला है उसे वह आनन्द नहीं मिल सकता है जो उनको मिलता है जिनकी नैमित्तिक क्रियायें चाहे वे कैसीहू कठिन क्यों न हों नियमित समय पर की जातीं और आवश्यक अवकाश जी बहलाने को छोड़ जातीं हैं।

संसार में बहुत से ऐसे मनुष्य हैं जो अपने समय का उत्तम विभाग न कर जब जो जो चाहा करते हैं, जिसका फल यह होता है कि जितनी कार्य्यवाहियाँ उनकी होतीं अधूरी रह जाती। इससे यदि दृढ़ संकल्प से किसी कार्य पर सन्नद्ध हो मनुष्य उसका यथोचित विभाग कर करना विचारैगा तबी वह उसे कर सकेगा, अव्यवस्थित चित्त कभी कुछ भी नहीं कर सका है। समय के खोने वालों को समय का यथार्थ रूप नहीं जान पड़ता, हाँ एक दिन अवश्य इसका आदर उन्हें होगा, और वह तब कि जब

क्षण के शतांश के भी पाने की प्रार्थना उनकी व्यर्थ होगी, तबी अपने अमूल्य जीवन की फेंकी घड़ियों का मूल्य उन्हें यथार्थ में समझ पड़ैगा। परन्तु निर्दय काले कुटिल कराल काल ने संयोग पहुँचने पर कब किसे छुटकारा दिया है।

श्रावण १६५१ वै० ना० नी०

हिन्द, हिन्दू और हिन्दी

ये तीनों हकारादि शब्द न केवल अकेले हमीं, को वरञ्च हिन्द-निवासी समस्त हिन्दुओं को श्रवणानन्ददा ई है। इन तीनों के आदि का 'ह' अक्षर मिलकर ह-ह-ह- प्रसन्नता-सूचक हास्य का रूप वा अंग होता है। योंही कभी २ यही शब्द कष्ट वा उपहास का भी वाची हो जाता है; योंही तीन "हिं" मिल कर हिं हिं हिं-जैसे आनन्द सहज हास्य का स्वाभाविक कल स्वर है उसी भाँति दुःख और दैन्य प्रकाशक भी हैं। वास्तव में यह साधारण रीति से समस्त सामान्य और विशेषजनों को एक ही प्रकार से आनन्दोन्मत्त वा दीन बनाने में समान रीति से समर्थ है कि जिसे सुन औरों के मुख से भी उसी भाव और प्रभाव से वे ही शब्द उच्चरित होते हैं। परन्तु हा शोक कि न जाने क्यों ईश्वर की अकृपा से अब अधिकांश पिछले ही अर्थ से इसका अर्थ कठिन कष्ट का कारण है।

यद्यपि इनमें एक ही हकारादि शब्द के विषय में कुछ कहने को बहुत समय और स्थान चाहिये, और इन तीनों ही के विषय में पृथक् २ पृथक् हमें बहुत कुछ कहना है, और एक ही के लिये अनेक बार और अनेक प्रकार से अनेक प्रबन्ध लिखने की इच्छा है, अतः एक के स्थान पर तीनों का एक बारही प्रवेश कर देना कुछ अनुचित क्यों न हो; परन्तु इनमें परस्पर एक दूसरे के संग अति निकटस्थ सम्बन्ध रहने और तीनों के आदि, अन्त और मध्य तीनों काल में अन्योन्याश्रय के वर्त्तमान रहने से इन तीनों के विषय में एक साथ विचार करना भी कुछ विशेष अयोग्य न होगा। इनमें एक को दूसरे से क्या सम्बन्ध है? प्रथम इसी के समझने समझाने की बड़ी आवश्यकता है। मानों एक हकार की ३ हिं शाखा हैं, वा क्रमशः एक से एक की उत्पत्ति से मानो पिता पुत्र और पौत्र का सा सम्बन्ध है— अतः सभी एक से एक आवश्यक और एक दूसरे के प्रबलतर सहायक हैं। योंही बिना एक के दूसरे की शोभा वा सम्मान का वर्तमान रहना फीका और कुछ असम्भव भी है। क्योंकि इसमें कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी देश की उन्नति तहाँ तक हो ही नहीं सकती कि जहाँ तक

उस देश के निवासियों की उन्नत दशा नहीं और यावत्पर्य्यन्त उस देश की भाषा की उन्नति नहीं, तब तक उस जाति की उन्नति कैसे मानी जायगी? जब हिन्द वा भारत की दशा उन्नति पर थी, हिन्दू वा आर्य्य जाति की दशा तथा हमारी हिन्दी भाषा अर्थात् संस्कृत वा नागरी इत्यादि की भी उन्नति थी; अब जब से कि भारत की दशा आरत हुई है, इन दोनों का भी अधः पतन हुआ; वा यों कहिये कि जब से हिन्दू जाति का प्रारब्ध, प्रताप वा पराक्रम का सूर्य्य पश्चिम समुद्र में जा अस्त हुआ, हिन्द और हिन्दी की उन्नति के दिन का अन्त हो क्रमशः उनका दीनदशारूपी अन्धकार बढ़ता गया। वास्तव में यह विभेद कहीं अयुक्त भी होता, क्योंकि केवल एक आर्य्य जाति की उन्नति वा अवनति के आधार पर उन दोनों की उन्नति वा अवनति निर्भर है इसीलिये हमने इन तीनों को एकही में मिलाया है इसलिये कि इन तीनों का स्वयम्-सिद्धि सम्बन्ध है।

बहुतेरे जन कहते और हम नित्य सुनते हैं, कि हिन्द वा भारत अब क्रमशः उन्नति कर रहा है, परन्तु क्या यह सच है? हमारे पाठकों में अनेक जन कह उठेंगे, कि "हाँ! हाँ इसमें भी क्या कुछ सन्देह है! तुम्हें इतनी भी समझ वा परिज्ञान नहीं! देखते नहीं हो क्या से क्या हो गया, और निरन्तर क्या हुआ जाता है?" हाँ हम भी आधे मुँह इसे स्वीकार कर लेंगे, पर क्या हमारा हठीला मन भी मान लेगा? नहीं नहीं और कदापि नहीं। वह तो कहता है कि "अजी ओस चाटने से कहीं प्यास बुझी है!" अथवा "दूसरे की लाठी टेक कर उसके विरुद्ध निज मनोवांछित स्थल को पहुँचने का आशा और उद्योग किस अर्थ का?" व. "उच्छिष्ट भोजन कर गर्हित जीवन धारण से क्या लाभ!" अथवा "स्वप्न और प्रेतबाधाभियुक्त वा उन्मत्तावस्था के विचार और वाक्य का क्या ठिकाना!" सारांश ममत्व, अपनपौ, अपना, हमारा, हम, हमसे और हमीं से, हमारा और हमारा ही, कहाँ तक कहें कि ३ हकार वह और एक यह बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, और कदापि नहीं। न अन्य शब्द, वर्ण, मात्रा, अनुस्वार वा विसर्ग देखा, और, न सुना जा सकता, और न ईश्वर चिर दिन चित्त के विरुद्ध इसके स्वीकार का अवसर दे, बस इसी प्रकार और कहाँ तक कहें कि जिसका अन्त नहीं।

पाठक जन कहेंगे कि "यह कैसी व्यर्थ और बे जोड़ बातें बक चले हो" हाँ यथार्थ में यह उन्मत्त प्रलाप ही है, परन्तु हाय! इसमें भी सन्देह नहीं कि

इसी के बिना उक्त चारों हकार की दशा हत और हीन हो रही है ! हे ईश्वर तू उक्त चारों हकार से इन्हीं बेजोड़ शब्दों की ध्वनि का सम्बन्ध जोड़ दे ! और इनके तथा उन चारों हकार के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तु का नाता तुरन्त तोड़ दे ! हमारे पाठक केवल हकारों के अर्थ की सूचना ही मात्र में हमारी उद्विग्नता देख, हमारे लेख को निपट अटपटा अनुमान करने लगे होंगे। फिर यदि इस सम्बन्ध में इसी प्रकार की कुछ और बातें करें तो और उपद्रवों के अतिरिक्त भय है, कि पाठक वर्ग कदाचित् सचमुच हमें पूरा पागल ही न अनुमान कर लें ! अतः कुछ सीधी बातें कह कर इस सम्बन्ध को समाप्त कर देना ही समीचीन बोध होता है।

आश्विन १९५१ वै० ना० नी०

हमारी प्यारी हिन्दी

अनेक जनों के कान में हमारी नागरी भाषा की भाँति भारतीय भाषा का प्रयोग भी खटकेगा, परन्तु यह भी केवल उसी अधम अभ्यास का आभास है कि जो दुर्भाग्य से अद्यापि हिन्दी को उर्दू बनाये हुए है नहीं तो हिन्दी और भारतीय भाषा में भी उतना ही भेद है कि जितना आफ़ताब और सूर्य्य में। अब यदि कोई सूर्य्य के स्थान पर आफ़ताब ही कहता और नहीं चाहता कि सूर्य्य शब्द उसके कानों को दुःख दे, तो किसी का क्या चारा है? नहीं तो जिस मूल पर आज यह भाषा सचमुच एक भाषा कही जाने योग्य हुई, वा हो रही है, वह यही है; और केवल यही कुविचार उसका कुठार अथवा उन्नति अवरोधक भी है। यद्यपि यह आग्रह और हठ अब घट रहा है, तथापि यह अभी बहुत दिनों तक इसका पीछा नहीं छोड़ता दिखाता परन्तु इस हठ और आग्रह का तिरस्कार कर तथा उससे अपने उत्साह को मन्द न करके उद्योग तत्पर रहना ही इसके हितसाधकों की मुख्य चेष्टा है।

अनेक जन यह भी पूँछ बैठेंगे कि—"भारतीय भाषा तो उसी को कहेंगे कि जो समस्त भारत की भाषा हो, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश वा उसके इधर उधर ही जिसका प्रचार है वह भारतभर की भाषा क्योंकर कही जा सकती है; जब कि आज भी भारत में माड़वारी,मेवाड़ी, पंजाबी,गुजराती, मरहठी तैलंगी,द्राविड़ी, कर्नाटकी, ओड़िया, बँगला, आदि प्रधान तथा इनके अनेक आभ्यन्तरिक भेद वर्तमान हैं? यद्यपि यह आपत्ति कुछ बहुत ही बे जोड़ नहीं है, परन्तु उन्हें समझना चाहिये कि हिन्दी शब्द भी इससे हीन नहीं हो सकता, क्योंकि हिन्द की भाषा हिन्दी, तब उससे एक प्रदेश की भाषा का ग्रहण कैसे हो सकता है? जो कहिये कि यह किसी विशेष भाषा के अर्थ में रुढ़ि हो गया है, तो ब्रज भाषा और बुन्देलखंडी वा विहारी भाषा भी इससे पृथक् नहीं है। क्योंकि आप इन्हें एक पृथक् वा स्वतन्त्र भाषा नहीं कह सकते।

वास्तव में इसमें बड़ी उलझन है, और यही कारण है जो, आज हमने भारतीय भाषा का प्रयोग किया है, क्योंकि इसके अतिरिक्त कि हिन्दी विशुद्ध

हिन्दी वा शुद्ध अथवा संस्कृत शब्द नहीं है, यह किसी विशेष भाषा का बोधक भी पूर्ण रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक भाषाओं पर उसका समान अधिकार है, जैसा कि विहारी हिन्दी-ब्रजभाषा-बुन्देलखंडी-कन्नौजी सर्यूपारी वा भोजपुरही भाषायें भी हिन्दी के आभ्यन्तरिक मुख्य भेद वा शाखाही हैं।

अतएव जिस समय वा स्थान पर हिन्दी से समग्र हिन्दी वा भारत भर की भाषाओं से सम्बन्ध हो वहाँ हिन्दुस्तानी की नाईं भारतीय भाषा प्रयोग करना समीचीन होगा, जो कि काल क्रम से सब प्रकार सुसम्पन्न हो एक स्वतन्त्र भाषा बन गई हैं। चाहे उनकी माता वा मूल एक क्यों न हो, परन्तु हिन्दी से उन्हें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी भाँति भारतवर्ष के मध्य देश में अर्थात् विहार पश्चिमोत्तर, अवध, मध्यप्रदेशादि देशों के अनेक प्रान्तों में जो कुछ न्यूनाधिक फेरफार से बोली जाती और परस्पर एक दूसरे प्रान्त के निवासियों से सुगमता पूर्वक समझी जाती, उन सब भाषाओं के समूह को हिन्दी कहेंगे? उनमें बहुतेरी तो निज प्रान्त के नाम से मिलकर विशेषता की उद्बोधक होंगी, परन्तु काशी, प्रयाग, अयोध्या के मध्य और कुछ समीप की भाषा में किसी विशेष शब्द के आयोजन की आवश्यकता नहीं है। अतः इसी देश को उसकी राजधानी भी माननी होगी, अथवा यों कहिये कि इस प्रान्त के निवासियों की घरऊ बात चीत की भाषा ही विशुद्ध हिन्दी है, क्योंकि इसीके मूल पर प्रसरित और पल्लवित होकर अन्य प्रान्तों की विशेष भाषायें कुछ कुछ विभिन्न हो एक नवीन उपाधि से युक्त हो पृथकता की झलक देती हैं। सारांश सामान्य हिन्दी से केवल इसी देश की भाषा का ग्रहण होगा; पर अन्य विशेष हिन्दी भाषाओं में किसी विशेष उपाधि की भी आवश्यकता होगी, इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि—अन्य प्रान्तों की भाषाओं के लिये तो, जैसा कि ऊपर गिना चुके हैं पृथक् नाम हैं, परन्तु इसके लिये कोई विशेष नाम नहीं है।

यद्यपि दस दस बीस बीस कोस ही की दूरी पर भाषा में कुछ कुछ अन्तर अर्थात उसके उच्चारण अथवा लव वा लहजे में भिन्नता हो जाती है, परन्तु शब्दों और क्रियाओं का जबतक विशेष रूपान्तर न हो तब तक उसमें भेद नहीं कहा जा सकता, वरंच किसी एक प्रदेश के एक प्रान्त के निवासियों से दूसरे प्रान्त के रहने वालों को यथार्थ समझ पड़ने पर वे दोनों प्रान्तिक भाषायें उस एक ही भाषा के दो भेद वा शाखा मानी जायँगी; जैसे कि एक

वृक्ष की अनेक शाखायें, चाहे वह आकार में सीधी वा टेढ़ी क्यों न हों पर एक ही प्रकार के पत्र-पुष्प से युक्त होने के कारण वृक्ष की संज्ञा में वे अन्तर्गत हो जाती हैं। अब देखिये कि ब्रजभाषा वा बिहारी अथवा कन्नौजी और बुन्देलखंडी चाहे परस्पर एक दूसरे से कुछ विशेष विभिन्नता दिखलातीं, परन्तु विशुद्ध हिन्दी अर्थात हमारे प्रान्त की हिन्दी के सन्मुख वह विभिन्नता बहुत ही न्यून हो जाती है, ठीक जैसे कि एक माता की अनेक पुत्रियाँ जो भिन्न देशों में व्याही गईं और सदैव सुसराल में रहने से यद्यपि परस्पर उनकी भाषाओं में बहुत कुछ भेद पड़ गया हो, परन्तु संयोग से वे सब जैसे अपने मयके वा पितृगृह में आकर बिना कष्ट के आपस में मिल प्रेम से बिना किसी परिश्रम के अपने अपने भाव एक दूसरे पर प्रकट करतीं, और समझ कर प्रसन्न हो अपनी अभिन्नता दिखलाती हों।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रहे कि यह सब बातें केवल ग्राम्य भाषा वा सामान्य भाषा ही से सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु विशेष में सब की भाषा एक ही है, और उनमें कुछ भेद नहीं है, जैसे कि इन सब की नागरी भाषा एक ही है कि जिसमें कहीं बाल बराबर का भी भेद नहीं है।

कार्तिक १९५१ वै० ना० नी०

हमारे देश की भाषा और अक्षर

हम आर्यों की असावधानी और कार्य-शिथिलता ने राज-पाट, मान-मर्यादा, स्वाधीनता और सब प्रकार के अधिकारों को खोया। खेद का विषय है कि वह अद्यापि हम में ज्यों की त्यों वर्तमान है, वरंच यदि यह भी कहें कि उसकी निरन्तर वृद्धि होती जाती है, तो भी अन्यथा नहीं होगा, क्यों कि यही कारण है कि बची खुची सम्पत्ति भी इस जाति की नष्ट हो रही है, और जो स्वत्व सामान्यतः सब को प्राप्त हैं, यह उससे भी वञ्चित है। उसमें भी अब विचार-दृष्टि से देखिये तो भारतवर्ष के अन्य प्रदेश और प्रान्तों से हमारे इस पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अधिकतर परमेश्वर की अकृपा प्रतीत होती है, क्योंकि यही सबसे दीन और सब प्रकार से सभी विषयों में हीन है। बृटिश साम्राज्य में अन्य देशों की अपेक्षा भारत में यद्यपि उदारता न्यून है, परन्तु भारत के भी भिन्न भिन्न भागों से अभागे पश्चिमोत्तर प्रदेश में उदारता के स्थान पर संकीर्णता प्रचलित है, क्योंकि यहाँ जो अनुशासक आते भी प्रायः चुने चुनाये, ऐसे कि जैसे अभागों के लिये आवश्यक हैं। वे बिना इसके विचार के कि देश को किसकी आवश्यकता है, वा प्रजा किसके प्राप्ति की स्वत्वाधिकारी है, केवल प्रचलित प्रणाली का निर्वाह करना मात्र अपना इति कर्तव्य मानते हैं। प्रजा यहाँ की प्रायः ऐसी ही है कि जिसे अपना हिताहित का न तो ज्ञान है, और न उसे यथाविधि उद्योग करने की योग्यता है बस कुछ ऐसी दशा वर्तमान है कि जिससे उनकी इस अवस्था का परिवर्तन होना भी असम्भव प्रतीत होता और साथही उनमें परस्पर द्वेष की ऐसी जड़ जमी है कि जिससे सब प्रकार की उन्नति की आशा निराशा-मात्र प्रतीत होती है।

बृटिश राज्य की निर्मल नीति की प्रभा से भारत वर्ष के प्रायः समस्त प्रदेश और प्रान्तों में प्रादेशिक और प्रान्तिक भाषायें प्रचरित हैं; परन्तु आश्चर्य कि अभागे पश्चिमोत्तर प्रदेश में उर्दू (जो अरबी, पारसी, तुरकी आदि कई भाषाओं की पंचमेल खिचड़ा सी है) और अरबी के अक्षर प्रचरित हैं। यह उर्दू भाषा इन्हीं अरबी अक्षरों में लिखी जाने से अब मानों अरबी पारसी की छोटी बहिन हो गई है। कारण इसका यह है कि अरबी

पारसी आदि के शब्दों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्द प्रथम तो उसमें अत्यन्त कठिनता से लिखे जाते, और शुद्ध शुद्ध पढ़े तो कदाचित जाते ही नहीं; जिसके बीसों उदाहरण नित्य लोगों को मिलते हैं। इसी भाँति अरबी और पारसी के शब्द भी प्रायः हिन्दी शब्द के भ्रम से अशुद्ध और अयथार्थ पढ़े जाते हैं, जैसे आलूबुखारा को 'उल्लू बिचारा' और हाजी पुर इटौना को 'चाची तो बिटौना' पढ़ा जाता है। निदान अरबी अक्षर और उर्दू भाषा मिल कर इस देश का एक प्रकार सत्यानाश किये डालते हैं। न तो घसीट के अक्षर बड़े बड़े मौलवियों से पढ़े जाते, और न वह भाषा सामान्यों के समझ में आती! अरबी अक्षरों के कारण वह इतनी कठिन हो गई है कि उसे पारसी कहने में कुछ भी अयथार्थ न होगा। यही कारण है कि क्या ग्रामीण और क्या नागरिक सामान्यजन, जिन्हें विशेष कार्यालयों से सम्बन्ध नहीं है, जब कोई कचहरी के उर्दू लिखे कागज पाते तो वे उसे लिये गाँव गाँव और गली गली घूमते फिरते और चाहे पचास पारसी पढ़ों से पढ़ावें, परन्तु जब तक कोई कचहरी का घसीट अक्षर पढ़ने वाला न मिले, कदापि उसका अर्थ उन्हें नहीं ज्ञात होता। इसके अतिरिक्त अरबी, पारसी आदि भाषाओं के गूढ़ शब्दों के अर्थ समझाने वाले की भी आपेक्षा होती ही है।

न केवल यहीं से इति है, वरंच अभियोगों में प्रायः जो ग्राम्यजन साक्ष्य प्रदानार्थ आते वे बोलते तो कुछ और लिखा जाता है कुछ, विचारा साक्षी तो कहता है कि—"मोरे घरे के नियरे" शरिस्तेदार साहिब लिखेंगे—'मुत्तसिल खानः मुजिहिर।" तब यदि यह इज़हार साक्षी को सुनाया भी जाय, तो वह क्या समझेगा? फिर न केवल साक्षी मात्र, वरंच बहुतेरे नवीनागत इंग्लिस्थानी साहिब लोग भी यह अबुलफज़ली इबारत नहीं समझ सकते, और न बारम्बार उसका अर्थ ही वाचक से पूंछ सकते! क्योंकि इसके लिये तो फिर उन्हें अपने शरिस्तेदार साहिब को मौलाना का पद देने, और स्वयम् शिष्य बन कर नित्य उनसे पाठ पढ़ने के अतिरिक्त उन्हें अन्य कार्य का अवसर ही नहीं मिल सकेगा। पुलीस की रिपोर्ट और कैफ़ियत आदि में भी प्रायः उस्ताद अमले लोग ऐसा ही किया करते कि विशुद्ध मर्म्म स्थल पर कोई अरबी आदि का ऐसा कठिन शब्द ढूंढ़ कर ला घुसेड़ देते कि प्रधान साहिब बहादुर समझी न सके हों, और यदि पूछें तो अण्ड का बण्ड अर्थ बता उन्हें पछाड़ दिया। यों ही ऐसे ऐसे भी शब्द ढूंढ़ कर समय पर कार्य में ला देते कि जो दो वा तीन प्रकार पर पढ़ा जाता, लिखा तो कुछ और पढ़ दिया कुछ

और ! दस्तावेजों के लिखने लिखाने में भी इससे बड़े बड़े असम्भव कार्य सम्भव कर दिये जाते और चार बार भी सुना देने से विचारे भोले गवहियें और अपढ़ ठग लिये जाते हैं । रजिस्ट्रार साहिब भी सुना कर केवल स्वीकार मात्र पूंछ लेते और 'हाँ' सुन कर लेखनी से उन पर अज्ञात छुरी चला देते हैं ।

निदान अरबी अक्षर और उर्दू भाषा के असंख्य अद्भुत गुणों का आख्यान न केवल हमारी सामर्थ्य से परे है, वरंच कदाचित् शेष के अतिरिक्त अन्य से भी असम्भव है ! फिर उसका इतने दिन पर्य्यन्त इस समग्र देश में प्रचरित रहना ही बड़े आश्चर्य की बात थी । कारण इसका यही था कि न तो प्रधान प्रधान राज कर्म्मचारियों ने कुछ इसकी खोज की, और न यहाँ की गूँगी और निर्जीव प्रजा ने जिसको अन्याय सहन करने की बान सी पड़ गई है, इसके लिये यथेष्ट उद्योग किया । कभी कभी किसी किसी सामान्य अनुशासक और राजकर्म्मचारियों ने इसके दोष देखे, और कुछ दत्तावधान भी हुए, परन्तु प्रचरित प्रणाली के परिवर्तन के उपद्रव संकोच और उत्तेजक और सहायकों की न्यूनता ने उसे उभड़ने न दिया । इसी प्रकार कभी कभी देश के प्रधान शुभचिन्तकों ने भी इसके लिये कुछ कुछ उद्योग किया था, जैसे कि हमारे स्वर्गीय मित्र भारतेन्दु जी ने एक बार बहुत कुछ प्रयत्न किया था । इधर हिन्दू समाज ने भी कुछ अनुष्ठान आरम्भ किया था । हम लोग भी इसके लिये कुछ न कुछ कार्य्यवाही करते रहे; परन्तु अत्यन्त खेद से कहना पड़ता है कि यह कार्य्य कदापि एक दो वा दस पांच जनों के किये नहीं हो सकता यह देश का कार्य्य है जब तक देश उद्यत न हो, नहीं हो सकता ।

देश से यहाँ केवल शिक्षितमंडली मात्र से तात्पर्य है । अब यदि शिक्षित मात्र नहीं तो प्रत्येक खंड और नगर में दस दस पाँच पाँच सज्जन भी इसके अर्थ कटिबद्ध होकर सन्नद्ध हो जाँय, तौ भी इस महत्कार्य्य के पूर्ण होने की आशा हो सकती है, किन्तु जब एक भी न हो, तो कहिये किस प्रकार कार्य्य चले । राज कार्य्यालयों से उर्दू के हटाने हिन्दी के पैठाने का उद्योग तो अलग रहे विश्वविद्यालय (यूनीवर्सिटी) से भी हिन्दी निकाल दी गई, परन्तु किसी ने चूँ तक नहीं किया ! फिर ऐसे सन्तोषामृततृप्त प्रजापूरित देश से क्या कहा जाय ?

अस्तु जो यह प्राकृतिक नियम है कि अन्धेर बहुत दिन तक नहीं चलती, यही कारण है कि अब प्रादेशिक गवर्नमेंट का ध्यान इधर आकर्षित हुआ है

और वह अरबी अक्षरों को निज राज कार्य्यालयों से निकालना आरम्भ किया चाहती है, जो कदापि न्यून हर्ष का विषय नहीं है। यद्यपि वह मवत्रा का अर्थ बिछौना कहना चाहती है अथवा मसि को छुड़ा कर नील रंग रंगने के तुल्य अरबी के स्थान पर अंग्रेज़ी अक्षरों अर्थात् रोमन लिखने की प्रथा प्रचलित करना चाहती है, तो भी वह धन्यवादार्ह है।

अभी थोड़े ही दिन हुये जब कि हमारे प्रादेशिक राज्यसिंहासन पर श्रीमान् एलेन केडल महाशय विराजमान थे, और उनके राज्य ने जब इस प्रस्ताव को प्रकाशित किया था, तभी हमने उन्हें अनेक धन्यवाद देकर लिखा था कि—"यद्यपि यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि किसी राजा का अपने अक्षरों का आदर करना स्वाभाविक है तो भी जब तक उस भाषा का प्रचार इष्ट न हो, तब तक और की अंगरखी और के अंग में पहिनाने के सदृश यह भी एक प्रकार की बिडम्बना ही है; अर्थात् देश-भाषा के संग देश ही के विशुद्धाक्षर का प्रचार देना न्यायानुमोदित है। और इसी रीति से कार्य्य की सुगमता और शुद्धता, तथा प्रजा की प्रसन्नता एवम् बिना कठिनता के उसके कार्य्यनिर्वाह की सरलता सम्भावित हो सकती है। अस्तु यद्यपि यह आधा तीतर और आधा बटेर की कहावत के अनुसार अधूरा न्याय वा सद्नुष्ठान है, तथापि हम अपने वर्तमान प्रादेशिक प्रभु श्रीमान-एलेन केडल महाशय को बिना धन्यवाद दिए नहीं रह सकते + + + इस कारण कि यदि उर्दू भाषा को रख कर भी गवर्ममेण्ट अरबी के अक्षर अपने राज कार्य्यालयों से उठा दे तौभी देश का बड़ा उपकार होगा, क्योंकि उसमें एक ही शब्द दस दस बीस बीस प्रकार से पढ़े जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अरबी अक्षरों की नाईं उर्दू भाषा का प्रचार भी केवल बिडम्बना मात्र है, अतः गवर्नमेन्ट को उर्दू रोमन के स्थान पर हिन्दी रोमन का प्रचार देना चाहिये। क्योंकि बड़े बड़े अरबी पारसी भाषा के शब्द आने ही से हिन्दी का उर्दू नाम होता है, फिर कठिन कठिन पारसी, अरबी, तुर्की, भाषाओं के शब्दों से क्या लाभ सम्भव है; कि जो न तो प्रजा की बोलचाल में आते, और न राजा के? यद्यपि आशा अवश्य ऐसी है कि उस अक्षर के हटाये जाने से ऐसे ऐसे शब्दों का क्रमशः अभाव होता जायगा, किन्तु उसके स्थान पर अनेक अंग्रेज़ी शब्दों की वृद्धि होगी; और इस भाँति एक नवीन ऐंग्लो उर्दू भाषा बनेगी। अतएव हम चाहते थे कि ऐंग्लो हिन्दी होती न कि उर्दू। क्योंकि, जिस प्रकार इस देश में यवनों के अधिकार से हिन्दी भाषा में पारसी, अरबी,

तुर्की, आदि भाषाओं के शब्द सम्मिलित होगये, उसी प्रकार उनके स्थान पर अब अंग्रेज़ी भाषा के शब्द भी मिलें, न कि अनेक विदेशी भाषाओं की वृद्धि होते होते हमारे देश की भाषा ही का लोप हो जाय।"

परन्तु जैसा कि हम ने प्रथम कहा है सब प्रकार की सुगमता और न्याय तभी होगा, जब कि हिन्दी भाषा के संग हिन्दी हीं, अर्थात् नागरी के अक्षरों, का प्रचार इस देश के राजकीय न्यायालयों में किया जायगा। कुछ हमारी ही सम्मति ऐसी नहीं है वरंच अन्यदेशी निष्पक्ष न्यायवान मात्र की ऐसी ही सम्मति है, जैसे कि-२६ जनवरी का इन्डियन मिरर लिखता है—

"हम लोग सुनते हैं कि पश्चिमोत्तर देश की गवर्नमेन्ट ने यह आज्ञा दी है कि वहाँ के राजकीय न्यायालयों में फ़ारसी अक्षरों के स्थान में रोमन का प्रचार किया जाय। हम लोग अधिक प्रसन्न होते यदि हिन्दी अथवा कैथी का प्रचार किया गया होता, क्योंकि उसकी लिखावट बहुत अच्छी और शुद्ध होती है, और जैसे बोली जाती है, वैसी ही लिखी जाती है; परन्तु खेद का विषय है कि हिन्दी के विरोधियों की संख्या उन प्रान्तों में इतनी अधिक है कि जिसके कारण उसका प्रचार होना कठिन है, यद्यपि फारसी अक्षरों की लिखावट शीघ्रता पूर्वक होती है, परन्तु उसकी लिखावट स्वच्छ नहीं होती है, और एक बिन्दी के कारण उसमें आकाश पाताल का अन्तर पड़ जाता है, और एक शब्द नाना प्रकार पर पढ़ा जाता है। ये सब अवगुण, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, कि रोमन के प्रचार से भी दूर हो जायेंगे। कई एक अभियोगों में ऐसा सुनने में आया है, कि फ़ारसी अक्षरों में लिखे हुये दस्तावेजों में सरलता पूर्वक जाल किया जा सकता है, और कोई जाल करने वाले को पकड़ नहीं सकता है। अतः हम लोग पश्चिमोत्तर देश की गवर्नमेण्ट को उसके इस नवीन प्रस्ताव के लिये आन्तरिक भाव से धन्यवाद देते हैं।"

निदान यह चिर दिन का उत्थापित प्रस्ताव स्वयम् फिर से उठ खड़ा हुआ, और प्रादेशिक साम्राज्य बिना किसी के कुछ कहे सुने ही इस ओर अन्याय और अन्धेर के सुधार पर स्वयम् सन्नद्ध हुआ। परन्तु देश के लोग अचेत ही सो रहे हैं। हिन्दू प्रजा अपने दुर्भाग्य के मद से उन्मत ऊँघ रही है। अनेक हिन्दी-हितैषी लोग, जो न जानें ऊपर ही से उसके लिये उसासें लिया करते हैं, मौन मारे बैठे हैं। प्रत्येक सप्ताह कमरे की चाँदनी के तुल्य चार चार हाथ के लम्बे चौड़े काग़ज काला करने वाले हिन्दी पत्र सम्पादक लोग भी इसके लिये लेखनी चलाने में सौगन्ध सी खाये चुप हैं! चाहे व्यर्थ की

बकवाद क्यों न करे परन्तु इसके लिये वे क्या कुछ लिखे, क्यों कि इससे कदाचित् देश के सच्चे उपकार की आशा है।

क्या न हो! क्योकि कई तो ऐसे ही है कि—कदाचित् उनको अपनी योग्यता दिखाने के लिये उर्दू की आग उगलने के अतिरिक्त और कोई द्वारही नही है, जैसे कि हमारे हिन्दी बगवासी साहिब है कि जो बिना अरबी के अलफाज मिलाये भूल मे भी कोई छोटा समाचार तक नहीं लिखते, बगाली होकर भी आप मौलाना बनने बिना व्याकुल है! अवश्य ही उनका मनमानी पॅचमेल खिचडी पकाना एवम् उर्दू पर उवार खाना, बिचारी उभरती नागरी की गर्दन मरोड रही है! जिन बगालियो ने प्रचलित बग भाषा का ग्राम्य भाषा के सग असभ्य उर्दू शब्द निकाले, और सर्वथा सुकोमल सस्कृत के शब्दो ही को सन्निवेशित कर निज भाषा का सौन्दर्य्य बढाया, आज उन्ही के सन्तान हिन्दी के पत्र सम्पादन मे प्रवृत्त हो प्रचलित प्रणाली का तिरस्कार कर परित्यक्त परिपाटी के पोषण पर तत्पर हो देशी कौवा मरहठी भाषा बोल रहे हैं, तो क्या यह कुछ न्यून खेद का विषय है? जिस उर्दू भाषा, अर्थात् अधिकता से अरबी फारसी शब्दो से भरी भाषा, को समस्त देश एक प्रकार की विदेशी भाषा मानता है, और कहता है कि इसे यहाँ के सर्व सामान्य जन नही समझ सकते, बगवासी साहिब उसे देश भाषा प्रमाणित किया चाहते है। फिर कहिये इन्हे हिन्दी का सहायक कहे कि शत्रु? और इनके इस कृत्य से हमारी भाषा को हानि पहुँच सकती है, वा लाभ?

फिर देखिये, गेमन के प्रचार के विरुद्ध बरेली के उर्दू भक्त मुसलमानो ने एक बडी सभा करके इसका प्रतिवाद किया, जिसके लिये कोई विशेष सभा स्थापित नही है, परन्तु हिन्दी हितैषिणी न जाने कितनी सभाये हैं, परन्तु किसी ने अब तक चू नहीं की! यह कितने बडे आक्षेप और आश्चर्य्य का विषय है? दैनिक भारत मित्र लिखता है, कि---"जिस समय गवर्नमेण्ट की ओर से शिक्षा कमीशन नियत हुआ था, उस समय यह निर्णय हुआ था कि पश्चिमोत्तर देश के वह मुसलमान जो गाँवो मे निवास करते हैं, और जिनका नौकरी व्यापार नहीं है, वह भी उर्दू अक्षर और उर्दू भाषा को नही जानते हैं। पश्चिमोत्तर देश की गवर्नमेण्ट यदि निष्पक्ष होके न्याय दृष्टि से देखे और विचारे तो उसे यह स्वीकार करना पडेगा कि पश्चिमोत्तर देश की समस्त प्रजा की मातृभाषा हिन्दी, और अक्षर देवनागरी हैं, क्योंकि पश्चिमोत्तर देश का कोई ग्राम ऐसा नही है जिसमे दो चार मनुष्य नागरी जानने वाले न हो,

परन्तु उर्दू जानने वालों की अब तक भी इतनी कम संख्या है कि दो चार गावों में ढूंढ़ने से ऐसा मनुष्य मिलेगा जो उर्दू की चिट्ठी को पढ़ सकता हो। अब रहे रोमन जानने वाले। उनकी तो यह दशा है कि शायद एक तहसील के इलाके भर में भी कठिनता से दो चार मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो रोमन अक्षरों को पढ़ सकते हों, वा लिख सकते हों। पश्चिमोत्तर देशीय गवर्नमेंट के अधिकारी लोग जब ऐसे अचलित अक्षरों को अदालतों में चलाने का विचार कर रहे हैं, तब इसे पक्षपात के सिवाय और क्या कहा जाय।

विशेष शोक हमको इस बात का है कि आज कल पश्चिमोत्तर देश में एक ऐसे सुविचारक न्यायवान और दूरदर्शी विद्वान् लेफ्टिनेंट गवर्नर का शासन समय है, कि जो प्रजा के अहितकारी कार्य को स्वप्न में भी नहीं करते हैं। उनके समय में एक ऐसे प्रधान प्रजा पीड़क कार्य का हो जाना अवश्य ही शोक का स्थान है।

इस बात को सब ही लोग जानते हैं कि श्रीमान् सर ए० पी० मेकडालन बहादुर मध्यप्रदेश में चीफ़ कमिश्नरी और बंगाल में लेफ़्टिनेंट गवर्नरी का कुछ काल तक कार्य कर चुके हैं, तब क्या वह स्वयम् कह सकते हैं कि उन प्रान्तों की अदालतों में विदेशीय भाषा और विदेशीय अक्षर प्रचलित हैं? यदि इस प्रश्न का उत्तर "नहीं" है तब किस न्याय के अनुसार पश्चिमोत्तर देश की अदालतों में विदेशीय और प्रजा के अपरिचित अक्षरों के प्रचार का अत्याचार किया जाता है!

"हम अनेक बार कह चुके हैं कि पश्चिमोत्तर देश के निवासियों को चाहिये कि जिस नगर में श्रीमान् लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर जाँय वहीं उनको नागरी के प्रचारार्थ मेमोरियल दिये जाँय और उनसे प्रार्थना की जाय कि अदालतों में हिन्दी का प्रचार करें, परन्तु पश्चिमोत्तर देश के हिन्दी हितैषियों ने इसमें आलस्य किया और अब तक भी आलस्य कर रहे हैं।"

अब हम पूंछते हैं कि हमारा सहयोगी जो हम लोगों पर दोषारोप करता है, तो क्या वह अन्यथा है? खेद है कि बंगाल के हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के पत्र तो यों लिखें और हम लोग कान में तेल डाले सुनें! उसकी सम्मति के अनुसार प्रत्येक खंड में प्रादेशिक प्रभु के परिभ्रमण में सार्वजनिक निवेदन पत्र देकर हिन्दी के लिये पुकार करनी तो अलग रही, उसके इस

प्रस्ताव पर कोई दत्तावधान भी नहीं हुआ ! फिर शोक तो यह कि न केवल सामान्य जनसमुदाय वरंच विशेषों ने भी इस पर कुछ ध्यान न दिया ! और की बात जाने दीजिये, इस प्रदेश और इस भाषा के जो कोड़ियों समाचार पत्र प्रकाशित होते हैं, यदि कुछ दिनों तक एक स्वर हो के पुकार मचाते, तो सचमुच ऐसे न्याय परायण अनुशासक के राज्य समय में जैसे कि हमारे वर्तमान प्रादेशिक प्रभु हैं, वह सर्वथा फल शून्य न होता, वरंच न केवल साम्राज्य, किन्तु प्रजा भी इसके अर्थ अवश्य यत्नवान होती। परन्तु शोक तो यह है, कि चाहे अपने मूं कुछ मियाँमिट्ठू जो चाहे सो बन लें, पर वास्तव में अभी हमारी भाषा के पत्र सम्पादक लोग सम्पादकीय धर्म्म ही को नहीं जानते। हम देखते हैं कि प्रजा के यथार्थ उपयोगी प्रबन्ध प्रायः तो हमारे सहयोगी समूह लिखते ही नहीं, और यदि कभी किसी ने लिखा भी तो दूसरे उसकी हाँ में हाँ मिलाना तो कदापि सीखे ही नहीं; और उसकी पुष्टता में अनेक प्रबन्ध लिखना तो मानों अपनी अपकीर्ति जानते। अस्तु, अब हम अपने सुहृत्सहयोगी समूह से अत्यन्त नम्रता और विनीत भाव से प्रथम अपने किंचित कटु वाक्यों की जो केवल उत्तेजनार्थ कहे गये हैं, क्षमा माँग कर प्रार्थना करते है कि कृपा कर भगवान के निहोरे अब तो दत्तावधान हूजिये और कुछ दिन इसी विषय का आन्दोलन कीजिये, क्यों कि इससे अधिक सामान्यतः सर्व सामान्य और विशेषतः आप लोगों के अर्थ लाभदायक अन्य कोई विषय नहीं हैं, और इस समय के पश्चात् निश्चय पुनः कोई अन्य समय भी न आयेगा।

क्योंकि हमारे वर्तमान प्रादेशिक प्रभु श्रीमान सर०ए०पी० मेकडालन महाशय के समान विशुद्ध न्यायकारी और प्रजाहितैषी अनुशासक कदाचित् कोई इस प्रदेश में न आया था, वा आगामि में आये, तब हम लोगों को अपने चिर दिन की मनोभिलाषा उक्त श्रीमान की सेवा में यथा विधि न निवेदन करना कितनी बड़ी मूर्खता है ? सुतराम् हम लोगों को बिना बिलम्ब के अब न्याय प्राप्ति के लिये अवश्यमावश्य पुकार करनी चाहिये। यों तो भाग्य की बात अलग है, नहीं तो जब इस समय गवर्नमेंट उर्दू अक्षरों के दोषों को दूर करने पर स्वयं दत्तचित्त हुई है और वह अपने प्रादेशिक न्यायालयों में वर्तमान अक्षरों का परिवर्तन करना चाहती है, एवम् जब इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यहाँ के देश के अक्षर देवनागरी ही हैं, तो हम कदापि यह विश्वास नहीं कर सकते कि कोई

न्याय प्रिय जन इसे छोड़ अंग्रेजी अक्षरों का प्रचार देना चाहेगा ? अभी अभी जब कि प्रशंसित श्रीमान् अपने परिभ्रमणमें श्री काशी जी में विराजमान हुये थे, और जब वहाँ की "नागरी प्रचारणी सभा" ने इस प्रश्न को श्रीमान की सेवा में उपस्थित किया था तो श्रीमान ने ऐसा कोरा उत्तर नहीं दिया, कि जिससे दुराशा उत्पन्न हो। यद्यपि ऐसे विषय के लिये किसी विशेष सभा ही की एक बार सामान्य रीति की प्रार्थना प्रर्याप्त नहीं है : जैसा कि ऊपर लिख आये हैं कि ऐसे ऐसे वरंच इससे भी और अधिक उद्योग कई स्थानों से कई बार किये गये, और प्रार्थनायें की गईं, परन्तु इससे कुछ लाभ नहीं हुआ, और न हो सकता है। इसलिए इसके लिये अब एक बार यथेष्ट उद्योग करना अत्यवश्यक और उचित है, और हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि इससे अच्छा अवसर इसके लिये दूसरा न होगा, वरंच यदि इस बेर और भी उदासीनता अवलम्बन कर हम लोगों ने मौन मार लिया तो कदाचित फिर कोई दूसरा अवसर हाथ ही न आयेगा, क्योंकि जब निस्वत्ववती उर्दू के स्थान पर राजाक्षर रोमन प्रचरित हो जाँयगे, तो उनका उठना तो इस राज में सर्वथा असम्भव ही हो जायगा।

सारांश अब विना बिलम्ब के समस्त एतद्देशीय प्रजा और विशेषतः हिंदी हितैषियों को ऐसा उद्योग करना चाहिये कि इस प्रदेश के प्रत्येक प्रान्त और खण्डों से यथा सम्भव अधिक जन हस्ताक्षरित प्राथनापत्र प्रादेशिक साम्राज्य की सेवा में समर्पण किये जा सकें, और इस प्रकार वे अपने सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य को कर कृतार्थ हो अनन्त सुयश और धर्म के भागी हों। प्रार्थना पत्रों का आशय स्थूल रूप से केवल इतना मात्र होना चाहिये कि—साम्राज्य जो अपने न्यायालयों में अरबी अक्षरों के स्थान पर रोमन अक्षरों का प्रचार करना चाहता है, वास्तव में अरबी अक्षरों को इस देश पर कोई स्वत्व नहीं है। परन्तु यह एक बड़ा अन्याय होगा कि जो बात भारत के किसी प्रदेश में प्रचरित नहीं है, केवल इसी प्रान्त में प्रचरित की जाय। अतः देशी भाषा के संग देशी ही अक्षर हिन्दी अर्थात् नागरी का प्रचार देना न्याय सम्मत है, क्योंकि वही इस देश का अक्षर है और उसी को सर्वसामान्य प्रजा पढ़ती लिखती और कार्य्य में लाती है। इस विषय में विशेष प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस देश का अक्षर कौन है, जब कि गवर्नमेंट देखती है कि पटवारियों के सब गाईं कागज इन्हीं अक्षरों में लिखे जाते, और ग्रामाधीशों और व्यापारियों के घरऊ समस्त बही खाते इसी बिगड़ी (जो शीघ्र लिखने के

कारण घसीट उर्दू की भाँति मात्रा विहीना हिन्दी ही में लिखे जाते हैं। सुतराम् यदि गवर्नमेंट हिन्दी अक्षरों का प्रचार देगी तो केवल दो ही अक्षर और भाषा राजकार्य्यालयों में रहेंगी, अन्यथा जिस प्रकार अब तक तीन थीं, तीन के स्थान पर ढाई वा साढ़ेतीन होंगी और इससे प्रजा की दशा उन्नत होने के स्थान पर और भी अवनत होगी। अतः गवर्नमेंट कृपा कर इन्हीं दोनों भाषा और अक्षर अर्थात् अंग्रेजी और हिन्दी का उचित विभाग कर अपने न्यायालयों में प्रचार दे। जहाँ तक हो सके हिन्दी रख कर ऊपर अंग्रेजी भाषा के संग अक्षरों का प्रचार दे, आधा—तीतर और आधा बटेर का व्यवहार सर्वथा अनुचित है। इत्यादि इत्यादि। परन्तु यह जानना चाहियेकि यह तभी संभव है कि जब देश के मुख्य अग्रसर और हिन्दीहितैषी जन इसपर बद्ध परिकर हो अपना द्रव्य और समय व्यय कर ऊपर कुछ कष्ट सहन करना स्वीकार करेंगे, और यथार्थ रीति से इसके लिये तत्पर होंगे। निदान अब सच्चे हिन्दी हितैषियों को अपनी मातृभाषा की भक्ति दिखाने का बहुत अच्छा अवसर हाथ लगा है जिसे उन्हें कदापि न खोना चाहिये। और यह भी निश्चय रखना चाहिये कि आज पीछे उनको फिर उक्त विषय का अभिमान भी अवश्य ही त्याग देना पड़ेगा!

निदान क्या काशी और क्या लखनऊ आदि की नागरी प्रचारिणी सभाओं को अब विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सामान्य ऐड्रस आदि ही पर निर्भर नहीं रहना चाहिये, वरंच इस कार्य्य के गुरु भार के उठाने का कोई यथेष्ट प्रबन्ध करना चाहिये। क्योंकि हमारी समझ में इसका प्रबन्ध तब तक होना असम्भव है कि जब तक दो चार सुयोग्य वक्ता नियत करके प्रत्येक प्रान्त और खण्डों में न भेजे जाँय, कि जो वहाँ के विशेष जनों को एकत्र कर इसके लिये उत्साहित करें, हमारा यह मत नहीं है कि एका एक कोई सार्वजनिक महा सभा कर केवल कोरा कोरा बकवाद ही कर विपक्षियों को उत्तेजित होने का अवसर दे दिया जाय, कि जिसमें विघ्न की आशंका हो और मुख्य कार्य्य में ढिलाई की जाय; वरंच प्रथम प्रार्थना-पत्र ही का प्रबन्ध किया जाय, और बहु संख्यक हस्ताक्षर करा कर प्रार्थना-पत्र-प्रेषण-समय ही पर प्रकाश्यरूप से सार्व जनिक सभा एकत्रित की जाय।

इसी प्रकार हम उन स्वदेश हितैषियों से भी प्रार्थना करते हैं कि जिन्हों-ने काँग्रेस आदि के अर्थ कई बार विशेष श्रम और अपने अमूल्य समय तथ

द्रव्य की हानि सहन की है। वे निज मातृ भाषा के अति उत्कृष्ट हित के लिये भी एक बार कुछ क्लेश स्वीकार करें, विशेष आशा हम आनरेबल श्रीमान राजा रामपाल सिंह वीरेश से करते हैं कि जिन्हें इस विषय में पूर्ण अनुराग है, और जिसके वे व्रती हैं; जिसके लिये उनका देश अनुगृहीत है, एवम् जिस कारण उनका सुयश उनके अनेक सहयोगियों की स्पर्धा का कारण है।

१६५२-वै० ना० नी०

भारतेन्दु अवसान

हे इस सभा को शोभा देने वाले ! और इस असह्य शोक में संगी होने वाले ! सज्जन सभ्य समूह !!! निश्चय आज उस करुणामय विषय के वर्णन की आवश्यकता आन पड़ी कि जिसे स्मरण कर, न केवल मनुष्य मात्र को शोक मूर्छा आए किन्तु प्रस्तर को भी यदि ज्ञान हो तो मोम सा अवश्य पिघल जाये, जिसके लिखने में हमारी यह लेखनी भी सिर झुकाए थरथराती और चिरचिराहट के मिस अन्तर्नाद कर चिंघारती है। प्रत्यक्ष जिसकी छाती फट गई, और उसने काले आँसुओं की लड़ी से झड़ी लगा दिया हाय ! हाय !! वह भारतीय प्रजा का एक ही प्यारा, और भारतप्रकाश का ऊँज्यारा, भारतेन्दु रूपी इन्दु, वह भारत भामिनी के स्वच्छ ललाट का केशर विन्दु, वह अनगिनत गुनों का आकर, और पश्चिमोत्तर देश का प्रभाकर निश्चय आज अस्त हो गया, कि जिस से देश हितैषियों का समाज शोक ग्रस्त हो गया, आज आर्यों का मान अवश्य घट गया, आज आर्य विद्या का पुष्कर पट गया आज आर्यों का सच्चा हितैषी उनसे मुँह मोड़ गया, आज आर्यावर्त का आधार उसे छोड़ गया, आह ! वह सर्व-जन-मन-रंजन खञ्जन उड़ गया, जिसके कारण उन्नति आशा का जहाज आज विपत्ति वारिधि में बूड़ गया। सच है ! वह ऐसा ही अनुपम जन था, जो सचमुच इस देश का सौभाग्य धन था। न वह केवल कविता के सब देशों का अनन्य महा कवि था, किन्तु हिन्दी भाषा का तो अवश्य मानो छवि था, वह किसका नहीं प्यारा, वह रसिकों के नेत्रों का तारा, वह नागरी-बाला का शृङ्गार करने वाला, वह अभिमानी भारत के हाथ का भाला, वह आर्य बैरियों के शस्त्रा-घात की ढाल वह उर्दू का कराल काल क्या सचमुच स्वयम् काल के गाल में जा दबा ! विधि ! तूने यह कौन विचार विचारा है कि जिसमें हमारा कुछ भी नहीं चारा है मनुष्य विचारा इस स्थान पर हैरान है, जैसा किसी उर्दू शायर का बयान है :—

"न गोरे सिकन्दर न है कब्रे दारा मिटे नामियों के निशां कैसे कैसे"

कजा जब कि आ जाती है जी की दुशमन, किसी की नहीं चलती कुछ मुश-

फिके मन। गुजर गाहे दुनिया में है मौत रह जन, छुटा क्या अजबरूह से जामए तन, लुटे राह में कारवाँ कैसे कैसे"। कबीर ने भी बहुत ही ठीक कहा है।

दोहा

दस द्वारे को पींजरा तामैं पंछी पौन।
रहिबे को अचरज महा गये अचम्भा कौन॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य का शरीर अवश्य अनित्य और नाश होने वाला है, परन्तु जीवन पर्यन्त मनुष्य के मन में इसका भान कदापि नहीं होता कि हमें भी एक दिन मरना होगा। महाराजा युधिष्ठिर ने बहुत ही ठीक कहा—कि दुनिया देखती है कि सब लोग मरते चले ही जाते हैं, पर तौ भी उन्हें रहने की उम्मेद बनी ही रहती है इससे बढ़ कर आश्चर्य क्या है। परन्तु वह हरिश्चन्द्र कि जिसे लोगों ने यथार्थ खिताब "माहेहिन्द" अर्थात् भारतेन्दु पद प्रदान किया, नित्य अपने मृत्यु के दिन को याद करता, और यही कारण था कि वह अपने निश्चित सिद्धान्तों का पक्का, और अपने कर्तव्य कार्यों के करने में सदैव बद्ध परिकर रहा। मेरी इनदोनों बातों का प्रमाण उसके एक कवित्त का यह पद है—"कहैंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे, प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी" सच है! "जीते जी कद्र बशरा की नहिं होती प्यारे याद आएगी तुझे मेरी वफा मेरे बाद।"

इसमें सन्देह नहीं कि दुनियाँ मुरदा परस्त है, जैसे उसने भी अपने जीते संसार के सलूक यही कहा कि—हा! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा और सचमुच अप्राप्त वस्तु की अधिक चाह होती है जैसे आज उस मृत महामान्य का शोक सबको व्याकुल कर रहा है। लेकिन ऐसे मनुष्य जिनकी कीर्त्ति संसार को उसकी याद दिलाया करती है, पूर्ण रूप से काल भी उसके नाश में समर्थ नहीं है, और सत्कवि तो मानो मरते ही नहीं यथा:—

"जिन्दः दिल लोग पढ़ा करते हैं गजलें दिनरात, कभी शायर नहीं मरता व खुदा सच है यःबात। आबदारी से है हर मिसरये तर आबेहयात, ताजगी है सुखने कोहनः में यः बादे वफात; लोग अकसर मेरे ज.ने का गुमां रखते हैं"।

१६४२ वै० आ० का०

गुप्त गोष्ठी गाथा

संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने मित्रों की एक एक गोष्ठी रखता है, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, किसी की गोष्ठी कुछ ही काल में विनाश के पेट में पदार्पण कर अपना अस्तित्व नष्ट कर देती पर किसी किसी की तो अमरबेलि के सदृश पल्लवित तथा प्रफुल्लित होती। सौभाग्य वश मेरी अनूठी गुप्त गोष्ठी भी इसी प्रकार की है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग का बेजोड़ और अपना सानी न रखने वाला है। वे मेरे तो यहाँ तक मुँहलगे हैं कि उठते बैठते खाते पीते दो शरीर एक प्राण के सदृश हो रहे हैं और अपनी अनूठी सम्मति तथा चरित्र का उदघोष मुझसे बलात कराया चाहते हैं। अतः प्रथम ही उन सब के स्वभाव से हम अपने पाठकों को परिचित कर देना उचित जानते हैं जिसमें उन्हें कुछ विशेष आनन्द अनुभव हो।

वे सब के सब प्रायः मेरे अभिन्न मित्र हैं जो अहर्निश कोई न कोई अवश्य मुझे घेरे रहते कि जिनसे पिंड छुड़ाना भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। यद्यपि उनमें दो एक से मुझसे दाँत काटी रोटी और दो शरीर एक प्राण का सम्बन्ध है, परन्तु कोई कोई ऐसे भी हैं जो बिना स्वागत के सदा उपस्थित रहते और जो बैठ जाते तो उठने का नाम भी भूल जाते। यह कुछ भी विचार नहीं करते कि इसे भी संसार में कभी कुछ काम करना रहता है। बकते बकते प्रायः सर्वांश मस्तिष्क हो चाट जाते, किन्तु क्या करूँ कि इनसे कुछ ऐसा स्वाभाविक स्नेह है कि कुछ भी करते धरते नहीं बन आता, वरञ्च सभी कुछ सहना पड़ता है, यह भी नहीं कि उनमें से किसी पर पूर्ण अश्रद्धा भी हो जाय, वरञ्च कभी कभी तो उनसे बातें करने में कुछ ऐसा अकथनीय आनन्द आता जो अलौकिक ही कहा जा सकता है। इसलिये इसमें कोई भी काटने छाँटने योग्य नहीं लखाते, प्रत्युत अपने भाँति के एक से एक बढ़कर जचते हैं और किसी किसी काम में कोई कोई ऐसे काट कर जाते कि हम सब के सब केवल उनका मूं ताकते रह जाते हैं।

हम सब इनमें से किसी न किसी के घर पर प्रायः नित्य ही कई जन एकत्रित हो जाते, परन्तु कभी जब सब के सब आ मिलते तब तो कुछ ऐसे प्रसून

खिलते कि उस रस में समाविस्थ हो मनुष्य क्या पेड़के पत्ते तक नहीं हिलते। सन्ध्यासे जो आ धमके तो तीन बजा डाला, रात बिता डाली और संसार भर का सार निकाल डाला कोइ बात ही न बच रही जिसकी छान बीन बच जाय कारण यह है कि प्रायः सभी एक दूसरे से भिन्न प्रकृति वाले हैं परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि प्रायः सभी मित्र हैं। (ऐसे ही किसी२में किसी विशेष कारण से मतभेद और कइयों से परस्पर कुछ सम्बन्ध नहीं है,किन्तु किसी किसी से परस्पर कुछ एक प्रकार की अश्रद्धा भी है। परन्तु इस "गुप्त" गोष्ठी में तो व्याघ्र और बकरी एक साथ पानी पा लेते हैं। उनमें परस्पर ऐसा हेल मेल भी है कि मित्र की पत्नी छोड़ प्रायः और सब वस्तु एक दूसरा अपना ही समझ लेता है, निदान उसी भाँति (मेरे समाचार* पत्र) को भी उनमें से प्रायः सब ने अपना ही समझ लिया है और सचमुच कुछ ऐसा ही है! वे बराम्बर कभी हाथ से लेखनी छीन २ कर स्वयम् लिखने लगते, कभी प्रूफ़ उठा कर शोध चलते, तो ऐसी कुछ कारीगरी कर डालते, कि बस उस लेख ही को और का और कर डालते, पूरब का पच्छिम और रात को दिन कर दिखला देते और मैं कुछ भी नहीं कर सकता, उलटा उनके रूष्ट हो जाने के भय से डरता। उन सब के भिन्न अभिप्राय हैं जिनको एक के साथ दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है और सब अपने ही अपने मनोरथ को प्रकाशित करना चाहते हैं जिन सब के अर्थ एक २ पृथक पत्र की आवश्यकता है, परन्तु उनमें से जो केवल मैं अग्रसर हुआ तो सब के सब इधर ही झुक पड़े और लगे लेखनी घिसने। यद्यपि अभी तक तो उनके लेख समाचार पत्रों में कोई प्रकाशित नहीं हुए परन्तु रुकते भी नहीं।

उन मित्रों की संख्या तो ग्यारह तक है, और मित्रों के मुख्य अन्यमित्रों का तो हम नाम ही न लेंगे क्योंकि यही बहुत हैं। हाँ अपने मित्रों के प्रसंग में कदाचित् जो कुछ चर्चा उनकी भी आजायगी तो अवश्य आप सुन सकते हैं, परन्तु उन ग्यारह में से सात मुख्य हैं जिनमें जो जितने आवश्यक हैं उनका हम उतना ही वर्णन संक्षेप में करेंगे जिनमें कई एक महाशय तो ऐसे हैं जो इसी नगरी में रहते हैं, कई आस पास के गावों में और कई विदेशी हैं परन्तु परस्पर सत्य प्रेम के कारण बहुत ही शीघ्र सम्मिलन हो जाया करते और पत्र व्यावहार तो उनसे इतना होता है कि डाक की प्रत्येक 'डिलेवरी' में एक न

*नागरी नीरद† मिर्जापुर

एक का पत्र अवश्य रहता जिनके उत्तर लिखने में प्रायः नित्य ही घंटों समय व्यतीत हो जाया करता है।

हमारे प्रथम कृपाकर मित्र शिरोमणि महामहोपाध्याय पण्डितवर **श्री विज्ञानशेखर शास्त्री विद्यावाचस्पति हैं।** आपका वर्ण गौर, शरीर साधारण सूक्ष्म; वेष में केवल एक मुकटा और उपरणा ललाट पर विभूति गले में रुद्राक्ष माला और पैर में खड़ाऊँ मात्र रहता है। संस्कृत विद्या के अशेष शास्त्राध्यापक होने के अतिरिक्त आप बड़े ही शान्त और सरल स्वभाव के हैं, बुद्धि आप की अत्यन्त सूक्ष्म और सारग्रहणी, आचार विचार जिनके साक्षात महर्षियों के भाँति हैं, सन्ध्योपासन, तर्पण, ब्रह्म यज्ञ, अग्निहोत्र, देवार्चन नित्य नैमित्तिक कृत्य से जो समय आप का बचता वह अनेक पण्डितों की गूढ़ शङ्काओं के समाधान ही में प्रायः व्यतीत होता जाता है। परन्तु जब उससे भी अवकाश पाते हैं तो केवल इसी चिन्ता में निमग्न रहते हैं कि-हाय हमारे धर्म की क्या दशा हो रही है। इसकी अवनति कैसे रुकेगी, उन्नति कैसे होगी जबकि इसके पोषक हमारे भाई मूर्खतान्ध और प्रमादोन्मक्त अचेत हो इसकी उपेक्षा करते स्वयम् इसके नाश करने पर तत्पर हो रहे हैं। इसके रक्षक क्षत्रिय स्वयम् रक्षा के अयोग्य हो गये हैं, उनके रक्षक हम, और हमारे वह, और हमीं दोनों धर्म्म के संरक्षक हैं। फिर जब हम दोनों की यह दशा है, तब धर्म्म की उन्नति कहां, और जब तक धर्म की यह दशा है, भारत का कल्याण कैसे हो सकता है। सारांश "हाय धर्म्म! हाय ब्राह्मण! हाय क्षत्री! हाय भारत! हाय संस्कृत! इत्यादि कहकर उच्छ्वास लिया करते और कभी रात भर इसी शोच में मग्न रहते! जो हम लोगों से मिलते तो ऐसी करुण-रस-पूरित बातें कहनी आरम्भ करते कि रुला कर छोड़ देते। कभी जब उत्तम शिक्षा और धर्मोपदेश करते तो सब शोच ही हरते हैं, विचित्रता यह है कि जब कभी अत्यन्त शोचग्रस्त इनके यहाँ चले जाइए तो शान्ति पाइये और हँसते खेलते जाइए तो शोच सागर में डूबते उतराते घर आइए। जब कभी वे मेरी कुटीर को पवित्र करते-तो पवित्र चौकी लाओ कुशासन लाओ और संसार का सब काम छोड़ उनकी सेवा में लग जावो, धर्म करो और धर्म की ध्वजा उड़ाओ धर्म की दुन्दुभी बजाओ, धर्म का शंख फूंको और धर्म की धूम मचाओ, इन ब्राह्मणों को उपेक्षा निद्रा से जगाओ, इन क्षत्रियों को आलस्य-शयन-शाला से उठाओ, इन वैश्यों को वाणिज्य बतलाओ, इन शूद्रों को गुण सिखलाओ तुम सब यह भूल क्या कर रहे हो, हाय हाय तुम आर्य्य सन्तान अपने स्वरूप को

सर्वथा भूल गये ! तुम क्या थे और क्या हो गये, अब भी चेतो तो भी कुशल है, उद्योग करो और ईश्वर सहायता करेंगे, इत्यादि इत्यादि सुनते चले जाइए, बोले कि बस बात बिगड़ी।

हमारे दूसरे मित्र क्या महामित्र जिनका नाम भी लेते भय लगता है **श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य** जी महाराज हैं।

श्रीमान् शब्द लिखने से यह मत जानिये कि आप कोई बड़े ही प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, किन्तु क्या करें यदि सदैव कहने व लिखने में इनके नाम के पहिले श्रीमान् शब्द का प्रयोग न किया जाय तो आप गालियाँ देने लगते हैं; अतः उन्हें श्रीमान् कहना ही पड़ता है। यों ही भट्टाचार्य पद से बंगदेशीय ब्राह्मण वा कोई बड़ा पण्डित अथवा आचार्य मत समझिये क्योंकि यह उपाधि भी आपने अपने ही मन से ले ली है, हम लोग तो यह भी नहीं जानते कि आप सच-मुच ब्राह्मण हैं या नहीं ! क्योंकि अनेक लोग उन्हे अनेक जाति कहकर पुकारते हैं और वे बोलते हैं, यों ही कई लोग उन्हें और ही अपवाद लगाते हैं चाहे सब हमी ही की रीति पर क्यों न हो। आपसे प्रायः हंसी ठट्ठा सभी से हुआ करता है, जिस ओर से जाते मानों होली छा जाती है, परन्तु आप अपने को माथुर चौबे कहकर प्रसिद्ध करते हैं। इनका नाम भयङ्कर सुनकर आपलोग भयभीत न हों और न ये इतने भयङ्कर हैं; हाँ लड़ाई देखने और कभी कभी स्वयं लड़जाने का स्वभाव उनका अवश्य है इससे अगर आप स्वप्न में भी कोई बात किसी के विरुद्ध सुन लें तो तुरन्त जाकर आप उससे कह देंगे, एवम् यथाशक्ति बिना लड़ाई कराये न रहेंगे; क्योंकि आप अपने को नारदजी के वंश में उत्पन्न बतलाते हैं, फिर जब आप मिलेंगे तो ऐसा हंसेंगे कि आपको गद्गद् करके तब छोड़ेंगे, इससे हम क्या सभी लोग इनसे डरते वरञ्च कभी कभी कुछ देते भी हैं।

आपकी वृत्ति तो यजमानी है, परन्तु और भी अनेक तरह से आप द्रव्या-चूषण करना जानते हैं, आप ने कुछ संस्कृत अवश्य पढ़ी है जिससे अपना पूजा पाठ और यजमानी का काम कर लेते हैं, परन्तु सचमुच अपने को षट-शास्त्रवेत्ता मानते हैं, न केवल इतना ही, किन्तु कैसा भी पंडित हो परन्तु आपके आतेही उसकी सरस्वती मन्द और बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि प्रथम तो आप के प्रश्नोत्तर ही ऐसे विचित्र होते कि सुनने के अतिरिक्त बोलने की आवश्यकता ही नहीं रहती, और यदि कोई बोल दे तो बिना एकाध झापड़ झारे मानते भी नहीं। अपनी बात को यदि कोई वचन से न मानै तो

पीट कर मना देना ही आपका सिद्धान्त है, और किसी दूसरे की बात मानना तो जानते ही नहीं चाहे वह कैसा भी हो तो क्या। शरीर आपका अत्यन्त स्थूल है, और अवस्था पचास वर्ष की है परन्तु स्वभाव बीस वर्ष के युवक के समान। उन्होंने संसार में केवल तीन वस्तु सार समझा है, अर्थात् भङ्ग, भोजन और भिड़न्त इससे आप प्रातःकाल ही पाव भर जलेबी चाभ और कागावासी गढ़न्त बूटी छान चेलों को अखाड़े में लड़ाभिड़ा और भोजन करके तब यजमानों के यहाँ पाठ पूजा करने जाते, और जैसे हो बिना कुछ टेंट में खोंसे घर नहीं लौटते, अगर और कहीं तार न लगा तो किसी मित्र ही के द्वार पर धरना दे बैठ गये, और कुछ पूजा पाकर तब उठते, फिर संध्या को वे विमल विजया पान कर तब घर से निकलते हैं। आप गाना और कविता करनी भी अपनी जान अच्छी जानते और आचार्य्य तो आप अपने को सब वस्तु का मानते, परन्तु एक विषय का आचार्य उन्हें हम लोग भी स्वीकार करते हैं, और वह हास्य का। इस कारण कि कभी वे मेरे वा दूसरे मित्र के यहाँ आ विराजते तो इतना हंसाते कि पेट में बल पड़ पड़ जाता और लोग लहालोट हो प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु जब वे किसी से भिड़ जाते तो उसके प्राण के पड़ जाते, बिना उसे भली भाँति ध्वस्त किये और किसी भाँति नहीं मानते, यद्यपि अदालत के मुकदमा चलाने से आप डरते भी इतने हैं कि जितना चाहिए। जिस दिन कहीं बूटी तनिक अधिक आ गई, तब तो फिर कहना ही क्या है जिधर झुके उधर ही संघार डाला, यदि अपनी विद्वत्ता दिखाने लगे तो समस्त यूरोपीय विद्वानों को भी मूर्ख सिद्ध करके छोड़ दिया और रेल, तार, घड़ी सब का प्रमाण अपने शास्त्र से दे चले और ऐसा पहुँच कर विचित्र अर्थ दे चले कि बस सुनकर बृहस्पति भी चौकन्ने हो जाँय, जो गाने लगे तो प्रति ताल के ऊपर तानसेन और सदारङ्ग को गालियाँ दे चले, कि क्या कहें "ए मूर्ख इस समय में न जन्मे कि हम उन्हें कुछ सिखाते"। इसी भाँति जब कविता भी सुनाने लगेंगे तो मूँ बन्द न होगा चाहे आपको अच्छी लगे वा नहीं, परंतु दोनों अवस्थाओं में आपको उनकी प्रशंसा अवश्य ही करनी होगी, नहीं तो वे क्रुद्धित हो मार भी बैठें तो कोई आश्चर्य नहीं। निदान जब कभी वे आ जाते तो किसी भाँति उठाने से भी नहीं उठते, और न किसी को किसी भाँति उठने देते और सच तो यह है कि किसी को उठने का चित्त भी नहीं चाहता, कैसा ही कोई दुखी और शोचित क्यों न हो आपके दर्शन ही से उसे हँसी आने लगेगी। किन्तु उनके आने के साथ ही हँस देने से वे बहुत क्रुद्धित हो जाते,

क्योंकि इसे वे दोष मानते और जानते कि हमे लोगो ने केवल हँसी का पात्र मान लिया है, यहाँ तक कि उसके मार डालने के लिए मारण मन्त्र का प्रयोग भी करने लग जाते है, परन्तु कुशल इतनी ही है कि यदि आप उनकी हथेली पर एक मुद्रा धर दीजिए तो तुरन्त वे आपको "चिरञ्जीवी' नामक यन्त्र लिख देंगे कि जिससे आप बुड्ढे ही होकर रह जाय और कभी न मरें, आश्चर्य तो यह है कि जिसे जिसे उन्होंने अब तक यह यन्त्र दिया, कोई नही मरा और इस यन्त्र के द्वारा भी बहुत द्रव्य उपार्जन कर लिया। आप वैद्य भी ऐसे हैं कि जिसे एक गोली रेचक की दे दे तो संग्रहणी हो जाय, एवम् ज्वर के शमन के अर्थ जो एक पुडिया दे तो सन्निपात अवश्य हो जाय, और यदि सन्निपात के छुडाने का जो रस दे तो बस प्राण ही छुडा दे। धर्म्म के विषय मे कैसी ही व्यवस्था ले जाइये एक मुद्रा जो आगे धर दीजिये तो आँख मूँद कर चटपट उसपर हस्ताक्षर कर देंगे, अन्यथा उसके विरुद्ध बीस प्रमाण ऐसे ऐसे पुष्ट लिख देंगे कि जिसका खंडन ही किसी से न हो सके। किसी विषय के लिए उद्योग का नाम लेने ही से आप चिढ उठते, क्योंकि वे सदैव भाग्य के भरोसे पर मस्त सोते और कहते हैं कि 'यद् भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा। इति चिन्ताविषघ्नोयऽमगद किन पीयते ॥" और यदि देशोन्नति वा धर्मोन्नति का नाम ले लीजिये तो वे बहुत बिगडते, क्योंकि उनका यह सिद्धात है कि कलिकाल का जो धर्म्म हमारे शास्त्रो मे कहा गया है सो होगा, इससे आस्तिक होकर यत्न करना अनिवार्य है, साराश यह कि आपका आचार और मत हमारे पूर्व प्रशसित कृपाकर मित्र जी श्री प० शास्त्री जी से नितान्त विरुद्ध है। यद्यपि उनके सम्मुख ये बहुत नही बोलते, क्योंकि उन्हे कुछ बडा करके मानते है, परन्तु उनकी बात एक भी नही सुनते और न उनके कहने के अनुसार आचरण करते हैं। आप प्राय सभी बातो मे अपना मत भी प्रकाशित करते है परन्तु सबसे विरुद्ध और जिसे सुनकर कोई भी प्रसन्न न हो। आप जो कुछ लिखते भी हैं सो इसी भाँति का अथवा हास्य विषयक न गद्य किन्तु पद्य भी ऐसा ही। काव्य के नौ रस मे से इन्होने केवल दो रस पसन्द किया है। अर्थात् हास्य और वीभत्स, और करुणा रस का तो नाम भी सुनने मे रोने के डर के मारे भाग जाते हैं इसी लिए हम लोगों को जब उठाना होता है तब उत्तर रामचरित वा हरिश्चन्द्र नाटक हाथ मे उठा लेते, और आप खिसक देते हैं। आप केवल आनन्द की वृद्धि चाहते, विशेष कर हास्य द्वारा, जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नति हो चाहे कोई भी विषय क्यो

न हो पर उसमें इसकी रङ्गत अवश्य हो, हम लोग प्रायः अपने मित्र की बातें सादर सुनते, हँसते और कुछ कुछ करते क्यों कि वे हम सब को ऐसे ही कुछ प्रिय हैं, कारण यह कि जहाँ आप विराजते वहाँ से उदासी उदास हो भाग जाती, और कोई शोच नहीं फटकने पाता।

हम लोगों के तीसरे मित्र श्रीमान् **महाराज करुणानिधानेश्वर सिंह जी** हैं जो कि एक प्रसिद्ध और परम प्रतिष्ठित क्षत्रिय राजवंश के राजकुमार हैं, जिनके पूर्वज अंग्रेजी सरकार से घोर संग्राम कर राज्य च्युत हुए थे। अब ये केवल अंग्रेजी सरकार से एक सहस्र मुद्रा मासिक पेन्शन पाते हैं जो इनके पास एक सप्ताह के व्यय को भी पूरा नहीं कर सकती। आपकी माता-मही इन्हें अपनी समृद्धि का अधिकारी बनाया चाहती हैं, परन्तु ये स्वीकार नहीं करते और कहते कि जब ईश्वर ने अपना ही राज्य ले लिया तो दूसरे का स्थानापन्न हो मुझे श्रीमान् बनना इष्ट नहीं है तो भी वहाँ से इन्हें सहस्रों मुद्रा मासिक आता जो व्यय की पूर्ति करता है। ऐसे विशाल वंश में उत्पन्न पुरुष में जो गुण होना चाहिये आप उन सबसे भली भाँति भूषित हैं। विशेषतः स्वभाव आपका परम उदार, दयामय, सरल और सरस है। बुद्धि अत्यन्त निर्मल और तीक्ष्ण है, अंग्रेजी, संस्कृत और फारसी भाषा में तो आपने पूर्ण निपुणता प्राप्त की है, परन्तु और भी अनेक भाषाओं में आपकी बहुत अच्छी गति है। विद्या और कला के अनेक अंशों में आज आप अद्वितीय योग्यता रखते हैं। प्रायः सभी उत्तम वस्तुओं से आपका अनुराग है, किन्तु फिर भी आप न किसी के वश हैं और न किसी के बिना आप को कष्ट होता है। नगर[1] से लगभग तीन कोस की दूरी पर पवित्र सलिला श्री गंगा जी के एक प्रशस्त ऊँचे तट पर आपने एक बहुत ही विस्तृत प्रशस्त वाटिका बनाई, जो उपवन पुष्पोद्यान, ग्रीष्मालय, सुस्वादु फल, द्रुमावली, आदि नाना भाग में विभक्त हैं, जिसमें अनेक कूप, वापी, विश्रामालय, लताकुंज आदिक विद्यमान हैं। बीच-बीच में कई रम्य और उत्तमोत्तम गृह हैं। एक ओर श्री गंगा जी का विशाल घाट दूसरी ओर फाटकबाहर अन्याश्रित जनों के लिये घर बने हैं। आप प्रायः एकाकी इसी वाटिका में जहाँ जी चाहता है रहते हैं वा जिसे जी चाहता है बुलाकर आवश्यक कार्य्य कर लेते हैं। आपका समग्र समय जो नित्य कृत्य से बचता वह केवल प्रायः अनेक भाषाओं के दर्शन

१—बनारस

(फ़िलासोफी) और बड़ी बड़ी विद्याओं के ग्रंथ देखने, मनन करने और परीक्षा करने में व्यतीत होता है। कुछ तद् विषयक व्याख्यानों के लिखने वा कुछ सत् कविता करने अथवा कला विषयक क्रिया के सम्पादन करने में कुछ काल कटता है, क्योंकि संसार का मुख्य सार संग्रह कर अन्य समग्र विषयों का आप ने पूर्ण निरादर कर दिया है। मैं सदैव उन्हें एक न एक नये ढङ्ग पर बना और एक नई सृष्टि रचता देखता आया हूँ, एवम् जिस वस्तु ने उन्हें झुका पाया उसकी धज्जियाँ उड़ाकर तभी पिण्ड छोड़ते पाया है और जब जो भूला तो फिर उसको फिर भी करते न देखा।

कभी जो वाटिका पर दृष्टि फिरी तो देखा कि 'आप स्वयम् अपने कर कमलों से लताओं की डालियाँ सुलझा कर सुर-सुन्दरियों की अलकावलि सदृश संवार-संवार कर टट्टियों में बांधने ग्रीष्मालय में घुस चीन के चित्र-विचित्र मनोहर सुमन विकसित गमलों को सजा रहे हैं, वा कतरनी लिये पत्ते और टहनियों को कतर रहे हैं, कभी जल-यन्त्रों को सहस्र धाराओं का निज निर्मित रचना-वैचित्र्य दिखाते अनेक अनेक प्रकार से चलाकर अनोखी कला कुशलता प्रगट करते हैं यों ही अग्नि क्रीड़ा के भी ऐसे ही अनेक अद्भुत प्रकार निकाले कि देखते ही बन आए।

चित्रकारी आप की तो प्रशंसा की सीमा उल्लंघन करने वाली होती। उनकी चित्रसारी जो भाग्य से देखने में आ जाय तो संसार विस्मृत हो जाय। सुगन्ध की सामग्रियाँ ऐसी ऐसी अद्भुत रीति रचना की कि क्या कहना है। फुटकर शिल्प चातुरी देखने लगिए तो आँखें थक जाँय और मुक्तकन्ठ होकर आप यही कह दें कि "धन्य भारत क्या तेरे पुत्रों के मस्तिष्क में भी ये सब सामग्री भरी है"। इन सब कलाओं के बड़े बड़े चतुर कारीगर मनुष्य भी आपके यहाँ संग्रहीत हैं, पर वे सब चेले बने हैं, गुरु सबके अकेले आप ही हैं। वर्षा में जब गंगा जी में बाढ़ आई तो देखियेगा कि आप स्ट्रीमलाञ्च पर उड़े धार में धँसे चले जाते हैं और कोस दो कोस जाकर कूद पड़े तो किन किन कतर ब्योंत से तैरते चले आते, कभी चाँदी की तुमड़ियों और टीन के कनस्टरों पर चढ़े आप भौंर और नादों में घूम रहे हैं, उसी पर सितार, बजा रहे हैं वा गीता पाठ कर रहे हैं, कभी रात रात भर बैठे आप दूरबीनों से ग्रहों को देखते और उसी का हिसाब लगाते रह जाते हैं। पशु पक्षियों का संग्रह अत्यन्त ही उत्कृष्ट संगीत और साहित्य की ऐसी समझ तो काहे किसी को होती, सब में अपना उत्तम कोटि का अभ्यास अश्वारोहण, लक्ष्य भेदन, शस्त्र,

संचालन, गान वाद्य कुशलता, और विविध गुण इनके ऐसे हैं कि उनका वर्णन होना कठिन है। इनके घर पर कभी जाइये तो और अनेक ऐश्वर्य के सहित आपको विद्या और कला का तो वहाँ समुद्र लहराता दिखाई पड़ेगा। कभी आप अपने मिस्त्रीखाने में जाकर मिस्त्री को समझा रहे हैं, "इसके लङ्गर में इतना बोझा और दो, और एक के स्थान तीन पहिए लगाओ तब यह पङ्खे का यन्त्र ठीक हो, इस इञ्जन का अमुक पुरजा उस चाल का बनाओ जैसा हमने बतला दिया है कहते पाइयेगा। कभी देखियेगा कि शीशियों में से तेजाब नापते और रसायनिक कृत्य में लवलीन वा फोटोग्राफ के केमरा का पोसच्चर मिलाते दिखाते वा लेखनी चलाते रंग वा शब्द की विचित्र चित्र कारी करते लखाई पड़ते। कभी गीतगोविन्द के अलाप में अचेत, कभी श्री मद्भागवत का पत्रा हाथ में और अश्रुधारा प्रवाह निरन्तर निहारते रह जाइये, कभी देखिये तो सितारियों और पखावजियों का जमाव जम रहा है कथक कलावंत ढाढ़ी, और गवैयों का मुजरा हो रहा है, किसी की भीड़ और जमजमे, किसी की गति और परन की प्रशंसा, किसी के आलाप और तान की बड़ाई गाई जाती, किसी के मूर्छना और किसी के सम ताल पर लोगों के मन बिक रहे हैं, और स्वर का समुद्र उमड़ रहा है, ताल की तरंग उठ रही हैं मानो इन्द्र का अखाड़ा उतर रहा है और वह मनोहर वाटिका अमरावती की समा सुझा रही है। क्योंकि गुणवान् के आगे गुणियों के गुण की परीक्षा है यह कुछ नित्य का गाना नहीं है। कभी कवि और शायरों की मण्डली जुड़ रही है, तो वाह वाह और धन्य धन्य की पुकार है, कभी भक्त और विरक्तों का समाज शोभा दे रहा है तो नैमिषारण्य और वृन्दाबन की झलक वहीं झलक उठती, विशुद्ध प्रेम और शान्ति का राज्य वहीं स्थापित दिखाता है, कभी विद्वानों के ठट्ट के ठट्ट वहीं इकट्ठे देख लीजिए, और प्रत्येक विद्या के विद्वान् बैठे संसार का सारांश वहीं बिलगा रहे हैं।

कभी देखिये तो किसी सुनसान कमरे में आप एक आराम कुर्सी पर बैठे कुछ सोच रहे हैं, और पास एक तिपाई पर कुछ कागज़ पेन्सिल और कलम दान, दूसरी पर पान दान, इत्रदान, काल बेल (आवाहकघरिका) और नीचे पीकदान रक्खा है, द्वार पर दो एक सेवक चुपचाप बैठे हैं, किसी को भीतर घुसने की आज्ञा नहीं है। इसी भाँति महीनों वह किसी से मिलते नहीं, जाने से द्वारपाल यही कहते कि हुजूर, दो हफ्ते से सर्कार न तो बाहर तशरीफ़ लाये और न किसी को बुलाया, मुश्किल तो यह है कि इत्तिला भी बन्द है।

आप किसी गुण-हीन पुरुष से तो मिलते ही नहीं,चाहे वह कैसा ही असाधारण धनी, अधिकारी, वा प्रतिष्ठित क्यों न हो; किन्तु सज्जन, गुणी, पण्डित, साधु, भक्त वा दीनों से संलाप करते करते ऐसे हिल मिल जाते कि अपने स्वरूप को भूल- केवल समान मित्र भाव, का अवलम्बन कर लेते हैं। मैं जब उनके यहाँ जाता और उन तक पहुँचने पाता तो चार चार आठ दिन तक वहीं का हो रहता, न आने पाता न जी ऊबता है क्योंकि यही अनुभव होता कि कदाचित् स्वर्ग का सुख भोग रहा हूँ। और भी जो मित्र वर्ग आ जाते तो उनकी भी यही दशा होती, दस दिन लौं जमघट जमा रहता। सब प्रकार की सुख सामग्री वहाँ उपस्थित रहती है, और परम रम्य एकान्त स्थान है इसी से प्रायः हम लोगों का भारी जमावड़ा वहीं हुआ करता है।

आप नगर में तो बहुत ही न्यून आते, और आते भी तो सन्ध्या के उपरान्त एकाकी केवल किसी मित्र वा अपने किसी कृपा पात्र के यहाँ। आप कभी कभी हम दीनों की झोपड़ियों को भी सुशोभित कर देते। हम लोग लज्जित होते कि उनका क्या और कैसे सत्कार करें, जिसे देख वे दुखी होते, क्योंकि वे समान भाव से मिला चाहते, बहुत आदर से चिढ़ते हैं, और अपने में राजकुमार के भाव लाने से रुष्ट हो जाते, और सर्वदा समभाव रखते और कहते कि हम इसी लिए तुम लोगों के यहाँ नहीं आते कि तुम लोग व्यर्थ का बखेड़ा करते हो।

उन्हें सूखी रोटी दे देते तो खाकर प्रसन्न हो जाते, और चटाई पर भी सो रहते, इसी भाँति दो दो चार चार दिन रह भी जाते तो मूँ नहीं बनाते, वरञ्च ऐसे प्रसन्न दिखलाते कि जैसे उनके घर हम लोग भी नहीं, इस भाँति जब उनका समागम और संघट्ट होता तो जिसकी चरचा चल पड़ी उसका सर्वांश सार वहीं से उन्होंने निकाल कर ऐसा दरसा दिया कि फिर कहीं से कुछ भी शङ्का का लेश न बच रहा और केवल दुराग्रहियों के अतिरिक्त किसी को भी जिह्वा सञ्चालन की आवश्यकता ही न रह गई। जिस कारण हम सब में से कैइयों का उन्हीं की सम्मति पर अपने सिद्धान्त को दृढ़ कर लेने का स्वभाव सा पड़ गया है।

जब कभी वे अपने मनसे किसी विद्या वा अन्य किसी सुन्दर विषय पर व्याख्यान सुनाते, तो मानों सुधा विन्दु बरसाते। जब अपनी कविता वा कोई पुस्तक सुनाते तब तो फिर जिस विषय को उठाते तो सुनने वालों की तदा-

कार वृत्ति बना देते, और उस रस को तो मूर्तिमान् कर प्रत्यक्ष दिखा देते, जिसका कि वर्णन करते हैं। कभी रह रह कर ऊँची उसासें ले अपने पूर्व पुरुषों के गुणानुवाद गाते और उनके निर्मल यश का आख्यान तथा उनके महावीरोचित युद्धविक्रम की कथा सुनाते, श्रोताओं के रोमोत्कण्टकित करते,और प्राचीन समय की स्वाधीनता का चित्रपट आँखों के आगे लादेते। यदि ऐसे अवसर पर आपके मूँ से उनके लिए क्षत्रिय शब्द निकल आये, तो अवश्य उनकी आँखों से आँसू निकल आयेंगे और कहेंगे कि हाय, अब भारत में क्षत्री कहाँ हैं यदि होते तो क्या गौ और ब्राह्मणों की यह दुर्दशा होती जो आज हम देख रहे हैं। और कालिदास के इसी श्लोक को पढ़ते-पढ़ते अचेत हो जाते कि—"क्षतात्किलत्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरूढ़ः। राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीनसैर्वा।" भारत वा उसके उद्धार का नाम सुन उनके हृदय में एक अद्भुत आघात लगता और व्याकुल हो वे भारतेन्दु के उस महावाक्य को कहने लग जाते कि—

"सब भाँति दैव प्रतिकूल होय यहि नाशा।
अब तजहु वीरवर भारत की सुभ आशा"।

किन्तु वे विद्या, विज्ञान और शिल्प की उन्नति के लिए अवश्य उद्योग करने की सम्मति देते, और कहते कि अब इसी से तुम्हारा जो कुछ कल्याण होना है सो होगा। राजनैतिक आन्दोलन को तो वे सर्वथा शून्य मानते और धर्म को केवल सत्पात्र में शिक्षा और उचित को उपदेश छोड़ उसका सर्व साधारण में व्याख्यान भी नहीं योग्य समझते, किन्तु सामाजिक सुधार एवम् किसी विषय में विशेष उद्योग नहीं किया चाहते, क्योंकि अनेक देशी महाराज और उच्च श्रेणी के अंगरेज अधिकारियों ने इन्हें कई बार बड़े बड़े प्रतिष्ठित पद जिसमें बहुत कुछ धन लाभ की आशा थी देते, किन्तु इन्होंने यही कहा कि "ईश्वर ने मुझे स्वास्थ्य सुख दे दिया है जिसका मैं निरादर नहीं किया चाहता, और जो कुछ वह देता है उसी पर संतोष उचित है, द्रव्य के लोभ से दास्य अंगीकार करूँ!"

हमारे चौथे मित्र सर्वतोभावेन नवीन ज्योतिधारी **मिस्टर निशाकर धर बैरिष्टर-एटालं** हैं, जो कि एक बड़े बाप के बेटे विलायत जाकर वहाँ की सुहावनी सभ्यता लख प्रायः सभी अच्छे होटलों के खानों का स्वाद चख और संसारिक अनेक आनन्द के उपभोग में कोई कसर न रख, भली भाँति निरख

परख कर एक मेम से सगाई कर और बैरिष्टर होकर निज देश में आ जाति से बहिष्कृत हुए हैं। किन्तु धनी के पुत्र होने से पैतृक सम्पत्ति में निज भाग लेकर चैन उड़ाते हैं, और भरपूर वा बहुत अधिक मिहन्ताना लेकर तब किसी मुकद्दमें को लेते वा लड़ते हैं, नहीं तो रात दिन इन्हें अपनी मेम साहिबा की सूश्रूषा करते बीतता, अथवा उन्हें हवा खिलाने, और गेंदे खिलाने, मित्रों से मिलाने, क्लब, कमेटी, थिएटर और होटलों में ले जाने वा कमरा और पाईं बाग़ सजाने, गाड़ी घोड़े, और कम्पाउण्ड साफ कराने, बिल और नौकरों का हिसाब चुकाने, अथवा श्याम्पेन सुरूर में उनसे बतलाने और परस्पर ज्ञान और गुण सीखने सिखलाने से जो समय बचता उसमें उन्हें प्रथम तो फैशन का विचार आवश्यक रहता है;......कि लेटेस्ट फैशन यूरूप का कौन सा निकला है जिसे शीघ्र स्वीकार करें, और जो चाल पुरानी हुई उसे दूर धरें, जिसके लिए वे अनेक अँग्रेजी अखबार मोल लेते और जिस अँगरेज से मिलते पहिले यही प्रश्न करते कि "कृपाकर बतलाइये कि यह कोट अभी आउट-आफ-फैशन तो नहीं हो गई।" नित्य घन्टों कलकत्ते, बम्बई तथा फ्रान्स और लण्डन के प्रसिद्ध दर्जियों की दूकानों के कैटलाग खोलते बीतता है। आज रैंकिन तो कल ह्वाँइटवेलेडला* नहीं तो एकदम लण्डन ही को आज्ञा गई कि "नवीनाति नवीन कट् और ताजा फैशन का सूट बनाकर भेजो।" इसके अतिरिक्त आप को दिन भर में चार पाँच बार कपड़ा पहिनने और बार बार साबुन से मूँ धोने कंघी और ब्रुश करने में कई घण्टे लग जाते हैं, क्योंकि वे असल साहिब बनना चाहते हैं। यहाँ तक कि हाथ मिलाने में इतनी सावधानी रखते हैं कि कहीं अंग्रेजी सभ्यता के विरूद्ध न होने पाये।

आप से हम लोगों की बहुत पुरानी मैत्री है, इसीलिये वे हममें से कई लोगों को निपट गंवार भी समझते हुए कृपा रखते, और हम लोग भी उनके साहिब लोग बन जाने पर भी वही पुराना प्रेम रखते हैं, हम लोगों में से कई जन उनके यहाँ जाते तो वह अपनी प्यारी मेम से मिलाते और वे हम लोगों को अनेक अँगरेज़ी सभ्यता की शिक्षा देने लगती, एवम् स्त्री और पुरुष के सत्व के भेद को बतलाती, और परस्पर उन दोनों के अधिकार और प्रेम सम्बन्ध और रहन सहन को भली भाँति समझातीं और सिखलातीं। हमारे मित्र कान पूंछ दबाये टुकुर टुकुर ताकते सुनते और सिर हिलाते जाते। वे बार बार

* अंगरेजी दूकानै

पूंछती कि "वेल ! आप काफी; चाय, विलायती पानी पीने माँग्टा ? वेल ! ए क्या वाट है ! कुछ खाओ, कुछ पियो !," जिसे सुन अनेक जन तो केवल धन्यवाद ही देते, पर जो एकाधे कुंछ भी पी लेते तो आप अत्यन्त प्रसन्न हो जाती हैं।

हमारे मित्र जब कभी हम लोगों के घर आते तो मानो उपद्रव ही आ जाता, क्योंकि वे जूता उतारते नहीं, भूमि पर बैठते नहीं, और हवादार स्वच्छ कमरे को छोड़ कहीं अड़ते नहीं। इसलिये हम लोग इन्हें देखते ही कुछ थोड़े और सभ्य हो जाते, चाहे स्वयम् भूमि ही पर बैठें, पर इनके बैठने के लिये एक स्वच्छ कुर्सी अवश्य मँगाते, और अपने मित्र को अत्यन्त आदर से बिठलाते, और पान इलायची देते, पर वे उसे फेंक कर चुरट माँगते और कहते कि—

"वेल ! हमारा पागल दोस्त तुम लोग अबी जंटिलमैनसे ट्रीट करना बिलकुल नहीं जानता।" पान खाना तो जङ्गलीपन है, हम लोग तो चुरट पीता है, क्योंकि उससे मस्तिष्क में विचार शक्ति बिलकुल नहीं आता है"। अतः अपने मित्र के मस्तिष्क में विचार शक्ति उत्पन्न करने के लिए हम लोगों को चुरट भी देना पड़ता है, जब कभी वे श्याम्पेन के नशे से मस्त आते तब तो फिर कहना ही क्या है, अद्भुत आनन्द दिखाते और बातों की आँधी चलाते जो कुछ जी में आता कह चलते और हम लोग भी रास ढीली कर देते कि जिसमें बेरोक टोक बहक चलैं। कभी तो आप लण्डन और फ्रान्स की गली कूचों और वहाँ की विलासिता का वर्णन करते, मन हरते, कभी वहाँ की विद्या कला-कुशलता, शिल्प-वैचित्रता, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता की कथा कह चित्त चौकन्ना करते। कभी जो इधर झुके तो शास्त्र और पुराणों ही की निन्दा कर ब्राह्मणों को गाली दे देकर अग्रान कर चले, और बात बात में हम लोगों को जङ्गली और असभ्य बनाने लगे। कुशल इतना ही है कि हम लोग भी यदि कोई कड़ी बात कह देते, तो वे सह भी लेते और ऐसे सामाजिक और धर्म्म के वाद में वे उसे हँसी ही में टाल ले जाते। आप धर्म्म तो कोई भी नहीं मानते, क्योंकि यह भी मानो आज कल की अँगरेजी सभ्यता का सार है, परन्तु हाँ ब्रह्म समाज और आर्य्य समाजादि से कुछ कुछ सहानुभूति रखते और कहते कि जो जितना अपने पुराने धर्म से आगे बढ़ता है उतना ही हम उसको धन्यवाद देता है। इसी से आप के आते ही हम लोग पोलिटिकल (राजनैतिक) या

सायन्टिफ़िक (वैज्ञानिक) चर्चा चला देते हैं तो उनके चित्त को कुछ तरावट आ जाती और फिर वे ऐसी घुस पैठ की सम्मति देने लगते कि हम लोगों की बात उन्हें सात जन्म में भी न सूझे, और वे प्रसन्न होकर ताली बजा बजा कर हँसने लगते तब उनका समागम सचमुच सुखद हो जाता। वे छन छन पर पाकेट से घड़ी निकाल कर झाँका करते कि जिसमें ठीक समय पर टम्‌टम् पर चढ़ अपनी कोठी पर पहुँच जाँय, नहीं तो उनकी मेम साहिबा उनको कच्चा ही खा जाँय, इसीलिए वे अकेले घण्टे डेढ़ घण्टे से अधिक कहीं नहीं ठहर सकते। इनसे बातें करने में प्रायः हम लोगों को कभी २ डर भी लगता, क्योंकि वे तनिक ही में मान हानि मानकर मुक़द्दमा दायर करने को उद्यत हो जाते, और यदि मेम साहिबा के साथ हुए तब तो फिर मद्य की उन्मत्तता और क्रोध की तीव्रता उन्हें कोट और कमीज की आस्तीन खिसकाने और लड़ जाने ही को उद्यत करा दिया करती। जब कभी आप के साथ आप की मेम साहिबा भी आतीं तब तो पूरा बखेड़ा करना पड़ता क्योंकि प्रथम तो उनको द्वार ही पर जाकर आगे से लेना, और फिर हाथ मिला कर घर में ले जाना चाहिए, आपके लिये कोई मुलाकात का कमरा भी होना आवश्यक है क्योंकि वे कभी आँगन बरामदे वा कोठरी में तो बैठती ही नहीं, इसलिए उनके लिए ड्राइङ्गरूम बनाकर सजाना पड़ता है। फिर अपने मित्र साहिब की नाई तो हम लोग इनसे साधारण वस्त्र पहिन मिल नहीं सकते, जब तक कि पूर्ण परिच्छद वा मुलाकाती कपड़ा न पहिन लें। क्योंकि इनमें से एक बात में त्रुटि होने से हमारे मित्र ऐसे बिगड़ जाते कि सँभाले नहीं सँभलते, और कहते कि "हम अपनी मेम साहब का बेइज्जती नहीं सहने सकता ज़रूर तुमारा ऊपर मान हानि का मुकद्दमा लायेगा"। इनके लियेचाय, सोडावाटर या लेमनेड, बरफ़ इत्यादि का सत्कार भी करना ही पड़ता, किन्तु जब वे यह कहतीं कि-"हम आपको मेम साहब से मिलने माँगटा है," तब अवश्य सब की नाड़ी सुस्त पड़ जाती, क्योंकि उनका यह सिद्धान्त है कि यहाँ की स्त्रियों में पश्चिमीय सभ्यता फैले। जिसकी बानगी हम लोग नित्य अपने मित्र ही के यहाँ देखकर चकित हो रहे हैं। हमारे मित्र इसी शोच में डूबते उतराते रहते कि इस देश की उन्नति कैसे होगी, इसलिये कि न तो लोग कुछ सामाजिक उन्नति करते न राजनैतिक मामलों में कुछ इन्टरेस्ट लेते, न लोग शीघ्रता से विलायत जाते, क्योंकि जब तक कि हमारे देश के

लोग यूरप और अमरीका को न जायेंगे, उनकी आँखें न खुलेंगी, वे क्या वाणिज्य, क्या कृषि और क्या शिल्प और विज्ञान किसी में निपुण न होंगे वे मनुष्यता न सीखेंगे और न कुछ देश का हित कर सकैंगे। जब तक होटलों में अँगरेजों के साथ एक टेबिल पर खाना न खाँयगे उनमें सच्ची भक्ति कैसे होगी क्योंकि खाने पीने से ही प्रीति की भी वृद्धि होती है, जब तक हमारी स्त्रियाँ मुर्गियों की भाँति घर में दर्बे में बन्द रहेंगी, हमारी सच्ची उन्नति न होगी; क्योंकि वे अर्धाङ्गिनी कहलाती हैं, बाल्य विवाह अनमेल ब्याह, जन्मपत्री को छोड़ो। माँ बाप का अधिकार उनसे छीनो, भली भाँति सोच समझ कर निरख परख और जाँच कर तब जन्म भर का सम्बन्ध जोड़ो, विधवा-विवाह करो, और जाति-भेद मिटाओ, नहीं तो तुम लोग खराब जाओगे। विद्या आज केवल अँग्रेजी ही है, उसीको पढ़कर मनुष्य विद्वान् होगा, संस्कृत तो मृतप्राय भाषा है (Dead Language) उसका पढ़ाना तो भिखमङ्गी की बृद्धि कराना है, धर्म्म धर्म्म मत बको, धर्म्म और ब्राह्मणों ही ने हमारा सर्वनाश किया और इस दशा को पहुँचाकर छोड़ दिया है। अब तो उसका मूँ काला करो और उसका नाम लेना छोड़ो। संसार को देखो कि क्या कर रहा है। जब हमीं न रहेंगें तो धर्म्म शाला किस काम आयेगी! जो धर्म्म एक दम हमको खराब करने माँगता, उसको हम कभी नहीं माँगता, उस पर मारो गोली।

पाँचवे प्रतिष्ठित मित्र हमारे रायबहादुर सेठ डरपोक मल जी हैं। आप वैश्य जाति के एक बड़े धनी महाजन हैं। प्रसिद्ध व्यापारी,और भूम्याधिकारी भी हैं। रूपया तो इतना अधिक बटोरा है कि उसी की लागत खोज और चिन्ता ही से आप चिन्तित रहते किन्तु आश्चर्य्य यह है कि फिर भी सन्तोष का कहीं लेश चित्त को छू नहीं गया, क्योंकि वे इसी सोच में सदा निमग्न रहते कि कैसे रूपया कमाएँ। आप पढ़े लिखे अच्छी भाँति केवल महाजनी-हिन्दी के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, पर धन के गर्व्व से आप अपने को सभी विद्या और भाषा का पण्डित मानते और बतलाते हैं। बातचीत करने में कैसा ही विद्वान् हो पर आप उसे चुटकियों में मूर्ख बना देते और अन्त को कह देते कि "आप की विद्या का हाल तो हम जान चुके, अब व्यर्थ की बकवाद सुनने का अवकाश हमें कहाँ है। कृपा कर चुप रहिए, वा घर जाइये।" यों तो यदि वे आप से मिलैंगे तो अच्छी रीति से बातैं करेंगे जो आप भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते जाँय; परन्तु यदि उन्हें कभी कहीं से भी लक्षित हो जाय कि आप का उनसे

कोई झूठा भी काम है, तो प्रथम तो सन्देशा ही सुनकर आप के टरकाने की युक्ति निकाल देंगे, कदाचित् आप उन तक पहुँच भी जाँय तो चटपट लेटकर कराहने लगेंगे, और आपको उठाकर तभी छोड़ेंगे। उपकार करने का आपने सौगन्ध खा लिया है और देने के नाम से तो घर का किवाड़ ही दे लेते इसी डर से कई द्वारपाल और नौकर भी रख छोड़े हैं।

आपका द्रव्य केवल निम्नलिखित दशाओं के अतिरिक्त और किसी भाँति व्यय नहीं हो सकता।

अर्थात् या तो कोई माल भरी नाव डूब जाय या कोई गुदाम जले, अथवा कुछ रूपया दिवाले में मारा जाय, वा कोई उनका कार्य्य कर्ता वा गुमाश्ता खा ले, अथवा किसी व्यापार में घाटा आ जाय। परन्तु हाथ उठाकर वे केवल अपने गावों की मालगुजारी, टैक्स वा किसी सरकारी हाकिमों के दबाव से कुछ चन्दा भी दे देते हैं, सो भी केवल इसलिए कि कोई खिताब मिल जाय। आप आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्यूनिस्पल कमिश्नर तथा लोकल बोर्ड के मेम्बर तो हैं, परन्तु आप इतने ही से प्रसन्न नहीं होते। क्योंकि वे चाहते हैं कि भला गवर्नर जनरल के नहीं तो लेफ़्नेन्ट गवर्नर वा छोटे लाट के कौन्सिल के मेम्बर तो अवश्य हों एवम् राय बहादुर छोड़ कर राजा वा सी० एस० आई० अथवा सी० आई० ई० की उपाधि तो पा जाँय। इसीलिये वे बहुत उद्योग किया करते हैं। म्यूनिस्पल कमिश्नर तो वे इसीलिए होना चाहते हैं कि जिसमें घर का कूड़ा बिना कुछ दिये ही उठ जाया करे, और द्वार स्वच्छ रहे, तथा जब घर से निकलें तो भङ्गी और चपरासी वा जमादार या सड़क दरोगा उन्हें झुक कर सलाम तो कर लिया करें। वे किसी पर जो क्रुद्धित हों तो कह दें कि "बचा, तुम जानते नहीं, पाखाने को साफ न करने की रिपोर्ट करा कर तुम्हें रुलादेंगे, मकान बनाने का हुक्म न देंगे" और यही फल आप आनरेरी मजिस्ट्रेटी में भी निकालते और कहते कि "जो भूले से भी कहीं नहर में पेशाब करते पकड़ गये तो बिना आठ दिन कैद किये कभी न छोड़ेंगे। आप हाकिमों के यहाँ मिलने को भी बहुत जाया करते हैं और जब जाते, तो जिससे कुछ भी असन्तुष्ट रहते उसकी वहाँ इतनी निन्दा कर चलते कि बस अश्रद्धा ही करा देते हैं। इसलिये कि सब लोग इनकी बात को सत्य समझते, क्योंकि वे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति गिने जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ बात चीत करने का ढंग भी बहुत ही अच्छा आता है, जिसके कान में आप कर्णपिशाची की भाँति चिपके, फिर उसको साँचे में उतार कर तभी छोड़ेंगे।

वरञ्च यहाँ तक प्रभाव रखते हैं कि यदि मृतक के कान में भी थोड़ी देर फुस फुस करें, तो वह भी उठकर नाचने लगे। जैसे आप का स्वभाव है कि आप के श्री मुख से किसी की निन्दा छोड़ स्तुति नहीं सुन पड़ती, वैसे ही आप भी अपनी छोड़ और किसी की स्तुति सुन भी नहीं सकते। दिन रात आप अपने नौकर चाकर और मुनीम गुमाश्तों को घुड़कते ही रहते हैं। अनेक जनों को तो घोंस घोंस कर आपने मार ही डाला। सभी महाजन ब्यापारी दुकानदार, बया दलाल आदि से ब्याज, सकरई पद वा छूट में दमड़ी दमड़ी कौड़ी कौड़ी के लिये झगड़ा झंझट मचाए रहते हैं और कहते हैं कि, वाह यह क्या बात है, हम को दबैल समझ लिया है! कितनों का हिसाब ही नहीं चुकाते, अनेकों से अदालत भी होती तो झूठी गङ्गाजली चाहे उठाएँ, परन्तु दमड़ी कौड़ी नहीं जाने देते, इसीलिए नगर में दोपहर तक कोई इनका नाम नहीं लेता; वरञ्च लोगों ने इनका उपनाम मक्खीचूस रख छोड़ा है। यह मत सोचिए कि वे केवल परले सिरे के बेईमान हैं, यह भी उन्होंने अपनी महाजनी की एक आँट मान ली है क्योंकि वे बात बात में कहा करते हैं, कि सुनो भाई "हिसाब जौ-जौ और बकसीस सौ सौ परन्तु सौ सौ क्या बखशीश तो दमड़ी की भी नहीं। क्योंकि वह भली भाँति जानते हैं कि कौड़ी कौड़ी बटोरने से करोड़ होता है यथा—"जल बिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यतेघटः। इसीलिए आप कौड़ी कौड़ी पर झंझट मचा मचा कर कौड़ी बचाया करते, और ऐसे ही ऐसे इतने धनी हुए हैं। इसके अतिरिक्त वे इस व्योहार से औरों को धनी बनने की शिक्षा भी देते हैं। वरञ्च हम लोगों को अपना अनुकरण करते न देखकर रुष्ट भी रहा करते हैं। शील वा संकोच तो वे जानते ही नहीं तौ भी जो आपका ऋणी है वा जिसके यहाँ आपका पावना है उसको तो आपका स्वरूप साक्षात् काल ही के समान जान पड़ता है, क्योंकि चार चार रुपये सैकड़े व्याज फिर हर ६ ठें महीने ब्याज का ब्याज लेते हैं और दमड़ी चुका कर तभी पिण्ड छोड़ते। वरञ्च तौ भी नहीं छोड़ते, रसीद, फारिखती देने में भी बहुत कुछ टालटूल किया करते हैं। यों ही ऊपर के लिखने से आप यह मत सोच लें कि वे आनरेरी मैजिस्ट्रेटी वा म्यूनिसपल कमिश्नरी के द्वारा कुछ अन्याय भी करते, नहीं, करते तो न्याय ही हैं, परन्तु अपना आतङ्क जमाने के लिये यह भी एक लटका रखते हैं। यों ही इन्हें बिना पढ़ा लिखा केवल मूर्ख मत जानिये, वरञ्च बहुतेरी बातें सुनकर तो इन्हें इकलौता बुद्धिमान् मान लेना पड़ता है, और न केवल वचन मात्र ही से वरञ्च उनके कामों से भी।

आप बड़े प्रातः काल उठते और नित्य कृत्य से मुक्त हो प्रथम साहिब लोगों से मिलने जाते हैं लौटकर ज्योंही आते, तो देशावरों की चिट्ठियों के पुलन्दे पढ़ते और जवाब लिखते लिखते दोपहर बिताते, फिर भोजन कर के बही-खाता देखते, हुण्डी पत्री और सौदा तथा महाजनी मिती का भुगतान करते कराते, सन्ध्या को अफीम की गोली टीप और सायंकृत्य से छुटकारा पाकर नाना व्यापार तथा माल ताल का ज्ञान और पड़ता फैलाते, और द्रव्योपार्जन की चिन्ता में रात दिन दस बजाकर ब्यारी करते फिर रोकड़ के विधि मिलाते और पाव दमड़ी घटने बढ़ने से उसी की खोज में पड़े रहते, और रोकड़िहे से हुज्जत मचाते मचाते रात भर यों ही बिता डालते हैं। इसी से इन्हें दूसरों से बातें करनेका अवकाश भी कम मिलता है। हम लोग जो कभी आप के घर जाते तो वे यदि बड़ी कृपा करते तो आँख उठाकर एक बार प्रणाम, राम राम, सलाम कर लेते, तो मानो बड़ा अनुगृहीत बनाते, और यदि कुशल भी पूँछ लेते तो लोग बहुत ही आश्चर्यान्वित होते, क्योंकि यही उनका बहुत बड़ा सत्कार है, और अभ्युत्थान वा खड़े होकर ताज़ीम देना तो वह अपने बाप के लिये भी उचित नहीं समझते, इतर कोई प्रतिष्ठित वा योग्य पुरुष की कौन गिनती है। परन्तु यदि कोई छोटे से छोटे भी राजकर्मचारी हो तो उसका नाम ही सुनते हाथ जोड़ दौड़ खड़े होते, और कालीवर्दी देखते तो आपकी धोती ही खुल जाती, क्योंकि स्वभाव के बड़े भीरु हैं। विशेष कर डाक्टर, वकील, मुखतार और पुलीस के कर्मचारी तथा गुण्डों और बदमाशों से बहुत डरते। श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य का तो नाम ही सुनकर सूख जाते, क्यों-कि वे मारण मन्त्र का प्रयोग जानते हैं।

आप कभी कभी कृपाकर जब हम लोगों की गोष्ठी में आ जाते वा जिस किसी के घर पर सुशोभित हो जाते तो हम लोग उन्हें बहुत ही आदर से बिठालते, तो भी वे मुंह बिचकाये ही रहते हैं। वे तो अपने घर किसी को एक बीड़ा पान या एक इलायची देते ही नहीं; परन्तु हम लोगों के घर आते तो भली भाँति खाते और साथ ही साथ निन्दा भी किये जाते हैं—हुं हरापान ! बंगला पान, सड़ी सुपाड़ी घुनी इलायची ? सौ बरस का इत्र ! यह सड़ा बिछौना ! मसनद क्या है खटमलों की खान है। उफ़ इतने मच्छड़ ! बताओ यार क्या दीवाली में भी सफ़ाई नहीं होती ! सच तो यह है कि आप की मैली पगड़ी ही से खटमल आकर उनके मित्रों के घर घुसते हैं और जो आश्चर्य आप औरों के यहाँ मिथ्या ही करते, वह सब उनके घर सत्य ही वर्तमान् हैं। परन्तु

हम लोग उनका प्रकृति-सिद्ध दोष जानकर चुप रहते हैं। आप के ललाट पर कभी हँसी वा प्रसन्नता का चिन्ह तो देख ही नहीं पड़ता; और जो कभी हँसने लगे तो मानो अनहोनी होती, अपने सिद्धान्तों के आप ऐसे पक्के हैं कि चाहे बृहस्पति और विदुर अथवा अरस्तू और अफ़लातून भी आकर क्यों न समझाये परन्तु आप उसे कभी न मानेंगे, हम लोगों की तो कोई बात ही ऐसी नहीं होती कि जिसे वे सुनते ही न काट दें। उनसे धर्म्मोन्नति, समाजोन्नति विद्या वा कला के किसी विषय को कहिए तो वे यही कहते कि "यह सब क्या बकते हो, व्यापार सोचो, व्यापार देखो! अंगरेज़ व्यापार ही के द्वारा आज जगत पूज्य हो रहे हैं केवल वक्तृता और लेखनी घिसने से काम नहीं चलेगा। यदि उनसे किसी नए व्यापार की चर्चा चलाइये तो कहते कि "बुद्धि की औषधि करो"। कम्पनी का तो नाम लेते ही वे उछल पड़ते और कहते कि "देश बेईमान हो गया, हममें दो जने का साझा तो निभता ही नहीं, तुम कम्पनी करने चले हो; रहे अंगरेज़, सो उनके साझे में कभी हिन्दुस्तानियों को लाभ हुआ है, और जाने दो, उनसे हिसाब कौन समझेगा"। यदि किसी भाँति किसी नवीन कार्य के करने पर आरूढ़ भी कीजिए तो रुपया न फँस जाय, इसी शंका से हिचकिचाकर रह जाते हैं, पर हम लोग अपनी मित्र की बेसमय की फल शून्य बातें भी सादर सुनते और चुप रहते हैं, क्योंकि उनके रुष्ट हो जाने से डरते हैं।

आप अपने तीनों लड़कों को सिवा महाजनी, हिन्दी और कुछ नागरी वा संस्कृत के केवल पाठ करने को दो एक स्तोत्र के और कुछ नहीं पढ़ाते, और न किसी अँगरेज़ी फ़ारसी पढ़े के पास फटकने देते और कहते हैं कि इन लोगों की संगत से लड़के बिगड़ जाएँगे क्योंकि फ़ारसी पढ़ने से इश्क़ बाज़ी तमाशबीनी और अय्याशी, चापलूसी, निकम्मापन और फ़ज़ूलखर्ची एवम् अंगरेज़ी से नास्तिकता, धर्म्मविश्वास का ह्रास तथा दुःखशीलता और दुश्चरित्रता, एवम् निर्दयता, निस्पृहतादि दोष का स्वभाव ही हो जाता है। फिर यह कैसे सम्भव है कि उनके लड़कों के किसी चाल में अंगरेज़ी वा मुसलमानीपन लख पड़े। घर में उनके ढूंढ आइये तो कोई वस्तु दूसरे देश की वा ऐसी चाल की न मिलेगी जिसमें पूरी हिन्दुस्तानियत न रहे। आप उनसे किसी नवीन विद्या वा विज्ञान सम्बन्धी ५ प्रश्न करें तो ऐसा अद्भुत उत्तर देंगे कि आप यद्यपि चकित हो जाँयगे तो भी जब सोचेंगे तो बहुत कुछ सार पायेंगे। वे आप तो कुछ नहीं करते, परन्तु औरों को शिक्षा देना बहुत अच्छी रीति से

जानते हैं, और कई बातें उनकी तो ऐसी होती कि क्या कहना है। वे कहते, कि बाबा ! अँगरेज़ी चाल के पास न जाओ। साहिब लोग बनने की कामना मत करो परमेश्वर ने तुम्हें काला आदमी बना दिया है, काले कपड़े की कोट मत पहनो। विलायती बनी कोई वस्तु हाथ से न छुओ, व्यर्थ रुपया व्यय मत करो, अधिक आडम्बर मत फैलाओ, समय बहुत निकृष्ट आया है, आमदनी कहीं एक पैसे की नहीं है, और खरच का पहाड़ आगे खड़ा है, बहुत समझ के चलो नहीं तो कौड़ी के तीन तीन हो जाओगे।

छठवें मित्र हमारे परम प्रिय मित्र जनाब फ़यज़मआब मुअ़ल्लाइलक़ाब नव्वाब बेकरारुद्दौला बहादुर हैं, जिनका प्यार का नाम भोले नवाब है, और वे सचमुच भोले हई हैं। आप यद्यपि मुसलमान हैं, परन्तु हम लोगों पर ऐसी कृपा रखते और यों हिले मिले रहते हैं कि मानो कुछ भी जातीय भेद नहीं हैं तअस्सुब अथवा आग्रह किसे कहते हैं वे जानते ही नहीं। अवस्था तो आप की बहुत ही कम है परन्तु गुण उनमें बहुत ही बड़े बड़े वर्तमान हैं। स्वभाव आपका अत्यन्त रसीला और मिलनसार है। उदारता और सुशीलता तो उनमें ऐसी कुछ है कि जिसके कारण ही से उन्हें अनेक दुःख झेलना पड़ता है। मित्र भाव का निर्वाह और प्रेमपरायणता एवम् उनकी अमीरी की कौन बड़ाई की जाय जब कि वे लखनऊ के रहने वाले ही हैं।

आप लखनऊ के एक परम प्रतिष्ठित वंश और शिया मत के मुसलमान् हैं। अवध के शाही घराने से आपका बहुत निकट का सम्बन्ध है परन्तु हाँ, "दिनन के फेर से सुमेर भयो माटी को।" जिनके पुरखे एक दिन एक बड़े देश के महाराजधिराज वा बादशाह थे, आज उनके सन्तान दूसरे की प्रजा वा बन्दी बन रहे हैं, और उसमें अनर्थ तो यह है कि यद्यपि दशा बदल गई, न वह दिन रहे न वह अवस्था, न वह अधिकार और न शक्ति, तथापि चित्त वही है, इच्छा वही है, आलड्वाल और नाम वही है। आप यदि लखनऊ के गली कूंचों में घूमिये तो अनेक नव्वाबज़ादों की दशा देखकर रोना आये और चित्त करुणा से पूरित हो जाय; कि नाम तो नव्वाब साहिब बहादुर, और बेचारों के सर पर साबित सफेद टोपी भी नहीं। अँगरखे के दामन में कुंजड़िनों से तरकारी लिये, मोल और भाव करने में ताज़ और तख्त की क़सम खाते हैं। जो उदासीन भाव से उनकी दशा देखता उसे कैसी कुछ तर्स आती और बुद्धि चकरा जाती है, कि हे भगवान् ! तू इनकी यह दशा करके क्या करा रहा है, फिर यदि आप उनके साथ जो कहीं

उनके घर चले जाइये, तो देखिये कि आकाश से बातें करनेवाले महल में केवल एक दीपक द्वार ही पर जुगजुगा रहा है, मोढ़े भी दो एक टूटे पड़े हैं, वह आप को बिठला कर घर में जा देखेंगे कि पैसा नहीं है और न कहीं से मिलने की आशा है तो खाने का चावल बेंच कर भी यदि आप हिन्दू हैं तो पान, इलायची, तमाखू और इत्र अवश्य मंगा कर देंगे चाहे वह उस दिन घर भर उपास ही क्यों न कर जाँय और यदि मुसल्मान हैं तो आपको अवश्य अच्छा खाना खिलाएँगे और आप अपने कुनबे भर भूखे ही सो रहेंगे हाय ! यह कैसा दिल है ! हे भगवान् क्या तुम्हें इन्हीं बेचारों के दिल ऐसे बनाने थे। बस उसी वंश में के हमारे नव्वाब साहिब भी हैं, यद्यपि इनकी दशा द्रव्य में उनसे बहुत अच्छी है, पर इसलिए कि स्वभाव वैसा ही है इससे इनका भी हाल कुछ वैसा ही रहता है।

आप को पाँच सौ रूपये महीने का वसीक़ा सरकार से मिलता है, पर किसी किसी महीने में हज़ार पन्द्रह सौ से कम खर्च नहीं पड़ता, अतः उनके घर के बड़े बड़े बेशकीमत ज़वाहिरात कौड़ियों के मोल समय समय पर बिकते जिन्हें देख सुन कर कुछ अद्भुत चोट चित्त पर आ लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे नव्वाब साहिब फजूल खर्च हैं, क्योंकि बहुत ही कुशाद:दिल, अमीरमिज़ाज, फैय्याज़ और ऐय्याश हैं, मुरव्वत तो आँखों में इस कदर है कि उसी से सरासर तबाह होते ही चले जाते और तर्क नहीं कर सकते। अनेक खुशामदी टट्टू और चापलूस खुर्राटों का वहीं जमघट जमारहता है जिनसे कि गर्मियों में ठण्ढा पानी और दो दम हुक्के के भी उन्हें नहीं मिलने पाते। वे ऐसे बेहया हैं कि प्यास में सुराही की सुराही मूं लगा कर खाली कर देते, और एक ही फूंक में चिलम की जट्टी तक चूस जाते और दूसरे की फ़र्माइश भी कर देते हैं। दस्तर्खान लगा नहीं कि लोगों ने आस्तीन चढ़ा-चढ़ा कर दाढ़ी सवांरनी शुरू की, इधर इनके मुंह से निकला कि "शुरू कीजिए" कि उधर बिस्मिल्लाह कह कर वे सब के सब चिराग़ पर परवाने से टूट पड़े। एक ने कुछ खाकर कहा, "जनाबेबन्दा ! आज का कलिया तो बहुत ही नफ़ीस पका, और शोरवा तो आबेहयात् का मज़ा चखा रहा है।" एक और बोले कि—"भई आज का कोफ़्ता तो ऐसा बना कि क्या कहिए।" दूसरे बोले "अजी ! ! यह कहूँगा कि क़ोर्मा ऐसा लज़ीज तय्यार हुआ है कि "बायद वो शायद" तीसरे कहने लगे कि "सुबहान अल्लाह किस अन्दाज़ से कबाब भुना है क़ि वाह।" चौथे ने कहा कि "बखुदा ऐसा

दो-प्याज़ा तो खाया ही न था।" पाँचवे ने कहा—"अहाहा हज़रत सच कहिये ऐसा पुलाव भी कभी ज़बाने शरीफ़ ने चखा था।" किसीने यख़नी की तारीफ़ की तो किसी ने मछली को सब पर तर्जीह दी। कोई मुर्गी के अण्डों पर जबान चटचटाने लगे, तो कोई ख़ुश्के की कहानी सुनाने लगा, कोई रोटियों की तारीफ़ तो कोई तरकारियों की सिफ़त कर चले, कोई अचार, कोई चटनी और कोई मुरब्बा और मिठाई की बड़ाई करने लगे; और नीचे देखिये तो खान मय कुल तश्तरियों के साफ़ हो गया। सारांश यह कि इन मुफ़्ख़ोरों की बदौलत बिचारे हमारे मित्र नव्वाब साहिब को भर पेट खाना भी नसीब नहीं होता, क्योंकि यही सब चाट जाया करते हैं। हालांकि आपके बावर्ची ख़ाने में यह आम हुक्म है कि कोई भी मिस्कीन मुसाफ़िर या मुहताज़ मुसल्मान आए तो उसे खाना ज़रूर दिया जाये, फिर वहाँ के रहने वालों के लिए तो कहना ही क्या है। इन लोगों के लिए तो रोज़ ही उम्दा खाने पकते, परन्तु ए उसे क्यों खाने लगे, ख़ासे के दस्तख़्वान के ताक़ में बैठे जमुहाई लिया करते हैं; और पूंछा भी करते कि "हुज़ूर को ख़ासा तनाउल फ़र्माने को नावक्त हुआ जाता है, गोया इस बहाने तक़ाज़ा करते और आख़ीर को मंगाई लेते।

इन लोगों में से कई असहाब तो नव्वाब कहलाते, बाकी कोई हाफ़िज़ कोई हाजी, कोई मुफ़्ती, कोई काज़ी, कोई मोलवी और आखून, कोई मीर-साहिब और कोई ख़ाँ साहिब कहलाते। परन्तु हम इन साहिबों को मुफ़्ती साहिब कहते हैं, क्योंकि सब के सब मुफ़्त के खाने वाले हैं। बिचारे नव्वाब साहिब क्या करें जो हिन्दू होते तो घर में घुस चुपचाप चटपट चाभ चूभ कर चले भी आते, पर हमेशः से इनका दीवान खाने में बैठ कर खाना खाने का मामूल है। हम लोगों के मित्र श्री सेठ डरपोक मल जी उनसे इसके लिये कुछ कहते भी तो वह उदास हो, यही इर्शाद फर्माते कि "अम्याँ, क्या कहते हो जिनके बुजुर्गों के पीछे हजारहाँ बन्दगाने खुदा के पेट पलते थे, उनका लड़का रोटिओं का भी चोर होकर, जहान में कैसे मुँह दिखा सकता है!"

न उन्हें सिर्फ खाना वञ्च सेरों अफीम और पंसेरियों गाँजा और चर्स भी फूँकने को चाहिए। कोई साहिब मदक और कोई चन्डू का बम्बू मुँह में लगाए छींटे पर छींटे उड़ाते, धूआँ धक्कड़ मचाये रहते, मगर यह सब केवल पुरानी चाल के लोग, और जो नई चाल के, और नई रोशनी वाले साहिब

लोग हैं, वह तो सिवा अंगरेजी शराब के और खास कर "एकूशा नम्बर-वन्" के और कोई मुनश्शी चीज हाथ से नहीं छूते क्योंकि उसमें हिन्दुस्तानियत की बू आती है। इसीलिये वे लोग चुट छोड़कर हुक्का भी नहीं पीते, जिनकी सोहबत से हमारे नव्वाब साहिब भी गो चुर्ट तो हाथ से नहीं छूते, पर हाँ शराब से बहुत शौक कर लिया है। कुशल इतनी ही है कि आप में इन साहिब लोगों की और चालें नहीं आईं।

इनमें से अनेक जन अनेक अनेक प्रकार से इन्हें गिरिफ्तार किये हुए हैं, कोई तो मित्र बन कर गले के हार हो रहे हैं, कोई साथी बने साथ ही नहीं छोड़ते, कोई घर के सग बन कर घर के सग बन रहे हैं, जिनमें कई किस्म के तो भाई हैं—भाई, चचाजाद भाई, मौसेरे भाई, फुफेरे भाई, कोका भाई और मूँ बोला भाई फिर भला भतीजों की क्या गिनती है। अनेक उनमें ऐसे अनोखे नाते जोड़ते कि सुन कर छक्के छूटते और सोचते बुद्धि हार जाती है। कोई कहते कि "मैं नव्वाब साहिब के वालिदे माजिद के खुसुर के साले का दामाद हूँ" कोई बयान करते कि—"मैं आपकी फूफी के नवासे का हम जुल्फ हूँ" कोई साहिब फर्माते कि—"नव्वाब साहिबे मरहूम के मौसेरे भाई की दुख्तरे नेक-अख्तर मेरे साले के भतीजे से मन्सूब हुई है।" कोई कहते कि "मैं इनके हमशीर की खास का मामूँ हूँ" और कोई साहिब मुसाहिब, कोई खैरन्देश और कोई दुआगो बन कर पीछा नहीं छोड़ते।

बातों में सफाई ऐसी कि-बे तकल्लुफ कहते कि—"अजी बन्दःपर्वर अभी अनीब फज्लेखुदा खाकसार के गरीब खाने पर भी चन्द गुर्बा शाम सुबह चार रोटियाँ खा लेते हैं और क्या कहूँ इत्तिफाक को, नहीं जो आप कभी झोपड़ी की रौनक बख्शते तो तमीज इस बात की कर सकते कि गरीबों के नमक रोटी में भी कुछ लज्जत है, खैर जियाद तूल के साथ अर्ज फिजूल है घर पर भी कई किस्म का हर्ज हुआ करता है, और मुतअल्लिकीन कुछ आर्जुद खातिर रहते, पर क्या करूँ इस भोले लड़के नवाब ने ऐसा कुछ जादू या सिह्र सा कर दिया है कि इसे छोड़ने को दिल ही नहीं चाहता। माशा अल्लाह चश्मिबद्दूर न सिर्फ इसकी सूरत प्यारी और दिल-फरेब है, बल्कि उसपर सीरत बदर्जहा हावी है। बखुदा ऐसा हलीम और सलीमुत्तबा लड़का तो आज कोई शाही घराने में भी नहीं है। यह मुरौवत सखावत, बुर्दबारी, खाकसारी व इनकिसारी और दर्यादिली-खुदा के घर से इसी को मिली है। चुनाँचे जब वह मुस्करा कर कह

देता कि जनाब नव्वाब साहिब बहादुर, यह क्यूँ नाराज हुए जाते हो ! खुदा के वास्ते ऐसी जल्दी ही क्या है,न दो बरस न चार फिर बकौल शखसे—"बार बार आप जो कहते हैं कि घर जाऊँगा, यह तो फर्माइये साहिब कि यह घर किसका है ?" तो बस लाचार हो जाना पड़ता है, और सच तो यह है कि जब कोई खुदा और पयगम्बर का वास्ता दिलाते तो अह्ले इस्लाम को चारा ही क्या है। कोई कह चलते कि—"हुजूर और तो सब है, मगर यहाँ चन्द ऐसे कमीने मतऊन और नालाइक लोग आते कि जिनकी सूरत से वल्लाह मुझे तो नफ़रत है। मगर क्या करूँ, जरा इस लौंडे की उम्र अभी कच्ची है, लिहाज़ा अकेला छोड़ इसे टल जाना भी मुनासिब वक्त नहीं मालूम होता, वर्न-घर पर किसको काम नहीं है।" सारांश जिसकी बातें सुनिये सब इसी के आस पास की होती कि उन्हें यहाँ रहना मंजूर नहीं है। इन्हें छोड़ और भी ऐसे अनेक हैं, कई तो शाइर जो शेर और गजल बनाते हैं कई मर्सिया खाँ और कई गज़ल सुनाते हैं। कोई कोई डेढ़ हाथ की डाढ़ी को भी जनाने दुपट्टे से छिपा कर मटक मटक कर और नाक पर हाथ रख रखकर रेखती पढ़ने वाले, कोई गाने वाले, कोई बजाने वाले, कुछ नाचने वाले और कुछ नक्काल और कव्वाल, कोई बटेरबाज, और कोई कबूतरबाज; कोई लाल और बुलबुल लड़ाने जानता, तो कोई मुर्ग लड़ाने में एकता, कोई क़िस्सा खाँ, कोई साहिब कनकव्वेबाज और कोई इल्में-महफ़िल के उस्ताद कोई हुक्का साज और मदक चर्स वगैरह पिलाने में होशियार; कई सकिए गुलअन्दाम, कई लोग परी को शीशा में उतार लेने में नेकनाम, कितने आशिकेजाँबाज़ और कितने माशूके ज़माना-फिलासाज कितने पोशाक और लिबास दुरुस्त करने वाले कई शतरंज, चौसर और गञ्जिफा खेलने वाले, कोई ताश के हेर फेर से मुतअज्जिब करने वाले, कितने सनाखाँ और कितने दिल्लगीबाज शोहदे भरे पड़े हैं। उनमें कुछ तो अरबी फ़ारसी पढ़े अपने मामूली चाल के हैं, कुछ नई रोशनी वाले जिनके पेशवा एक बड़े चलते पुर्जे मिरजा निफ़ाक बख्श एम० ए० और उनके दो चार साथी हैं जो कि सब अलीगढ़ के मोह-मिडन ओरियंटल कालेज के निकले बूढ़े सर सैय्यद के चेले हैं। जिनकी रातों दिन यही कोशिश है कि अँगरेज़ बनो, यह लम्बी मुँहड़ी का पायजामा, छकलिया अँगरखा और इस दुपलड़ी टोपी को छोड़ो, व नीज सलमें-सितारे या बादलें और कलाबत्तून के कामदार या ज़री और कमखाब या रेशम के सोज़नकारी के कपड़े फाड़ कर फेंको; क्योंकि ज़नानों की चाल है। काली कुर्ती

और टाइट पैण्ट पहिनो; जिस्में ज़मीन पर न बैठ सको; ऊपर से एक नीली पूँछ वाली लाल टोपी देकर बन्दर से कूदते फिरो। कुर्सी पर बैठो, मेज पर काँटा चम्मच से खाना खाओ। भचभचा पेचवान् हटाओ, चुर्ट की लूकी मूँ में लगाओ; भूत बन जाओ, और बूढ़े मुल्लाओं को डराओ। महल की बीवियों को मेमसाब बनाओ; और हम लोगों से मुलाकात कराओ साथ हवा खिलाओ, और अंगरेज़ों को दिखाओ कि हम लोग पूरे मुहज्ज़ब और सच्चे साहिब लोग है। कुछ भी हिन्द की हैवानियत अब हम में नहीं, और न अरब का जंगली पन है, बल्कि यूरप के सिविलिज़ेशन की ज़ियादती से हमारा दिमाग फटा जाता है। हिन्दुओं से हर्गिज़ हर्गिज़ मत मिलो, और न इनसे ज़ियादः रब्तजब्त रक्खो, दोस्ती और एगानियत का तो कभी ख़्वाब में भी ख़्याल न करना, बल्कि अन्दरूनी बर्ताव दुश्मनी का रक्खो। चाहे यह कैसेहू रिफ़ाहमुल्क के फ़िक्रे क्यों न उड़ाएँ उसमें मत फँसो। न हमारा यह अस्ली मुल्क है, न इसकी तरक्क़ी से हमें कुछ सूद है। अपनी क़ौम की बिहबूदी की पैरवी करो; और इन पाकीज़-नसीहतों को जो एक निहायत दूरन्देश बुजुर्ग बाइसे-फ़ख्रे-दीन और सच्चे खैरख्वाह इस्लाम की हैं, नक़शे कलहज़र कर लो! मिहतर को बेहरा बना लिया तो बहुत ही अच्छा किया, बूढ़े मौल्वियों को बिलबिलाने दो, खैर थोड़ी शराब मँगाओ तो अक़्ल को और जौलानी हो! बस शराब के दौर चलने लगे, अब आप और भी अँटाग़फूर हो बहक चले कि—मियां सुनते हो रण्डियाँ और गाने वालियां व नीज़ माशूक़ाने महलक़ा सबके सब आज कहाँ छिपे हैं? बुलाओ-बुलाओ जल्द बुलाओ वल्लाह! अब दिल को करार नहीं, बन्दा बिलकुल बेसब्र हुआ जाता है, और हाँ हाँ ज़रा इसकी ताकीदक़ामिल रहे कि कहीं वह बूढ़ा चर्खा मौल्वी न घुस आये। ज्योंही किसी के अठखेलियों की चाल से निकली पाज़ेब और कड़े छड़े की आवाज़ कान में आई, कि आप ज़ामे से बाहर हो उठे और कहने कगे कि-"लिल्लाह इन्हें इज़ाज़त दीजिए कि मेरे संग नाचें और मैं आपको अंगरेज़ी बाल (Ball) का तमाशा दिखाऊँ" गरज़ नाच कूद कर आप बेहोश हो ज़मीन पर गिर पड़े और रात यों ही काट डाली।

इनकी उम्र बस अँगरेज़ों की झूठी खुशामद में जाती है, और ऐसी कुछ उन्हें चापलूसी भी आती कि-जिससे बातें करनी शुरू कीं कि-बस उसे मूड़ लिया। इसी से वे एक बड़े सरकारी ओहदे पर भी हो गये हैं। फिर जहाँ

रहते वहाँ के अँगरेज़ हाकिमों को तो अपना चेला बना लेते, और ऐसा रंग जमाते कि सारे ज़िले में इन्हीं की तूती बोलती। उम्माल और अहल्कार सब इन्हीं की ज़ियारत करते और डरते कि कहीं खा न जाँय। यही कुशल भी है कि आप सरकारी नौकर होने के सबब से बाहर ही रहते जिससे नव्वाब साहिब कुछ बच रहे हैं, नहीं तो ए पूरा अपना रंग जमाई के छोड़ देते। गो कई गुरगे इनके इसी काम के लिये चिपक रहे हैं, तो भी बगैर उस्ताद के कामयाब नहीं होते। इन लोगों की पहली ख्वाहिश यह है कि इन्हें शिया से सुन्नी और फिर नेचरिया मुसल्मान बनायें और पुरानी चाल के जो शरीफ़ मुसल्मान या हिन्दू इनके यहाँ रहते हैं; दूर हटायें और अकेला अपना रंग जमायें। परन्तु हमारे नव्वाब साहिब ऐसे भोले और ओछे भी नहीं कि जो इनकी बातों में आकर अपनी आँखे बन्द करलें, और उन्हीं की दिखलाई राह पर चल पड़ें। वे इनके जवाब में यही कहते कि—"बन्दःपर्वर, यह आप क्या इर्शाद फ़र्मा रहे हैं, खुदा के लिए ज़रा होश में आजाइये और अक्ल की दवा कीजिये, इस गिरती हुई क़ौम को और भाड़ में न झोंकिये, लिल्लाह रहम कीजिये, और इस तकरीर की तेज तलवार से बहुतेरे बेगुनाह बिचारे भोले भाले मुसल्मानों को बर्गला कर ज़बह न कीजिये। कौमी दुश्मनी की आग न भड़-काइये, निफ़ाक को और भी रौनक न दीजिये। ग़ारत करे खुदा उन समझ वालों को जो पुश्त हा पुश्त से हिन्द में रहते और इसे अपना मुल्क नहीं मानते। जिन हिन्दुओं से सालहासाल से बर्ताव एगानियत का चला आ रहा है, उनसे क्यों आज दुश्मनी शुरू की जाय? अब जैसी हिन्द में मुख्त-लिफ़ ज़ातें हैं एक मुसल्मान भी हैं, फिर क्यों हम सब बाखुदहा दुश्मन बनें। जब हम हाकिम और हिन्दू महकूम थे तब तो खैर कोई ज़रूरत और मौक़ा ऐसा आ जाता था कि बगैर जङ्ग व जिहाद के तस्फिया गैर मुमकिन था। इल्ला! अब जब कि हम दोनों एक तीसरे की रिआया हैं, तो बाहम रञ्ज और पर्खाश की क्या जरूरत और मसलहत है। "आपके पीर-इ-मुर्शिद आप ही को मुबारक हों ऐसे तलौउन—तबा, शख्स की राय कि जिसमें कुछ भी इस्तिक़लाल और इस्तिहकाम नहीं, जो आज कुछ रहा है और कल कुछ; कहाँ तक ऐसा भरोसा करना मुनासिब है इसे मैं खूब जानता हूँ। मेरा ख्याल हनोज वही है—और वाकई हमारा यह मुल्क हिन्दोस्तान दो कौम यानी हिन्दू और मुसल्मान से वैसा ही आबाद है, जैसे एक खूबसूरत चिहरे पर दो आँखें मुजैयब हों जो दोनों मिलकर बाइसे रौनक होती। काश उसमें से कोई एक

दूसरे के खिलाफ़ रूजू हों तो जरूर ही उसकी खूबी और ज़ेबाइश में फ़तूर वाक़ा होगा।" पस हम लोगों का यह काम है कि दोनों अक़वाम मिस्ल शीर व शकर के मिल जाँय, और जिस तरह मुमकिन हो विहबूदीये-मुल्क करें न कि आपस ही में मर मिटैं। इलावा बरीं जब जब आपके से ख्याल के लोगों ने ऐसी चालैं चली हैं, क्या नेक नतीजा निकला है? सच पूछिए तो सल्तनत इस्लामियाँ के जवाल का बाइस दरअसल यही हुआ। याद रखिये कि अब यही हिन्दोस्तान हमारा मुल्क है, और यही हिन्दू हमारे सग मुल्की भाई हैं।"

दूसरी शुरफ़ा की गोल वा जमाअत के रहनुमा या पेशवा का इस्मि-शरीफ़ जनाब मौल्वी सैय्यद मुहम्मद मुमताजुद्दीन हैदर साहिब अफ़ज़लुल उलमा हैं, जो कि एक मशहूर व मारूफ़ खान्दानी आलिम और बहुत ही आला दर्जे के फ़ाज़िल और उस्ताद हैं। फी ज़माना अरबी और फ़ारसी में यह सानी नहीं रखते। मगर यह कोई नई बात नहीं है, आपके ख़ानदान में यों ही बराबर एक से एक आला आलिम व फ़ाज़िल, बड़े बड़े बेदारमग़ज और मुदब्बिर असहाब गुज़र चुके हैं, बल्कि शाही ज़माने में इन्हीं के फ़तवे की सनद थी। अब भी जो इज़्ज़त उलमाय-फ़रङ्गीमहल व दिहली और उमराय लखनऊ में इन्हें हासिल थे, दूसरे को नहीं। आप बहुत ही पाकदिल, नेकनीयत, इन्साफपसन्द, गैर—मुतअस्सिब, खुदापरस्त, ज़ाहिद आरिफ बड़े ही पक्के मुहज़्ज़ब और सच्चे मुसल्लमईमान, बुजुर्ग हैं। आपका जो वक्त रोज़ा नमाज़ वज़ीफ़ा और मुतालिआ-इ-कलामउल-इल्लाहिशरीफ और यादि इलाही से बचता, वह आला दर्जे के तालिब-उल-इल्मों के दर्स देने में सर्फ होता। सिवा इसके रोजमर्रे कम-अज-कम दो घण्टे हमारे प्रिय मित्र भोले नवाब को कुछ पढ़ाते, और उमरातिदीनी व दुनियवी की जरूरी नसीहतें करते, और मुश्किल मुश्किल मसायल व मुअम्में हल करके समझाते बतलाते, और सिखलाते हैं। नव्वाब साहिब बहादुर मर्हूम यानी भोले नवाब के वालिदेमाजिद अफ़ा अल्लाह अनहो इन्हें बहुत ही इसरार और इन्किसार से वास्ते देने तालीम और तर्बियत अपने फ़र्ज़न्द अर्ज़मन्द के ले आये थे, और वह बदस्तूर साबिक़ अब तक वही काम कर रहे हैं।

जब कभी आपके सामने इन नई रोशनी वालों या नेचरिए मुसल्मान या कि मिस्टर निफ़ाक बख्श एम० ए० अथवा उनके फ़िर्के के लोगों का ज़िक्र आता, तो वह बहुत ही मुतअस्सिफ़ हो सर्द आह भरते, और कहते कि

"न जाने खुदा को क्या मञ्जूर है कि जिसने ऐसे मारें आस्तीन पैदा कर दिये हैं, जिनका कि कुछ इलाज ही नहीं सूझता जो कुछ नुक़सानात—अज़ीम इन हज्ञात ने मज़हिवे—इस्लाम को पहुँचाये हैं उसका तो जिक्र ही क्या है। मैं जानता हूँ कि शायद हमारी क़ौम को भी ग़ारत करके यह तहतुस्सरा को पहुंचाया चाहते हैं। हाय, क्या वक्त है और क्या पैरवी! अफ़सोस सद् अफ़सोस इनकी अक्ल पर जो बिला आगाज़ व अञ्जाम का ख्याल किये फित्न—इ—महशर मचाना चाहते हैं। रहम करे खुदा इन पर और इन्हें जल्द राहि रास्त पर लाये।" वह इनसे यही कहते कि—भाइयो अँगरेजी इल्म तोपढ़ोजरूर बिजजरूर पढ़ो, लेकिन साथ उस्के क्रिस्टान मत बनो, अँगरेजी काले कपड़े मत पहनो, खड़े होकर इस्तिञ्जा मत करो, डाढ़ी मत मुड़ाओ, इसमें तुम्हारा क्या नुक़सान है, अपनी वज़ा को मत तब्दील करो। हम कुछ हैवान और जंगली नहीं कि हमारी सब चाल और तरीक़े क़ाबिलि तर्क हों, पस क्यों अँगरेज़ियत की तकलीद की जाय? हरगिज़ हरगिज़ इस्की पैरवी न करनी चाहिए, बल्कि इस बढ़ती हुई बहशत को रोकना मुनासिब है। इस अम्नों अमान के वक्त में बेफ़ायदा मुल्क में नफ़ाक़ मत पैदा करो। क्यों किसी के बर्गलाने से बहक रहे हो। लिल्लाह सँभलो और होश में आओ।

आप ही की तालीम और तर्बियत का यह असर है कि जो हमारे प्रिय मित्र नव्वाब साहिब में बड़े बड़े औसाफ़िहमीदा पाये जाते हैं, आप ही की मुहब्बत का यह असर है जो आपमें हिन्दोस्तानी इमारत पूरे तौर पर मौजूद है। आप ही की बरकत है कि इन नीमटर अँगरेजीबाज़ों की बाज़ी यहाँ सदा हार में रहती, जिससे अब तक सब ख़ान्दानी चाल ढाल और शानो शौकत बर्क़रार है।

इन लोगों के इलावा हमारे मुअज़्ज़िज़् इनायत-फर्मा के चन्द खास दोस्त भी हैं, जिनमें सब से बढ़कर **नव्वाब मिर्जा हर्दिलअज़ीज़ बख्श बहादुर** हैं, जिनके प्यार का नाम प्यारे नवाब हैं। जो कि हमारे नव्वाब साहिब से भी कमसिन व उनके लँगोटिया यार, हम मकतब, हममर्तबा, हमतबीअत, और दरअसल बहुत ही नेक मिज़ाज़ हैं। न उनका नाम ही हर्दिल अज़ीज़ है बल्कि वाकई वे हर्दिल अज़ीज़ हैं; और क्यों न हों, क्योंकि उनकी सूरत शक्ल बात चीत और अदा अन्दाज में गोया जादू का असर है। उनसे बातें करने लगिये तो क्या मजाल कि कहीं से फिर दीन व दुनिया की कोई फ़िक्र पास फटक जाय, बल्कि कुछ ऐसा मज़ा आये कि उठने को जी ही न चाहे। इसी

लिये वे हमारे नव्वाब साहिब के दिल से भी ज्यादा अज़ीज़ हैं, और सच तो यह है कि इन दोनों साहिबों में एक जान दो कालिब का मुआमला है। हरजा और हर हालत में इनका जुग कभी नहीं फूटता, सदा साथी चिमटे रहते, हर बातों में बराबर दोनों को एक सा मज़ा आता, जिससे उनको जितना वास्ता है, इनको भी कुछ उसी के बराबर है, और जिनसे जैसी रग़बत व मुहब्बत या नफ़रत उन्हें है इन्हें भी वैसी ही है, लिहाज़ा उनका दिली दोस्त और यारिगार हम इन्हीं को मानते हैं। इसी वजह से जब वह हमारे नव्वाब साहिब के साथ हम लोगों के घर आते तो हम लोग भी इनकी वैसे ही इज़्ज़त और इताअत करते हैं। हम लोगों में से जिस किसी के घर या खास जमघटे में जब कभी हमारे नव्वाब साहिब रौनक बख्शते, तो सचमुच रौनक बख्शते, और बहुत ही ज़ियादा मज़ा लाते हैं। आप महज़ बेतकल्लुफी से रहते, और जहाँ से तकल्लुफ़ आया कि चटपट खिसक देते हैं, और फिर हर्गिज़ हर्गिज़ नहीं बैठते।

जब हम लोग कभी अपने नव्वाब साहिब के दरेदौलत पर हाज़िर होते, तो एक बारगी वहीं सारे लखनऊ का खुलासा देख लेते। कभी देखिए तो कबूतर और कनकव्वे (गुड्डी वा पतंग) उड़ रहे हैं। कभी मुर्ग़ बटेर या लाल और बुलबुल लड़ रहे हैं, ताश, गञ्जीफा, या शतरंज चौसर मच रहा है, या कि गाना, बजाना, नाचना, बताना और रिझाना शुरू है, कभी भाँड़ और अताईयों का मुजरा, और कभी कथक और कलावंतों की करामात दिखाती, कभी शायर और रेखताबाजों की वाह सुनाई देती है, कभी चण्डू और मदकबाज़ों की पिनक के साथ की लम्बी चौड़ी बातें, और कभी इश्क के चोट की घातें हो रही हैं। चीदा-चीदा माशूकि-दिल-फिरेब और एक से एक चढ़ी बढ़ी चुनिन्दा परीपैकरों का परा जम रहा है, और उनके नखरे और चोंचले, इश्वें और करिश्में, अदा और अन्दाज़ा को देख-देख कर दिल के सौ-सौ टुकड़े हुए जाते हैं। कभी मये गुलगूं के दौर चलते, और लोग अपने-अपने होश व हवास खो बहक बहक कर कुछ अजीब व ग़रीब तमाशे करते, और कोई बद-होश हो जाते मरे पड़े हैं। कोई बेशराब पिये ही सिर्फ इश्क के नशे से चकनाचूर हो रहा है और कभी खास-खास चुने अच्छे अच्छे लोगों का दर्बार लगा है और वह अदब और कवायाद की पाबन्दी है कि जैसी चाहिए।

हमारे मित्र नवाब साहिब कभी तो शराब-वस्ल में मसरूर बहेएश में ग़र्क़, और कभी मग़मूम बैठे अपने प्यारी और भोली सूरत को उदास बनाये, सर झुकाए, ऊब-ऊबकर आहसर्द भरते और नाले भरते किसी माहजबीं माशूक

की फुरकत में बेकरार हैं, और कुछ भी दूसरी बात की सुध उन्हें नहीं है। मुद्दतों मातम मनाए बैठे रह जाते, यद्यपि उन्हें कभी-कभी रुपये की फिक्र या किसी देनदार के अदायकर्ज़ का रञ्ज भी दामनगीर हो जाता है, मगर इसका सोच या और तफ़क्कुरातिए दुनियवी उन्हें उदास नहीं बना सकते, पर हाँ माशूक़ का सितम और फुर्कत उन्हें जरूर बेकार व बेकाम बना देती है। इसी से इनसे मिलना कभी कभी बहुत ही दुश्वार हो जाता है, क्योंकि वे खुद बे इख्तियार रहते हैं। तो भी सिर्फ चन्द मौकों के सिवा और सब हालत में हम लोग उनके हुज़ूर में बारि आब होते हैं और जहाँ पहुँच जाते तो चूँकि वह अपनी इनायत से हम लोगों के साथ महज़ बर्ताव बिलातकल्लुफी का रखते लिहाज़ा -बिला तअमुल हँसी औ मज़ाक की बातें कर चलते और चन्द उनके मुसाहबीन और हाज़िरीन जल्सा जो मुनासिबे वक्त होते, और मौजूद रहते कुछ ऐसे मज़े बढ़ाते, कि जो कहने में नहीं आते। आप हिन्दी ज़बान जानते हैं और उसकी शाइरी से भी बहुत कुछ शौक रखते हैं। बल्कि बहुत सी ठुमरियाँ और दोहरे भी कह डाले हैं, और उर्दू के तो अच्छे खासे शाइर हैं। इबारात नस्र भी आप बहुत अच्छी लिखते, मगर महज मज़ामीन इश्क और मज़ाक या कुछ-कुछ उमूराति मुतज़ीकर बाला के बारे में।

हम लोगों के मित्र-मण्डली के सातवें मित्र महाशय का नाम **जनाब मुंशी बिस्मिल्लाह गुलाम लाल साहिब** हैं। जाति के आप कायस्थ हैं, अवस्था साठ वर्ष से कुछ ऊपर है, किन्तु वह अपनी जान अपने को केवल पन्द्रह वर्ष का छोकरा वा बीस बरस का नौजवान जानते हैं। यद्यपि बाल सिर में कोई काले नहीं, तो भी खिज़ाब के जरिये से एक नया आबचिहरे पर बनाये रहते, और पोशाक लिबास से सजे रहते कि जैसे नगर के अनेक युवक भी न होंगे। आपने केवल कोरी फारसी पढ़ी है, और कुछ अरबी में भी जीभ ऐंट लेते हैं, परन्तु हिन्दी किस खेत की मूली है आप जानते ही नहीं, तब संस्कृत की कौन कहे कि इस शब्द को भी आप शंशकीरत कहते हैं। अँगरेज़ी तो आपके पढ़ने के समय में थी ही नहीं, सिवा इसके वे इसे हूशों की जबान बतलाते हैं और इसी कारण उससे बहुत घृणा करते हैं। आप बहुत दिन तक एक देशी राजा के दीवान थे, फिर अँगरेजी सरकार की नौकरी की। अब वृद्ध होने से पेन्शन पा गये और जब केवल पिन्शन से गुजारा होते न देखा, क्योंकि खर्च बहुत अधिक है, और परिवार भारी है,

तो बुढ़ाई में कानून पढ़कर अब वकालत करनी शुरू की है। संयोग से दो मुहर्रिर भी आपको बहुत ही माकूल मिल गये हैं, कि जिससे आपका काम किसी तरह चला जाता है, और वही मानो इन्हें अन्धे की लकड़ी हो रहे हैं। यदि वे एक दिन न रहें तो कदाचित् आपके घर उपास हो जाय, इसी से ये दोनों मानों इनकी नाक के बाल हो रहे हैं। उसमें एक तो जाति के जुलाहे मियाँ हैं, नाम उनका कहरुल्लाह खाँ हैं, जिन्हें गँवार लोग केवल कहरू मियाँ कहते हैं दूसरे जाति के कलवार हैं, जिनका नाम तो पनारू था, पर जब से वे आर्य्य समाज में मिल गये हैं तब से वे अपने को परम पवित्र ब्रम्र्मा लिखने लगे हैं, क्योंकि आर्य्य समाज से इन्हें यह खिताब नाम और जाति का मिला है। इसीसे उन्होने जनेऊ पहना और साँझ सबेरे गायत्री का जप और सन्ध्या भी करते हैं। बस आपी लोग उनके अगिया कोइलिया दोनों दूत वा याजूज वा माजूज दोनों देव, वा इन्द्र[1] सभा के लालदेव और काले देव हैं, अथवा सिपाहीजादा के किस्से के अमीरा और मुनीरा दोनों ठग हैं। दोनों तीर और कमान वा आग और पानी हैं। समझावन[2] और बुझावन, वा पकड़ू वा घसीटू हैं, वा एक बाज तो दूसरा शिकारी कुत्ता है। क्योंकि चाहे जो अदालत में जाय, ये उसे बिना फँसाये नहीं छोड़ते और कुछ न कुछ ले मरते हैं। बस इसी से हमारे मुन्शी जी भी वकील बने हैं। इन्हीं के कारण मुन्शी जी के घर और डेरे पर मवक्किलों की भीड़ लगी रहती है, और जो आते वे उलटे छुरे से मूड़े जाते हैं। पहिले तो बिना पान लाए मुंशी जी बात ही नहीं सुनते, सो भी दो चार पैसे से कम का नहीं। मानो यह तो आपका बालभोग है। यद्यपि आप अपने को चित्रगुप्त के वंश में उत्पन्न बतलाते हैं, परन्तु मिहन्ताना लेने में तो आप साक्षात् यमराज बन जाते हैं। और दया शीलता और संकोच किसे कहते हैं, वे जानते ही नहीं। पहिले तो आप मुवक्किलों से बहुत ही सीधी रीति और चाव से मीठी-मीठी बातें करते, परन्तु जहाँ फँसा-पाते तब तो फिर आँख ही नहीं मिलाते और जब मुकद्दमा पेश होता है तब उन्हें बुलाने जाइये, तब तो वे बूढ़े बन बिलारों के समान घूरते, और चटखते जैसे चीता, जो नखरे करने लगते तो वी मुश्तरी को भी मात कर देते और बिना कुछ टेट में खोंसे उठना तो जानते ही नहीं। यदि मुकद्दमा हार गये तब तो कह दिया कि "देखिये-मैंने तो बहुत कुछ कहा,

---

१ अमानत रचित उर्दू नाटक के पात्र
२ झाड़ के जलाने और बुझाने की छड़ी

लेकिन हाकिम कुन्द जिह्न है, नहीं समझता खैर। चलिए अपील से तो जिता ही देंगे, जरा मिहन्ताना भरपूर दिया कीजिए तो फिर हमारा लड़ना देखिये। मसल मशहूर है कि जितना गुड़ डालियेगा उतना ही मीठा शर्बत पीजिएगा।" जो कहीं मुकद्दमा जाता, तब तो फिर बस शुकराने की डिग्री इजरा हुई, और आपकी पगड़ी और दुपट्टा कुर्की में आया, और भी जो कुछ पाया और उठाया। निदान इसी भाँति हमारे मुन्शी जी दस बजे से चार बजे तक बगले की भाँति अपने बिस्तर पर बैठे ताक में लगे रहते, और उनके दोनों गुर्गे बधिकों की भाँति बात का लासा और घात का कम्पा लगाये, नई चिड़ियों के फँसाने को कचहरी के चारों ओर चक्कर लगाया करते हैं। जिसे तनिक भोला भाला पाया कि बस वहीं धर दबाया, और अन्त में उसे अपने फरेब के फन्दे में फँसा कर लँडूरा बना डाला, जो कुछ उनसे मिला उसमें एक हिस्सा तो हमारे मुन्शी जी का, और दूसरा दो इनका होता है। क्योंकि असली शिकार मारने वाले तो वही दोनों हैं, मुंशी जी तो केवल बूढ़े गिद्ध की भाँति अपने विस्तर पर बैठे टुकुर-टुकुर ताका करते हैं और दूसरे के मारे जीव का माँस खाने वाले हैं। निदान इस भाँति जो कुछ दिन भर में कमा-कर मुंशी जी घर लाते, वह सब सन्ध्या होते-होते उड़ा देते, क्योंकि चार बोतल शराब, और आठ सेर गोश्त में और उसके साथ के जरूरी लवाजमें ही में उसका एक बड़ा हिस्सा खप जाता, और सब घर-गिरस्ती का खर्च तो पीछे रहा। हमारे मुंशी जी का प्रातःकाल का समय तो केवल स्नान, ध्यान, जलपान, और पान तमाखू से जो बचता है वह मुवक्किलों के कागज पत्र के देख भाल और फिर कचहरी जाने में जाता है। सन्ध्या को जब आप कचहरी से आते तो कुछ नाश्ता करके हुक्का पीते और फिर ज्ञान छाँटते हैं संसार को मिथ्या बतलाते, और बिचित्र धर्म्म की चर्चा चलाते, और ऐसी ही अनेक बातें बतलाते हैं किन्तु हाँ यदि वहाँ श्रीमान् भयंकर भट्टाचार्य न हों। फिर शारीरिक कार्य से निवृत्त हो और लम्बी चौड़ी सन्ध्या पूजा करके कबाब और पापर चबा-चबा कर प्याले पर प्याले जमाते, और पनारू कलवार तथा कहरुल्लाह यों ही और भी दो एक वैसे ही काबिल सुहबत लोगों से, जो शामिल दौर के रहते, ऐसी विचित्र बातें कर चलते कि सुनने वालों को बड़ा आनन्द आता। इश्क और मजाक की बातें जब चलतीं तब तो कहना ही क्या है। नहीं तो जब वे बदमस्त होते तो पनारू कलवार के पैरों पर गिर पड़ते, और दोनों हाथ जोड़ कर और गिड़गिड़ा कर कहते कि "परमेश्वर के लिए बता

दो कि मेरा निस्तार कैसे होगा, मेरे कसूर कैसे मुआफ़ होंगे मेरे गुनाहों की बख़शिश क्योंकर होगी मैं तुम्हारे पाँवों पड़ता हूँ, बता दो तुम्हें अपने बाप की कसम, अपने गुरू की कसम, अपने स्वामी जी की कसम, भाई इसी शराब की बोतल की कसम सच-सच बता दो।'' पाठक! यह न समझिये कि पनारू इनके मुहर्रिर या नौकर हैं, बल्कि यह उनके मालिक में भी बढ़े हैं वह इनके गुरू बल्कि दादा गुरू हैं। न सिर्फ वे शराब के बनाने वाले और साकी हैं, बल्कि आप आर्य्य समाज के उपदेशक होने की वजह से भी इनके गुरू हैं। निदान ६ बजे रात से वहाँ इसीके आस-पास की अनेक बातें होती हैं जिनका विशेष बखान करना कठिन है। हाँ पाठक जन अनुमान अवश्य कर सकते हैं।

ऊपर का वृत्तान्त पढ़कर पढ़ने वाले महाशय यह न समझ लें कि हमारे मुंशी जी निरे निकम्मे लोगों में से हैं। नहीं कदापि नहीं, उनमें यदि दोष ढूँढ़ा जाय तो केवल इतना ही है कि-एक तो वे मुअक्किलों से मिहनत लेने में उनका पित्तातक पी जाते हैं, सो यह तो उनकी आजीविका ही ठहरी। दूसरे आप सोरह आने मुहर्रिरों के वश में रहते हैं विशेष कर पनारू कलवार के हाथ तो बिक ही गये हैं। मगर इसके भीतर कई तह भी हैं और सच तो यह है कि यदि ये लोग बिगड़ जाँय, तो न केवल हमारे मुन्शी जी की आजीविका में बाधा पड़े, वरञ्च उनका इस नगर में रहना भी कठिन हो जाय क्योंकि वे ऐसे ही अद्भुत धूर्त और ऐय्यार हैं। उनके हाथों से फँसकर निकलना बहुत ही दुश्वार है। संयोग था हमारे मुन्शी जी इनके फन्दे में आ गये, और जब आ गये तो फिर कोई इलाज भी नहीं है। बहुतेरे लोग जो इनके हाल को नहीं जानते, इन्हीं के कारण मुन्शी जी से भी अश्रद्धा करने लगे हैं।

मुन्शी जी के लड़के और अन्य लोग भी इनसे प्रसन्न नहीं, किन्तु क्या करें किसी की भी कुछ नहीं चलती। सब मन ही मन में बुरा माना करते हैं, मुँह पर नहीं लाते, क्योंकि यदि वे इस भेद को जान जाँय तो बिना भली भाँति तंग किये न छोड़ें और नहीं तो किसी मद्यप से दस बीस गाली ही दिलवा दें, वा झूठा मुकदमा ही चलवा दें। परन्तु निश्चय हमारे मुन्शी जी बिचारे यह कुछ नहीं जानते जैसे-जैसे ए लोग नचाते हैं वैसे ही नाचा करते हैं। वे स्वयम् बहुत अच्छे आदमी हैं और यही कारण है कि उन्होंने जहाँ जहाँ नौकरी की, खैरख्वाह और दियानतदार माने गये। जब कभी मुन्शी साहिब हम लोगों की मण्डली में आते तो प्रथम प्रायः उस पुस्तक के रचयिता के नाम

का रोना रोते और उसको सौ-सौ गालियाँ दे दे कर कोसना आरम्भ करते, जिसने कायस्थों की मिथ्या निन्दा में एक ग्रन्थ लिखकर गवर्नमेंट का चित्त इस जाति से खट्टा कर दिया। जिस कारण उनका यह अनुमान है कि अब कुछ दिनों से कायस्थों को सरकारी नौकरी नहीं मिलती है। इसी भाँति हक़ कानूनगोई के निकल जाने पर अफ़सोस करते और अब इसके लिये क्या करना चाहिए इसका सोच विचार करते हैं। कभी कभी हमारे मुन्शी जी आहसर्द भर-भर के कहते कि हाय, एक ज़माना वह था कि तमाम दफ़्र शाही व रोअसाय मुल्क में सिर्फ़ अपने ही कौम के लोग आला से अदने वहदों पर मामूर थे और कहाँ अब तेली तमोली कहाँर और चमार तक भर दिये जाने लगे और हम लोगों पर बकौल "शख़से" पढ़े फ़ारसी बेचैं तेल, यह देखो क़ुदरत की खेल।" का मुआमला आ गया। हैफ़! सद हैफ़! देखिये, जिस रियासत की दीवानी मेरे ख़ानदान में चली आती थी, चचा साहिब के इन्तकाल के बाद वहाँ अब एक हलवाई का लौण्डा दीवान बनाया गया भला वह बेचारा क्या दीवानी करेगा। फिर "खुदा ने कायथों को लाइके दफ़्र बनाया है, कुजा मुजैय्यब हो या दीवानी।" सारांश उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता रहती कि भाई हम लोग तो केवल क़लम सूर हैं, ब्याह कराने से रहे, पिण्डा पराने से रहे, लाठी चला नहीं सकते, तराज़ू उठा नहीं सकते; पस मज़बूरी है कि करें तो क्या करें। कभी देश दशा और देश-प्रबन्ध की भी चर्चा चलाते, और बहुत ही माक़ूल और मुनासिब दलीलें पेश करते हैं जिनमें बहुतेरी बातें बहुत कुछ सोच विचार के योग्य होती हैं।

प्रिय पाठक वृन्द! अपनी मित्र मण्डली के 'मित्रों का आवश्यक वृतान्त तो मैंने किसी न किसी भाँति वर्णन कर आप लोगों को सुनाया, और यह भी बिचार दृढ़ था कि जब कि विस्तार और विलम्ब होई गया, तो यदि सविस्तार नहीं, तो भी उन बचे चार मित्रों की भी कुछ चर्चा कर चलूं। पर क्या कहूँ सिर मुड़ाते ही ओले पड़ने लगे, उस मित्र मण्डली के अनेक मित्र तो शत्रु के बाप बन गये और ऐसे बिगड़ गये कि जैसे मानवती नायिका। एकाध तो मित्रता के रिश्ते (नाते) को तागा सा तोड़ने पर तत्पर हो गये। महामहोपाध्याय पण्डितवर श्री विज्ञान शेखर शास्त्री विद्यावाचस्पति महाशय और श्री मन्महाराज करुणा निधानेश्वर सिंह जू देव तो जो मिले, तो हँस कर यही कहा कि—"यह तुमने क्यों हम लोगों का उपहास करना आरम्भ किया है, इससे तो किसी प्रकार के लाभ की भी आशा लखाई नहीं पड़ती, बताओ

तो, यह कौन सी सिड़ समाई।" परन्तु सेठ डरपोकमल जी और श्रीमान भयङ्कर भट्टाचार्य जी का हाल न पूछिये उनकी अकथ कथा है।

राय बहादुर सेठ डरपोकमल जी तो अब मेरा नाम सुन कर भी और आपने मुझे लिख भेजा कि "आप लोगों की मित्रता का फल पा चुका अब न तो मेरे पास पत्र भेजिये, न स्वयं कृपा कीजिये।" मैं इसके क्षमापनार्थ उनके घर भी गया, परन्तु उन्होंने देखते ही ऐसा मुँह फुलाया कि खुलना कठिन हो गया। जब मैं बहुत कहने लगा कि मैंने लेख को उपहासार्थ नहीं प्रकाशित किया, वरञ्च अपने मित्रों और पाठकों के मनोरञ्जनार्थ और भी जिनमें जितना कुछ गुण दोष है उसका शुद्ध भाव से ऐसा चित्र खींचा कि जिसे देख, देखने और न्यायपूर्वक विचारने वाला उससे बहुत कुछ शिक्षा और लाभ उठा सके। यों हीं आप लोगों के लेख के भाव के संग पाठकों को आपके शील स्वभाव और गुण से भी ज्ञान रहे तो और भी अधिक उसका आनन्द अनुभव हो, और प्रभाव पड़े, और यदि शुद्ध भाव से लिखने में कुछ असावधानी भी हो गई हो तो क्षमा कीजिएगा। परन्तु उत्तर कौन देता है वह तो सुनते ही क्रोध से भस्म हो गये और उठकर अन्तःपुर में घुस गये। मैं भी उसी दिन से वहाँ से चला आया तो अब तक फिर नहीं गया। निदान अभी तक वही दशा है कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पत्र और मिलाप दोनों बन्द हैं। आश्चर्य तो यह है कि न अकेले वही, वरञ्च अन्य कई मित्रों ने भी कि जो सेठ वा रायबहादुर आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्यूनिसपल कमिश्नर मित्रों ने उसे अपने ही ऊपर लगाया। और मुँह फुलाया। फिर न केवल एक इसी नाम पर, वरञ्च दो चार और मित्रों के चरित्र प्रकाशित करने का भी यही फल हुआ।

श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य जी की दशा क्या कहें, उनका नाम और काम दोनों भयङ्कर हैं। प्रथम तो वे मेरी लिखी अपनी जन्मपत्री पढ़ते ही उठ खड़े हुए, और सैकड़ों गालियाँ देते मेरे घर आये और कहा कि—"ले अब तेरे उपर मारण मन्त्र का प्रयोग आरम्भ करता हूँ। परन्तु उनके प्रसन्न करने की युक्ति तो मैं जानता ही था, अतः मैंने फुसला फुसलू कर पहिले तो उन्हें गाढ़ी गाढ़ी दूधिया बूटी पिलाई, क्योंकि इसके लिये वे कभी नहीं नहीं करते; इस लिये कि माथुर चौबे हैं, फिर चटपट लाकर उनकी हथेली पर एक के स्थान पर तीन मुद्रा रख दिया, और ऐसी सुश्रूषा की कि—चिरंजीवी यन्त्र लेई तो लिया, और वे मीठे मुँह कुड़बुड़ाते घर चले गये। परन्तु जब और लोगों और

विशेषकर मेरे अन्य मित्रों ही ने उन्हें बहकाया, तब तो वे फिर चित्त हो गये। क्योंकि किसी-किसी महात्मा ने उन्हें यहाँ तक भर दिया कि देखो लिखा है कि "हम लोग तो यह भी नहीं जानते कि आप सचमुच ब्राह्मण हैं वा नहीं यों ही कई लोग उन्हें और भी अपवाद लगाते हैं"—बताइये तो क्या यह सब सच है इत्यादि इत्यादि जिसे सुन वे फिर बहुत बिगड़े, और पुनः गालियाँ बकते मेरे घर आये, और कहने लगे कि "ये बातें कैसी हैं, हाय अब न तो कोई मेरे आगे किसी की कुछ बात कहता न मेरी कोई औषधी ही करता है, तूने तो मेरा सब उद्यम ही नष्ट कर डाला। मैं किस पाजी के घर पर धरना बैठा, और किस ससुरे की झूठी व्यवस्था पर हस्ताक्षर कर दिया वा किसको पुड़िया देकर मार डाला, इन सब का उत्तर दे, और यह बतला कि अब हम खाने कहाँ जाँय।" निदान फिर मैंने उनका हाथ गरमा कर उस बेला तो किसी भाँति से यद्यपि पिण्ड छुड़ाया, तो भी वे चारों ओर गालियाँ ही देते फिरे। क्या करें चिरञ्जीवी यंत्र भी लिख पड़े जिस कारण मानो उनका हाथ कट गया। वे मारे शोच के ऐसे दुबले होते जाते हैं, कि मुझे डर लगता है कि वे इसी शोच में कहीं मर न जाँय, क्योंकि उनके लक्षण कुछ ऐसे ही लख पड़ते हैं। मुख पर मुर्दनी छाती चली आती है। अब हम लोग उन्हें प्रसन्न करने की शोच में पड़ रहे हैं।

मिस्टर निशाकरधर बैरिष्टर और तो कोई हिन्दी पत्र हाथ से छूते भी नहीं क्योंकि वे कहते कि राजनैतिक विषय को तो हिन्दी पत्र सम्पादक जानते ही नहीं, और फिर यदि जाने और लिखें तो उसका फल भी कुछ नहीं, क्योंकि गवर्नमेण्ट तो उसे अज्ञों की सम्मति समझ कर कुछ ध्यान ही नहीं देती, और पाठक प्रजा वर्ग में उसके समझने की अभी शक्ति ही नहीं। सामाजिक सुधार जिसका कि कुछ फल सम्भव है, ये लोग लिखते ही नहीं। साहित्य में इसके स्वाद नहीं आता और शेष विषय में अँगरेजी पत्रों से अच्छे नहीं। यदि उन्होंने अपना वृत्त देखा भी हो तो कदाचित् कुछ उसपर विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिये उनके सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया।

हमारे परम प्रिय और माननीय मित्रवर जनाब बेकारुद्दौला बहादुर ने जो अपना वृत्तान्त पढ़ कर हमको पत्र लिखा था यदि हम उसको यहाँ प्रकाशित कर दें, तो उनके विषय में फिर कुछ कहने की आवश्यकता न रहेगी। यद्यपि वह पत्र गुप्त है, तो भी जब हम उनकी सेवा में बहुत कुछ साहस कर चुके हैं जिस पर कि वे विशेष रुष्ट न हुए तो इतने अपराध के लिये उनकी

उदारता से यह आशा नहीं कि अधिक अकृपा के भागी बनाये जाँय। अतएव हम अपने पाठकों के लिए कड़ा जी कर के यहाँ उसे ज्यों का त्यों प्रकाशित कर देते हैं :—

"मुशफ़िक़ि नामिहबान खुसूसन् बहालि,
मुख़लिसान् व मुहब्बि नाक़द्र दान,
या दोस्ति नादान अस्तग़फ़िरूल्लाह,
व नऊज़ बिल्लाह।

बाद शिकायाति हर्काति नशाइस्ता व-आर्जू इ-गाली ग़ुफ़ा सख्त हैरान हूँ कि लिखूं तो क्या लिखूं। क्योंकि अब तुम दोस्तों से दरपर्दः दुश्मनी का दम भरने लगे जिसका कि एक ज़माना शाहिद व शाकी है। भला आप ही फ़र्माइये कि यह कौन सी इन्सानियत है कि अपने एगानों के उमूराति ख़ानगी बेगानों में बतलाए जाँय, और पर्द-इ- राज़ फ़ाश कर दिखलाया जाय। वल्लाह तुमसे हर्गिज़ ऐसी उम्मेद न थी कि मारि आस्तीन का काम दोगे। क्या हनोज़ तुम बदस्तूर साबिक़ दोस्ती का दम भरते हो? क्या तुम बतला सकते हो कि दुनिया में कहीं भी इस किस्म के दोस्त हैं, या होंगे, कि जो तुमारी तरह दोस्तों की मजम्मत करने और उनके एज़ाज़ में मज़र्रत पहुँचाने में इस दर्जे तक शौक़ रखते हों। बखुदा, बस यही कहना पड़ता है कि- खुदा दुश्मनों से न दिखलाये हर्गिज़। जो कुछ दोस्त अपने से हम देखते हैं। खैर कता नज़र इसके कि आपने मुझे ज़लील और मतऊन किया, चन्द उन शुरफ़ा की निस्बत जो मूजिबिरौनक़ और एज़ाज़ग़रीबखाना हैं, और जिनका मुझको सर्फ़राज करना महज़ उनकी निवाज़िश और इनायत का बाइस है नेहायत ही ना मुलायम करीह और नाक़ाबिल अल्फ़ाज इस्तेमाल किया है। और ऐसे-ऐसे नाज़ायज़ और नागवार इतिहास उन पर आयद किये हैं जो फ़िल्वाक़ः किसी शरीफ़ के हद्दे बर्दाश्त से बाहर हैं। आप लिखे हैं कि "खुशामदी टट्टू और चापलूस खुर्राट मुसलमानों का वहीं जमघट जमा रहता, जिससे कि गर्मियों में ठण्डा पानी और दो दम हुक्के के भी नहीं मिलने पाते, क्योंकि वे ऐसे बेहया हैं कि प्यास में सुराही की सुराही मूँ में लगा कर खाली कर देते।" फिर खाने का हाल लिखते हैं कि-"दस्तर्ख्वान लगा नहीं कि लोगों ने आस्तीन चढ़ाकर डाढ़ी सवारनी शुरू की। इधर इनके मूँ से निकला कि शुरू कीजिये, कि उधर बिस्मिल्लाह करके वे सब के सब चिराग़ पर पर्वाने से टूट पड़े × × ×।

इन मुफ़त ख़ोरे मुसलमानों की बदौलत बेचारे हमारे मित्र नव्वाब साहिब को भर पेट खाना भी नसीब नहीं होता क्योंकि यही सब चाट जाया करते हैं। × × × इन लोगों में से कई असहाब तो नव्वाब कहलाते बाक़ी कोई हाफ़िज़ कोई हाज़ी, कोई मुफ़्ती कोई काज़ी, कोई मौल्वी और आख़ून, कोई मीर साहिब और ख़ाँ साहिब कहलाते परन्तु हम इन सब साहिबों को मुफ़्ती साहिब कहते हैं क्योंकि सब के सब मुफ़्त के खाना खाने वाले हैं। × × × उन्हें न सिर्फ़ खाना वरञ्च सेरों अफ़ीम और पन्सेरियों गाँजा और चर्स भी फूंकने को चाहिए। कोई साहिब मदक और कोई चन्डू का बम्बू मूं में लगाये छींटे पर छींटा उड़ाते धुआँ धक्कड़ मचाए रहते। × × × बनज़र इन्साफ़ कहिए तो कि वह किस दर्जे की बेजा तहरीर है। मैंने माना कि चन्द अशख़ास ऐसे भी हैं। मगर क्या वे सब के सब ऐसे हैं जिनके कि आपने नाम गिना डाले हैं नाते और रिश्ते के बयान में भी आपने कुछ कम कारागरी नहीं की है। अलाहाज़ा लक़यास बाहम एक दूसरे से जू गुफ़्तगू कराई है, उसमें तो अपनी लियाक़त का तो ख़ातमा ही कर दिया है। गुया अज़ख़ुद गालीं न देकर दरपर्दः मतलब निकाला है, और इस तौर पर न मुझ से आपने सिर्फ छिपी-छिपी दिल्लगी की है, बल्कि इज़ाला हैसियत उर्फ़ी के लिए कुछ कम कोशिश नहीं की है। चूंकि मैं अपने अकसर अहबाब के नख़लि दोस्ती से ऐसे ही ऐसे, उलटे समर पाता चला आता हूँ, लिहाज़ा कुछ मसावात सी हो गई है। अगर वे लोग कैसे कुछ आज़ुर्दा खातिर हैं। इसके तहरीर की ज़रूरत नहीं, बग़ौर सोचने से आप खुद समझ सकते हैं। ख़ुलासा इसका नतीज़ा यह हुआ कि कई शुफ़ा को तो आप की तहरीर ने मेरा घर छुड़ा कर अपने घर पहुँचाया, जिनकी जुदाई का मुझे सख़्त सदमा गुज़र रहा है। बाक़ी व हज़ार इज्ज़ और मिन्नत समाजत ठहरे हैं लेकिन इस शर्त पर कि आइन्दः से सब जहाँ आप मेरे घर तशरीफ़ लाये कि वे सब के सब चल बसेंगे।

मिर्ज़ा निफ़ाक़ बख़्श साहब एम० ए० और उनके हमअस्त्र ज़ियाद-अज़-हद्द कशीदःख़ातिर हैं, और क्यों नहीं जब की आप उनके निस्बत साफ़-साफ़ यह इर्क़ाम फ़र्माएँ, कि बसशराब के दौर चलने लगे अब आप और भी अख़्टाग़फ़ील हो बहक चले, कि मियां सुनते हो रण्डियाँ और गाने वालियाँ व नीज़ माशूक़ानि महलक़ा सब के सब आज कहाँ छिपे हैं बुलाओ बुलाओ जल्द बुलाओ वल्लाह अब दिल को क़रार नहीं। बन्दा बिलकुल बे

सब हुआ जाता है। ××× ज्योंही किसी की अटखेलियों की चाल से निकली पाज़ेब और कड़े छड़े की आवाज़ कान में आई, कि आप ज़ामें से बाहर हो उठे और कहने लगे कि लिल्लाह इन्हें इजाज़त दीजिए कि मेरे संग नाचें, और मैं आप को अँगरेज़ी बाल का तमाशा दिखलाऊँगा।" बतलाइए, तो यह किस दर्जे की बेहयाई और बेइन्साफ़ी है? इलावा बरीं आप बहुत सी बातें ऐसी लिख गये हैं कि जिन्हें आप को याद दिलाने में भी मुझे शर्म दामनगीर होती है। जियादःतर मलाल इस ख़याल से और भी पैदा होता है कि आपने दोस्त कह कह कर न सिर्फ़ मुझे बल्कि कई शुर्फ़ा को ग़ायत दर्ज़े का बदनाम किया है। अभी चार पाँच दिन का ज़िक्र है कि जनाब सेठ डरपोक मल साहिब ग़रीब खान-इ-खाकसार पर रौनक़ अफ़रोज़ हुए थे, वो बहुत मग़मूम दिखलाई पड़े। बन्दे ने जो दर्याफ़्त हाल किया तो आहि सर्द भरकर कहने लगे कि" साहिब मैं क्या कहूँ आपके दिलीदोस्त जो नए एडिटर हुए हैं उन्हें और तो कोई बात लिखने को मिलती ही नहीं, हमीं लोगों की जिससे उनकी सच्ची दोस्ती का दावा था, ऐसी धूल उड़ानी शुरू की है कि कहते ही नहीं बन पड़ती। उन्होंने खास मेरी बेइज़ता और बदनामी करने में कोई क़सर नहीं रख छोड़ी। आदमी में जहाँ तक बुराई हो सकती है वह सब उन्होंने मुझी में बतलाई हैं। क्यों साहब? मैं हाकिमों के यहाँ जाकर सब की झूठी निन्दा कर आया करता हूँ? दमड़ी दमड़ी के लिये अदालत में झूठी गंगा-जली उठाया करता हूँ? मैं अपने देनदारों का काल हूँ? उनका हिसाब कभी नहीं चुकाता मैं भङ्गियों के सलाम का भूखा हूँ। और म्यूनिसिपल कमिश्नर केवल इसीलिये होता कि बिना कुछ दिये ही लिये घर का कूड़ा उठ जाया करे। आनरेरी मजिस्टरी इसीलिए करता कि बेकसूरों को कैद कर दिया करूँ? हाय! यह सब अखबार में छाप कर शहर शहर में बाँट दिया, जिससे शायद सब जगह से एक-बारगी मेरी साख उठ जाया चाहती है। मैंने उनको बहुत तसल्ली और तशफ़्फ़ी की, और कहा कि वह एक शायिराना ख़ियाल का आदमी है, यों ही उसके मिज़ाज़ में ज़राफ़त और तमस्ख़ुर ज़ियादा है जिसे आप बख़ूबी जानते हैं। न कोई मज़मून मिला होगा, इधर ही झुक पड़ा, क्या कीजिएगा और उसकी इन फ़िज़ूलियात व लग़वियात तहरीर को कौन पढ़ता और सुनता है। फिर काम ही क्या करते हैं। लाट साहिब से लेकर मलिका मुअज़्ज़मा तक की तो धूल उड़ाया करते हैं। आप क्यों

इस पर इतने रञ्जीदा हो रहे हैं। अमा सिवा इसके जैसे ही हम लोग फिर इकजा हुए कि उसके तदारूक की फिक्र की जायगी, आप खातिर जमा रखिये। गर्ज कि जो कुछ हुआ सो हुआ, मगर अब आप आइन्दा से इस क़िस्म की फिजूल तहरीर से बाज आये, और बेफाइदा दोस्तो के दिल को न दुखाये। फकत।

इतने लानत मलानत पर भी साहिब सलामत काइम रखने की आरज़ू रखने वाला आपका एक बदनाम दोस्त।

हमारे पाठक जनाब नव्वाब बेकारुद्दौला बहादुर के पत्र को पढ कर समझ गये होंगे कि आपने मित्रो के वृत्त लिखने से हमारी मित्र मण्डली मे कैसी खलबली मच गई, तथा अत्यन्त रुष्टता वरञ्च एक प्रकार का वैमनस्य फैल चला है। क्योंकि नितान्त मधुर मानस और स्नेह स्निग्ध स्वभाव जब हमारे नव्वाब साहिब ही इतने रूष्ट हैं तो और को दशा तो फिर क्या कही जा सकती है। हमने इसी प्रमाण के लिए उनके वारण करने पर भी डरते डरते उस पत्र को प्रकाशित कर दिया जिससे कि भय है कि वे कहीं और भी अधिक उत्तेजित न हो जॉय, यद्यपि हमने कदापि किसी के दोष उद्घाटनार्थ इसे न लिखा और न प्रकाशित किया है, किन्तु अवश्य उन सब के चरित्र लिखने मे कुछ अनकहनी कहानी भी कह गये जिसका यद्यपि अब पश्चात्ताप भी होता है किन्तु जो होगया है उसका शोच व्यर्थ है।

हमारे सातवें मित्र मुशी बिस्मिल्लाह गुलाम लाल साहिब भी कुछ कम रुष्ट नहीं हुए। परन्तु पनारू कलवार उपनामक परम पवित्र वर्म्मा तो अब अपने आपे ही मे नहीं हैं जो कि हमारे मुशी जी के शरीर रूपी रथ के मानो सारथी हैं।

वह अधमरे सॉप से तलमला तलमला कर मारे क्रोध के क़बाब हुए जाते हैं। मुशी जी तो हिन्दी जानते ही नहीं, उन्हे यही पढ कर सुनाते और ऐसे ऐसे विचित्र अर्थ करके समझाते हैं कि जिसमे हम लोगो के मित्रता के नाते को तो तोडवाही डाला चाहते है। फिर न केवल हमारे मुशी जी को उभारते हैं वरञ्च श्रीमान् भयकर भट्टाचार्य को भी आजकल वे बहुत ही मिला रहे है और चाहते हैं कि उन्हीं को लपेट कर कुछ अपना काम निकाले, क्योकि उन्हे वे पुराना पोप और भोलाभाला अनुमान करते हैं। यों ही और भी अनेक उत्पात की शोच मे घूम रहे हैं जिसका वृत्तान्त यदि आवश्यकता हुई तो हम फिर कभी, लिखेंगे।

निदान ऐसी दशा में हम शेष और मित्रों के चरित्र कैसे वर्णन कर सकते हैं विशेषकर जब कि उनमें कई जनों ने बहुत ही कठिनता से अपने विषय में मुझे लेखनी उठाने को भी शपथ दे निश्चय मित्रता सम्बन्ध त्याग के भय प्रदान पूर्वक वारण किया है। बिना वारण किये जिनके कुछ चरित्र लिखे गये जब वे इतने बिगड़ बैठे तो जिन्होंने बारम्बार वारण किया है उनके विषय में हठ कर के फिर लिखना तो मानो जान बूझ कर अपने से उन्हें शत्रु बनाना और विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि हम देखते हैं कि आधे से अधिक मित्र तो एक भाँति हाथ से निकल गये। अब शेष को भी उन्हीं के साथ खो देना ठीक नहीं है। सुतराम् सम्प्रति हमारे पाठक अब शेष मित्रों का वृतान्त जानने की आशा छोड़ें और जिनसे उनका परिचय हो गया है उनमें से उनका वृत्तान्त पढ़कर अपना चित्त प्रसन्न करें।

१९४९ वै० ना० नी०

बनारस का बुढ़वा मङ्गल

अवश्य यह अपूर्व और अनोखा मेला काशी के गौरव और गर्व का हेतु है, क्योंकि हम जानते हैं कि इस चाल का दूसरा मेला न कदाचित् भारत भर ही में वरञ्च सारे संसार में भी कहीं नहीं होता होगा इस कारण कौतुक प्रिय लोगों के लिये इसे एक बार देख लेना मानो एक मुख्य विश्य है, और नृत्य गान रूप रसिक प्रेमियों के लिये तो निःसंदेह यह अवसर अलभ्य लाभ का वा यों भी कहिए कि यह काल करालकाल ही है जैसा कि किसी ने कहा है "डूब जायें कहीं गंगा में न काशी वाले,नौजवानों का सनीचर है ये बुढ़वा मङ्गल"

यद्यपि हमारी आँखों में अब न यह काशी है, और न वह बुढ़वा मङ्गल, क्योंकि न वे लोग हैं, न वह समय, न वे अपने मित्र, न वह मंडली, न वह अपना सामान,न वह ममत्व और न मन का वह उत्साह है, न अपने को किसी से मिल बैठने का चाव,और न अपने में किसी का वह अभिन्न भाव, न उस उत्कण्ठित और अकृत्रिम चित से किसी का स्वागत और सत्कार की लालसा, और न अपने को उस आनन्द अनुभव को कभी भूलने की आशा है। हाँ! कुछ बहुत दिन की बात भी नहीं है मानो अभी कल काशी के अमल आकाश का चन्द्र वह प्यारा हरिश्चन्द्र जिसे लोग भारतेन्दु भी कहते हैं, प्रकाशित था, और काशी प्रभा-पुञ्ज-प्रकाशी सी दिखलाई पड़ती थी, जो उसके अस्त होने से आज अंधकार राशी सी हो गई। यद्यपि बड़े बड़े भारी और ऊँचे स्थान के रहने वाले नक्षत्र तुल्य असंख्य सज्जन, और सूर्य तुल्य अन्य अनेक महानुभाव अद्यावधि यहीं विद्यमान हैं, परन्तु वह प्रकाश, वह मनोहरता, वह सुधा-सिञ्चन-शक्ति कहाँ है। नवीन वा सामान्य जनों के लिये काशी वही है,बुढ़वा मङ्गल भी वैसा ही होता है, परन्तु हाँ जिसके चित्त पर उस चन्द्र के चन्द्रिका की चमक पड़ी है, और सुधा-सीकर का स्पर्श हुआ है उनके लिये अवश्य ही वह बनारस बिना रस है। यों तो अब भी राजघाट से अस्सी तक उसी भाँति सजी धजी सङ्ख्यावधि नौकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु प्रायः अचल भाव से भोसलाघाट पर स्थित

रहने वाली वह नौका जिसकी लाल पताका फहराती हुई, 'मङ्गलायतनो हरिः' की पुकार करती थीं कहाँ हैं, जिसके चारों ओर दर्शकों से भरी असंख्य किश्तियाँ घेरे पड़ी रहती थीं और जहाँ निरन्तर आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता था, जिस पर बैठे आनन्द निमग्न लोग भूख प्यास भूले, निद्रा की शपथ खाये, यह नहीं समझ सकते थे कि कब सन्ध्या वा अर्ध रात्रि हुई अथवा प्रभात वा दोपहर हुआ। वहाँ हर घड़ी नई समा बंधी रहती थी, और कोई क्षण ऐसा न आता कि जब उठने वा सोने को जी चाहता, सच तो यह है तायफों के नाच में पार्श्ववर्ती दोनों भांड़ों की प्रशंसा में, जो क्रमशः इस रूप में होती थी, "यह चाल ही कुछ और है," यह बात ही कुछ और है, यह तर्ज ही कुछ निराली है, यह "कैड़ा ही कुछ जुदागाना है" "यह रविश ही कुछ और है," यह चाशनी ही कुछ दूसरी है," सबको मुग्ध करती थी यह दशा कदाचित् इनकी दशा का यथार्थ चित्र न हो परन्तु भारतेन्दु की सभा पर तो यह पूर्णतया चरितार्थ होता ही है।

सुन्दर सुसज्जित उस विशाल नौका पर बीसों तायफों का जमघट जिसमें न केवल रंडियाँ ही, वरञ्च भांड़ और कथक तथा अन्य अनेक प्रकार के गुणियों का संग्रह रहता कि जिसमें कोई भी काटने वा छाटने योग्य नहीं जो खड़ा हुआ बस सबके मन को अपने हाथ में लिया। यदि किसी वार-विलासिनी की रूप राशि और सौकुमार्य मन को विह्वलकारी, तो किसी के यौवन की शोभा हावभाव और कटाक्षादि चित्त को चूर्ण करने में समर्थ, यदि किसी का गाना कहर का, तो दूसरे का बताना ज़हर का असर रखता। यों ही किसी के नाच की गति देख मन की और ही गति होती, और प्रत्येक तोड़े दिल दर्पन को तोड़े डालते थे।

किश्ती के किसी कोने से नालों की नदी बहती, कहीं लोग कुरंग कटाक्षों की चोट से लहालोट, तो कोई प्रेम के प्याले से लोटपोट, कोई गुणी रसिक जो इसमें डूबता, तो कोई प्रेमी जीवनाशा से ऊबता था, और शेष टकटकी लगाये, वाह वाह की रट लाए। सुधबुध गँवाये, लिखित चित्र से स्थित हैं।

दर्शकों पर यदि दृष्टि दीजिये तो कदाचित वहाँ कोई व्यक्ति निर्गुणी वा मूढ़ मस्तिष्क दृष्टिगोचर न होगा, वरञ्च एक से एक पण्डित रसिक, धनी, मानी, प्रेमी और विद्वानजन विद्यमान और न एक विद्या वा केवल, एक ही नगर वा वेश वा स्वभाव के प्रत्युत सर्व देशकाल और चाल के, सज्जनों का सारांश सामने सुशोभित रहता इसी कारण कहीं का कैसा भी किसी विषय का गुणी वा

पंडित वहाँ क्यों न जा पहुँचता, अवश्य ही वह अपने मेल के दो चार मनुष्य ऐसे पाता कि जो एक साथ कहीं अन्य स्थान पर कदाचित् संयोगात ही मिलते, अतएव सब प्रकार के गुणी और विद्वानों का यही विश्वास रहता कि यहाँ मेरे सूक्ष्म से सूक्ष्म, गुण के ज्ञाता समूह विद्यमान हैं। विशेषतः उसकी निज मण्डली तो मानो विक्रमादित्य वा अकबर के नवरत्नों का स्मरण करानेवाली थी, जिनमें दो चार तो ऐसे बहुदेशी गुणाकर थे कि जिनका वर्णन ही नहीं हो सकता इसी कारण सामान्यतः सर्बी विषयक विशेषतः रस, राग, अनुराग और काव्य का तो मानो वहाँ कोष ही खुला रहता।

उस सभा में सभापति का कोई आसन विशेष नहीं रहता था, और मुख्य वा प्रधान स्थान पर भी प्रायः मालिक मजलिस नहीं बैठता था, वरञ्च कोई कोरा प्रतिष्ठित, वा यथार्थ प्रतिष्ठित और वह चन्द्र किसी नियमित स्थान पर नहीं,वरञ्च जब जहाँ जी चाहा वा अवकाश मिला आ सुशोभित हुआ जैसे कि सच्चा चन्द्र एक स्थान पर स्थित नहीं रहता योंही वह उस सज्जनों की सभा में विशेष वस्त्राभूषण वा आलड्वाल से नहीं, वरञ्च असंख्य तारागणों के मध्य स्वतः चन्द्र के समान सबसे पहचाना जाता था। किसी ने सच कहा है कि

"नहीं मुहताज ज़ेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।
कि जैसे खुशनुमा लगता है देखो चाँद बिन गहनें*"

प्रिय पाठक यह केवल कविता नहीं, हमने भी उसे यों ही बे किसी के बताये पहचाना था, जैसा कि—

मोहनी मूरति मैन मई अरु माधुरीं या मन माँहि अमन्द है।
सूधे सुभाय सनेह लसै त्यों बसै रसहू को तहीं छल छन्द है॥
मूरतिमान सिंगार हिए घन प्रेम विहार सदा नँद नन्द है।
साँवरी सूरति वेष विचित्र ते जान्यों परै कै यहै हरिचन्द है॥

उस मजलिस में यह न था, कि तायफ़ा खड़ा हो कर मन माना जो चाहे नाच गा कर समय विताये, वरञ्च गाने में समय के अनकूल राग रागिनी,सच्चे स्वर और साँचे की ढली लय में होनी तो, आवश्यक ही है, आगे तान बाज़ी और गले के दम खम का दिखलाना तो योग्यता-नुसार प्रसन्नता का हेतु हैं। भाव प्रदर्शन भी उचित और आवश्यक मात्र ही होता योंही नृत्य में गति और तोड़े ताल और टकसाल के ढले होना परमावश्यक था। हाँ इसके उप-

---

*गहने = ग्रहण

रान्त निपुणता और पाण्डत्य प्रदर्शन की गणना विशेषता में होती। इसके अतिरिक्त गीत में भाषा, भाव, तथा छन्द भी समय समाज और श्रोताओं की रुचि के विरुद्ध न होना चाहिये। क्योंकि कहीं कुछ भी इसके विरुद्ध होते वहीं अनेक नासिकाएँ सिकुड़ जाँयेगी, बहुतेरी भौंहें टेढ़ी होंगी, चन्द चींवजबीं होंगे, और उस चन्द (चन्द्र) का चित्त चञ्चल होते वा नजर बदलते ही नाजिर की नजर किसी दूसरे ही के उठाने पर उठेगी। इसीसे जो गायकी वा नर्तक वहाँ आ खड़ा होता अपने गुण की परीक्षा सी देता और प्रत्येक मधुर तान यथार्थ भाव और तुले तोड़े की उचित दाद पाता और विलक्षणता आते ही वाह, वाह, की झड़ लगी देख आनन्दोन्मत्त दशा को पहुँचता था, क्योंकि वह ऐसी सामान्य सभा तो थी ही नहीं, कि सुफेद पोश गँवार वा माननीय मूढ़ लोग व्यर्थ भी तबलचियों की भाँति सिर हिला हिला कर वाह-वाह करते रहें, और साथही साथ साथियों से धीरे धीरे कहते भी जाँय कि---"तनिक बिना वाह वाह किए गवैया का दिल नहीं बढ़ता।" प्रायःदेखा गया है कि अनेक अपूर्व गुणियों के मुजरे के समय तो यह दशा भी पहुँचती कि उनके गाने बताने वा नाच के गति को समझ कर दाद देने में केवल दो ही चार के मुख से वाह निकलती, वा सिर हिलता। यों ही कभी तो एक के मुँह से वाह निकली, तो कभी दूसरे के, कभी सब के सब चुप सोच रहे हैं, और समझने पर प्रसन्न हो कर एक ने कहा कि वाह, तो उधर झुक झुक कर सलाम होने लगे, और आवाज आने लगी, कि खुदा हुजूर को सलामत रक्खे, कभी इधर गज़ल का पहला मिसरा गाया गया और उधर मिसरये सानी के काफ़िये बतलाने लोगों ने आरम्भ कर अपनी योग्यता की परीक्षा सी देने लगे। कभी कोई पास होता है तो कोई फेल, कभी भाव बताने, अर्थ समझाने पर नुक्तचीनी होती, तो कभी ठुमरियों और गज़लों के शेरों पर इस्लाह दी जार ही हैं, कभी जोड़ की कविता वा नवीन रचना होती जाती, और कभी उर्दू के शेरों पर हिन्दी के छन्दों ही में बात चीत हो रही है और सभा इस भाँति अपनी अलौकिकता प्रमाणित सी कर रही है।

पाठक! मैं क्या कह गया, और आप ने क्या समझा, क्या यही, कि सुन्दर नाचना, सुन्दर गाना और सुन्दर बताना; और विना इसके वहाँ ठिकाना लगने का नहीं! मैने प्रायःदेखा कि न कुछ विशेष सुन्दर गाना है, न बताना; और नाचने का तो नाम कौन लेगा, अरे राम राम शिव शिव कहीं कुछ भी नहीं बस जो एक विद्युत प्रभा सी आकर आगे खड़ी हो गई तो

सब की आँखो मे चकाचौंध सा आगई, गाने मे उस कन्दर्प कामिनी के कोकिल कण्ठ का कल आलाप, सप्त स्वर के स्वाद को सहज ही सामान्य बनाता, ग्राम के नाम को भुलाता, और मूर्छना को मोह मूर्छा से मूर्छित तथा लय को लय कर, केवल स्वयम् मूर्तिमान रागिनी सी उसे प्रतीत करा देता। उस ससि मुखी सुहासिनी का सामान्य स्वाभाविक विलास सुधासीकर सा, सुख दे समस्त भावो को तुच्छीकृत करता, उस वङ्क भौंहौ का सिकुड़ना और मधुर अधर का मुड़ना, मानो महा प्रलय का उत्पात आरम्भ होना था। उन चञ्चल लोचनो का हेर फेर बडे बड़े चतुरो के चित्त को चूर चूर कर धूर में मिलाता, और मन्द मुस्कराहट माना मनुष्य के मन को मोह मानस मे बलात डुबोती थी, फिर ऐसी अवस्था उत्पन्न होने से कहिये तो किसे गाने और बताने के गुण दोष की परख का का ज्ञान रहता, जबकि वह समस्त सभा पूर्वोक्त व्यापार रहित हो केवल खिंचे चित्र के स्वरूप मे आ जाती, और न एक, वरञ्च एकही रात मे अनेक बार ऐसे अवसर आ उपस्थित होते फिर न केवल उतनी ही बेर तक कि जब तक उस अद्भुत रस का अभिनय आरम्भ रहता, वरञ्च पश्चात् भी उस विष का प्रभाव बना रहता और अनेको को साँप की लहर सी आया करती। कहीं कलकत्ते से आये बाबू साहिब बिलख रहे हैं, "कि बापरे! बाप ये क्या रण्डी है, नाकी एक **दो म म शाक्खात** रोती हाम मे तो एशा कोभी देखा नही, ये बाई जो क्या बनारस का है।" जिसका उत्तर एक लखनऊ के नव्वाब साहिब देते हैं, कि अजी नहीं ये तो लखनऊ की है, मगर बनारस के भी कई कयामत के नमूने हैं, जरा उनकी बारो भी आने दीजिये, पर जनाब! मैं तो उस बङ्गालन के होठ के मरोड़ पर मर रहा हूँ" निदान अब यहाँ किसकी कौन कौन सी दशा दिखलाई जाय, कुछ इसीसे अनुमान कर लीजिये। समय के नियम का यह हाल कि यदि मङ्गल की भैरवी और कही आठ बजे समाप्त हुई तो यहाँ ११ बजे दिन को, दङ्गल का तमाशा सब जगह दस बजे रात समाप्त हुआ, तो यहाँ आठ बजे दिन को, और कही यदि तीन दिन मेला रहा तो यहाँ पाँच दिन तक तबले खडकते रहे। फिर यह भी नहीं कि केवल इसी रग मे सारी सभा सदा रगी समझिये, वरञ्च, अनेक दूसरी विद्या विषयक जो वार्ताएँ आरम्भ हुई, तो पहरो बीत गये। बहुतेरा को इसका भी ज्ञान नही, कि कहाँ नाच होता है, और कहाँ गाना।

सुख सामग्री के सञ्चय की यह दशा कि एक नौका यदि सब प्रकार भोजन पान की सामग्री सहित अलग खडी है, तो एक शयनागार का कार्य देती; कोई

एकान्तालय के लिये नियत और अनेक यथा ईप्सित स्थान पर पहुंचाने के लिये है, सारांश उस सभा में बैठने वाले विशेष व्यक्तियों के आवश्यक कृत्य के दूर करने को वहीं सब सामग्री सदा प्रस्तुत रहा करती। फिर कहिये कि उस मण्डली को जिसने यह अलौकिक लीला देखी, उसे फिर कहीं क्यों आनन्द आने लगा। होली के दिल्लगी भरे पत्र ही में लिखा आता "मंगल में अवश्य आइयेगा, घर की किश्ती पर अबकी विशेष आनन्द की आशा है"।[1]

चार दिन प्रथम न्योते का छपा कार्ड पहुंचा दूसरे दिन फिर पत्र आया कि नहीं-नहीं यह कदापि नहीं हो सकता आप न रहेंगे तो फिर भला आनन्द ही क्या आयेगा, चार दिन में कौन हर्ज हुआ जाता है, आप को हमारी क़सम अवश्य ही आइये। मज़ा किरकिरा न कीजिये। अब तार पर तार आने लगे। लाचार हज़ार हर्ज करके जाना ही पड़ता था। वहाँ पहुंच कर सुध बुधगवाना ही पड़ता, और चार दिन के बदले सोलह दिन काशी में बिताना ही पड़ता था। अस्तु इस चन्द्र[2] के अस्त होने पर आनन्द की आशा से अब उस अँधेरी काशी में बिना किसी आवश्यक कार्य्य के अनुरोध से जाने की इच्छा क्यों होने लगी, और फिर बुढ़वा मङ्गल के देखने की इच्छा का तो प्रसंग ही क्या है। संयोगात् एक बार इस अवसर पर पहुँच भी गये और कई एक मित्रों के आग्रह से मेला भी देखा। एक मित्र ने बड़ी तय्यारी से अपनी किस्ती भी सजाई थी। परन्तु केवल बेगार सी टालनी पड़ी, आनन्द का लेश भी न मिला, और मन को यही मान लेना पड़ा कि बस इस मेले के गौरव को हमारे मन से भुलाने वाला कदाचित यही अन्तिम मङ्गल का मेला है।

हमारे पाठकों में से अनेक जन कह उठेंगे कि आपने इस वर्ष के मेले का वृत्तान्त सुनाने का न्यौता दिया था, यह प्राचीन पचड़ा परसना क्या आरम्भ कर दिया। हाँ, ठीक है 'भरी है सीनये सोज़ा में आतिश इस क़दर ग़म की! कि ठंढी साँस भी लूँ तो मेरे मुँह से धुआँ निकले"। बहुतेरा चाहते हैं कि उन बातों को भूल जाय, पर जिह्वा सभी अवसरों पर कुछ न कुछ उसी मंडली की चर्चा छेड़ बैठती है। किन्तु बुढ़वा मङ्गल के साथ पुरानी कथा के मेल मिलन से यहाँ कुछ अधिक अनुचित नहीं हुआ एवम् आपने एक ऐसे अपूर्व जमघट का वृत्तान्त भी जान लिया कि जो केवल इसी लेख द्वारा सुलभ था।

---

१ भारतेन्दु जी ने ही यह लिख कर भेजा था।

२ भारतेन्दु जी।

अस्तु अब नई ही कथा सुनिये, इस बार भी मैं न मेला देखने वरञ्च केवल वल्लभकुल के अनेक गोस्वामिस्वरूपों, विशेषतः काँकरौली के श्री मन्महाराज टिकैत श्री गोस्वामी श्री बालकृष्ण लाल जी महाराज के दर्शनार्थ ही गया था। क्योंकि श्रीमान् के अनेक गुणगण श्रवण कर, कई वर्षों से चित्तमें उनके चरण दर्शन की अति उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी, और उनके अनेक दिनों से श्री काशी में विराजमान होने पर भी यह उग्र अभिलाषा न सफल हो सकी थी। इधर बुढ़वा मंगल के दिन भी आये, और उधर एक मित्र का पत्र भी आया, कि काँकरौली के महाराज भी इस बार मङ्गल कराते हैं जिस कारण और भी अन्य कई गोस्वामि स्वरूप यहीं विराज मान हैं। यदि इस अवसर पर भी आप न आए तो निश्चय पूरे अभागे समझे जाइएगा। मैंने इसे सच समझ सोचा कि चलो इस अवसर पर न एक वरञ्च अनेक गोस्वामि महाराजों के वृन्द का दर्शन होगा, बुढ़वा मङ्गल का मेला भी जिसे केवल अब बुढ़वा जान निःसार समझ लिया है, देखैं तो इस बार कुछ मनोहरण का प्रदर्शन कर पाता है? क्योंकि जिनके चेलों की आनन्द गोष्ठी का आनन्द पाकर चित्त अपनी ऐसी सम्मति स्थिर किये हैं उनके गुरुओं के इस सुवृहत् समारम्भ की शोभा देख लेनी भी परमावश्यक है। विशेषतः मुख्य रूप से जिस रूप का दर्शन हमें इष्ट है, उसकी इस अवसर की झाँकी देखनी भी मुख्यतर है।

निदान यह विचार उठा और स्टेशन पहुँचा, हमारे नगर*के लोग भी तो अद्भुत बेफिक्र हैं, प्लेटफार्म पर एक चुना मेला सा लगा मिला नये उमङ्ग के लोग बाग़ बाग़ से टहलते दिखाई देने लगे, भाँति भाँति के स्वरूपों, पर भाँति भाँति की लालसाएँ लहकतीं कोई किसी को तकते तो कोई किसी से बहक बहक कर बातें करते, कोई किसी से नया साथ ज़ोड़ते, तो कोई किसी का बन्धा संग छोड़ते और नया मेल मिलाने की चिन्ता ही में थे, कि मेल ट्रेन आ धमकी लोग लगे धमाधम गठड़ियाँ पटकने। अपने भी चट पट टिकट ले ज्योंही गाड़ी के निकट पहुँचे कि एक और ही विकट साथ मिला जिसने सबका संग छुड़ाया। अस्तु गाड़ी पर चढ़े, पहाड़ी[१] पहुँचे, चुनार[२] छुटा वह भर्तृहरि का गढ़ भागा सा चला जारहा है, वह नारायनपुर[३] गया और यह मुग़लसराय[४] पहुँचे।

---

*मिर्जापूर १ से ४ तक के नाम सब मिर्जापूर से बनारस जाने के मार्ग के स्टेशन हैं। × यह चुनार से होती हुई विन्ध्यगिरि की श्रेणी है।

२ इनका नाम गजराज सिंह जी था।

वाह आज तो स्टेशन दाल की मडी को मात कर रहा है इधर रडियों का समूह तो उधर दर्शको का जूह, इधर मिर्जापुर और प्रयाग, तो उधर पटना और कलकत्ते की चालान। वाह यह छमाछम का कलख सुन कैसे लोग शीघ्र गति से चलने लगे हैं। कोई खीस बाकर पूछता है कि "माशा तुमार नेवास कोता" एक बोलताकि--"माशा नही माशी कहो नही दन्त सकार क उच्चारण करो"--"भाई जिसका जैसा नाता हो" हाँ माशा तुमार नाम की आछी" "ओवीर-और ये "हीरी दाशी" आय हाय ? यह अवीर और यह होरी। होरी-होरी यह तो मन मे होरी लग गई" मै इस लीला को देख जो निकट पहुँचा, तो देखता हूँ कि मेरा एक **लखनऊ का मित्र** यो बावला सा बेहाल घूमता बैतलमाल बन रहा है, मुझे देखते ही वह दौड कर आलिपटा, पूछा कि भई तुम कहाँ, "कहा कि जहाँ जान वहाँ" दो दिन बहुत दिल को समझाया, मगर उसने एक न सुना, और यहाँ लापटका। आखिर आ पहुँचा। बस चढो चढा नही गाड़ी खुलती है, का शब्द सुन हम लोग भी टेल पेल कर रेल पर चढ बैठे। हमारा लखनौआ मित्र यद्यपि फर्स्ट क्लास का टिकट लिये था पर कूद कर थर्ड क्लास मे यह कहता हुआ जा घुसा कि ऐसी अक्ल पर खुदा की मार है। तुम पर तो शामत सवार है मियाँ आज तीसरे ही दरजे पर बहार है खैर चलो अगर जीते जागते बचे रहे तो राजघाट पर फिर मिलेंगे। इतने मे सीटी बजी रेल चली, हम लोग अपने उस मित्र की इस विचित्र दशा पर हसते हसाते राजघाट पहुँचे।

देखते हैं कि राजघाट पर हमारे मित्र ही का राज्य हो रहा और एक उसी के नाम की तूती बोल रही है। उनके नौकरो ने पहले ही पहुँच बीसो बगियाँ किराए करके बयाने दे दिये और भाडे की गाडियाँ उन्हीं की ओर से सब को बॅट रही है, जिसके लिये अनेक सुमुखियाँ तो गिड गिडाती और कई सुश्रूषा करने पर भी इहसान से झिझक रही हैं। किसी को पान दिया जाता, तो किसी से वादा लिया जाता है मानो रेल से उतरी अधिकाश रडियाँ इन्ही के बरात मे नाचने आई हैं। निदान किसी किसी भाँति हम लोग अपने उस अनखे मित्र को पकड कर अपने साथ ले चले और एक बनारसी मित्र के घर जा पहुँचे देखते हैं कि लोग गुलाबी पोशाक पर गुलाब का इत्र लगा रहे हैं, हम लोगो का पहुँचना क्या था मानों हाली के अखाडे का आना था। अहा, हा, हा, हा वाह जनाब केवल आपी के इन्तजार मे हम लोग बैठे हैं "अभी निपोलियन के प्रश्न ने उत्तर दिया, कि वह आये और धन्य। कि आप यह

आये। खैर बूटी छनी रक्खी है, पीते जाइये, और चलते जाइये, क्योंकि वक्त बहुत तङ्ग है" और यह कह सबसे कुशल प्रश्न पूछें, गृही मित्र तो हम लोगों के आतिथ्य में लगे, और हम लोग अपने पथ श्रम को दूर करने तथा चित्त को पुनः भला चङ्गा बनाने के यत्नमें, कोई भङ्ग पीता, तो कोई हाथ मूं धोता कोई नहाने तो कोई कुछ खाने लगता। निदान जब तक स्वस्थ हो कपड़े, पहनने लगे तो ज्ञात हुआ कि वह लखनऊ निवासी चुल बुले चित्त वाला मित्र तो धीरे से एक गाड़ी पर बैठ कहीं खिसक दिया कुछ बिलम्ब तक तो वाट देखनी पड़ी पर भला वह क्यों आने लगा। हाट देखा, बाट देखा, और एक एक घाट छान डाला, पर वह न मिला और न मिला। अस्तु निराश हो, मेला देखने का सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा और एक नौका भाड़ा कर राज-घाट से अस्सी तक का चक्कर लगाना आरम्भ किया।

काशी के पूर्व छोर से लेकर पश्चिम पर्य्यन्त के प्रत्येक घाटों पर जो अनुमान ढाई तीन कोस के विस्तार में होंगे, काशिराज और नगर प्रतिष्ठित महाजनों से लेकर, मदन पुर के जुलाहों तथा श्मशान के डोमड़ों तक की नौकायें निज शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुसज्जित देख पड़ने लगीं। संख्या भी उनकी और वर्षों की अपेक्षा अधिक है कोई पटैले पर बाँसोंके ठाट ठाटे हैं, तो कोई घटहा पाटे हैं, कोई बजड़े पर झाड़ फानूस की सजावट कर नाच नाच देखता, तो कोई मोर पङ्खी सजाये अपना अखाड़ा ला खड़ा किये हैं, किसी ने कोई छोटा मोटा कटर भाड़े कर रंगीन चोब वा तूल लपेट कर गोटे की लहरिया देकर झालरदार चाँदनी तान चार ठो हाँडी नाँद जला कर उजाला किये अपनी सूरत और झलामल कपड़ों की सजावट ही दीखाता घूमता, तो कोई एक पनसुही पर सवार नांच वाली नौकाओं की ताक में डोलता फिरता मानों मेले में भिक्षा सी माँग रहा है। विशेषतः काशी के बड़े नाम और घराने वाले महाजन और रईस प्रायः इसी श्रेणी में रहा करते हैं क्योंकि गाठ से रुपया खर्चा जाता नहीं और फिर शौक इतना कि बिना मेला देखे भी नहीं रहा जाता। कोई साल भर तक इसी लालसा से थानेदारों से साहब सलामत किये, मुफ्त में पुलीस की किस्ती पर चढ़े मेले का प्राण सा निकालते घूमते हैं। कोई दो चार लैम्प जलाये दस पाँच कुर्सी बिछाये काली पतलून और जाकिट जमाये गड्डामियरी सूरत बनाये मुंह में चुरुट सुलगाये, धुआँ कस की समा लाये, गिटपिट गिटपिट अंग्रेजी बोलते, साहिब लोगों का स्वाँग सजाये, अपना ही तमाशा औरों को दिखला रहे हैं। कोई

एक लालटेन बीच में रक्खे बिसात बिछाये, शतरञ्ज के मुहरों के कटने के रञ्ज में डूबे रात काटे डालते। तो कोई ताश के पन्ने अपने प्रारब्ध के पत्रे से उलट रहे हैं। कोई गनीमत का मौका हाथ आया देख अचाञ्चक अपने यार वफादार को पाकर किसी अकेली किश्ती के कोने में एक एक्के की ज्योति में उस दिलवर के नूरानी मसहफ़े रुखसार को कुरान शरीफ़ के समान ध्यान लगाये मानो पढ़ रहा है, और उसके हर खतों खाल पर गुलिस्तां और वोस्तां को वार फेर कर फेंकता, शेष संसार को निस्सार जान मेले से भागता, भगवान् की विलक्षण रचना चातुरी के पहचानने में असमर्थ हो तनमय दशा को प्राप्त हो रहा है, जिसकी आँखों में यह मेला केवल एक निर्जन वन के सादृश्य रखता है। कहीं मिलकर लोढ़ियाँ बजतीं और किसी डोंगी पर बूटी छनती, कहीं गाँजे की दम लगती और तान उड़ती है। कहीं होली से जलते भट्टे पर छनाछन पूरियाँ निकालते "गरमागरम कचौड़ी मसालेदार" चिल्लाते धुआँ धक्कड़ मचाते, हलवाई लोग अपनी दूकान की नौकायें बढ़ाते चले जाते, और भूखे परदेशी मेला देखनेवाले शिकारी कुत्ते के समान अपनी नौका दौड़ाये लपक रहे हैं। कहीं बनारसी गुण्डे और अक्खड़ों की बोली टोलियाँ उड़तीं—क्या सिंघा!—"अचूका तो राजा"—"ओर कैसन दवल जात होव:"—"कहाँ तोहरे नावै के तौ कट्टर भिड़ौले चलल आवत हई।" रंग है झञ्झर इतो भारी भर्राटे कै आवाज छेड़ल्य:। कहीं कोई चिल्लाता कि "तनिक रोकले रह: हो:। नाव बढ़ जायद्य:"—"अरे काहे भूरै नाव नाव चिचियायेल्य: बच्चू अबहियैं जहाँ चार डांड़ कसलौं कि पल्ले पार कै दिहल"

"देखत हौअ: कि नाहीं वे रङ्ग बोलो बोलत डोंगी सटौले चलल आवत बाड़ैं, सूझत न ई नाहीं जनतैं कि हमन बड़े बड़े गुण्डन के चेहरा बिगाड़ दिहले हई।" किसी नाव पर रंडियाँ विविध भाव बतला-बतला कर गा रहीं हैं—

चलो सखी रे, मलिया की बगियाँ हो रामा।
फुलवा मैं बीनौं हो भरल्यूं चगेरिया हो रामा०
आइ गयलो रे मलिया रखवरवा हो रामा।

बस इसका बना भाव जिसने देखा वही जानें अथवा—

"नैना भरि के ही देखहू ना पउलिउँ हो रामा"—'तोरे करनवाँ होवै जोगिनियाँ हो रामा।"

"चैत की नींदिया रे अखिया अलसानी हो रामा, तोरे उपरॉ रे जियरा मोरा जाला हो रामा"

इत्यादि-इत्यादि बनारस की अनोखी लयदारी के सग इस चैती गान की तान इस समय प्रेमी राग रसिकों के कान मे क्या काम करती है, यह केवल अनुभव का विषय है। कही कथक थिरकते तो कहीं कलावत, भॉड रागिनी गाकर माडवारियो को भी मस्त किये देते, कही भाडो का तालियॉ बजती, तो कहीं कव्वालो की नकले होती, कहीं गवॉर लोग तन भड भड लगाये, तो कही जोगीडे होली मचाये भडतल्ले की ताल पर ललकार रहे हैं। "कि हाँ जोगी जी, हॉ जोगी जी "तेलिया नाला बहै पनाला राजघाट पर काई, जहॉ तुमारी बहिन बिआही तहॉ हमारा भाई॥ रे पर देख चली जा, जानी पर हॉ।" वे इसी के बीच बीच अनेक आवश्यक और ऐतिहासिक बातें भी कहते जैसे कि—"दयाबाद दर्यावकिनारा खुर्दाबाद निशानी, अकबर शाह ने किला बनाया जमुना जी का पानी"। इत्यादि इत्यादि—

यह सब लीला देखते दिखाते कई चक्कर लगाते अपने उस भूले मित्र को ढूढते हम लोग थक गये परन्तु उनकी झलक भी दिखलाई न पडी। कैसे लगे "पता यॉ उस बुते काफिर का हैरां हूँ,

बनारस मे हजारां मन्दिरा लाखो शिवाले हैं।"

इस भारी मेले के झमेले मे किसी भूले भटके अकेले दुकेले का पता चलना कुछ सहज नहीं।

बस इसी हेर फेर और सोच विचार मे प्रभात वात बहने लगा, पूर्वदिशा अपने प्रिय प्रभाकर को पाकर मद मद मुस्कुराना आरम्भ करने लगी लजा वश ज्यों ज्यों तारावलियो ने अपना मूॅ छिपाना आरम्भ किया, कि इधर फर्राश लोग नौकाओं के झाड फानूस की बत्तियॉ भी बुझा चले। जिस तम को ये असख्य ज्योतियॉ न दूर कर सकी थी, भगवान भास्कर की दो चार किरनो ने आकर नाशकर दिया। अब कुछ औरही शोभाहो चली, रात बीत गई दिन दिखलाई देने लगा उजेले मे दूर-दूर की भी हर ओर नौकाए पह-चान पडने लगी। घाट छोड़ नौकाओ के झूमड धारा मे पड़ चले, सब राग रागिनियों का गाना बन्द हुआ। अब केवल भैरवी ही राग का सनाका सुर सारे सुरसरिधार पर सुनाई दे रहा है। —कहीं—"पनिघटवां रोके ठाढो"

"तड़प तड़प सारी रैन गुजारी करवटिया लेन दे॰"

"सैयाँ आवन की भई बेरियाँ री,गुइयाँ दरवजवा लागी रहूँ" 'अब मोसो प्रीत क्यों लगाई रे, सावरे कंधैया, मैं तो गाली दूंगी तोकों छाँड़ दे कलाई" "कहीं,—आजकल जोशे जुनूं है तेरे दीवाने पर। "वज़ाहिर तो लगावट हम से वो हर वार करते हैं, मगर दिल में खुदा जाने किसे वह प्यार करते हैं"—"हमारीं आह की तासीर देखो; "हे शरुव शितमगर मेहिलकात् कौन है" व मेरे पहलू से उठ गये हैं इधर की दुनिया उधर हुई है। कयामत आई है या इलाही य, आज कैसी सहर हुई है।" कहीं कंहरवा मचा है, और मुग्धा वेश्यायें टोपी पहने कमर लचका लचका कर अपने प्रेमियों को हलाल सी करती ,गाती—"मोर मातल कहंरवा जाल बीने जाल०"—"मुह चूमैं न देवै बिना झुलनी" " न जा बालम परदेसवाँ मोरे राजा" "लरिकैयाँ नदान लरिकैयाँ नदान" "हाँ हाँ रे कटरिया नैनों की लागी रे कटरिया"---"कहू सेजरिया पर रात रही। माथे कै वेंदिया जात रही" और फिर कहीं---"वैराग जोग कठिन ऊधो हम न करब हो"---"हे गोबिन्द राखु शरण अब तो जीवन हारे०"---नाम को अधार तेरे नाम को अधारा" हो रहा है, मानो रात भर के चञ्चल चित्त को फिर स्थिर करने वा शृंगारादि रस श्रवण से उत्पन्न सांसारिक प्रेम विकार को शान्ति रस सलिल से परिमार्ज्जित कर सज्जनों के मन को अब पुनः पवित्र कर पारमार्थिक कर पवित्र प्रेम के योग्य बना उस सच्चे प्रीत-पात्र की प्रीति का महामंत्र सा दिया जा रहा है। अब सच्चे रसिक भला यह सुनकर कब ठहर कर फिर कोई दूसरा शब्द सुनने को बैठे रहते, निदान चुनिन्दे चतुर चलने लगे, अपने लोग भी उठे और अपनी नौका हटा, घाट की ओर प्रस्थान किया।

आहा आहा हा उत्तरा विमुख होते ही मानों उत्तरा खण्ड ही में पहुँच गये। जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है एक अद्भुत पवित्र दृश्य दृष्टिगोचर हो रही है, मानो आज काशी कैलाश का विलास कर रही है। श्री मन्दाकिनी के सुचिक्कण शिलासोपान विनिर्मित विशाल घाटों के ऊपर प्रस्थरमय असंख्य सप्तभूमि हर्म्य, प्रासाद और मन्दिर पर्वत श्रेणीके समान अनुमान होते,जिनकी सुधा धवलित अट्टालिकायें और संगमरमरके बंगले हिमाचलके हिमाच्छादित शृंग की सी शोभा धारण किये हैं। शिवालयों के उच्चतम भागमें नभ स्पर्शी स्वर्णादि धातु विनिर्मित कलश और कंगूरों के वृन्द त्रिशूल धारण किये, मानों हाथ उठाये कह रहे हैं—कि त्रिताप शमन कारी, त्रिजन्म पाप हारी, स्थल त्रिलोक में केवल एक यही त्रिलोचन त्रिपुरारि पुरी ही है, और सुनहरी

पताकाएँ फहराती साहङ्कार मानो आर्य्य धर्म के अटल राज्य के प्रकर्ष प्रताप को सूचित कर रही है। अनेक सुविशाल देवालयों में प्रातःकालीन अर्चन और पूजन में बजते शङ्ख भेरी घण्टा घड़ियाल का कल तुमुल दशों दिशा में व्याप्त हो मानो हमारे सनातन धर्म की विश्व विजय बधाई सी सुनाई देती है कहीं तान पूरा मृदङ्ग और झाँझ बजते कीर्तन और भजन होता, जिनके द्वारों पर भैरवी भैरवी की नौबत झड़ती मानो इस नित्य मङ्गलमय स्थल को बतला भूलों को चैतन्य करती हैं, कहीं ब्राह्मणों के लड़के वेदाध्ययन करते, उद्घोषण कर रहे हैं कि सरस्वती देवी का आश्रय स्थान अब केवल यही है। गंगा तट पर ब्राह्मण लोग संध्या बन्दन तर्पण देवार्चनादि ब्रह्मकर्म करते, मानों इस कराल कलिकालमें भी धर्मको धैर्यसा दे रहे हैं, और सामान्य द्विजाति अपने आर्य वेश सत कर्म रत लखाते मानो इस तीर्थ में अद्यापि धर्मके निवास का प्रमाण सा दे रहे हैं। सामान्य जन हरहर महादेव शङ्कर पुकारते मानो जिसका राज उसकी दुहाई वाली, कहावत को चरितार्थ करते—

भगवान भूतभावन भुजङ्गभूषण का स्मरण करते, शिवालयों में जा जल चढ़ाते गाल बजाते अपने जन्म जन्मान्तर के पाप पुञ्ज को दूर बहाते जाते हैं। कहीं स्नान कर काषाय कौपीन धारी एक हाथ में गङ्गाजल पूरित कमण्डल लिये दूसरे में अपना दण्ड ऊँचा किये, दण्डी स्वामी लोग प्रशान्त भाव से अपने आश्रम को जाते, मानो "एकमेवा द्वितीयम् ब्रह्म" की शिक्षा सी देते जाते। कहीं सुर सरिता के निरमल और सुशीतल सलिल में कुलबधू सुकुमारी सुमुखियाँ स्नान करतीं, देवताओं के मन को भी हरतीं, यह निश्चय कराती कि मानो चतुर चतुरानन ने काशी की गलियों में मुक्ति को यों ठोकर खाते देख उसके रक्षा के लिये इस अवरोधक कुलाहल की सृष्टि की है। जिनके सहज सलज्ज रहन सहन को देख रात भर के देखे वेश्याओं के सब हाव-भाव रसा-भास से अनुमान होता, और मन मान लेता, कि ठीक है इसीलिये साहित्याचार्य्यों से यथार्थ प्रतिष्ठा स्वकीया ही नायिका को दी गई है। वे अपने बहुमूल्य वस्त्रालङ्कार और दान दक्षिणा देतीं स्थिर भाव से रहतीं हैं। एवम् निज नित्य नैमित्तिक कर्म्म से अवकाश पाकर झुण्ड के झुण्ड ब्राह्मणों तथा सन्यासियों का क्षेत्रों में भोजनार्थ जाना मानो भगवती अन्नपूर्णा के साक्षात् विद्यमान होने को प्रमाणित कर रहा है। आहा धन्य यह काशी है कि जहाँ कुबेर के समान कितने ही धनवान और शेष के सदृश कितने ही विद्वान्, असंख्य भक्त महात्मा और तपस्वी अब भी निवास करते हैं। धन्य

है जो यहाँ सदैव निवास करते और नित्य इस आनन्द को देखते। किसी ने सच कहा है कि—

"चना चबैना गङ्गाजल, जो पुरवै करतार।
काशी कबहुँ न छोड़िये विश्वनाथ दर्बार॥"

अब अपनी नौका ईप्सित घाट पर आई, हम लोग नाव से उतर गाड़ी पर चढ़े उस बिछड़े मित्र के न मिलने का पश्चाताप करते अपने बनारसी मित्र के साथ जा उन्हीं के घर फिर धमके।

पाँच बजे सन्ध्या को सुस्वादु गुलाबी बूटी के रंग से फिर गुलाबी आँखें कर यार लोग श्री गङ्गाजी के घाट पर आ डटे, कल मंगल था, आज दंगल का दिन है, अर्थात् दिन के मध्यानोपरांत से पुनः मेले का आरम्भ होकर अर्ध रात्रोपरांत समाप्त होता, और इसकी संध्या की शोभा मानो मेले भर का सारांश है, इसीसे आज गंगाजी की धारा के अतिरिक्त घाट पर भी आनन्द की हाट लगी है, अर्थात् जल और स्थल दोनों स्थान पर मेला जम रहा है, वरञ्च जो लहर आज स्थल पर है, जल पर नहीं, क्योंकि वे लोग भी जो कि नाव पटैया के मेले में नहीं भी सम्मिलित होना चाहते, घाट पर से एक दृष्टि उसकी शोभा देखने को आ डटते, यों ही अनेक नौकारोहण भीरु और लड़के वाले लोग, तथा जिनका कहीं सुबीते से नाव का सेढ़ा नहीं लगा वा टका निकालने में असमर्थ और ठस लोग भी आकर घाटियों के तख्ते, मढ़ी और घाट के बुर्जों को दखल कर बैठते जिनमें प्रायः सबी प्रकार के लोग अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार सुन्दर वस्त्रालङ्कार से सुसज्जित होते हैं। बहुतेरे बनारसी नवयुवक छैले जिनके सुन्दर मुखारविन्द पर कलित कामदार टोपियों से लसित घूंघरवाली काली कुन्तलावलि मानो मलिन्द माला सी मनोहर मालूम होती, सर्दई, सन्दली, शर्बती, काफ़ूरी, मोतियई, खसखसी, कपासी, गुलाबासी, गुलाबी और प्याजी बनारसी दुपट्टों जिनसे गुलाब और खस के इत्र की सुगन्ध फैल रही है, गले में डाले मानो बहार में खिले नाना रंग के फूलों की बहार दिखलाते तटस्थ तम्बोलियों की दुकानों पर ऐंठे बैठे आँखें लड़ा रहे हैं। कहीं सर्व कहीं सर्व कदों की कतार, तो कहीं चश्मि नर्गिस का दीदार, कहीं गुल रुखों की भरमार, तो कहीं बुलबुल से बेक़रार आशिक ज़ार भाँति भाँति की बोलियाँ बोल रहे हैं। वाह! क्या बहार है। मानो इस बहार के मौसिम का यह मेला भी, गुलजार पर बहार[1] है। अनेक

१—भारतेन्दु के एक गीत की पुस्तक का नाम था।

रसीले मेले का सर्वांश रस चूसते इधर से उधर डोलते फिरते, तो कितने ही किसी एक ही के मुखारबिन्द पर टकटकी लगाये मानों कंठगत प्राण से हो रहे हैं। न इतनी भीड़ केवल तट के तल भाग ही पर है, वरञ्च घाट के ऊपर के पँचतल्ले और सततल्ले मन्दिर और महलों की अट्टालिकाओं पर भी वैसा ही नर नारियों का समूह सुशोभित हो रहा है; विशेषतः ऊपरी भाग तो केवल सुन्दरियों ही के सौन्दर्य से भरापुरा है। कोई तो चिक लगी खिड़कियों में बैठी अपने लोल लोचनों को यों चारों ओर फेरतीं, मानो शैलावलि के मध्य सफरी सी नचा रही हैं, कोई काँच की किवाड़ियों से जल निमग्न प्रफुल्ल जलज के समान अपने अमन्द वदन की दुति दिखलातीं; और कोई अपने घूंघट की ओट से निहारतीं मानों मोहनी मूठ सी मारती हैं। अनेक जो अपने असित अलकावलि बिखेरे, श्याम घन घेरे, मयङ्क से मुख पर मुसकुराहट की छवि से दामिनी सी दमका रही हैं; तो बहुतेरी उच्चतम अटारी पर जा प्रत्यत्त कटाक्षों की कटारी चला रही हैं। यदि अनेक मेले के मनुष्यों को देख लज्जा से आँखें नीची करतीं; तो कोई अपनी तनी भौंहैं तनिक और भी तनैनी कर कितनेहू को मारे डालती हैं। यदि कोई सुकुमारी सुन्दरी अपने अनूप रूप को भिक्षा देने में उचित भिक्षुक से भी कृपणता दिखलातीं, तो कोई कुरंग लोचनी किसी नवयुवक से चक्षुचार होते ही घूरकर उसका चित्त चूर चूर कर रही हैं। अहा हा! यह आज कैसा अद्भुत शोभा का समुद्र उमड़ रहा है। अरे यह तो मानो ब्रह्मा की विचित्र रचना चातुरी के प्रदर्शन का मेला है, वा महाराज मनोज के मन बहलाने के लिये अपूर्व मीना बाजार लगाई गई है;

"नज़र आती हैं हर सू सूरतें ही सूरतें मुझको।
कोई आईनाखाना कारखाना है खुदाई का॥"

जल व थल पर्यन्त जहाँ पर दृष्टि फैलाइये, चारों ओर केवल स्त्री और पुरुषों का मुख ही मुख लखाई पड़ता है, और सच तो यह है कि काशी का नाम आनन्द वन कदाचित आज ही चरितार्थ हो रहा है॥

यह बुढ़वा मंगल का मेला क्या वस्तुतः बुढ़वा बाबा महादेव का मंगल विवाह का मेला ही है, और यह दंगल (भारी भीड़) कदाचित् बारात वा सोहगी निकलने का समय है, जिसे देखने के लिये ये देवदारा और गन्धर्व कन्यायें अपनी ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़ी हैं! श्रीगंगा जी की सब नौकाएँ मानो नाना बाराती देवताओं के विमान हैं, जो अभी आकाश से उतर रहे हैं, क्योंकि आगे बढ़ी यह मोरपङ्खी देव सेनानी भगवान मयूर वाहन के मयूर

वाहन के समान इस अनुमान के यथार्थ होने का प्रमाण सी दे रही है। इस वर्ष सूर्य ग्रहण के समीप होने से प्रयाग के कुम्भ से लौटे साधु सन्तों का उस पार भी अधिकता से आ बसने से एक नवीन जनस्थान सा बस गया है, जो मानो बुढ़वा बाबा की बारात का जनवास है, कि जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार के साधुओं की मंडलियाँ मानो भिन्न भिन्न बाराती देवताओं की बराती सेना है,—यदि दण्डी लोग काषाय वस्त्रधारी चोबदार कञ्चुक वा द्वारपाल हैं; तो परमहंस लोग पार्षद, और प्रधान; तथा नंगे भुजंगे विभूति-धारी नागे उस दिगम्बर के खास हुजूरी पलटन के सैनिक समूह के समान अनुमान होते। अयोध्या के वैष्णव लोगों के अखाड़े मानो विष्णु की सेना हैं, और कमण्डलु धारी अनेक ब्रह्मचारी और ब्राह्मण ब्रह्मा की, उनके दर्शकधनी गृहस्थ कुबेर और उनकी रक्षा के अर्थ पुलीस के कान्सटेबिल और चौकीदार यम की और अनेक अन्य अन्य की। श्रीगंगाजी में भी नौकाएँ आज अधिक हैं; क्योंकि बहुतेरा नावें आज ही पटी हैं; क्यों नहीं; आज तो दङ्गल (किश्तियों की कुश्ती का मेला) न है, वाह! यह महाराज काशिराज का कच्छा[1] है कि जिससे सात कच्छे एक ही में मिलाकर पटे हैं, और बड़ा भारी देश और शाहमियाना खड़ा है, और भी सब उचित राजसी ठाट ठटा है, झुन्ड की झुन्ड रण्डियाँ बैठी हैं, यह यहीं की बनी केले के खम्भे के समान मोटी मोमबत्तियाँ हैं, जो बैठकियों पर लगी हैं; पर नृत्य गान कुछ भी नहीं होता है, क्यों कि महाराज तो घुड़दौड़ (एक उत्तम नौका जिसके अग्रभाग पर दो कृत्रिम घोड़े लगे हैं) पर सवार हो आज मेला देख रहे हैं, और उसी पर गान हो रहा है। इधर उधर के कई सुसज्जित बजड़े और मोरपङ्खियों पर महाराज के अन्य प्रधान पुरुष लोग भी साथ साथ मेला देख रहे हैं। वाह! क्या विचित्र शोभा है; चुने पार्षदवर्ग और परिकरयुक्त आर्य राज वेषधारी नवीन महाराज आज कैसे शोभायमान हो रहे हैं, मानो बुढ़वा मंगल अपना बुढ़वा स्वामी छोड़, नवीन को पाकर नवीन मंगल हो गया है। यह जिस मोर पङ्खी पर नाच हो रहा है, उस पर महाराज के ठाकुरजी विराजमान मेला देख रहे हैं। धन्य! क्या हिन्दू राजा की पवित्र श्रद्धा का प्रमाण है। धन्य काशि-राज धन्य! वृद्ध महाराज की इन परिपाटियों को अद्यापि यथावत् प्रचरित रखना आपके महानुभावता का प्रबल प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि इस मेले में स्वयम् सुशोभित हो, न केवल आप इसे शोभा और मान सम्प्रदान कर,

इसके स्वामी होने ही का प्रत्यक्ष प्रमाण देते, वरञ्च वस्तुतः काशिराज होने की मर्य्यादा का भी पालन करते और अपनी प्रजा में मिल कर आनन्द मनाते तथा उन्हे उत्साहित करते हैं।

अब तो सन्ध्या हो गई, चारों ओर दीपावलियाँ प्रज्वलित हो गई अपने लोग भी दशाश्वमेध घाट से घाटही घाट घूमते आकर पञ्चगङ्गा घाट पर पहुँचे, पैर भी थक रहे, पर यह मन तनिक भी तृप्त न हुआ ! कहता है, कि स्थल का मेला तो खूब देखा अब जल के मेला देखने की बेला आई, अत वहीं चलो, क्यों कि यहाँ तो अब केवल बँधे तार वाले लोगों ही का काम है। "लिये फिरता है मुझको जा बजा दिल। मेरा वे होश मेरा चुल बुला दिल।" अस्तु, फिर डोंगी पर चढ आगे बढें, वाह ! यह गङ्गाजी में आधी दूरतक पुल कैसा बध गया ! नही ! यह वही श्री मन्महाराज गोस्वामी श्री बालकृष्ण लाल जी काँकरौली अधीश्वर का कच्छा है ! आहो ! यह कितने कच्छे एक में पटे हैं ? कदाचित् २० होंगे। क्योंकि दोनों ओर इसके दो नृत्यशाला बनी हैं, जिसमे एक तो श्वेत, ठीक श्री काशिराज के तुल्य, और दूसरी गुलाबी रग की, एक नवीन ही छटा छहरा रही है, और दानों के बीच मे कुछ नजरबाग और खुले चबूतरे की बनावट है धन्य-धन्य यह अलौकिक रचना और समारम्भ ! हाँ यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है कि वल्लभ कुल के गोस्वामि महानुभावों के घर मे सदा अचल रूप से लक्ष्मी जी ने निज निवास का वरदिया है। यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं जब कि लक्ष्मीनाथ की रसीली लीला ही का वह स्थान है, फिर भला ऐसे लक्ष्मी कृपा पात्र और जिनकी आँखों मे उन्ही की ललित लीला का ध्यान है, उनके इस लीला रचना की लीला लिखने मे कैसे आसकती है। यह कितनी मोम बत्तियाँ जला दी गई कि इतना अधिक प्रकाश हो गया। वाह, इन लाल महतावों का उँजाला तो मानो समस्त उँजाले को रङ्ग कर, लाल कर दिया, और होली का दृश्य आगे आ गया है। यह विद्युत प्रभा कैसी। और यह ठीक ही विद्युत प्रभा कैसी (बिजली की रोशनी) है, जो कि कई सौ रुपये रोज पर कलकत्ते से मगाई गई है भई ! वाह यह तो सबी को दबा बैठी अहा ! घाटों की अँटारियों पर तो इसने जाकर वह कार्य किया है, कि जो दिन में भी दुर्लभ था ! यह प्रभा त। चन्द्र मुखियों के मुख पर पड़ कुछ और ही लीला

दिखलाती है, इसकी चमक की चौंधी से उनके चञ्चल चक्षुचञ्चरीक जो करपुण्डरीक की ओट में जा छिपते, तो मानों चन्द्र ग्रहण सा लग जाता है। कितनी उस चमक के पड़ते ही चमक कर स्वयम् चञ्चला सी चलदेती; और दर्शकों के चित्त पर चञ्चला की चोटसी चला देती। यों हीं कितनियों को इस दामिनी की चमक दमक में अपने दामिनी की दुति को भी दबाने वाली बदन की दीप्ति के दिखाने को और भी सुबीता होता। सच तो यह है कि इस समय यह बिजली की रोशनी दूरबीन का कार्य दे रही है अथवा जैसे किसी सुवृहत् दृश्य के छाया चित्र की विचित्रता देखने को सूक्ष्म-दर्शक दर्पण, कि बीच धारा में बैठे उस लालटेन के तनिक घुमाने से सहजही सब की शोभा लखाई पड़ती है।

अच्छा चलो उसी गुलाबी, कच्छे पर चलें, और वहाँ की भी छवि देखें, परन्तु वहाँ तो इतनी नौकाएँ चारों ओर घेरे हैं, कि पहुँचना भी कठिन है। यह किसकी किश्ती है? इसके बीच में क्या कुंअर सचित प्रसाद जी हैं? हाँ इधर ही तो देखते भी हैं। "आइये आइये बस चले आइये! कल भी आप लोग नहीं आये कहाँ रहे?" चलो, भाई कुंवर साहिब ही की आज्ञा का प्रथम पालन हो; यह कहते जो हम लोग उनकी नौका पर जा पहुँचे तो देखते हैं, कि कई वेश्याएँ वहाँ पर नृत्य कर रही थीं और उनके रूप यौवन पर बनारसी लोग लट्टू हुए, उनकी आरसी सी स्वच्छ सूरत के आरसी में अपने बर्बादी और मिट्टी में मिलने की सूरत देख रहे हैं। वाह! यह भाँड़ लोग जो गा रहे हैं, बड़े चतुर हैं, उनके छोटे की नाच और भाव का तो कहना ही क्या है, "खुदा आबाद रक्खे लखनऊ फिर भी गनीमत है"। अहा अब इस ऊँचे बजड़े पर से जो कि कांकरौली वाले महाराज के गुलाबी कच्छे से सटा बँधा है, निकट से कच्छे की शोभा कुछ अपूर्व ही देख पड़ने लगी है; उफ़! बहुत ही बड़ी नृत्य शाला बनी है! यह गुलाबी पट मन्डप जिसकी झालर, खम्भे, और जंगले आदि सब गुलाबी ही रङ्ग के हैं, अधिकाई से उत्तमोत्तम और बहुमूल्य इतने झाड़ फ़ानूस तथा शीशा आलात और राजसी ठाट से सुसज्जित है; मानो सुरेन्द्र राज भवन की तुल्यता प्राप्त किया चाहता है, अथवा सहस्रों प्रज्वलित दीप शिखाओं के प्रकाश से जगमगाता मानों असंख्य तारागणों से देदीप्यमान शरदाकाश की शोभा धारण कर रहा है, जिसमें, मङ्गल, बुद्ध, वृहस्पति, और शुक्र की भाँति रङ्ग-विरङ्गी महताबों का ताब, और सच्चे महताब के तुल्य बिजली की रोशनी है।

जिसकी तीव्र ज्योति झाड और फानूसों में लगी शीशों की डाल और कलमों पर पड कर सतरङ्गे असख्य इन्द्र धनुष बनाती और दर्पणों में अपना प्रतिविम्ब ला वर्षा ऋतु की चचलता की चकाचौंध लाती है किन्तु नीचे दृष्टि दीजिये मानो बसन्त का अखाडा वहीं उतरा अनुमान होता। न केवल कच्छे की सजावट ही मे गुलाबी रग की दिखलावट, और अनेक सोने चाँदी के फूल चगेरों में गुलाब के फूल अधिकता से भरे हैं, वरञ्च उस पर बैठे सभासद स्वामी, सभ्य, और सेवक सब लोग गुलाबी ही रग की सब पोशाकें पहने हैं, जिससे यही अनुमान होता है कि मानों इस चैत मास में प्रात. काल ही गाजीपूर के उन गुलाब के खेतों में जा पहुचे हैं, कि जहाँ कोसों तक केवल गुलाब के फूलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता, भाई, इस भाँति गुलाबी रङ्ग से रङ्गी महासभा किसी ने काहे को कभी देखी होगी। सच है, यह यहीं का प्रसाद है जो कि अब के अन्य नौकाओं पर भी अधिकाश लोग गुलाबी ही रङ्ग के कपड़े पहिने देख पड़ रहे हैं, कदाचित इस वर्ष हजारों थान गुलाबी रङ्ग के रेशमी कपडे केवल इसी मेले के कारण बिक गये होंगे, तथा सहस्रो दर्जी और रङ्ग रेजो का भी भला हो गया होगा। इन चाँदी की चोबों पर तने सुनहरे कामदार नमगिरे के नीचे गुलाबी कमखाब ही का बिछौना बिछ रहा है, जिसके आगे सुन्दर सोने के अनेक मजलिसी साज, पानदान, इत्रदान आदि सुसज्जित हैं, और उसके नीचे हौज मे नृत्य होता है।

क्या नगर का कोई ऐसा प्रतिष्ठित और मान्य पुरुष होगा कि जो इस समय यहाँ उपस्थित न हो ? नहीं, कदापि नहीं, हाँ जब अनेक दूर के नगर निवासी आज आकर बनारसी हो रहे हैं तो भला बनारसी क्यों न आ उपस्थित हों। वास्तव में कैसे-कैसे धनी और मानी लोगों की इस समय यहाँ भीड भरी,है बडे-बडे बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारी पुरुष इधर से उधर ठोकर खा रहे हैं और अनेक लक्षपतियों को तो कहीं बैठने का भी ठिकाना नहीं लगता है। सचमुच ऐसे समारोह की सभा तो कदाचित बड़े-बड़े महाराजाओं के यहाँ भी न देखने में आती होगी। हाँ फिर बडे-बड़े महाराजाधिराज लोग जिनसे दास्यभाव का व्यौहार रखते उनकी बात ही क्या कहनी है। देखो न हमारे महाराज काशीराज ही समस्तराज चिन्हों का परित्याग कर सन्मुख कैसे विनीत भाव से बैठे हैं।

जो कदाचित न समस्त महाराजाओं वरञ्च सम्राटों के भी बराबर ही बैठने वाले हैं; धन्य हमारे महाराज मानो यह प्रमाणित कर रहे हैं कि आर्य संतानों की आँखों में इन महानुभाओं के समान आज कोई दूसरा समान पात्र इस संसार में नहीं है। और वस्तुतः ऐसा ही है, क्योंकि अब कदाचित भारत के मुख्य धर्माचार्यों में से और किसी की विशुद्ध वंश परम्परा नहीं मिलती।

इस कामदार नगरी के नीचे कामदार गद्दी मसनदों पर गुलाबी बागा पहिने सातों स्वरूप श्री गोस्वामी महाराज लोगों के हैं। अहाहा! धन्य! क्या शोभा है! बीच में बड़े-बड़े अमूल्य हीरों का सरपेच लगाये और अधिकता से केवल श्वेत हीरे ही के अनेक आभूषणों से भूषित काँकरौली पति गोस्वामी श्री बालकृष्ण लाल जी महाराज विराज रहे है। उनके पास वाले उनके ज्येष्ठ भ्राता हमारे लाल बाबा साहिब काशी के श्रीगोपाल मन्दिर के टिकैत गोस्वामी श्री जीवन लाल जी महाराज; और शेष ब्रज, बम्बई और कोटे के महाराज लोग सुशोभित हो रहे हैं, और दोनों पार्श्व में गुलाबी कमखाब के फर्श पर भट (अर्थात् उनके सम्बन्धी लोग) न्यूनाधिक वैसे ही वस्त्राभूषण धारी विराजमान हैं। इन महानुभाओं के मुखारविन्द की शोभा ही कुछ दूसरी है, और एक अद्भुत श्री की छबि छाई है, अहा इन महाराजों के दर्शन से अद्यापि हमारे प्राचीन आर्य्य वेष का परिचय सा मिलता है। देखिये! तो इन जवाहिरात से जगमगाते वेष के आगे आजकल की टुच्ची चाल पर कैसी घृणा होती है, मानो यह इन्द्र आदि आठों दिकपाल हैं जो यहाँ बिराजे हैं, वा सप्तर्षियों की गोष्ठी हैं। एवम् उस बुढ़वा मङ्गल की बारात की कदाचित् यही कच्छा नृत्य शाला भी है। यह दूसरा कच्छा बगीचे को लिये कहाँ चला गया? हाँ आज उसी पर अङ्गरेजों का निमंत्रण भी तो है। यह क्या पार में अग्नि क्रीड़ा (आतशबाज़ी) भी आरम्भ हो गई! हाँ! मङ्गल के अवसर पर यह सामग्री भी तो आवश्यक ही है, वाह! यह धमाका, यह चर्खियाँ, यह पटे बाज, यह टट्टी, फुलझड़ी! अहा ये बान कैसे ऊपर जा रहे हैं! वाह, ये गङ्ग सितारे तो टूट-टूट कर आकाश के सब सितारों को मन्द कर अपनी ही रङ्ग बिरङ्गी प्रभा फैला चले; मानो इस बुढ़वा मङ्गल के अवसर पर सुर समूह सुमन वर्षा कर हर्ष प्रगट कर रहे हैं यह बिजली की लाल टेन क्यों इधर घुमाई गई हाँ दूसरे कच्छे की ओर वाह! यह तो श्वेत कच्छा देखते ही देखते अँगरेज और मेमों से भर गया! अहा, इतनी दूर से भी इस विद्युत प्रभा के द्वारा समस्त दर्शनीय वस्तु

यथार्थ दृष्टि गोचर होती हैं। साहिब मैजिस्ट्रेट और कमिश्नर आदि सभी प्रतिष्ठित राज कर्म्मचारी लोग आ डटे हैं। यह भी एक अपूर्व दृश्य है, विशेषतः इन मेंम लोगों का जमघट तो अद्भुत ही आनन्द ला रहा है, देखो तो इन गोराङ्गियों का कमर लचका-लचका कर इधर-उधर फिरना कैसा कुछ अनर्थ कर रहा है, यद्यपि ये सब सलज्ज लोचनों की मनोहारी चितवन् और स्त्रीजनोचित झलमलाते वस्त्राभूषणों से सर्वथा हीन हैं, तौ भी अनेक रङ्ग रञ्जित वस्त्रों और विचित्र वेष रचना से सुहाती, उद्धत भाव से पुरुषों से हिली मिली, मानो मार की मिलीमार कर कुतूहल दिखला रही है। अहा! यह किसमिसी बाल बिखेरे बाल सी कमर वाली किसकी मिस है, कि जो बात करने के मिस किस सजधज से उस गोरे युवक का किस सा लेती बिचारे को विह्वल किये डालती है। कोई किसी पर ताक लगाये, तो कोई किसी से हाथ मिलाये मेला और आतशबाजी का आनन्द देखती, अनेक आपस ही में मिल कर अपना मन बहला रही हैं। मानों ये सब गौराङ्गी उस प्यारी दुलहिन गौरी की सहचरी, और सहेलियाँ हैं, जो शिव जी के सहचरों से मिल मन-मानी केलि कर रही हैं, और यह श्वेत कच्छा मानो श्वेत विभूति धारी भगवान गङ्गाधर के विवाह का मण्डप सा अनुमान होता है। वाह इस लाल महताब की ज्योति तो कुछ इन्हीं लोगों के मुख पर पड़ कर अपनी स्वार्थता दिखलाती है, और इनके गुलाबी गालों को गुलेलाला बनाती जाती है। जाने दो भाई! अब इधर अधिक देखना ठीक नहीं समय बहुत टेढ़ा है। अच्छा अब आगे की भीड़ हट गई है, और महाराज लोग भी इधर ही देख रहे हैं। बस उचित अवसर जान जैसे ही खड़े हो कर प्रणाम किया, कि इशारे से आज्ञा हुई कि यहाँ आओ, सोचने लगे कि इस भारी भीड़ में घुस कर कैसे वहाँ तक पहुँचेगे यह तो असम्भव ही प्रतीत होने लगा इतने ही में एक चोब-दार आया और भीड़ चड़ीता किसी-किसी भाँति मुझे उन पूज्य चरणों के समीप ला उपस्थित किया। प्रणाम करके बैठने पर कुशल प्रश्नादि सन्मान जो मुझ समान सामान्य जन के लिये अवश्य ही अपार कृपा का विस्तार था, पाकर परमानन्दित मन ने मान लिया कि जो सुनते थे कि—

"शुनीदा कै बुअद मानिन्दे दीदा।"

(अर्थात् सुना देखे के तुल्य कब होता है) सो आज आँखों देखा निदान मैं अनेक दिनों के लालसा ललित अपने हृदय को अशातिरिक्त तृप्त करने लगा। यहाँ उन परम पूज्य गोस्वामी महाराजों के स्वरूपों का [illegible]

वा उनकी बड़ाई की कुछ भी चर्चा छेड़नी, मानो इस बढ़ते प्रबंध को बड़ा ग्रंथ ही बनाना है, अतः उसको दूर से प्रणाम कर, यदि इस भारी समारम्भ के वर्णन में भी चित्त प्रवृत्त होता है, तौ भी वही भय आगे आ उपस्थित होता है। अहा, क्या कहना है! सभी वस्तु अदृष्टपूर्व दृष्टिगोचर हो रही है, क्या राज श्री और धर्म्म श्री परस्पर मिल कर अपनी उचित सीमा के अन्तर्गत अनिर्वचनीय शोभा का आविर्भाव कर रही है। क्या रस और मर्यादा का संगम सुहावना लग रहा है कैसे कैसे महामहिमावान, धनवान, विद्वान और गुणवान जन निजसन्मान को भूल दास्य भाव अंगीकार किये संसार को भक्ति भरे भारत के धर्म गौरव को दरसाते विनीत बैठे हैं। अनेक वल्लभीय वैष्णव लोगों को जिनकी आँखों में इन गोस्वामी महाराजों की प्रतिष्ठा साक्षात भगवत्स्वरूप तुल्य है; इस आनन्दोत्सव में भी कुछ उसी धेय लीला का सा आनंद आता सा दिखाता है, और सचमुच जहाँ न केवल काशी ही वरञ्च बहुत दूर दूर के अनेक गाने वाली और गुणवती बार बनिताओं का समूह सुशोभित है, वहाँ किसी के चित्त में चंचलता का नामोनिशान भी लखाई नहीं पड़ता, हाँ अवश्य कभी कभी लोग विशुद्ध गुण पर रीझते से दिखाई देते हैं। गोस्वामी श्री बालकृष्ण लाल जी महाराज से रसज्ञ और गुणज्ञ गुणी गुण ग्राहक के सन्मुख खड़ा होकर भला कौन ऐसा गुणी है, जो अपने गुण का कोई अंश किसी दूसरे गुण ग्राहक को दिखाने को बचा रक्खेगा; क्योंकि उन्हें स्वप्न में उनसे बढ़ कर गुण ग्राहक और प्रसन्न कर देने वाला किसी अन्य अमीर के मिलने की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः परस्पर गुण प्रदर्शन की लाग डाँट और स्पर्धा की दशा की कथा अकथ है। यदि किसी की स्थायी की तान मदनबान हो प्रान को बेधती, किसी के टप्पे की गिटगिरी कलेजे के पुर्जे पुर्जे करने में छुरी और कटार के काम करती और किसी किसी के नाजो अदा के साथ ठुमरी और ग़ज़लों का गाना अनेकों के चित्त पर काँटे का चुभाना होता था।

अब तो हमारे पाठकों की पूर्व परिचित उन दोनों बङ्गालिनों की बारी आई, कि जिन्हें हम लोगों ने मुगलसराय के स्टेशन पर देखा था।

वाह! इस समय तो इनका कुछ और ही बनक बन रहा है। बङ्गीय वस्त्रालङ्कार और सिंगार कुछ विचित्र ही बहार दिखा रहे हैं। इन्हें निहार चुटीले चित्त वाले प्रेमियों का अपने को वार फेर कर इन पर बलिहार जाना क्या आश्चर्य्य है! अब इन लीलावतियों की लीला कैसे लिखने में आये, कि जो

केवल देखने ही का विषय है। वाह इनका नाटकीय बङ्गला गान यद्यपि बङ्ग भाषा से अज्ञान अनेक जनों को नहीं समझ पड़ता होगा, किन्तु हाव भाव कटाक्ष की काट से उन्हें कौन बचायेगा ? देखिये तो केवल साड़ी पहने ये इस समय नाच रही है, परन्तु दर्शकों की आँखों से पूछिये कि वे अपनी नाच भूल कर एक टक लगाये मानों धन्य धन्य कहा चाहती हैं। वस्तुतः उनके दलकते नितम्ब को चुम्बन करने वाली खुली काली कुन्तलावलि तो व्यालिनी सी रसिकों के चित्त को डँस रही है ? यों ही इन कुरङ्ग लोचनों की फेर फार काम की कटार का काम कर कितनहूं का काम तमाम किया चाहती है, वाह ! इन गालों की लीला तो लाल की लालित्य को भी लज्जित कर रही है और इन मधुर अधरों से निस्सृत स्वर स्वाभाविक ही सुधास्रावसा श्रवणानन्ददाई है, फिर बङ्ग-भाषा की माधुर्य्य सरस स्वाद को सौ गुना बढ़ा रही है।

"यमुना पुलीने बोशी काँदे राधा बिनोदिनी" वलि हार ! वलिहार ! कहता मन जो उस रस में फँसा तो बस, फिर कुछ काल तक इसका कुछ परिज्ञान ही न रहा, कि यहाँ क्या हो रहा है, परन्तु आश्चर्य्य का विषय तो यह है कि—

इस सुवृहत जन संघट्ट और भारी महा सभा में कहीं किसी के मुख से प्रसन्नता सूचक वा प्रशंसामय कोई शब्द नहीं निकलता महाराज लोगों के अदब से मानों सब की जिह्वाएँ दाँतो के तले दब रही हैं, जिस कष्ट से यदि कभी किसी का कुछ मस्तक भी हिलता तो कदाचित् भय के भार ही के कारण से अनुमानित होता, भिर भला बतलाइये तो कि ऐसे स्थल पर हम सरीखों की कैसे बिधि मिल सकती है, और स्वाभाविक सुख सामग्री का परित्याग हो सकता है, सब सावधानी सपर सकती है, परन्तु आनन्द उन्मत्त होकर बिना वाह ! वाह ! किये तो नहीं रहा जा सकता। एवम् सहस्रों सभ्यों के सम्मुख नियम विरुद्ध कार्य्य भी ठीक नहीं।

और फिर अब किसी दूसरे तायफे के तमाशे को देख इस सभा को दिल से भुलाना भी अनुचित ही है। रात भी अब थोड़ी ही है, दो दिन की उनीदी आँखें अब अपना कहना भी नहीं करतीं, अतः खिसकनाही ठीक है। यह बिचार किसी किसी भाँति आज्ञा ले और अभिवादन कर ज्योंही चले, कि एक अनजाने मनुष्य ने आकर हाथ पकड़ एक दूसरे ही ओर घसीट ले चला। मैं बहुत ही चौकन्ना हुआ और बारम्बार उससे पूछने लगा, कि क्यों ! भाई क्यों कहाँ लिये जाते हो ? चलेतो आओ। अजी तुमहो कौन, बतलाओ जी

"बड़े बेवकूफ़ हो तुम्हें इतना भी शऊर नहीं, यों बेगाना भी कहीं हाथ पकड़ घसीटेगा, और इतने लोगों में। अवश्य ही मुझे उसका स्वर परिचित बोध होने लगा, तो भी यह कौन है, मैं निश्चय न कर सका।

अब वह मुझे घसीटता और कई नौकाओं पर से डाँकता कूदता जाकर एक सामान्य बड़े बजड़े पर ले गया जिसके बाहर से तो यही निश्चय होता कि इसमें कोई विशेषता नहीं है,परन्तु भीतर से तो वह बस "नूह की किश्ती," ही अनुमान होने लगा, कि जिसमें सभी सुख की सामग्री सञ्चित है, और ऐसे ऐसे दर्शनीय पदार्थ कि जो कहने में नहीं आसकते। वहाँ पहुँच उसने पूछा कि "कहो वहाँ कुछ मज़ा आया?" मैंने कहा कि--कैसा कुछ कि कहने में नहीं आ सकता। "कहा खैर अब आप यहीं मज़े से चैन कीजिये, मैं जरा फिर वहीं जाता हूँ,और अभी चला आता हूँ। मैंने कहा कि ठहर नहीं सकता, कृपा कर यह बतला दीजिये कि यह कैसा अनुष्ठान है, आप कब कहाँ से कहाँ आ पहुँचे, और अब तक क्या करते थे? उसने कहा हज़रत! यह फिसानये आजायब या आज़ाद के सुनाने का वक्त नहीं, इसके लिये बहुत फ़ुरसत दरकार है, अब मुझे जाने दीजिये और आप कहीं न जाइये, यहाँ क्या कम लुत्फ है" अजी यह तो कहो कि यह किसकी किश्ती और किसका सब सामान है।

यह सब अपना ही कारखाना समझिये मैं अभी आता हूँ, तो और बातें करता हूँ। आप तशरीफ़ रक्खें। जी नहीं दो दिन का जगा हूँ अब जाकर सोऊंगा। आप कहाँ ठहरे हैं, और फिर कहाँ पर मिलियेगा "मैं वहाँ से उड़ कर यही सब सामान करता रहा,और तब से मय कुल सामानि सफ़र यहीहूँ दो पहर को तो कहीं और ज़गह जा रहता हूँ नहीं तो इसी उड़न खटोलने को इधर से उधर उड़ाता, जिधर जी चाहता है घूमता हूँ, मगर जब तक गुलाबी कच्छे पर तमाशा होता रहता है, वहीं किसी कोने में छुपा मैं भी खुदा की शान का तमाशा देखा करता हूं। आप भी यहीं आराम फरमाइये,और सब सामान भी यहाँ मौजूद ही है, क्यों कहीं जाइयेगा, और आइयेगा। जी नहीं, मुझमें इतना साहस नहीं। "खैर अगर आप का जी नहीं लगता, तो बदकिस्मती के मारे घूमिये, मैं तो यहाँ से कहीं जाता नहीं अपना ठिकाना भी तुम्हें बतला दिया,अगर मिलना हो तो चुप चाप अकेले यहीं मिल लीजियेगा; मगर खबर्दार इस राज को और पर हरगिज़ हरगिज़ ज़ाहिर न कीजियेगा।" अस्तु मैं किसी प्रकार उससे अपने को भी छुड़ा फिर अपने पुराने ठिकाने आ पहुँचा।

पाठक ! क्या आपने नहीं समझा कि यह कौन महाशय थे यह वही लखनऊ निवासी मेरे प्रिय मित्र थे, कि जिन्हें हमलोग ढूढ़ते ढूढ़ते थक गये, और वे अब तक न मिले थे, भला वह क्यों मिलने लगा; कि जो एक अपूर्व आनन्द का सत निकाल चुप चाप अकेले आपही को तृप्त करना चाहता है। यहाँ का रङ्ग देख उसने भी यह गुलाबीठाट ठाटा कि अचाञ्चक मैं भी उसे न पहचान सका, फिर दूसरा कोई कब ताड़ सकता था ? उसके वेष और परिच्छद में कहीं लखनऊपन का पता भी नहीं रहा, लखनऊ के चिकनके अंगरखे के स्थान पर गुलाबी ग्वार्नट का कोट, और सलमे की कामदार गोल टोपी के स्थान पर बनारसी गुलाबी सेल्हा और फिर वैसाही दुपट्टा। अस्तु इनको उस गुप्त-नौका का वृतान्त, जिसका कि नाम उन्होंने "उड़न खटोलना," और मैने किश्तियेनूह रक्खा है, यद्यपि सर्वथा अकथ है, तथापि यदि अवसर मिला तो फिर कुछ चर्चा चलाएँगे। प्रातः काल होई चुका था, डेरे पर पहुंचते पहुंचते दिन भी कुछ चढ़ आया, नित्य कृत्य से निवृत्त हो, जो सोये, तो सन्ध्याको औरों से जगाये गये अस्तु फिर उसी पाठ पढ़ने को चलते चलते आठ और राजघाट पहुँचते नौ बजे, क्योंकि आज यहीं से आरम्भ करने का विचार स्थिर हो चुका था। यहाँ से जो नौका पर चढ़कर चले, तो आज मेले की कुछ दूसरी हो शोभा लखाई पड़ने लगी, मानो मेले की दशा भी आज उस तरुणी की युवाअवस्था की सी है, जिसमें मनोहरता और निकाई अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँचा चाहती है। राजघाट की ओर से सब नौकाएँ असीघाट की ओर चली जा रही हैं। ऐसा अनुमान होता कि मानो आज श्री गङ्गाजी अपनी धारा उलट कर पश्चिम की ओर बहा रही हैं, और प्रवाह के कारण स्वयम् सब नौकाऐं उधर ही बही जा रही हैं। अथवा गंगा जी आज आकाश-गङ्गा हो देवोंका आकाश मार्ग (डहर) बन गई है जिसपर से बुढ़वा मङ्गल में आये देवताओं के बिमान बरात के सङ्ग बिदा हो कर मानों अब दूलहे के घर कैलाशको जा रहे हैं। अहा, ये असंख्य नौकाएँ इस शीघ्र गति से आपस में बचती बचाती ऐसी उड़ी चली जाती हैं, कि जैसे [1]लोटाभंटा के मेले में असंख्य पतङ्ग उड़ाने वालों की लाग डाँट से अमल आकाश में ढील की डोर पर छूटी अनेक प्रकार की रङ्ग बिरंगी पतङ्गे आपस में पेच खाती और बचती बचाती वेग से बढ़ी चली जाती हैं। यों ही इन नौकाओं पर प्रज्वलित नाना रङ्ग रञ्जित दर्पण, वर्ण के मध्य से मोमबत्तियों और

[1] मिरज़ापुर नगर में होने वाला एक पतंग उड़ानेवालों का मेला।

रङ्ग बिरङ्गी महतावों के प्रकाश की आभा जल में पड़कर मानो एकी एकी डूब लगाती ऐसा अनुमान करातीं, कि कदाचित् श्री गङ्गाजी ने अनेक रङ्ग के असंख्य कमल खिलाये हैं। वा भगवती भागीरथी ने अपने प्रियपति रत्नाकर के समस्त अमूल्य रत्नों का हार बना कर निज प्रिय सखी काशी के गले में पहिनाना चाहती है। वाह! अनेक घाटों पर भी आज रोशनी हुई है, यह तो इस समय मानों सड़क की लालटेन वा मील के पत्थरों का कार्य्य दे रही है क्योंकि इस समय इनके न रहने से न तो तट, और न घाटों की संज्ञा का ज्ञान हो सकता है। यह क्या मणिकर्णिका महा तीर्थ है? वाह यहाँ की रोशनी तो मानो बतला रही है, कि सच्ची रोशनी बस यही है; और सब रोशनियाँ झूठी हैं! अनेक चितायें जल रही हैं! और अनेक शव स्थान संकोच के कारण कफ़न लपेटे पड़े हैं; तथा सैकड़ों जन रोते बिलखते लखाई पड़ रहे मानो इस मसल की सच्चाई साबित कर रहे हैं, कि—"दुनियाँ भी है क्या बलन्दी सराय। कहीं खूब खूबी कहीं हाय हाय॥" क्यों नहीं, मुण्डमालधारी भगवान भूतनाथ रूद्र की राजधानी काशी न है, कि जिसका नाम ही महास्मशान है।

कदाचित् यही उनके कार्य्यालय का स्थल भी है। क्योंकि "चिता भस्मालेपी गरल असनम्" को स्मशान का निवास ही प्रिय है। सच है, सच्चे उदासीन और विशुद्ध विरक्त के रहने के योग्य इसके सिवा और कोई स्थान भी तो समीचीन नहीं है। जिसके तनिक देखने ही से विचित्र ज्ञानोदय होता, और पाप का भय, तथा धर्म्म की चिन्ता होती हैं, इसी से स्मशान भी एक मुख्य ज्ञान का स्थान माना गया है।

धन्य काशी कि जहाँ बलात्कार उच्चातिउच्च तथा नीच म्लेच्छ आदि को भी यह दृश्य देख ज्ञान लाभ करने का अवसर मिलता, पार करते भी धर्म्म शिक्षा मिलती है। देखिए आज इसी ओर से कई सौ नौकाएँ, और सहस्रों मनुष्य गये हैं! पर क्या किसी को कुछ भी ज्ञान लाभ हुआ होगा? उन्हें कैसे ज्ञान लाभ हो जो इधर देखते ही नहीं।

धन्य है हिन्दू धर्म्म तथा उनके विश्वास सन्मान को कि मध्य नगर में यह प्राचीन पवित्र तीर्थ आज भी ज्यों का त्यों अपना प्रताप दिखाता वर्तमान है। नहीं तो इस अङ्गरेजी सफाई की सनक के समय में इसका यों यहां अपने पूर्व कार्य को करते रहना कितना असम्भव है, विशेषतः जब कि प्रति वर्ष यह अनेक लाट और राजप्रतिनिधियों के दृष्टिगोचर होता ही रहता है? यह क्या बारह बज गए, कि जो मन्दिरों में आधी रात की नौबत बज रही है। धन्य,

यह भी हम आर्य्यों की प्राचीन चाल है, मानो यह अब जागृतों को शयन में अतिकाल होने की सूचना दे रही है। अच्छा भाई ? तनिक और शीघ्रता से खेओ। यद्यपि असी घाट अभी दूर है, पर नौकाओं का झुण्ड इधर घना हो चला, जान पड़ता है कि आज भी कुछ नई नौकाएँ पटी हैं।

मारुत के शीतल झकोरों के साथ हमारी नौका शीघ्रता पूर्वक अब सुसज्जित नौकाओं के बीच से होती हुई अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच गई।

यद्यपि कि उस काल का मनोरम चित्र यही कहता था कि टुक और रुको, देखो, पर कार्य्य अपनी अतुरता के घोड़े पर सवार, शीघ्रता से ही इस अनोखे मेल से प्रस्थान करने के लिए प्रेरित कर रहा था। अस्तु मैं शीघ्रता से वहाँ से चल कर अपने साथियों से छुट्टी ले मेले की प्रतिमा और सफलता का चित्र हृदयंगम किए हुए अपने आश्रित गणों से शीघ्र चलने के लिए शीघ्रता कराते हुए, जल्दी कदम बढ़ाते हुए, मेले के नुपम वातावर्ण को छोड़ आगे बढ़ता हुआ चल पड़ा।

१९५० वै० ना० नी०—

दिल्ली दरबार में मित्र मण्डली के यार

दिल्ली दरबार के पूर्व उसकी चर्चा की चरपराहट किस के चित्त को चञ्चल नहीं करती थी और किसका मन वहाँ की शोभा देखने को न ललचता? कौन था जिसे किसी प्रकार पहुँचने की शक्ति थी और वह वहाँ के के लिये उत्कण्ठित न था? यदि कोई था, तो मैं, जिसे लोगों के कितने हूँ कहने और बारम्बार आग्रह करने पर भी यह आशा न होती कि उस अवसर पर मैं भी वहाँ उपस्थित हो उस आनन्द का भागी हूँगा। समझता कि सरकार से न्योता वा आह्वान होगा तो पितृचरण का, और वे निज नित्य, नैमित्तिक कर्म में व्याघात के भयसे जाने वाले नहीं। रही स्वाभाविक सैर की अभिलाषा अपनी, सो पहिले तो अपना चलना ही कुछ सहज नहीं वरञ्च यात्रा के प्रोग्राम का निर्माण ही कठिन था इसलिये कि स्वभावतः मनसूबेही विचित्र, लालसा ही अलौकिक, और इच्छा एवम् उत्कण्ठाएँ कुछ ऐसी जैसी कुछ; फिर उसके लिए आवश्यक सामग्री और साहित्य का सञ्चय भी कब सुलभ! तब भला क्यों चित्त में चलने की चाह होने लगी? विशेषतः जाड़े के नाम से भी जाड़ा लगता, तत्रापि उनदिनों कि जब बरामदे के परदे गिरा कर बन्द गर्म कमरों में, ऊष्णपरिच्छद के सहारे समय कटता था, और फिर ज्यों ज्यों दिन निकट आता बदली-बूंदी और ठण्ढी हवा के सञ्चार से अपना घर ही शिमला सपाहू का समा दिखलाता और विन्ध्याचल ही हिमालय बना चाहता था। जब कभी दिल्ली के इस होनहार उत्सव की अपूर्व धूम धाम का अनुमान कर मन में उमङ्ग हो भी उठती और वहाँ के होते समारम्भ के कुछ वृत्त जानने के लिये कोई समाचार पत्र खोल कर पढ़ता, तो उनके दिल्ली पहुँचे पत्र प्रेरकों के, जिनमें अधिकाँश बंगाली ही होते, कि जो प्रायः डरावने और भयङ्कर लेख लिखने में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते, लेख पढ़, बस एक बारही हताश हो जाना पड़ता। कोई लिखता, कि "बस जाड़े की बात न पूछिये, वह कुछ अनुभव ही से सम्बन्ध रखता है, अति उत्कट! अति असह्य! अति दुर्निवार्य!" कोई अपनी सारी कविता शक्ति जाड़े ही के वर्णन में व्यय कर डालते और एक अच्छी खासी कथा, पुराण की पोथी ही लिख

कर दिल्ली को हिमालय की नानी बना कर छोड देते, जिसे देखते ही अपने तो चलने की चर्चा भी छोड देते। कोई गर्द गुबार के बवण्डर उड़ाते कि पढना भी असह्य हो जाता, जाने का क्यों जी चाहता। कोई सब के गुरूघटाल प्लेग देव की पहुँच बतलाकर बची बचाई इच्छा को भी निर्मल कर देता। यदि कोई मित्र आ मिलता तो वह भी प्राय इन्हीं बातों को दुहराता, और साथही वहाँ की भविष्यत् आनन्द की आख्यायिका सुनाता। सबसे "सचहै" कहता, चलने को ललचाता, और प्रायः सब आपत्तियों का निराकरण कर सौ सौ सौगन्धै दिलाता "उठो-उठो बस चलो-चलो" ही चिल्लाता। अनेक सामान्य मित्रा के अतिरिक्त कई विशेष सुहृद् और सम्मानित कृपाकरों का आग्रह और भी अपूर्व था। यदि कोई स्थानिक मित्र[1] कहता, कि "मैंने दिल्ली में ठहरने के लिये बहुत ही अच्छे मौके पर मकान भाड़ा लिया है, और वहाँ आराम का सब सामान जमा कर लिया है।" तो दूसरे कहते कि-"मैं अपना बड़ा खीमा और उसके साथ के सब सफरी सामान भेज चुका, गाडी, जोड़ी, और सवार सब वहाँ पहुँच गये। आपको जाडे से बचने के लिये कई अगेठियाँ भी भेजी गई हैं। वरञ्च कोयला और प्राय. सभी आवश्यक वस्तु, यहाँ तक कि साथी मनुष्योंके लिये सीधा, और पशुओ के लिए दाना-घास तक रेलही पर भेज दिया है। अब कहिये क्या आपत्ति है मक रखिये कि मैं आपको बिना लिये कदापि न जाऊँगा,आपने चलने का वादा करके मुझे चलने पर तैयार किया है।" बाहरी चिट्ठियों की भी कमी नहीं थी, जो भाँति भाँति के सुबीता को जताती बुलाती थीं। विशेषत. हमारी अन्तरङ्ग-मित्र मण्डली के अभिन्नहृदय सुहृदों का आग्रह तो अत्यन्त ही अधिक था। परन्तु मैं कब किसी पर ध्यान देता कि जब महीनो से आशा छोड बैठा था। यहाँ तक कि उनमे से अधिकाश लोग दिल्ली भी पहुँच गये, और वहाँ मे भी चिट्ठियों की भरमार और तार के तार बाँध दिये। कई कुटम्ब के भी वहाँ जा पहुँचे छोटे[2] भाई ने भी पहुँच कर लिखा, कि 'आवश्यक प्राय सभी सामग्री के सहित हमलोग सकुशल यहाँ आ पहुँचे। श्रीमान् महाराज अयोध्या के कैम्प मे अलग एक खीमें म ठहरे हैं, अर्थात् एक बाग मे जो एकान्त और सुबीते का है और जहाँ किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है और यहाँ की तैयारियाँ तो देखने ही से सम्बन्ध रखती हैं कहने में नही आती।'

१ महन्थ श्री आनन्द गिरि जी महाराज, मिरजापूर।

२ पण्डित मथुराप्रसाद चौधरी।

एक दूसरे दिल्ली निवासी सम्बन्धी* ने, जिनका सम्बन्ध बतलाने में संकोच होता, और कदाचित् पाठक उसे ठिठोली समझें, मेरे पत्र के उत्तर में लिखा कि "प्लेग यहाँ नाम को भी नहीं, जाड़ा भी शहर में वैसा नहीं है कि जो हद से ज्यादा कहा जा सके, शायद उतना ही कि जितना आज कल इलाहाबाद में रहता है। आप बेखटके चले आइये और ज़रूरही आइये। क्योंकि जिसने इस मौके पर दिल्ली न देखी वह बहुत ही चूका। आप हर्गिज़-हर्गिज़ न रुकिये, ज़रूर तशरीफ़ लाईये और ग़रीबखाने को जलवा बख़्शिये, नमक रोटी पर क़नाअत कर बन्दों की खिदमत क़बूल कीजिये, ईश्वर ने चाहा तो हत्तुल्मक़दूर किसी क़िस्म की तकलीफ़ न होने पायेगी"। इस पत्र को पढ़ बहुत कुछ ढाढ़स हुई, और मनमें सोचने लगा कि अधिकांश 'आशंकाये' तो निर्मूल हो चुकीं अब चलने में क्या बाधा है, कि एक दूसरा लम्बा चौड़ा पत्र भी आ पहुँचा-वह था हमारे अन्तरङ्ग मित्र-मंडली मण्डन लखनऊ निवासी परम प्रियमित्र माननीय जनाब नवाब फ़ैयाज़ुद्दौला बहादुर का, जिन्हें प्रायः लोग नवाब बेक़रारुद्दौला भी कहा करते हैं और जिसमें लिखा था कि अरे मियाँ क्या वहाँ कोठरी में बन्द मच्छरों की सी ज़िन्दगी बिता रहे हो। वल्लाः चूक जाओगे तो बहुत ही पछताओगे। ऐसा समाँ फिर कभी काहे को दिखलाई देने का है! बखुदा लायज़ाल आज दिल्ली की सजधज क्या किसी माशूके! महजबीन से कम है! वअहदि हुकूमत शाहानिसलफ़ भी क्या कभी इस पर यह रौनक़ थोड़ी रही होगी? आज तो यह तख्तये खुल्द बन गई है। जिधर जाइयें बस वहीं के हो रहिये। जिधर देखिये, कि देखते ही देखते दिल गया, और बस गया! ऐ है! बस यही कहते बनता है कि चश्मि बद्दूर! चश्मि बद्दूर! फिर क्या सिर्फ इतना ही? बस सिर्फ इतनाही इशारा काफ़ी समझो कि-इस वक्त यहाँ न सिर्फ हिन्दुस्तान बल्कि कुल जहान का जौहर जल्वागर है। जो कुछ अहलेदिलों को क़ाबिल दीद व दरकार है सबी कुछ तो तैयार है। बस अब चले ही आओ, तुम्हें मेरी जान की क़सम है। जब कि अपने सबी येगाने और दोस्त आशनाओं का यह जमघट जमा है, तो अकेले तुमीं क्यों न हो, लिहाज़ा जिस क़दर जल्द मुमकिन हो, लिल्लाः चले आओ

---

* प्रेमघन जी के भाई के साले रायबहादुर पंडित रामशरण मिश्र।

और हर्गिज़ हर्गिज़ देर न लगाओ। किसी क़िस्म के तरद्दुद और तश्वीश की गुञ्जाईश नहीं है। सब क़िस्म के सामान आसाइश ज़ादह-अज़-ज़रूरत मुज़-तमा है मैंने भी दर्यादिली का कोई दक़ीका बाकी नहीं रख छोड़ा है। खुसूसन् यह देखकर कि जब कुल उमरावरोअसाई हिन्द यहाँ आकर दिवाला निकल जाने का ख्याल बिलकुल फ़रोगुज़ाश्त कर चुके हैं तो अपना तो हमेशा ही से यह मकूला रहा है, कि "दिल की खुशी के खातिर चख डाल माल धन को। गर मर्द है तो शातिर कौड़ी न रख कफ़न को।' फक़त।"

बस, फिर क्या था, मन उठ खड़ा हुआ, और चित चञ्चल हो उठा, "भारत बधाई*" बहाई, चट पट कुछ कपड़े और ओढ़ने बिछाने आदि के समान ले रेलवे स्टेशन पर आ धमका। सेवकों से सब असबाब गाड़ी पर से उतारने को कह ज्योंही स्टेशन के भीतर चलना चाहा, कि आगे से आये अपने एक कर्मचारी ने कहा, कि-"जल्दी कीजिये, ट्रेन पहुँचा चाहती है।" मैं उससे टिकट मोल लेने और माल-ताल तुलने तथा उसके लदाने का प्रबन्ध करने को कह कर जो आगे चला और प्लेटफार्म पर पहुँचा, तो देखता हूँ, कि स्टेशन पर एक अच्छी भली भीड़ लग रही है। अधिकांश जिसमें दिल्ली ही के जाने वाले, कुछ उनको पहुँचाने वाले, और सबसे अधिक कौतुक-प्रिय अथवा इस मेले का तमाशा देखने वाले, बहुतेरे जिनमें सम्भ्रान्त नागरिक नव-युवक, कुछ स्कूलों के विद्यार्थी, कि जिनके बड़े लोग तो दिल्ली पहुँचे और उन्हें रखवाली के लिए घर छोड़ गये। कुछ ऐसे जो दिल्ली के भयङ्कर समाचारों को सुन मेरे समान हतोत्साह हुये, बहुतेरे ऐसे कि-जो माता पिता की मितव्ययिता वा कृपणता अथवा स्वयम् संकोच से संकुचित, कोई "इस भीड़ भाड़ के उपद्रव में तुम कहाँ जाओगे, कैसे जाओगे, क्या करोगे, क्यों व्यर्थ के बखेड़े में पड़ोगे, ? चुपचाप बैठे रहो यहीं बैठे-बैठे समाचार पत्रों से सब जान लेना, इस समय वहाँ जाने योग्य नहीं है" इत्यादि बड़ों की बातों से परवश पड़े, दिल्ली के यात्रियों और उनसे भरी खचाखच अप-ट्रेनों ही को देख दिल्ली की दशा अनुमान करने वाले कुछ तीन तीन ट्रेन छूट जाने पर भी न जा सके लोग गाड़ी आने के पहिले ही से गठरी मोटरी लादे, लड़ाई करके भी अवश्य चढ़ जाने के इरादे से खड़े। इसी भाँति

* प्रेमघन जी की इसी दर्बार के अवसर पर लिखी कविता, प्रेमघन-सर्व-स्व प्रथम भाग देखिए।

कुछ ऐसे कि दिल्ली के यात्रियों की यात्रा की दुर्दशा देख अपने जाने पर अनुमान से दुख सुख का पड़ता फैला कर इस दुर्दशा के जाने से सुखपूर्वक घर बैठे रहने ही में आनन्द है कह मूछों पर ताव देने वाले लोग डट रहे हैं।

मुझे देख अनेक उनमें से दौड़ पड़े और लगे भाँति-भाँति की बोलियाँ बोलने। कोई अगर एक प्रश्न करता तो दूसरा चार उत्तर दे देत। यदि एक पूछता, कि "आज पञ्जाबमेल पर आप के और साथी तो आपका बहुत इन्तजार कर लाचार हो चले गये, आप अब तशरीफ ले चले हैं!" तो सदूा कहता कि, "आपका जाना ही आश्चर्य है; हमें क्या किसी को भी आप के टसकने का पूर्ण विश्वास न था, हर्ष का विषय है, जो आप पधारते हैं" तीसरा बोलता "सच पूछिये तो जाना आपही से लोगों का जरूरी है, आप जायँगे तो वहाँ से बहुत से खयालात साथ लाएँगे। और फिर वहाँ की ऐसी ऐसी दिलचस्प कैफियत का बयान और इर्काम फर्मायेंगे, कि बहुतेरों को घर बैठे ही दिल्ली दिखलायेंगे"। चौथा कहता, कि—"धन्य महाशय! धन्य! अबतक आप यही कहते आये, कि मैं कदापि न जाऊँगा। हम कई लोगों का संकल्प भी आपही के संग चलने का था। सो आप ने कहला भेजा कि कल-जाँयगे, हम लोग कल से बेकल हैं, क्यों कि बिना गये कल नहीं, इतनी जल्दी में ऐसे भारी सफर की तैयारी क्योंकर कर सकते थे। खैर, आपतो चलिये, कल मैं भी चल पड़ूगा।" मैं सबकी सुनता पर किससे किससे क्या कहता! मानो मेरे उत्तर के स्थानापन्न टन् टन् घण्टा बजा और धमधमाती हुई गाड़ी आ अड़ी।

देखा कि ट्रेन में हद से ज्यादा गाड़ियाँ जुड़ रही हैं और हर खानों में मुसाफिर अलमारियों में किताबों के समान कसे पड़े हैं! किसी श्रेणी वा दर्जे का विवेक नहीं है। इतने हीं में हमारे पूर्व कथित कारिन्दे साहिब आकर एक सेकेण्ड क्लास और कई थर्ड क्लास के रिटर्न टिकट मुझे दे कर कहने लगे कि "असबाव तो साथही ले जाइये; पार्सल बाबू ने कहा, कि "आप मेरी तरफ से कह दीजिये कि ऐसे भम्भड़ और मेले के समय कई कारणों से लगेज ब्रेक में देना ठीक न होगा, साथही लेते जाँय," मैं नाराज हो कहने लगा कि क्यों तुमने माल ब्रेक में नहीं भेज दिया? और क्यों रिटर्न टिकट ले लिया? फल यही होगा कि हम लोग चले भी गये तो असबाब यहीं पड़ा रह जायगा। उसने कहा कि "आप सवार हूजिये, मैं अभी सब आदमियों को चढ़ा दूंगा और कुल असबाब उन्हीं के साथ लादे देता हूँ। यह कह

कर वह तो उधर चला और मैं अपने बैठने की चिन्ता में पूर्वोक्त बात करने वाले इष्ट मित्रों के संग, जो बिना कहे ही सुने आप से आप मेरे लिये स्थान खोज हारे थे पर कहीं पाँव रखने की ठौर न देख व्याकुल हो बिषाद प्रगट करते थे। मैं भी इधर उधर घूम कर देखने लगा तो हताश हो चला! क्योंकि सेकेण्ड बल्कि फर्स्ट क्लास में भी कहीं पैर रखने की जगह न थी, तब इन्टर की कथा कौन कही जाय। मेरे सहचरों में से एक ने सेकेण्ड क्लास की एक किवाड़ी खोली तो उसपर चढ़े। एक बनारसी मित्र ने कहा कि "आपके लिये स्वागत तो अवश्य है, परन्तु स्थान सिवा मेरे सिर के और नहीं है, देखिये स्टील ट्रन्क पर भी बैठा अँगड़ाइयाँ लेने को तरस रहा हूँ कृपा कर इन्टर वा थर्ड ही क्लास में कोई खाली जगह मिले तो मुझे भी ले चलिये!" दूसरे कलकत्ते वासी सुहृद बोले कि "आप मेरे स्थान पर आइये मैं इस गठरी पर बैठूंगा, पर आपको अलग न जाने दूँगा। यहाँ से दिल्ली तक की दुःखद यात्रा आपके सत्संग से सरस बनाऊँगा।" मैं उन्हें धन्यवाद देकर चला तो सहचरों ने मुझे फर्स्टक्लास की ओर घसीटा, देखा कि वहाँ इससे भी अधिक उपद्रव उपस्थित है, गोरे और कालों में घोर विवाद आरम्भ है।

मुड़कर देखा तो इन्टर क्लास भी खचाखच भर रहा है। मैंने निश्चय किया कि इस दुर्दशा से तृतीय ही श्रेणी की गाड़ी में यदि अवकाश हो तो चढ़ लेना उत्तम होगा। सेवक और असबाब भी साथ रहेगा। मेरे मित्र मुझे रोक रोक कर कहते, कि "अब कहाँ आगे व्यर्थ बढ़े जाते हो?" मैंने कहा कि "टुक देख लूँ कि मेरे असबाब और आदमियों की क्या दशा है।" यों देखता भालता जो कुछ आगे बढ़ा, तो देखता क्या हूँ कि हमारी उसी मित्र-मण्डली के प्रियमित्र श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य जी महाराज पटने से पलटे इसी गाड़ी में विराजमान हैं। कई मुसाफ़िरों को धक्का दे दे कर निकाल बाहर करके और कइयों के सिर पर मेरे असबाब के गट्ठर लाद और मेरे मनुष्यों को उसी में ठूँस, उन्हीं के ऊपर सब स्टील ट्रन्क रख खिड़की बन्द कर आप उतर अपने उतारे मनुष्यों को दूसरे दूसरे कमरों में ढकेल ढकेल कर लाद रहे हैं! मैं यह देखते ही चुप चाप पीछे लौट पड़ा। डरा, कि कहीं देख न लें। नहीं तो पिण्ड न छोड़ेंगे और यहाँ से दिल्ली तक न जाने कौन कौन बखेड़े न कर गुजरेंगे। लौटते हुए देखा कि और कई स्थान पर ऐसी ही लीला और लड़ाइयाँ हो रही हैं, थर्ड क्लास की भी कोई गाड़ी

ऐसी नहीं जिसमें सीधे से जाकर बैठ जाइये। इतने ही में रेलवे का चाभी वाला जमादार आकर कहने लगा कि—"हुजूर इन्टर क्लास में से तीन आदमी अभी उतरे हैं जाना है तो उसी में चले जाइये।" सुनते ही मैं प्रसन्न हो पहुँच ही तो गया और गाड़ी में बैठ गया। क्योंकि समझता था कि असबाब और मनुष्य तो चढ़ ही चुके हैं, बैठने को स्थान भी मिल गया है, "अब विलम्ब केहि काज"। बैठते ही देखता हूँ कि एक स्वनगर निवासी बंगवासी वा बङ्गाली माशा बेतहाशा हाँपते हाँपते गाड़ीके द्वार पर आ अड़े और बत्तीसी दिखा कर कहने लगे, कि-प्रोनाम प्रोनाम आहा! आप हैं! अच्छा तो हाम भी आपकी सेवा में चालता है। थोड़ा जागाय हमारे वास्ते भी दाव, आहा आपका शाथ! बड़ा शौभाग्गो!" मैंने कहा आइये आइये जितने ही एगाने मिलें अच्छा ही है! बस, बाबू साहिब का घुसना था कि उनके पीछे लगे एक और अपरिचित व्यक्ति भी घुस आए। मैंने कहा, कि वाह! यह तो "एक नशुद दोशुद!" अथवा तीन के फिर तीन पूरे हो गये, और स्थान का संकोच पुनः पूर्ववत्। अपरिचित व्यक्ति तो उड़कर ऊपर लटकती पलंग पर जा पड़े और उक्त बाबू साहब हमारे सन्मुख आ अड़े।

बाबू साहिब कोई ऐसे वैसे सामान्य व्यक्ति नहीं, उनके पूरे परिचय के लिये तो कदाचित् एक अलग पुस्तक लिखने की आवश्यकता होगी। इसी से विशेष न लिख केवल इतना ही कह देते हैं कि आप लोग सागर को गागर में भरना मात्र सुन आश्चर्यित होते होंगे, परन्तु आपने सारे संसार को एक पुस्तकी में सन्निवेशित कर दिया है, अर्थात् अंगरेजी में 'संसार' अर्थदायक पुस्तक निर्माण किया है। अब उनकी सहजवार्ता भी कैसी कठिन होगी, इस को पाठक अनुमान कर सकते हैं। उसकी लम्बाई चौडाई और खटाई मिठाई पर ध्यान दे सकते हैं। हम दोनों में वक्ता और श्रोता की योग्यता समझ सकते हैं। निदान जैसे ही बाबू साहिब मिहर्बान ने अपने व्याख्यान का आरम्भ किया कि बाहर से साथियों में से कई कहने लगे कि "उतरिये उतरिये हम लोगों ने जाकर स्टेशन मास्टर से कहा, और वह फर्स्ट क्लास पर आपको जगह देने को आरहे हैं।" मैंने कहा, अब आप लोग तशरीफ़ ले जाइये मैं कहीं न जाऊँगा और न इतना आराम पाऊँगा। इतने में गार्ड ने सीटी बजाई और हरी झंडी दिखाई, मैं मंगल पाठ पढ़ता दम के दम में विन्ध्याचल

स्टेशन पर आ पहुँचा। वहाँ भी कुछ भीड़ थी। भगवती विन्ध्येश्वरी[1] को मैंने अभिवादन किया कि इञ्जन ने सीटी दी और गाड़ी ऐसे वेग से भग चली मानो निकटवर्ती कालीखोह[2] निवासिनी महाकाली के भय से महिषासुर चिल्लाता और चिंग्घाड़ता रामगया तीर्थस्थ भगवान पशुपति रामेश्वर की दुहाई देता अपने पापी प्राण बचाने के लिये विन्ध्यगिरि उपत्यका के सघन आम्र कानन में छिपता, छिपाता किसी नितांत दुर्गम तरुलताकीर्ण गिरि गुफा में लुकने के लिये जी छोड़ कर भगा जा रहा है। रामेश्वर, शिव और कालीदेवी को प्रणाम करते ही देखा कि पर्वत शिखरस्थ लाला जंगीलाल का सुविशाल बँगला उनकी अचल कीर्ति का प्रमाण भूत दर्शकों को ललचाता मानो अपनी ओर बुलाता है। अहा! क्या ही रम्य स्थल है। आगे भगवती अष्टभुजा का मन्दिर दृष्टिगोचर हो रहा है! प्रणमामि पुनः पुनः. कैसा पवित्र स्थान है! यह सीताकुन्ड का निर्मल निर्झर है। कैसी मनोहर संस्थली है। यह रामकुण्ड है। वह कर्णावती नदी है। अकोढ़ी और बिरोही छूटा। क्रमशः विन्ध्यगिरि से दूर हटकर अब गाड़ी छानबे के हरे भरे प्रदेश पर दौड़ चली। यहाँ छानबे हजार बीगहे इस गंगा के कछार में एक वृक्ष नाम लेने को भी नहीं लखाई पड़ता है। भूमि ऐसी उर्वरा कि जहाँ तक दृष्टि दौड़ाइये केवल श्यामल शस्य-पूरित पृथिवी मानो आकाश का अनुकरण करना चाहती है। अनुभव ऐसा होता है, कि कश्मीर को छोड़ कदाचित् ही यह शोभा अन्यत्र कहीं सुलभ हो। आज की सन्ध्या भी यहाँ वैसी ही सुहावनी लखाई पड़ रही है। इस प्रकार प्रकृति की मनमोहनी शोभा देखता देखता गैपुरा स्टेशन आ पहुँचे और भगवान् भास्कर भी पश्चिम दिशा के पार जा पहुँचे। रजनी ने अपना अधिकार जमाया और अन्धकार की अधिकाई होने से गाड़ी के भीतर ही भीतर दृष्टि दौड़ने का अवसर शेष रहा। अतः अब केवल कर्णेन्द्रिय ही के सहारे चित्त-विनोद की भी आशा शेष रही, और उसकी कुछ न्यूनता न थी, क्योंकि पाठकों के सुपरिचित उक्त बाबू साहिब की बातों की झड़ी भी उसी गति से लगी चली जा रही थी जैसे कि रेल गाड़ी जा रही थी।

---

१ यह विन्ध्याचल देवी का द्योतक है, जिसका स्थान मिर्जापूर के निकट ही है।

२ विन्ध्यगिरि में एक काली जी का प्रसिद्ध स्थान जो तांत्रिकों का एक मुख्य स्थान है।

अब तक तो पूर्वोक्त कारणों से मैं प्रायः पूर्णतः उन्हें नहीं भी सुन सकता था, परन्तु अब तो रात के होने और उस लम्बी यात्रा में बिना किसी अन्य दिल बहलाव के कष्ट से बैठे समय काटते, सभी बेगानों के बीच ग़नीमत के एक यह एगाने मिले थे बातें जिनकी अच्छी और लच्छेदार; अतः अब मैं आसन मार सम्यक् सावधान हो श्रोता बन बैठा, और उक्त बाबू साहिब ने अपनी बातों का सोता और भी बेग से बहाना आरम्भ किया। कहाँ तक कहें कि मानों वे साक्षात् व्यास बन गये, और ब्रह्मा की सृष्टि से आज तक का इतिहास सिलसिलेवार सुना चले, और मैं—"टुकर टुकर दीदम दम न कशीदम" का आदर्श बना बैठा रहा। अब उस कथा का परिचय क्या दिया जाय? सिवाय इसके कि बाबू साहिब की योग्यता और बहुदर्शिता बहुत बड़ी प्रशंसा की सापेक्ष है यही कह देना ही काफ़ी समझ लीजिये। निदान उन बातों को मेरे अतिरिक्त बाबू साहिब की आंखों से छिपे वा उनके सिर के ऊपर पलंग के अड्डे पर झूलते, कोटर के तोते (महादेव के बीज मंत्र को शुक के समान सुनने वाले) वे पूर्वोक्त अपरिचित व्यक्ति भी थे। जिन्हें प्रायः मैं हसरत की निगाहों से देखा करता था, क्योंकि इस कम्पार्टमेण्ट में यदि किसी को सुख था तो उन्हीं को, यदि लेटे थे तो अकेले वही, कदाचित् वह यह भी चाहते थे कि कोई यदि मुझसे कुछ पूछे तो मैं बोलूँ, और मैं भी यह चाहता था कि यदि शरीर सीधा करने को स्थान है तो वही पलंग, और उसपर जाने के पूर्व पूर्वोक्त महाशय से कुछ कहना सुनना अवश्य है।

निदान उन्हें बाबू साहिब की बातों से कुछ ऐसे मज़े की फुरकुरी आई कि वह सोते से उठ बैठे, और फिर आसमान से उतर कर जमीन पर आ धमके। हम लोग दो से तीन हुये, अब जमीन ही बदल गई। बाबू साहिब चुप हुये और यह नये साहिब बोल चले। कहा, कि—"अबतक तो खैर से गुज़री, अब देखिये इसस्टेशन पर तो भीड़ ज़ियादा नज़राई देती है, शायद यहाँ कुछ मुसाफिर इस गाड़ी में भी और न भरे जाँय।" मैंने कहा, कि—"और कहीं तो जगह हई नहीं है, अगर गुञ्जाइश है तो आपही के पलंग पर है; पस और मुसाफिरों के आनेसे आपको शायद कुछ तकलीफ का बाइस हो। उन्होंने कहा, कि हाँ, "मिर्जापुर से यहाँ तक तो मैं जरूर आराम से सोता आया, इसके पहिले तो आमर्दा लोगों की तरह बैठा आया हूँ। अब कमर भी सीधी हो चली है, अब आप तशरीफ ले चलिये और अगर कोई दूसरा न घुसा तो आराम से लेटिये।"

मैं इतना सुनते ही उन्हें सलाम कर ऊपर आपहुँचा और बर्थ के एक ओर अपना अधिकार जमा चला। खासदान सिरहाने धर उस पर ओवरकोट उतार और लपेट कर रख दी, तौलिये से लपेटी दुलाई खोल कर ओढ ली और तौलिये को ओवरकोट पर उढाकर सुखद तकिया बना लेट गया। नैनी पर कोई नया मुसाफिर इस खाने मे नही आया और ट्रेन प्रयाग को प्रयान कर चली। उक्त अपरचित व्यक्ति मेरे स्थान पर जा बैठे, बाबू साहिब उनमे गुड पर चीटे से चिमट चले, क्योंकि अपरचित व्यक्ति एक मनोहर मूर्ति और भद्र पुरुष के से अनुमित होते थे। रग उनका खूब गोरा चिट्टा, शरीर सुन्दर और सुडौल, अवस्था कदाचित बीस बरस से कुछ कम क्योंकि चेहरा दाढी और मूछों से साफ था, वेष अर्ध-अङ्गरेजी वा अलीगढी-मुसल-मानी,—काले काश्मीरे की कोट, पैन्ट, ओवरकोट और टर्की टोपी, हँसमुख और मिलनसार स्वभाव के बहुत होशियार और चलते पुर्जे लोग लखाई पडते थे। बाबू साहिब उनसे पूछ चले कि-हे हे आप का दोलात खाना कॉहॉ ?" अपरिचित व्यक्ति हँसे और कहने लगे, कि "आप बिला कुसूर ही लात क्यों खिलाते हैं ?" और इसके पश्चात् अपना परिचय दे चले जिसका सारांश यो समझ लीजिये, कि—वे बङ्गाल प्रेसीडेन्सी के एक मुसलमानी महा नगर के निवासी, एक बड़े ही प्रतिष्ठित मुसलमान कुल के लड़के, वा एक नामी नब्वाब के नाती, नाम भी इतना लम्बा चौडा कि जितना चाहिये। दर्बार देखने के अतिरिक्त आप मुहमिडेन-एज्यूकेशनल् कान्फरेन्स में निज नगर के प्रतिनिधि होकर जा रहे हैं इत्यादि-इत्यादि कह चले। जिसे सुन-सुनकर हमारे बाबू साहिब के तो बस छक्के ही छूट चले, और वह भौंचक से हो विशेष विनम्र भाव से नव्वाब साहिब कह कह कर बातें कर चले, जिनके अन्तर्गत उन्होंने यह भी प्रश्न किया कि आप का नाना नोबाब कहॉ ? क्या वो दरबार मे नहीं जायेगा ? आप इकेला इस गाडी मे केशा ?" उत्तर मिला कि "नाना साहिब कल की डाक गाडी मे रवाना हो चुके, मैं कुछ खानगी जरूरियात से ठहर गया था, टिकट मैंने भी सेकेण्ड क्लास का लिया था, पर क्या करूँ वहाँ जगह न देख इसी मे सवार हो लिया।" इतने ही मे गाडी यमुनाब्रिज पर दौडने लगी। झनझनाहट का शब्द सुन मैं त्रिवेणी और माधव जी के अभिवादन मे तत्पर हुआ और गाडी प्रयाग पहुँच गई। बहुतेरे लोग इस जगमगाते हुए प्लेटफार्म पर उतरे और खाने पीने के प्रबन्ध मे तत्पर हुए। परन्तु मैं इससे निराश उसी बर्थ पर पडा सोच रहा था कि ऐसे भम्भड मे

अपने खाने पीने के लिये कुछ उद्योग तो सर्वथा व्यर्थ और असम्भव है, और विशेषतः कुछ आवश्यकता भी नहीं है। हाँ यदि सोने के लिये इतना स्थान सुरक्षित रहता तो रात्रि के जागरण से तो बचते; अतएव यहाँ से टसकना भी उचित नहीं, उठते ही कदाचित् इस जगह से भी हाथ न धोना पड़े। अपना जाना जब यों दुरूह था तब सेवकों का यहाँ तक आना कब सम्भव है, सुतराम् अब यहीं राम का नाम ले आराम करने का आरम्भ करना चाहिये, कदाचित् भीड़ और बढ़ जाय। इतने में देखते हैं कि बाबू साहिब एक अन्य व्यक्ति को साथ लिये उसकी सन्दूक और गठरी मोटरी ढकेल ढकेल कर बेंचों के बीचकी जगह भी भर रहे हैं। देखा, कि यह तो अपने यहाँ का एक पुराना कार्य्यकर्त्ता और एगाना है, जो आकर प्रणाम कर कहने लगा, कि "मैं समझता था कि आप अवश्य ही इस गाड़ी में पधारेंगे। खैर यह सब तो फिर कह लूँगा, यदि कुछ जलपान करना हो तो लोटे में शुद्ध जल प्रस्तुत है, और मिठाई भी बहुत अच्छी पास है।" मैंने कहा कि इस समय तो आवश्यकता नहीं है। उसने कहा कि—"नहीं कल के लिये भी तो ध्यान रखना चाहिये। न जाने कब कुछ मिलेगा या नहीं।" निदान उसके हठ पर दो मिठाई खाकर एक गिलास पानी पीकर जो खाली हुआ, कि नवाब साहिब भी रूमाल से मूँ पोछते पहुँच ही तो गये। कहा, कि "ले अब चलिये बर्थ पर" क्योंकि नीचे तो ठिकाना ही न रहा। निदान हम दोनों ऊपर पहुँचे अब उनकी मिहरबानी भरी और इहसानमन्द बनाने वाली बातों का क्या क्या बयान किया जाय कि मैं चित्त में सोचने लगा, कि—यह तो मानो हमारे मित्र लखनऊ के नवाब साहिब की पूर्ति के लिये कदाचित् भगवान ने इन्हें भेज दिया है। अस्तु, बड़ी-बड़ी मजेदार बातें आधी रात तक होती रहीं। नवाब साहिब बड़े अच्छे और रसीले सज्जन समझ पड़े। उधर नीचे बाबू साहिब ने जो उक्त आगन्तुक व्यक्ति को पाया तो यह ऐसे चहक चले कि जैसे बसन्त का बुल्बुल और इधर नवाब साहिब कोकिल बन कूजने लगे। रात उनकी दिल लुभाने वाली हो चली और अब नये मुसाफिरों से भरी कई नई गाड़ियाँ जोड़ रेलगाड़ी भी चली। पास की कोठरी के पलंग पर बैठे एक अन्य बङ्गाली महाशय ने हारमोनियम निकाल कर बजाना आरम्भ किया और सब प्रकार अब यात्रा सुखदाई जँचने लगी। बहुत देर तक जगने के उपरान्त निद्रादेवी भी आ गईं और रात भर आनंद दे कर सूर्योदय देख कर तब टलीं।

प्रातःकाल टूण्डले के स्टेशन पर पहुँचे। गाड़ी चबूतरे में लगते ही मुसाफिर यों निकल चले, कि जैसे काबुक खुलते ही कबूतर। कोई काली ओवरकोट और नाइट कैप से ढके मुँह से भकाभक चुरुट का धुआँ उड़ाते मानो इञ्जिन के बच्चे बने दौड़ते, तो कोई रजाई और दुलाई लादे सिकुड़े सिकुड़ाये अपने आवश्यक कृत्य से बिवश चलते फिरते। कोई ईजारबंद खोलते और बँधना टटोलते, तो कोई आधी धोती ओढ़े लोटा हाँथ में लिये लाँग खोलते पाखाने में घुस जाते, और कोई थू-थू करते उसमें से निकल आते हैं। कोई पानी का बम्बा खोलते और पत्थर पोंछ-पोंछ कर लोटा माँजते; लाचार हो हिन्दू आचार बिचार गवाँते; तो कोई हाथ मुँह धोते और कोई उस बरफ के बाप आब में नहाते थर थर काँपते मानो बेतसा खाये बेचेत लरखराते पैरों किसी किसी तरह गिरते पड़ते गाड़ी तक पहुँचते, यदि अनेकों की आँखों में अपनी जल-शूरता के प्रमाण बने आचार समर को जीतते, जीते जी घायल से आकर अपनी जगह गिरते और अनेक अपने जातीय बंधुओं से धन्य-धन्य साधुवाद सुनते भी कान से नहीं सुनते।

सरदी से मूर्छित अपने साथियों से कई रज़ाई उढ़ा कर दबाये जाते, पर तौ भी दुल्की चलते घोड़े के सवार सदृश उछलते मानो शीत ज्वर से पीड़ित से लखाते, और अनेक अन्य जातियों के यात्रियों को हिन्दूजाति की इस स्वाभाविक बेवकूफ़ी पर हँसाते हैं। कोई काफ़ी या कहवा उड़ाते, तो कोई भाफ़ निकलती चाय के प्याले लिये चम्मच चूस रहे हैं। कोई गर्म्मा गर्म्म जलेबी और पूरी कचौड़ियों पर हाथ फेरते, तो कोई पेड़े वर्फ़ी उतारते। कोई चने चाबता, तो कोई गोश्त रोटी और कबाब की कचर कुट मचा चला। कोई बिस्कुट या पावरोटी के टोस्ट का टेस्ट लेता, तो कोई मुर्गी के अन्डे चूसता। कोई ह्विसकी औल्डटाम और एकृशा नम्बर वन के पेग पर पेग जमायें रूमाल से मुँह पोंछता रिफ़रेशमेन्ट रूम से निकला चला आता है।

मैं उनिद्रित हो प्रभात-बन्दना से निवृत्त हो ज्योंही आँखें खोली, चेष्टित संसार को देख गाड़ी से बाहर निकल कर चार क़दम टहल लेना और एक नज़र स्टेशन और यात्रियों के हुजूम पर डाल देनी अति आवश्यक समझा, और उतरा तो देखाकि मेरा एक ख़िदमतगार एक बड़े गिलास में पानी और तौलिया लिये चला आरहा है। मैंने हाथ बढ़ाया, उसने जो पानी दिया तो उसके असह्य स्पर्श की कौन कथा कहूँ, मालूम हुआ कि मानों हाथ में बिच्छू ने डङ्क मार दी। क्या करता? लाचार आँख धोना ही पड़ा, कुल्ली करनी ही पड़ी!

दाँत हिल गये ! हाँथ बेकाम हो गया ! जहाँ जहाँ मुह पर पानी लगा मानो चमड़ा सुन्न हो गया। शरीर में कँप कँपी लग गई। परन्तु हिम्मत कर दम क़दम आगे ही बढ़ा। खिदमतगार ने पूछा, कि "भट्टाचार्यजी महाराज तो यहाँ उतरते हैं, पूछा है कि यदि आप उतरें तो असबाब उतारा जाय।" मैंने कहा, कि इरादा तो था, परन्तु अब नहीं है। इतने ही में देखता हूँ कि हमारे पूर्वोक्त मित्र श्रीमान् भयंकर भट्टाचार्य्य जी महाराज चातुर्वैद्य अपना असबाब एक कुली के सिरपर लादे और एकाध गठरी बग़ल में दाबे लुटिया डोर झुलाते चले आते हैं। मैंने पूछा, कि—क्यों उतर पड़े, यहाँ क्या है ? उतर मिला "क्या नहीं है ? भूमि है, आकाश है, कुएँ का गरम गरम जल है, स्वच्छ वायु है, हरे हरे वृक्ष हैं, चमकीली धूप है, मनुष्य को जो कुछ आवश्यक है सबी कुछ तो है, क्या नहीं है आप दिल्ली में पहुँच कर आज कौन सा अलभ्य लाभ लूट लेंगे। बैठे बैठे गाड़ी में तो सड़ गये, क्या करे। इस रेल राँड़ पर चढ़ सब प्रकार से बेधर्म्म तो होई गये हैं, अब तुम क्या चाहते हो कि जीते ही कुम्भी पाक नर्क का दुख देखने को स्टेशन के पायखाने में भी जाँय, वा मल मूत्र का वेग रोकें, खाने पीने से मुह वन्द किये, सन्ध्योपासनादि कृत्य छोड़, ऐसेही माल गाड़ी में गठिये से कसे कसाये चले चलें राम राम !" मैंने कहा, कि—एक बार तो किसी प्रकार चढ़ बैठे ऐसा न हो, कि फिर इतना भी जोग न लगे। और मुझे तो विश्वास नहीं होता, कि—

इच्छानुसार यहाँ सुख भी मिले। अपरिचित देश, और कोई स्थान विशेष भी तो नहीं। बोले, कि—"दिल्ली में लगे आग, और दर्बार ससुरे पर पड़े बज्र। जब अपना शरीर वा मनही नहीं प्रसन्न रहा, तो फिर क्या लाट कर्जन को उठा कर यदि कोई मुझी को उस कुर्सी पर बिठा दे, या एडवर्ड महाराज के स्थानापन्न मेरा ही राज्याभिषेक वहाँ क्यों न हो, तो भी तो मैं इस दुख से कदापि वहाँ न जाऊँ। और यह तो एक लीला है, छोटी छोटी लीलाएँ नित्य देखते रहते हैं, यह कुछ बड़ी होगी। और वहाँ धराही क्या है ? चार दिन इधर उधर की टीम टाम देख लीजिये और कहीं कुछ नहीं। अपने से तो यही मूर्खता हो गई कि घर से चल पड़े, अब तो बिना पचीस पचास बिल्टे रहता नहीं ? लाभ तो कौड़ी एक का लखाई नहीं पड़ता, हानि की गिनती ही नहीं। अस्तु इससे अधिक और काया-कष्ट हमारे मान का नहीं है। फिर न हम निज़ाम, न कश्मीर नरेश; न गायकवाड़ और न सेंधिया, कि गद्दी से उतार दिये जाने का डर हो, हमारा कोई क्या कर सकता है ! कोई यह भी

तो नहीं पूछ सकता कि तुम क्यों नहीं आये ? आकाश की ओर हाथ जोड़ कर धन्य भगवन् ! तुमने फिर भी इस भारत के नाम-मात्री राजाओं से हमें लाख दर्जे अच्छा बनाया। धन्य ! ! धन्य ! नहीं तो आज इतनी भी तो स्वतन्त्रता, निश्चिन्तता, मनस्विता, और उत्साह चित्त में न होता ! अस्तु आप उधर जाइये,मैं तो इधर जाता हूँ । सुख से भांग-बूटी छान, स्नान,सन्ध्या,पूजा और भोजनपानोपरान्त, यदि इच्छा हुई तो सन्ध्या वा प्रभात् की गाड़ी में यदि यथेच्छ स्थान मिला, तो कल-परसों तक पहुँच जाऊंगा। नमस्कार ! हाँ ! ! यह तो कहो, कि ठहरोगे कहाँ ?" मैंने ठिकाने बतलाये, और वह बढ़े, मैं जाड़े से अकड़ रहा था, चाहा कि चल कर ओवरकोट पहन आऊँ, आगे बढ़ा तो देखता क्या हूँ, कि उक्त नव्वाबसाहिब अपना असबाब एक कुली से उठवाये चले आरहे हैं, मैंने पूछा कि "कहाँ जाते हैं" ! कहा कि "उधर के सेकेण्ड क्लास में जाता हूँ,एक जगह खाली है । देखिये अगर मौक़ा मिला तो आप को भी बुलाता हूँ ।" वह तो बढ़े उधर, और मैं चला इधर । बीच में एक और मित्र मिले और दो तीन मिनट तक पिण्ड न छोड़ा, बल्कि साथ साथ गाड़ी तक आये तो देखता हूँ कि सिवा बाबू सहिब के और कोई गाड़ी में नहीं है । वह पहुँचते ही कहने लगे कि "नबाब शाव तो गिया । हम उसको बाहूत रोका, किन्तू वो माना नेईं ! अहा केशा भाला लोक थी ।" मैं जो आकर कोट पहिना और जेबों में हाथ डाला तो मनी बेग न पाया ! मनीमन में चौकन्ना हो इधर उधर ढूढ़ने लगा पर वह क्यों मिलता । लोग भाँप गये और पूंछ चले, विशेषतः दो अन्य बंगाली सज्जन जो बगल की बर्थ पर थे और शहर से अभी अब आये थे। मैं चुप हो रहा, पर वह बारम्बार कहने लगे कि "बोलो ना ? कुछ आप का जेरूर नोकसान हो गिया है, हमको बड़ा शोन्देहो होता है ।" अत्यन्त हठपर मैंने कहा, कि—शायद इस कोट की जेब में मैंने मनीबेग रख दिया था, वह नहीं है । कदाचित् कहीं गिर गया होगा, अथवा रखने ही में कुछ असावधानी हो गई हो । बस, इतना कहना था, कि चारों ओर के लोग जुड़ आये और भाँति भाँति के तर्क वितर्क आरम्भ कर चले और कुछ ही देर में लोगों ने निश्चय कर लिया कि—यह काम उन्हीं नबाब साहिब ही का है कि—"वह बहुत देर तक ढूंढ़ ढाँढ़ करता था । " तो दूसरे ने कहा, कि—"कोट की तह तक खोलते मैंने देखा था ।" हमारे बाबू साहिब कह चले कि—"हमने उस शाला को बहुत रोका किन्तु ओ कूछ शुना नेईं और बड़ा तड़ातड़ी में भागा ।" एक ने कहा, कि—

"साहिब आप लोग भी तो सब के सब निकल भागे, कहीं ऐसा भी करना होता है। हम तो देखते थे पर यह क्या जानते थे कि आप के नव्वाब जी चोरी करते हैं।" बग़ल के दूसरे बाबू बोले, कि "हम तो उसका शूरत देखते ही सामजा, जे ये अवश्शा कोई खोटा मनुष्य होय, किन्तु, क्या दोरकार। ओहो! की आश्चर्ज्जो! देखो ना, इस माफिक लोक केशा धोखा देता है फिर सबसे अधिक पूर्वोक्त एगाना चेला उठा और कमर कसता चलता कहने लगा, कि "देखो अभी साले को तमाचों मारता पकड़े लाता हूँ।" मैंने उसे वारण किया। मुझको उस मनीबेग का नहीं जिसमें कदाचित् रूपये दस से अधिक न थे, परन्तु सब के सब रिटर्न टिकट मैंने उसी में रख दिये थे अतः उसके खो जाने का बड़ा रंज हुआ और उसी के लिये कोई उचित कर्तव्य का निश्चय नहीं होता था, और किसी की कोई सलाह मुझे नहीं भाती। हरचन्द उस गाड़ी में बड़े बड़े चतुर और चैतन्य लोग थे और एक दर्जन से कम सलाह भी लोगों ने न बतलाई, परन्तु मुझे उनमें से कोई न भाई।

मैंने इतना ही सारांश समझा कि—यह भी अंग्रेजी नकल का दण्ड है नहीं तो मनी का स्थान कमर, कि बेग और जेब? और फिर ओवरकोट का। हमारे यहाँ "रूपया टेंट का" की कहावत चिर प्रसिद्ध है। अस्तु, "गतन्नशोचामि।" कह कर चुप हुआ। इसी झंझट में समय बीतगया और रेलगाड़ी चल निकली, तो भी रेलगाड़ी की चाल के साथ ही साथ चर्चा इसी की चलती रही। लोग अपनी अपनी कोठरियों में बैठे अति आश्चर्य और परिताप से इसी की कथा कहते, भाँति-भाँति के सोच विचार कर कई उपाय, अनुष्टान और कर्तव्य स्थिर करते रहे।

कोई अगर एक युक्ति बतलाता, तो दूसरा भी उसे उचित ठहराता। तीसरा उसमें दोष दिखलाता, तो चौथा पाँचवे के कान में लग कर मुस्कुराता और कुछ कहता जिसे सुन वह अपनी गर्दन हिलाता और मुझे सूचित करने की सम्मति देता; विशेषतः बंगाली लोग जिनकी संख्या भी उस गाड़ी में विशेष थी, इस विषय पर विशेष आन्दोलन कर रहे थे। किसी स्टेशन पर गाड़ी खडी होते देर न होती और मेरे लिये नये दो चार अनुष्ठान बतलाये जाते, जिन्हें सुनते सुनते मैं इतना अग्रान हो गया कि वहाँ बैठना कठिन प्रतीत होने लगा। यद्यपि मैं उनसे यह भी बारम्बार कहता कि मैं अब एतद्विषयक कोई कार्य्यवाही नहीं किया चाहता, तथापि दो चार बङ्गाली महाशय इतने उत्तेजित थे कि वह किसी प्रकार नहीं मानते, कई बार जा जा कर

एक एक गाड़ी उन्होंने झाँकी पर उसकी झाँकी न झलकी। तब कोई तो पुलीस में इत्तिला करने जाता, तो कोई स्टेशनमास्टर से, कोई दिल्ली में टिकट देते उस कपट नव्वाब के पकड़ने का प्रबन्ध करता, तो कोई टूंडले में उसकी खोज गिरफ़ार कराने को उद्यत, कोई मेरे खोये टिकट के यत्न में तत्पर, तो कोई इसके कारण होने वाली क्षति के बचाने में व्याकुल होता, क्योंकि समझता कि जो खोना था, सो खो चुके; और भी जो क्षति उसके कारण होगी सह्य होगी; परन्तु इस व्यर्थ आन्दोलन का फल कहीं ऐसा तो न हो कि मैं कहीं इन्हीं स्टेशनों का न हो रहूँ और दिल्ली दर्बार-दर्शन के स्थान पर किसी दूसरे ही ज़िले की अदालत की सैर न करनी पड़े, इसी से बड़ी-बड़ी विन्तियों से उन्हें रोकता और इन बातों के न सुनने के लिये स्टेशन पर ट्रेन रुकते ही मैं गाड़ी से बाहर निकल भागता। बड़े-बड़े स्टेशनों पर जहाँ गाड़ी देर तक खड़ी होती इतने यात्री भिन्न-भिन्न नगरों के निवासी उतरते कि जिनमें बहुतेरे जान पहिचान और कई मित्र मिल जाते। जिनमें कोई-कोई टहलते हुये मेरी गाड़ी तक भी चले आते। विशेषतः फर्स्ट और सेकेण्ड क्लास के बगल में रहने से उक्त समाचार परस्पर एक दूसरे मित्र के कहते सुनते ऐसा फैल गया कि जो मिलता यही पूछता, उनमें भी किसी को न्यून और किसी को अधिक इसी की चिन्ता हो चली।

विशेषतः स्वनगर निवासी एक प्रतिष्ठित-कुल-सम्भूत नवयुवक जिनसे एक प्रकार का घनिष्ट सम्बन्ध और जो किशोरावस्था ही से मेरे मूँलगे हो रहे थे, अब पछाँह के एक ज़िले में नायब तहसीलदार थे, मेरी गाड़ी में पहुँच इस समाचार को सुनकर अति आश्चर्यित और दुखी हुये; और इस विषय में कर्तव्य स्थिर करने के अभिप्राय से भिन्न-भिन्न गाड़ियों पर चढ़े मेरे और अपने मित्रों से इस समाचार को इस प्रकार बाँट चले कि जैसे चिट्ठी-रसा लोग चिट्ठियाँ। विशेष कर सबसे यह सम्मति संग्रह करते, कि टिकट के लिये क्या कर्तव्य होगा? वह प्रति बड़े स्टेशनों पर लौट कर आते और कुछ आश्वासन दे जाते। मैं घबराता और उन्हें वारण करता, पर वह न मानते। अन्त को आकर उन्होंने कहा कि टिकट की चिन्ता अब छोड़ दीजिये मैं उसका ठीक लगा चुका हूँ। आपही के कथनानुसार न तो यहाँ से नया टिकट खरीदना पड़ा और न आप को पिनालटी देनी पड़ैगी। हाँ एक मनुष्य का कुछ कृतज्ञ होना अवश्य पड़ेगा। मैंने कहा कि इस तक विशेष चिन्ता नहीं।

अब हाथरस जङ्कशन आया। धूप भी चमक चली थी और जाड़ा भी कम था, अतः लोग भी अधिक चलते फिरते नज़र आने लगे। मैं भी उतरा, देखता हूँ अति अधिक अपने परिचित व्यक्ति और मित्र घूम रहे हैं। जो इधर कलकत्ते और बनारस के कई बाबू और महाजन, तो उधर इलाहाबाद और कानपुर के कई पण्डित जी, लाला साहिब और मिस्टर। लखनऊ और फैज़ाबादि के कई मुन्शी, मोलवी, अमीर, राजे और तअल्लुकऽदार। तो उधर जबलपुर के सेठ साहिब लोग किसी से प्रणाम, आशीर्वाद, और नमस्कार, तो किसी से गले मिलौअल, किसी से झुक झुक कर आदाब और तसलीमात, तो किसी से गुडमार्निङ्ग, और हाथ हिलौअल होती। किसी से यदि कुशल प्रश्न, तो किसी से दिल्ली में ठहरने ठहराने की पूँछ पाँछ, और किसी से फिर वही बे बात की बात। जिसका न तो कोई उत्तर और न कोई फल। अस्तु फिर घंटा बजा, लोग अपनी अपनी गाड़ियों पर दौड़ चढ़े और गाड़ी चली। ज्यों ज्यों गाड़ी आगे बढ़ती जाती दिल्ली दूर होती जाती, क्योंकि भीड़ इतनी बढ़ती आती कि गाड़ी में टसकने को भी जगह नहीं रह जाती, और न साथियों की सूरत लखाती। आदमियों के ऊपर असबाब और असबाब पर आदमी, वरञ्च कहीं कहीं आदमी पर भी आदमी। कोई सिकञ्जे में कसे के समान कोने में बैठा, तो दूसरा लड़के की नाईं उसकी गोद में जा बैठा, तीसरा खड़े खड़े उस पर बैठ जाता और चौथा भी खड़ा ठेल ठेल कर ढकेलता? ऐसी ही दशा दूसरी ओर, वरञ्च सबी ओर दिखाई देती? निदान प्रति कोठड़ियों में ऐसा द्वन्द्व युद्ध होता। सबको अपने प्राण रक्षा की चिन्ता? सबी अपने पास वाले को ढकेल ढकेल साँस लेने का अवकाश ढूंढ़ते, परन्तु कहाँ पाते। तो भी प्रति स्टेशनों पर रेल के कर्म्मचारी खिड़कियों में झाँक झाँक कर और मुसाफिरों को भरने की अभिलाषा से अपने साथ लिये दौड़ते और स्थान ढूंढते फिरते थे। प्रत्येक गाड़ियों में ऐसी चिल्लाहट और घबराहट मची थी, कि कदाचित् बहुतों को दिल्ली पहुँचना असम्भव सा प्रतीत होने लगा। मैंने भी कई बार चाहा कि कहीं बीच में ही उतर जाऊँ और प्राण बचाऊँ, परन्तु अब इसका भी अवसर कहाँ था, जब कि यह भी न मालूम होता कि यह स्टेशन कौन सा है! न झाँकने झूंकने का अवकाश, न स्टेशन पर सिवाय मनुष्य के और कुछ लखाई पड़ता? जिस प्रकार यह सवारी गाड़ी मुसाफिरों से कसी थी उससे अधिक अवकाश तो कदाचित मालगाड़ियों में भी रहता होगा,

परन्तु इन गाडियो में तो नीचे और ऊपर के तख्तो के बीच कही तिल धरने को भी जगह वास्तव में न थी। और आनन्द यह कि आने वाले तो प्रत्येक स्टेशनों से और उतरने वाला कहीं कोई भी नही। हाथरस तक तो किसी प्रकार हाथ पैर भी हिलाया जा सकता था। पर अलीगढ से तो मानो गाडी-गढ पर अली से वीर सैनिकों का आक्रमण आरम्भ हुआ। गाजियाबाद मे पहुँचते पहुँचते गाजी बनने बनाने का सा दुख अनुभव होने लग। अथवा यह कहिये कि मानों रेल गाडियाँ सिराजुद्दौला की कालकोठरी बन गई थी। अनुमान होने लगा कि मानो रेलवे कम्पनियाँ उस दुख और कष्ट को, जो उनकी जाति पर भारत मे साम्राज्य उत्सव के अवसर पर दिल्ली आने वाली अग्रेजी प्रजा को अनुभव करा देना आवश्यक जानकर इस प्रबन्ध में कृतकार्य्य हो रही हैं। वास्तव मे यदि इस भाँति दो चार घण्टे और यात्रियों को गाडी मे बैठा रहना पडा तो निश्चय अधिकाँश मनुष्य मर गये होते, बीमार तो न जाने कितने हो गये होंगे।

निदान इस प्रकार अभूतपूर्व दु.ख से कातर मनुष्यों से भरी रेलगाडी शहादरा पहुची। गाडी खडी होते ही और शहादरा स्टेशन का नाम सुनते ही मानो शरीर मे प्राण आ गया। दु.ख दूरसा हो गया और अकथनीय आनन्द प्राप्त हुआ। मनी मन मे ईश्वर को धन्यवाद देता उतरने की चेष्टा करने लगा। किसी प्रकार गाडी की खिडकी भी खुली और नीचे के खडे लोग हवा के प्यासे बाहर भी निकल पडे जिससे उतर पडना भी सम्भव हुआ और मैं राम राम कह गाडी छोड जमीन पर आया। देखता हूँ, कि न वहाँ प्लेटफार्म है न स्टेशन का पता। मेरे साथ कुछ असबाब अधिक न था, तौ भी जो था उसे ढूढ ढूढ कर मेरे मिर्जापुरी साथी ने ला दिया। विदेशी सज्जनों ने भी ढूढने मे सहायता की, क्यों कि स्वाभाविक सज्जनता को छोड़ एक आदमी का भी गाडी से उतरना मानों सब यात्रियों को उस समय पर अनुगृहीत बनाना था। मैं अट्ठाईस घटे गाडी पर बैठा जकड उठा था, टहलने लगा। बद-इन्तजामी यहाँ तक बढ रही थी कि गाडियों में भी रोशनी नही थी, तब और स्थान की कौन चलावे। जहाँ तक दृष्टि जाती थी कह-कहा दीवार सी गाडी ही गाडी नजर आती थी। इतनी बडी ट्रेन कभी काहे को देखने मे आई थी। कुछ देर बाद वह चली, मानो विपत्ति टली। ऐसा अनुमान होता था मानो उजडी दिल्ली बसाने के लिये मनुष्यों से भरे असख्य गृह, वा किसी

नगर का एक प्रान्त, ढकेला चला जा रहा है, और लोग जन्मभूमि बियोग दुख से घोर कोलाहल कर रहे हैं। टहलते टहलते देखने लगा कि थोड़ी दूर पर कुछ प्रकाश हुआ, उधर ही को चला। सोच रहा था कि देखें अपने सेवक सब असंबाब के साथ उतर सके या दिल्ली पहुँचे। देखते हैं कि लाल-टेन जलाये एक मेरा खिदमतगार पूर्वोक्त मेरे प्रिय मित्र (साम्प्रतिक नायब तहसीलदार) मसीहा की सूरत ख्वाज: खिजिर बने वा मुश्किल कुशा से चले आते हैं। मैं उस जनशून्य स्थान में उन्हें देख सचमुच मसीहा और मुशकिलकुशा मान सम्मान पूर्वक आगे बढ़ा। मुस्कुरा कर उन्होंने कहा, कि "चलिये आप के नौकर मय कुल असबाब के उतार लिये गये। हमारे सर्किल के कमिश्नर साहिब का डेरा इसी पार खड़ा है, उनके शरिस्तादार साहिब जो कि मेरे मित्र और आप के सजातीय और पूर्ण परिचित हैं, यहाँ से पास ही उसी डेरे में ठहर रहे है, मैंने उन्हें अपने आने का समाचार लिखा था, अतः उन्होंने अपना जमादार मेरे लेने को भेजा था, मैंने उसे कुली आदि लाने और असबाब उठा कर वहीं पहुँचाने को कह कर आपको लेने आया हूँ, चलिये आप वहीं चले चलिये।" मैंने कहा, कि टिकट का क्या हुआ। उन्होंने कहा कि "मैं सब दे दिला आया, आप निश्चित चलिये।" यों बातें करते करते हम लोग असबाब के पास पहुँचे।

देखा कि कई कुलियों के सिरपर असबाब लदाये जमादार साहिब चलने पर उद्यत हैं। हम लोग आगे बढ़े और वे लोग भी चल कर स्टेशन पर पहुँचे। स्टेशन का प्लेटफार्म और उसकी बाहरी सहन, कूप, वृक्षाति से युक्त अच्छी थी। मैंने आदमियों से कहा, कि असबाब तब तक ले कर यहीं ठहरो और यह भी दर्याफ़्त कर रक्खो कि यहाँ कौन कौन सी आवश्यक वस्तु लभ्य हो सकती है। मैं अपने उन स्वनगरागत माननीय मित्र का पता लगा कर तुम्हें बुला भेजता हूँ। निदान मैं और एक लालटेन वाला सेवक नायब तह-सीलदार और जमादार को साथ लेकर ढूंढ़ हारा पर मित्र कहाँ मिलते हैं। किसी कवि का कथन याद आने लगा, कि "खुदा मिले तो मिले आशना नहीं मिलता।" सुना कि आजही शामको वह कहीं दिल्ली में ठिकाना लगा, डेरा डण्डा उठा जा पहुँचे। सोचा कि जब यहीं वह न मिले, तो दिल्ली में कहाँ सम्भव है। अतएव उनसे अब निराश होना चाहिये।

नायब तहसीलदार साहिब कुढ़ कर कहने लगे, कि मैं आपसे पहिले

और इस अँधेरी रात में नाहक तकलीफ़ उठाई। स्टेशन से सटे हुए कमिश्नर साहिब के लश्कर में (जिसे उन्होंने आते समय दिखाया था,) न ठहर गये। अस्तु अब चलिये और वहीं मेरे डेरे में डेरा कीजिये।" मैंने कहा, कि—मेरा अभिप्राय यह था कि यदि वह मिल गये होते तो देखते कि वहाँ ठहरने से कितना सुख प्राप्त होना सम्भव है। यदि यथेष्ट समझते तो इसी समय निश्चित रूप से डेरा डाल देते और फिर उससे उत्तम यदि दूसरा मिलता तब फिर टसकते, किन्तु अब तो निश्चय दिल्ली ही में ठहरने की ठहरी इसी से स्टेशन छोड़कर इधर आना इष्ट नहीं है। इतने ही में हम लोग उक्त कमिश्नर के लश्कर के पास पहुंचे, शरिस्तेदार साहिब भी मिले और नायब तहसील-दार साहिब ने उनसे मेरा परिचय कराया। वह बड़े ही तपाक से मिले और परम सज्जन और सुहृद निकले। अति आग्रह से कहने लगे, कि "बहुतेरे डेरे खाली हैं, आप इन्में से एक लीजिए और चैन से रहिये, किसी प्रकार का कष्ट न होने पायेगा। साहिब भी दस रोज़ तक यहाँ न आयेंगे, हमी लोगों का स्वतंत्र राज्य रहेगा। मैं अपने रसोइये से आपके लिए भोजन बनाने को कहे देता हूँ।" और जमादार से असबाब उठा लाने के लिये कहने लगे। परन्तु मुझे वह स्थान स्टेशन की उस सुखद संस्थली से अच्छा न जँचा, न दिल्ली छोड़ वहाँ रहना, न एक रात के लिये उनका इतना भारी इहसान उठाना ही उचित बोध हुआ। अतः यद्यपि वह रुष्ट भी हो गये तथापि उन्हें अनेक धन्यवाद देकर और किसी किसी प्रकार उनसे छुटकारा पाकर मैं चलता हुआ।

अब जो स्टेशन पर पहुँचा, तो देखता हूँ कि मेरे नौकरों ने बरामदे में सब असबाब बहुत कायदे से लगा दिया है। स्टेशन मास्टर और चपरासी आदि से व्यौहार भी बढ़ा लिया और उनसे पूँछ पाँछ कर आवश्यक सुख साधन का सब उपाय भी कर रक्खा है। इतना चल फिर आने से बैठने की थकावट बहुत कम हो चली थी। मैं पहुँचते ही अब आगे का प्रबन्ध कर चला। एक मनुष्य को कुलियों के साथ बाजार भेज कर-बहुत-सी लकड़ी, उपली, घड़ा आदि तथा सीधा सामग्री लाने को भेजा, दूसरे से ताजा पानी लाने, और से बिस्तर बिछाने को कह, कपड़े उतार चला और पानी आने पर आवश्यक नित्य कृत्य में प्रवृत्त हुआ। इन्धन शीघ्र और यथेष्ट आगया था, स्टेशन मास्टर यह कह कर अनुगृहीत कर चुके, कि "चबूतरे के नीचे, जहाँ चाहिये भोजन बनाइये और आग जलाइये।" निदान कई अहरे और

एक भारी तप्ला जलाकर आवश्यक कृत्य का आरम्भ हो चला। एक ओर चूल्हा चौका का कार्य चलता, तो दूसरी ओर पानी गर्म होता, रात को जाड़ा यद्यपि चमक चला था, तौभी वायुका चलना बन्द था, जिस कारण उस खुले मैदान में रात्रि के समय कष्टपूर्वक भी हम लोग अपने अपने आवश्यक कृत्य का निर्वाह कर सके और इस जन्म में एक दिन पञ्चाग्नि तापने का यश ले सके। दस बजे के बाद हम भोजन करके अपने बिस्तर पर आ लेटे। भोजन के आरम्भ ही से वायु संचार हो चला था, जिस कारण से पञ्चाग्नि के सहारे से भोजन करना परम दुःसाध्य हो गया था। निदान अब खूब कपड़े पहिन कई कम्बल और रजाइयों के नीचे आ दबके। कुशल यह था कि यहाँ शीत और वायु का भी बचाव था, इसी से बहुत देर के बाद शरीर गर्म हो आया। आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होने पर बुद्धि भी ठिकाने आ गई थी, नौकर भी खा पी कर आगये थे, बारह बज चुका था; मैं उस समय की दशा देखने के अभिप्राय से उठ बैठा, देखा कि अद्भुत सुनसान का समा है, कहीं से कोई चूँ नहीं करता है, मेरे नौकर कपड़े पहिने रजाई ओढ़े हुये भी काँपते बड़ी दरी खोल कर ओढ़ रहे हैं। इतने ही में एक स्पेशल ट्रेन आई और चली गई। यह भी नहीं मालूम होता था कि वह मालगाड़ी है या सवारी। क्योंकि एक भी खिड़की नहीं खुली थी और न कोई उतरने चढ़ने वाला और न बोलने वाला था।

लौटते हुये स्टेशन मास्टर पास आये और सहानुभूति दिखला कहने लगे कि "और मैं आप का यहाँ क्या हित कर सकता हूँ?" मैंने पूँछा कि अब दिल्ली को सवेरे गाड़ी कब जायगी, और मैं वहाँ किस समय तक शीघ्र पहुंच सकूँगा। उन्होंने कहा कि "गाड़ी तो दिल्ली को आज कल एक घन्टे में भी कई जाती हैं, सवेरे भी कई गाड़ियाँ जायँगी, आपको भी अकेले दुकेले में भेज सकता हूँ, परन्तु इतने असबाब का साथ ले जाना तो महज गैर मुमकिन है। फिर वहाँ के स्टेशन से इसे दूर तक ले जाने में बनिस्बत यहाँ के जियादा ही तरद्दुद और सर्फा भी पड़ेगा। सुबह यहाँ घोड़े गाड़ी, इक्के, ठेले, बैल गाड़ी सब मिल जाँयगी, आप खातिरख्वाह इन्तजाम कर सकेंगे अगर असबाब साथ लिये यों चले जाइये, तो सब तरह सुबीते में रहियेगा।" कहकर वह तो लाल्टेन झुलाते चल्ते हुए और मैं मूँ ढक कर उन्हीं के उपदेश को उचित और अनुकरणीय समझ सो रहा।

प्रभात यद्यपि निद्रा छही बजे खुल गई, तौ भी सात बजे रजाई छोड़ने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। दिल कड़ा करके सात बजे मैं उठ खड़ा हुआ और खूब गर्म कपड़े लादकर तथा आवश्यक सामग्री सेवकों पर लाद कर शारीरिक नित्य कृत्य के लिये प्रस्थित हुआ और अपने एक प्यादे को सवारी और बार बर्दारा ठीक करने को भेज दिया। नौ बजे आकर जो देखा तो एक बैलगाड़ी खड़ी है, प्यादे ने कहा कि "सिवा इसके न तो दूसरी बैलगाड़ी, न ठेला, न इक्का, न घोड़ा गाड़ी ही मिली, इतनी देर तक ढूंढ़ कर थक गया" मैंने कहा, कि खैर, तुम लोग इसपर असबाब लाद चलो और मैं प्लेट-फार्म पर टहलने लगा, अब स्टेशन मास्टर आदि जिससे सवारी का हाल पूँछता, यही उत्तर पाता, कि "रोज़ अब तक तो आ जाती थी, किन्तु आज नहीं हैं शायद अब कोई आ जाय। पसेञ्जर ट्रेन दो जा चुकीं, जगह कहीं कुछ भी न थी, एक फिर दोपहर को जायगी! मैंने कहा, कि रेल पर जाने से तो मैं पैदर ही जाना अच्छा समझता हूँ, भीड़ का मज़ा पा चुका हूँ, लोगों ने कहा, कि "रास्ते में आप को सवारी भी जरूर मिल जायगी" निदान श्री गणेश कह मैं तो वहाँ से चलता हुआ। एक सेवक भी साथ हुआ, शेष असबाब की गाड़ी के साथ हुए। जाड़ा बहुत कम हो गया था, क्योंकि दस बजने वाला था, इसीसे यात्रा सुखद थी। जिधर दृष्टि जाती थी, सिवा डेरे खेमें के और कुछ नहीं दिखलाता था, राह में एक बुजुर्ग मर्देपीर मियाँ साहब मिले, जिनकी अवस्था यद्यपि अस्सी से ऊपर थी, तौभी हृष्ट पुष्ट और चलने में मुझसे तेज थे।

अंगरेजी एक मसल है कि, "बूढ़े बड़े बतूनी होते हैं, तत्रापि यवन, फिर दिल्ली निवासी, और न केवल बादशाही ज़माने, बल्कि लवाज़े में के लोग; जो कहीं कहीं एकाध अभी काल के गाल में जाने से बच रहे हैं। आरम्भिक सामान्य प्रश्नोत्तर के पश्चात वह लंगड़ी आँधी सी बह चले, मैं भी रास्ता काटने का अच्छा मन बहलाव पाकर प्रसन्न हुआ, क्योंकि वहाँ के कदम कदम का हाल वह बखूबी बतला सकते थे, फिर न केवल वर्तमान, वरञ्च उसके पूर्व और कहीं कहीं उसके पूर्व का भी। किन्तु उनकी थोड़ी ही बातें सुन कर मुझे खेद होने लगा, कि-क्या कहें कि इन बातों के सुनने के अधिकारी संसार में केवल साढ़े तीन मनुष्य थे, जिनमें से यहाँ एक भी नहीं है। अर्थात प्रथम तो डाक्टर हण्टर, वा राजा शिवप्रसाद, जो सुन कर

अपने अपने भारतीय इतिहासों को कुछ अधिक सुधार वा संवार सकते थे। तीसरे लार्ड कर्जन, कि जो अपने दर्बार पर विचार कर सकते हैं। और आधे में हमारे वह मिर्जापुरी बाबू साहिब जिनके रेल के व्याख्यान का बखान मैं कर चुका हूँ, क्योंकि वह भी बहुत कुछ शिक्षा लाभ कर सकते, अथवा कुछ दूषण दे सकते थे। इस लिये कि अस्सी नब्बे वर्ष का हाल तो उक्त मियाँ साहिब अपनी आँखों देखा बयान करते, और शेष अपने दादा से सुना सुनाया; जो एक सौ पन्द्रह वर्ष के हो कर उनके छुटपन में संसार को छोड़ सके थे। निदान औरङ्गज़ेब के इधर का इन्हें रोज़नामचा कहना चाहिये, अथवा दिल्ली रूपी गाँव का पैमाइशी खसरा।

अस्तु अनेक बातों के पीछे मैंने उनसे इतना ही पूछा, कि कहिये दर्बार की कैसी तैयारी हो रही है? बस, इतना ज़बान से निकलना था, कि सुनते ही आप तो हो गये बूढ़े से जवान! तन तन कर लगे कहने, कि "लाहौल-वला कूवत! भला यः भी कोई दर्बार है! हाँ, रियाया और रुअसा के बर्बादी का बायस तो जरूर है। नहीं तो जनाब! दरबार में रुपये खर्च होते हैं; यों ज़बानी जमाखर्ची में कहीं दर्बार थोड़ी हुआ करता है। मैंने अगले बादशाहों के बहुत सारे दर्बार खुद देखे और उनके मुफस्सल हालात भी सुने हैं। जो दर्बार महज़ शाही सालगिरह, नौ रोज़, या ईद के होते, उनमें भी पोंहच कर लोग मालामाल हो जाया करते थे, और तख्तनशीनी के दर्बार का तो फिर कहनहीं क्या है।

महीनों पेश्तर से राग रंग शुरू हो जाता। बड़े बड़े जलसे और जश्न होते, दूर दूरसे हरफ़न के उस्ताद और साहिबेकमाल बुलाये जाते; और जो आते, हमेशा के लिये खुश खुर्रम और आसूदाहाल हो जाते थे, दर्बारियों को इनआम और अकराम तक़सीम होते, खिलअतें अता होतीं, मनसब, मर्तबे और जागीरों में इजाफ़ा होता, माफ़ियाँ बख्शी जातीं, और आम खैरात बाँटी जाती; लोग मुद्दतों बल्कि पुश्तहापुश्त उस फ़ैज से फ़ैज़ियाब और फ़ायदा रस रहते थे। मगर यहाँ तो कहीं कुछ भी नहीं, खार्च का तो कोई मदही नहीं! वही इधर उधर से कुछ फ़ौज बुला ली गई, उसी का बेढँगाबाजा बज गया, लाट साहिब आ बैठे और खड़े होकर कुछ कह वह दिये, सामाय मुजरा हुआ। बस, एक एक बीड़े बज़ारू बदज़ायका पान के लीजिये और चुपचाप रफ़ूचक्कर हूजिये। सो यह भी सलीक़ा तो इन्हें यहाँ आने से

हुआ, वर्ना ये विचारे इन बातों को कब जानते थे। यह तो फ़क़त लड़ना भिड़ना, कल कारखानों का चलाना, और हज़रत सलामत! हर सूरत से रूपा पैदा करना अलबत्ता खूब जानते हैं। शानो शौकत और ऐशो इशरत की बातें ये क्या जानें। दरहक़ीक़त आदमियत औ सुहूलियत तो इन फरंगियों में अभी बहुत ही कम है। तहज़ीब और तकल्लुफ़ तो मुतलक़ जानते ही नहीं। देखिये न इनकी लिबास, पौशाक और चाल चलन हरवक्त सियाहपोश, मूँ में लूकी लगाये, हरकारों की तरहाँ दौड़ते। बकौल दस्तार, गुफ्तार, रफ़्तार, तान में से एक का भी सलीका नदारद। आगे नागुफ़्ताब्नः। दिल बहलाव के लिये गेंद और अंडा गुड़ गुड़ खेलते। बखुदा आपको शायद यकीन न आयेगा, मैंने अपनी आँखों से इन्हें घोड़ों पर चढ़े गेंद खेलते देखा है। भला बतलाइये, आखिर तो जानवर ही ठैरा, अगर खुदा न ख्वास्ता कहीं पैर फिसल गया, तब तो बस सब शेखी घुस गई, फिर कहिये तो, यह कौन सी इन्सानियत है? जमीन पर भी जो गेंद खेलते, वह न जाने काठ का होता है, या किसका; कि अगर कहीं सर में लग पड़े, त ज़ुब नहीं कि खोपरी टूट जाय! खैर, अफ़सोस तो इसपर आता कि हमारे मुल्कवाले भी अब इन्हीं को तक़लीद करने लग पड़े।

नाच तमाशे का जहाँ काम आता ह्वाँ एक दूसरे की बीबियों को साथ ले लेकर ये खुद ही नाच भी लेते और वही अपना उजड्डी फ़ौजी बम्पारन बाजा बजाते हैं। नाच में इनके न तो कोई गत है, न तोड़ा, न कोई पैर बाज़ी। घुघुरुओं के बाज की कारीगरी और पेशवाज़ वगैरह का तो खैर ज़िक्र ही क्या रहा। बस! शराब के नशे में बदमस्त हो होकर बन्दरों की तरह उछल कूद करते और जूतियों की खटा खट के साथ किलकिला किल किला कर ऐसा शोर मचाते कि तंग कर रखते हैं। बीबियाँ भी इनकी चें चें की नकली आवाज़ में खुदा जाने क्या गाती हैं कि जो बजाय तबीअत खुश करने के एक अजीब क़िस्म की वहशत और घबराट पैदा करती हैं। गाने में विन्के न तो कोई राग और न रागिनी, न लयदारी या तान और गिटगिरी वग़ैरः भाव और बतलाने समझाने की तो बात ही अलग रही। जो नाज़ और नख़रे दिखलातीं वह भी निहायत नाक़ाबिल बरदाश्त और परले सिरे के भोंडे होते, मगर इसको क्या कीजिएगा कि अब उनकी हुकूमत के सबब खुशामद से लोग विनकी सबी बातों की तारीफ़ करते हैं, कोई हिन्दी साज

बजने झारमन, छयो राग छत्तीस रागनी विस बाजे पर हुई मगन। और थिरक थिरक गत नाचे फिरङ्"।

खैर, ग़दर के बाद मैंने कई दर्बार अंगरेज़ी भी देखे, इन नये शहनशाह सलामत इडवरडशाह बहादर की अम्माजान साहिबा मलिका मुअज़मा विक्टोरिया नें जब कि शहनशाही का खिताब् लिया था, तो उसे भी जिसको दर्बारि-क़ैसरी के नाम से लोग पुकारते थे, देखा, मगर कुछ समझ ही में नहीं आता कि आख़िर इन फ़िज़ूल बातों का नतीजा क्या होता है ? सिवा इसके कि बिचारे राजे और नव्वाब बुला बुला कर बे फ़ायदा तंग और तबाह किये जाते हैं। क्योंकि वे सब मय अपने लश्कर और कुल लवाज़माति जुलूस वग़ैरह के साथ आते, और नाश्ते के लिये एक फूटा दाना तक नहीं पाते; अपने पास से खाते खर्चते आते, और फिर उसी तरह फिर्र चले भी जाते। यों फ़िज़ूल अपनी शान वो शौकत दिखलाने को बेचारे क़र्ज़ ले लेकर सामानि-नुमाइशी के सरंजाम करने में ज़ेरबार होते हैं, और मज़ा यह कि बिलकुल बे फ़ायदा। इन सबको तो चाहिये था; कि-एक एक काली कोट और पतलून पहने हुये, नंगे सर दो चार आदमियों के साथ रेल पर चढ़े चले आते, सरा या होटल में ठहर जाते, सुबह उठकर एक दुपहिया गाड़ी पर चढ़ बैठते, और दर्बार में जा पौंचते, आदाब बजा लाते, और लाट साहब जो कुछ फर्माते सुन आते, बस "अल्ला अल्ला खैर सल्ला।"

जो आज ज़माने की रफ़तार और चलन है, उसीपर कमाहक़्क़हू अमल करते। मगर हमारे मुल्क वाले तो हमेशा से ऐसे ही ढंग पर चलते आते हैं कि जिसमें सिर्फ़ विनका नुक़सान ही नुक़सान हो और वह ज़ेरबार हों। नहीं तो सरीहिन देखते हैं कि बादशाह बल्कि शहनशाह तो अपने तख़्तनशीनी में भी एक ख़र-मुहरा खर्च करना नहीं चाहता,और लाचारी दर्जे पर जो खर्च भी करना पड़ता है उसे टिकस बिकस लगा कर वसूल कर लेता, और ये लोग मुफ़्त में अपने दिवाले निकाले देते हैं। वुह तो देरे, खीमें, मेज़, कुर्सी, घोड़े, गाड़ी और कुल जुमला सामाने अराइश दरबार होते ही नीलाम कर देता, और ये उसे खरीद करने को दस रोज़ और भी ठहर कर इन्तजार करते है। और इस तरह न सिर्फ़ अपना अपना ख़ज़ाना ही खाली कर डालते, बल्कि मक़रूज़ होकर बदनाम और नाक़ाबिल इन्तज़ामे रियासत मुतसव्विर होकर तनज़्ज़ुल किये जाते हैं।

सुन सुन कर मैं मनी मन में हँसता और चुप रहता, कि कहीं बोलने से इनका वाग-धारा-प्रवाह बन्द न हो जाय, क्योंकि ऐसी ऐसी विचित्र बातें सुनीं कि जो कभी काहे को सुनने में आईं, ना आएँगी। काहे को भारत की प्राचीन राजधानी निवासी राजसदनस्थ बाबा आदम के भाई कहीं मिले थे, कि-जहाँ से उनसे जो प्रश्न कीजिये और वहीं से अनोखा उत्तर पाइये। क्योंकि आपके दादा वहाँ मोती मसजिद के मुल्लाओं में से थे और उसी क्रम से आप भी वहीं के लगे लिपटों में से। सारांश जब न रहा गया तब मैंने कहा कि जनाबियाली यह आप क्या फ़र्मा रहे हैं? हर मुल्क की चाल चलन लिबास पोशाक और रस्मो-रिवाज जुदागाना होता है। ऐयाशी और फ़ुज़ूलखर्ची तो कोई अच्छी बात नहीं है। जितना ही कम खर्च हो मुल्क के लिये अच्छा है। और जो हज़रत यह इर्शाद फर्माते हैं, कि अङ्गरेज़ों में आदमीयत और तहज़ीब नहीं है, इसका तो एक ज़माना क़ायल है। इन्तिज़ाम सलतनत कभी ऐसा काहे को था, रिआया के जानोमाल व इज्ज़त की हिफ़ाज़त ऐसी कब थी? ऐसा अम्नो चैन आगे कहाँ किसे नसीब था? और अगले बादशाह लोग तो रिआया का लूट लूट कर मुफ़्त का रुपया खज़ाने में भरे रहते थे बेमौके ऐसे ही बेढंगे तौर पर बर्बाद किया करते थे, भला उन ज़ालिम बादशाहानि-इसलामियाँ से हमारी इस आदिल गवर्नमेंट को क्या वास्ता है? बाकी आप तो इनकी मज़म्मत करना ही चाहें, क्योंकि आपको आगे का सा मज़ा अब कहाँ है? अब आपके फ़तवे कब चल सकते हैं। बस, इतना सुनते ही वो तो जामें से बाहर हो गये, एक एक एतराज पर दस दस दलीलें दे देकर मुझे लाजवाब कर चले। मैं फिर मूँ खोलना उचित न समझा, क्योंकि उनमें हद से ज़ियादा जोश पैदा हो चुका था; इसीलिये मैं सिर हिला हिला कर बाजा इर्शाद कह कह कर उन्हें ठण्ढा कर चला। अंत को उन्होंने यह कहा, कि—खबर्दार अब आइन्दा से ऐसे नाशाइस्ता क़ल्मे भूल कर भी ज़बान पर न लाना, तुम लोग कल के लौंडे हो, जब से पैदा हुये इन्हीं अंगरेज़ों का ज़माना और इन्हीं की शानो शौकत देखी, तुम आगे का हाल क्या जान सकते हो? जो किताबें तवारीख वगैरह की भी पढ़ते हो, वो इन्हीं लोगों की बनाई हुई होंगी, जिसमें अगलों की तो मज़म्मत और मनमानी अपनी उज़म्मत और तारीफ़ लिखी हुई है। फिर तुम सिवा इसके और क्या समझ सकते हो? नहीं तो क्या अगले बादशाहों की बात थी और क्या इनकी! अस्तग़फ़िरुल्ला "भला"

"चिनिस्बत खाकराबर आलमे पाक।" इसके बाद वह बहादुरशाह आदि से अपना और जैसा कि आम लोगों से उनका नित्य का बर्ताव होता था, बयान कर चले—

इतने ही में हम लोग यमुना जी के तट पर पहुँचे, मैं वन्दन अभिवादन करके जो निवृत्त हुआ तो पुल पर चलते चलते बूढ़े मियाँ जी सन् सत्तावन के ग़दर का हाल ऐसा बतला चले कि आँखों के आगे तस्वीर सी खींच दी आँसू भरी आँखों से रोते किला दिखला दिखला कर अपनी आँखों देखे बृतांत वर्णन करके सचमुच मेरे चित्त में भी करुणा का उद्रेक कर चले और पैर पैर भर का व्योरेवार हाल कह चले। निदान इन गाइड के बाबा जान के साथ साथ हम दिल्ली पहुँचे। शहर की सड़क पर कुछ ही दूर चले थे कि एक बड़ी सरा जो दिल्ली के रेलवे स्टेशन के पास ही थी देख कर बड़े मियाँ हाथों से अपनी कमर टेक कर खड़े हो गये और फ़र्माने लगे कि मैं तो अब यहाँ कुछ खाने पीने की फ़िक्र करूँगा, आप कुछ दूर सीधे चल कर दायें तरफ से चल बायें मुड़ और बायें से फिर दायें चल कर इस मोड़ से उस मोड़ और उस मोड़ से उस मोड़ और फिर उस मोड़ से उस मोड़ पर आपको एक बड़ी अज़ीमुश्शान सुर्ख़ पत्थर की बनी हुई मस्जिद जिसके मीनारें आसमान से बातें करते होंगे, यानी जामा मसजिद मिलेगी जिसके आगे बढ़कर बायें बाजू को मुड़कर और फिर कुछ दूर दायें चलकर चितली क़ब्र और फिर भोजला पहाड़ी पहुँच जाइयेगा। बस फिर मुकामें मकसूद ढूंढ़ लीजियेगा। मैं उनसे सलाम कर आगे बढ़ा और सोचने लगा कि इस मोड़ से उस मोड़ और उस मोड़ से उस मोड़ दायें से बायें और बायें से दायें बाजू का पता लगना तो मुशकिल ही है। लोगों से पूछते भी चलना चाहिए। क्योंकि चाहते यह थे कि कहीं घोड़ा गाड़ी मिल जाय तो वही ठिकाने से पहुँचा दे, परन्तु न कहीं खाली गाड़ी और न कहीं एक्का ताँगा मिलता, वरञ्च मनुष्यों से भरी सवारी की भरमार से रास्ता चलना भी मुशकिल था, विशेष कर जहाँ फुटपाथ न थे, वा मोड़ पर मुड़ना पड़ता था। तिसपर यह भी शोर था कि दिल्ली में आजकल संसार भर के चोर आ इकट्ठे हुये हैं, जो पलक मारते ही बड़ी बड़ी चीजें ले चम्पत हो जाते अतः असबाब वाली गाड़ी के पीछे ही पीछे चलना उचित बोध होता था और फिर सवारी निकलने की तैयारियों के कारण किसी किसी सड़क पर बैलगाड़ी जाने ही न पाती थी, इसी से बड़े मियाँ की बतलाई राह गड़बड़ा

गई। गाड़ीवान था नादान और देहात का रहने वाला उसे दिल्ली की गली कूचों से कभी काम ही नहीं पड़ा था, वह हमारे ही आदमियों से पूछता कि बताओ "किधर चलें" क्योंकि गाड़ी चौगाहों पर कदाचित पाव मिनट भी कदापि खड़ी न होने पाती इसी लिए दो आदमी तो मेरे केवल दौड़ दौड़ कर लोगों से यही पूछते घूमते कि भाई चितली कब्र किधर है भोजला पहाड़ी कहाँ है? दस से पूछते तो एक से जवाब पाते, उनमें भी अनेक अपनी अनभिज्ञता प्रकाशित करते फिर विराने देश में किससे पूछें यह भी ठीक करने में असमंजस होता। निदान बिना किसी ठौर ठिकाने उटकर लैस इधर से उधर और उधर से इधर घूमते घूमते नाकों दम आगई, पैरों में अब इतनी भी शक्ति न रही कि दस कदम चलने की हिम्मत रक्खें। निदान किसी प्रकार हम लोग ढूँढ़ते ढाँढ़ते भोजला पहाड़ी पहुँचे। साले साहिब मिले, दिल्ली की लल्लो चप्पो होते हवाते उन्होंने ठहरने की जगह दिखलाई कि जो मुझे बहुत ही भाई। क्योंकि एकांत सुरक्षित, और एकमेव मेरे ही अधिकार में हो सकती थी, न उनके और मिहमान और न कोई दूसरा भी वहाँ था। मनमानी जगह मिलने से तसल्ली से असबाब वगैरह रक्खा गया और डेराडण्डा ठीक हुआ, खाने पीने के बाद जो खाना तहलील करने और हरारत मिटाने को लेटे, तो दिन गायब हो गया। सायम् कृत्य से निवृत्त होते होते रात हो गई और फिर उठने का उत्साह न रहा।

२६ दिसम्बर के प्रभात को जैसे ही रजाई से मुँह निकाला तो गृही महाशय का मङ्गलमय मनोहर मुख लख कर चित्त अति आह्लादित हुआ, क्योंकि ब्राह्मण वर्ण के साथ आपका गौर वर्ण, सुन्दर मुस्कुराता हुआ मुखड़ा सरस और सुहावना था अवस्था आपकी कुछ न्यूनाधिक २२ वर्ष की, स्वभाव अति कोमल, उदार और नम्र। सौजन्य के तो मानों मूर्ति, विद्या आपने अंगरेजी और फ़ारसी पढ़ी है, संस्कृत हिंदी भी अच्छी जानते, फिर उर्दू की जन्मभूमि दिल्ली के रमने वाले अतः बोलचाल बड़ी ही प्यारी और सरस थी। उनकी योग्यता का प्रमाण तो यही है कि पिता के लोकांतरित होने और घरमें कोई बड़ा न रहने पर भी आपने अति शीघ्र विद्योपार्जन किया और सदैव कालेज में अति योग्य माने गये। निदान वह मुस्करा मुस्करा कर कहने लगे कि "वाह! आप अबतक उठे ही नहीं! आज वाइसराय की सवारी निकलेगी जिसकी बड़ी धूम है। बस जल्दी कीजिये नहीं तो नौ बजे के बाद तो रस्ता ही बन्द हो जायगा और फिर बैठने की जगह भी दुश्वार हो जायगी। बड़ी

मुशकिल में पड़ जाना होगा।" अस्तु, मैं चटपट आवश्यक कृत्यों से निबृत्त हो कपड़े पहन रहा था कि गृही महाशय भी तैयार आ पहुँचे और कहने लगे, कि "चलिये देर होती है, सवारी की तो जरूरत नहीं है क्यों कि जहाँ से बैठ कर सवारी देखनी है, बहुत पास है और हुजूम बेइन्तिहा है।" निदान हम सब उनके साथ चल निकले। हमतो मुसाफ़िर थेई, वह गोया, गाइड बने स्थानों का बिबरण बतला चले। कुछ ही दूर चलने पर नानबाइयों की दूकानों से लहसन प्याज मिश्रित निषिद्ध मांस की दुर्गन्ध से भेजा भिन्नाने लगा, जिधर देखिये महा मांस से भरे टोकरे अधिकता से आ जा रहे हैं। घबरा कर मैं कहने लगा कि यह कहाँ लाये? म्लेच्छ नगरी की यह असह्य यातना मैं अब अधिक नहीं सह सकता। इसी से "आहिस्ता के चलने में जान निकलती है। पर जल्दी चलो, याँ जान निकलती है" वह सुन कर हँसते हुये यह कहते आगे बढ़े कि "यह हिस्सा महज़ मुसलमानी बस्ती का है, इसी से यह खराबी नज़राई देती है अब आगे फिर नहीं है।" मैं उनके पीछे लगा हुआ चला, देखा कि आगे वेग से मित्रवर श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य जी महाराज लपके चले आते हैं। मैं बहुत प्रसन्न हुआ, प्रणामानन्तर चलते चलते वार्तालाप हो चली, उन्होंने पूछा कि "आप लोग कहाँ से लाट यात्रा देखेंगे?" गृही ने बतलाया कि "अमुक स्थान से" उन्हों ने मुझसे कहा कि "मैं तो ऐसे अलभ्य अवसर पर एक स्थान पर बंदी सा बैठा व्यर्थ अपना समय नष्ट नहीं कर सकता, वरञ्च अभी नवाब साहिब की गाड़ी पर से कूदा चला आता हूँ। जहाँ जहाँ तक गाड़ी जा सकी तहाँ तक का मेला तो मैं देख चुका शेष के अर्थ उत्कण्ठित हूँ। समझा कि तुम मिल जाओगे तो और भी विधि मिल जायगी। इसी से इधर मुड़ा। सो यदि आनंद चाहते हो, यदि दिल्ली देखा चाहते हो, इस विराटागत जन समूह के संगम का सुख लूटा चाहते हो तो मेरे साथ आवो और मेरे कहने पर चलो।" गृही ने कहा कि—"फिर टिकट खराब हो जाँयगे और शायद बैठने की जगह भी न मिले।" उन्होंने कहा कि "वाह! जगह की कमती है! अस्तु, आप लोगों में से जिन्हें जहाँ इष्ट हो जाँय, परंतु हमतो जाते नहीं।" सारांश साथ के और लोग तो टिकट ले बैठने के अड्डे पर पहुँचे और हम गृही और एक सेवक अपने मित्र के साथ हुये। उक्त महाशय ने इञ्जिन के समान हम लोगों को लिये अपनी परिक्रमा आरम्भ कर दी और घूम घूम कर एक एक स्थान पर विराजमान जन-समूह का निरीक्षण कर चले। यदि गृही महाशय दिल्ली का उसके निवासियों

को देख कुछ उनका हाल बतलाते, तो हमारे मित्र समग्र भारत और उसके भिन्न भिन्न प्रान्त से आगत निवासियों का। निदान एक एक स्थान उनकी सजावट और बनावट एवम् आते जाते, मिले, वो बैठे मनुष्यों की दशा और उनके वेष-विन्यास वा लिबास पोशाक सवारी और तैयारी आदि की समालोचना कर चले कि जिसकी कुछ भी चर्चा चलानी मानो इस कथा को अकथ कहानी बनानी है।

अस्तु, अनेक आते जातों से अपने को छुड़ाते, बैठों की आखें बचाते, विशेष व्यक्तियों के मिल जाने और उनके आग्रह पर कुछ अड़ भी जाते, पान इलायची खाते, यों साढ़ेसाती शनैश्चर की परिक्रमा लगाते हम सब लोग किला के मैदान में आ निकले। यद्यपि क़दम क़दम पर लोग उन्हें अपने पास बुलाते थे, क्योंकि वह बड़े व्यापक और प्रख्यात थे। प्रायः भारतवर्ष के मुख्य नगरों के प्रधान प्रधान जनों से आपका मिलाप और संलाप है, आनन्द के आप साक्षात् मूर्ति हैं इसी से बहुतेरे इन्हें अपने ही निकट ठहराना चाहते, परन्तु वह कब रुकने वाले थे। निदान हमारे भट्टाचार्य्य महाशय ने एक प्रशस्त भवन को दिखला कर कहा, कि—देखो यहाँ से बढ़ कर और कोई उपयुक्त स्थान अपने लोगों के ठहरने योग्य नहीं है। यह एक अति सुप्रतिष्ठित और परम सज्जन सुहृद का घर है, कदाचित् अपने और कई मित्र भी यहीं मिल जाँयगे और निज घर से भी अधिक सुख स्वच्छन्दता यहाँ उपलब्ध होगी, अतः चलो यहीं चल कर बैठें। वह कहते ही थे, कि आगे से एक भद्र पुरुष ने आकर अति विनम्र भाव से आपके चरण स्पर्श कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ निवेदन कर चले, कि "चलिये मेरे घर को शोभादे सनाथ कीजिये।" हमारे मित्र ने मुझसे उनका परिचय करा कर कहा, कि "आप को ले चलिये।" उन्होंने मुझे भी उनके साथ सादर घर चलने का अनुरोध किया और हम लोग चले।

देखते हैं कि उस बड़े मकान में सैकड़ों मनुष्य भरे हैं। नीचे तो सरसों का भी सन्निवेश असम्भव था, दूसरे खंड में भी यद्यपि सब प्रतिष्ठित समूह सुशोभित, तौ भी संकेत से समावेश संभव है। अब बगल के जीने से जो हम लोग तीसरे मंजिल पर पहुँचे तो देखा, कि एक धुले स्वच्छ कमरे में नवीन आसन बिछी चौकी पर हम लोगों के मंडली-मण्डन और पूज्य पथ-प्रदर्शक महानुभाव पण्डित प्रवर श्री विज्ञानेश्वर शास्त्री जी और सामने उनके श्री महाराज करुणानिधान सिंह जू देव महोदय विराजमान हैं। केवल उनके

कई अनुचरों के अतिरिक्त और वहाँ कोई भी नहीं है। वो लोग हम सबों को देखकर अति प्रसन्न हो स्वागत स्वागत कह उठे और यथा योग्य प्रणामाशिषानन्तर हम लोग एकत्र मिल बैठे, गृही महाशय हमलोगों की आवश्यक अभ्यर्थना और सत्कार करने में लगे और हम लोग चारों ओर दृष्टि दौड़ा चले।

महाराज ने पूछा, कि—कहिये आप कब आये? कहाँ ठहरे और इस समय कहाँ कहाँ की सैर करते आ रहे हैं? मैंने और आवश्यक उत्तर के संग इस वृहत् परिक्रमा का हाल बतलाया सुन कर महाराज ने भट्टाचार्य महाशय से पूछा, कि—"कहो मित्र इतना घूम घाम कर क्या लाभ उठाया? क्या कोई ऐसी अपूर्व वस्तु भी देखी जो वर्णनीय हो?"

भट्टाचार्य महाशय ने कहा, कि—एक? असंख्य वस्तु, और अनेक अद्भुत दृश्य। तथापि अभी जो ऐरावत दर्शन हुआ वह अति अपूर्व था।

राजा०—क्या आज कुछ अधिक गाढ़ी छनी है?

भयं० भट्टा०—हाँ, प्रातःकाल यमुना जी पर चौबों का झुण्ड जमा था, वहीं अच्छी जमुना की कीचसी। किन्तु इससे और उससे क्या सम्बन्ध?

राजा०—उच्चैश्रवा की पीठ पर चढ़ जब उच्चातिउच्च स्वर्गारोहण सुलभ है, तब ऐरावत दर्शन में क्या आश्चर्य है?

भयं० भट्टा०—नहीं महाराज आपने क्या नहीं देखा? यहीं जो गज-घटा जम रही है, उसमें एक सुवृहत् हस्ती के ऐसे लम्बायमान दन्त द्वै देखे कि सहसा यही अनुमान होने लगा कि यह हस्ती त्रिशुण्ड अवश्य ही है, क्योंकि वे भूमि से कुछ ही ऊपर थे। तो क्या ऐरावत है? किन्तु सोचा, कि-इसका बीच का शुण्ड श्याम क्यों कर हो गया? क्या कलिकाल के प्रभाव से? फिर-वह तो स्वर्ग में रहता है। किन्तु साथ ही सोचा, कि—कदाचित् लाट कर्जन इन्द्र बन कर निकलने की लालसा से उसे भी मँगनी न माँग लाये हों। अथवा कौन जाने कि हम लोगों की भाँति अमर निकर भी इस अनोखी लीला को देखने अर्थ मर्त्यलोक में आ गये हैं और उनके राजा सुरेन्द्र कदाचित् यहाँ निजवाहन को छोड़कर स्टेशन पर लाटजी के स्वागत को पधारे हों, क्योंकि अनेक नरेन्द्र वहाँ उपस्थित ही हैं।

राजा०—क्या आपको पीछे से इसमें फिर कुछ संदेह भी हो गया?

भयं० भट्टा०—नहीं महाराज। यदि उसका रंग श्वेत होता, तो तीन शुण्ड के मतंग को ऐरावत छोड़ कोई और क्या कहता? और "बस्यो मनों

हिय गढ़ समर, ड्योढ़ी लसत निसान।" के अनुसार उसमें आश्चर्य ही का क्या विषय था? परन्तु शीघ्र ही विजया देवी ने सावधान कर दिया। जो हो, किन्तु हाँ उसके दन्त शुण्ड तुल्य होने में अवश्य ही आश्चर्यमय थे।

राजा०—हाँ बहुत ही बड़े थे।

भयं० भट्टा—महाराजा—देखिये देखिये—बचाइये! बचाइये!

राजा०—क्या है?

भयं० भट्टा०—रक्षा कीजिये! रक्षा कीजिये? नहीं तो यह दुम दुम दुम्मा अथवा गुम्मा मंहजित अपने दोनों हाथों को बढ़ाकर मुझे उठा लिया चाहती और कदाचित् अपनी बिचली सींग से विद्धकर देना चाहती है क्या?

शास्त्री जी—भला, इतनी भङ्ग पीकर प्रमत्त होने से क्या लाभ होता है?

राजा—जो हो, मित्र! परन्तु न केवल सवारी, वरञ्च सारी दिल्ली की सजावट तो जैसी आप को वहाँ से दीखेगी अवर्णनीय है।

भयं० भट्टा०—ऐसा! तो चिन्ता नहीं, ले जाने दो। परन्तु यह तो कहिये कि जीते तो बचेंगे, कि नहीं?

मैंने कहा कि-अब इधर देखिये सवारी सामने पहुंच गई।

भयं० भट्टा०—हाँ, किन्तु भाई! मुझे तो इस लघुशंका ने विह्वल कर दिया है। परन्तु समझा! कदाचित् यह इस चतुरङ्गिनी सेना को देख कर डर के मारे दोनों हाथ उठाकर आर्तनाद कर कहती है, कि "प्रभो! मैं निरापराध हूँ, मृत यवन भूपतियों की रीति जिन-जाति धर्मावलम्बियों की विध्वन्सन प्रणाली का अनुकरण कर इन तोपों के गोले कहीं मुझ पर न छुड़वा दीजिये, कि मैं यहाँ के अनेक प्राचीन मन्दिर के समान मिट्टी में मिल जाऊँ।" अच्छी बात है। त्राहि! त्राहि! कर बिलबिलाने दो। जब वह स्वयम् डरी है, तो मेरा बाल कब बाँका कर सकती है।

राजा—देखिये, इनका यह सेना-संगठन और उसका प्रबन्ध। जो यद्यपि संख्या में अति न्यून है, परन्तु अति प्रशंसनीय।

मैंने कहा कि—हाँ, प्रबन्ध चातुरी और कार्य-तत्परता तो इनसे कोई सीखले, और इसके विरुद्ध सब कुछ हम लोगों से।

शास्त्री—जी हाँ, जिस जाति के ऊपर ईश्वर सानुकूल रहता, अथवा जब उसकी दशा ठीक रहती, सब कुछ ठीक ही रहता और उसके प्रतिकूल होने पर सबी कुछ प्रतिकूल हो जाता है।

मैंने कहा—देखिये यह "इम्पीरियल-केडेट कोर" नाम्नी हमारे राजकुमारों की सेना है ! वाह वा वाह ! क्या सजधज और श्री दरसती है कि जो सब पर उत्कर्ष ले जाती है। भला क्या यह वीरों में किसी से कुछ न्यून हैं ?

शास्त्री—केवल प्रारब्ध।

राजा—और भी, आत्म संयम, आत्म गौरव, स्वकर्मतत्परता, सामयिक नीतिनिपुणतादि अनेक सद्‌गुण।

शास्त्री—हाँ, किन्तु यह सब उसी के आधार पर स्थित रहते हैं।

भयां० भट्टा०—भई ! मुझे तो ऐसा भय लगता है कि—इस मसज़िद का शिखर कहीं इन्हीं सब पर न टूट पड़े ! क्योंकि वह मेरे देखने में डगमगा भी रहा है।

मैं—देखिये यह हमारे राज प्रतिनिधि भी आये। जय जय ! जय !

शास्त्री—कौन ? उस करिणी पर भद्र वेश और केश ? और इस करिणी पर ?

मैं०—यह सम्राट-सहोदर श्रीमान ड्यूक आफ कनाट महोदय हैं।

शास्त्री—हाँ ! चिरञ्जीव ! चिरञ्जीव ! भला इन लाट महाशय के भद्र होने का क्या कोई कारण विशेष है ? अथवा स्वदेश पूर्व परिपाटी मात्र ?

मैं—मैं तो इसे स्वाभाविक ही जानता हूँ।

भयां० भट्टा०—भाई इस विशाल हस्ती पर यह दुर्बल काय लाट तो नहीं सोहते। इस पर कोई हृष्ट पुष्ट सुन्दर मनुष्य चढ़े तो बहुत अच्छी शोभा देख पड़े।

शास्त्री—हाँ, राज भ्राता पर कुछ राजश्री अवश्य है, वंश गत उत्कर्षता प्रकाशित रहती ही है।

राजा—(भयां० से) अजी ! इस पर तो सोहते आप, किन्तु भाग्य में तो है उनके।

भयां० भट्टा०—अरे वाह, यह अच्छी कही ! क्या हम कभी ऐसे हाँथी पर चढ़े ही नहीं हैं क्या ? अभी तो अपने पुत्र के ब्याह में ही इसी रीति से चढ़े थे, किन्तु इस समय तो कोई लाख रूपया भी दे तो भी न चढ़ें, क्योंकि मुझे डर है कि वह महजित का बाहु टूट न पड़े कि बस वहीं के हो जाँय।

मै०—देखिये यह श्रीमान, निजाम बहादुर हैं और वह महाराज माइसोर।

शास्त्री—यह दोनो श्लाघ्य हैं, निःसन्देह श्रीमान निजाम एक उदार और न्यायवान राजा है। किन्तु क्या कारण है कि यह राजोचित वस्त्राभूषण से युक्त नही हैं।

राजा—वह यह जानते हैं, कि—हमारे सम्मान का हेतु हमारा पद स्वयम् है, रत्नमय अलङ्कार और चमकीले कपडे नहीं। मानो यह जामा-मसजिद इन्ही को एकमात्र सर्वश्रेष्ठ शेष यवन शासक देख अपने दोनों भुजाओ को बढा आलिङ्गन करना चाहती है।

गृही—यह उनकी सादगी है, जो उनकी बडाई दिखाती है। अगरेजों की भी उर्दियों मे कुछ न कुछ चमक दमक है परन्तु यह सब से साफ हैं।

भय० भट्टा०—भाई, मेरा सन्देह तो अब दूर हो गया। बस बस ठीक है। यह मसजिद इन्ही के लिये हाँथ उठाये है और योग्य भी है। अब तो मुसल्मानी बादशाही का जो कुछ अश वा ठाट बाट है, इन्ही मे शेष है। तब इनके अर्थ उसका उत्सुक होना उचित ही है। मानो वह दो दिन आगे ही से ईद की निमाज का निमत्रण देती कहती है, कि—"बहुत दिनो से बादशाहो की निमाज के लिये मैं तरसती हूँ, भला तुम्ही आओ कि मै कुछ तो सन्तोष लाभ करूँ। किन्तु वह बिचारे बरार देश को खो कर ऐसे उदासीन हैं कि एक अलकार तक नही पहने और न उत्तमोत्तम वस्त्र। इस भेद को तनिक सोचिये।

शास्त्री—महिशूर पति भी होनहार प्रतीत होते हैं। निज पिता तुल्य हो यह भी अपनी प्रजा का हित साधन करे ईश्वर से यही प्रार्थना है।

मैं—देखिये यह त्रावकोर के महाराज, और काशमीराधिपति। यह जयपुरेश और वह सेंधिया बहादुर।

शास्त्री—हाँ, परन्तु मुझे केवल हिन्दू पति बादशाह महाराणा उदयपुर का दर्शन अभीष्ट था, सो क्या वह नही पधारे?

मैं—वह तो नहीं हैं, और उनके पधारने की तो आशा भी न थी।

शास्त्री—अस्तु, यदि आये, तो दर्शन होई जॉयगे।

मैं—देखिये यह ओरछा के महाराज पर जठरावस्था मे भी क्या वीरता और राजश्री झलकती है।

भयं० भट्टा०—हाँ, किन्तु यह सब नितान्त रंगशाला के राजाओं की भाँति केवल चमत्कृत वेषमात्र से शोभा नहीं पाते, वरञ्च पृथक् पृथक ससैन्य होने से ही सुशोभित होते। अकेले अकेले मानो बिगारी में पकड़े कदापि नहीं शोभित होते। हम नहीं समझते कि ऐसा क्यों हुआ। क्या इस आशंका से कि इनकी सेना और सजावट के आगे लाटसाहिब की शोभा फीकी पड़ जाती?

मैं—देखिये, यह हमारे काशिराज भी स्वाधीन-नृप-मण्डली में विराजित हो साथ हैं।

भयं० भट्टा०—जी हाँ।

मैं—अब इधर देखिये, भिन्न भिन्न देशों के नरेशों के वेश-विन्यास वैचित्र्य को।

शास्त्री—यह कौन है?

मैं—देखिये यह केंगटङ्ग के सौब्वा हैं।

राजा—इधर देखिये, लाट लोगों के ठाट कैसे नियम और योग्यतानुसार हैं।

शास्त्री—हाँ वह तो हुआ ही चाहे।

मैं—देखिये यह, ससैन्य हमारे सेनापति लार्ड किचनर हैं।

भयं० भट्टा०—हाँ, वीर पुरुष हैं न, इसीसे अश्वारूढ़ हैं।

शास्त्री—यह सब भी भिन्न भिन्न देशों के लाट ही होंगे?

राजा—जी हाँ।

मैं—देखिये यह क़िलात के खाँ साहिब हैं।

भयं० भट्टा०—हाँ, इसके जंगलीपन में भी कुछ बीर बनक बढ़िया है।

शास्त्री—हाँ, उधर तो भारत के पूर्व प्रान्त का विलक्षण आडम्बर और इधर पश्चिम अञ्चल की उजड्डता दोनों पर विशेष लक्ष्य की आवश्यकता है। रही भारत की कथा सो तो अकथ है। किन्तु क्या कहें कुछ समझ में नहीं आता कि यह कैसी कुछ अटपटी परिपाटी है कि इस यात्रा समारोह में कहीं से कुछ भी उत्साह प्रतीत नहीं होता, वरञ्च एक प्रकार की उदासीनता सी छाई है।

भयं० भट्टा०—हाँ, सचमुच स्थापा सा लखाई पड़ता है, क्योंकि न तो कहीं बाजा है और न किसी प्रकार की हर्ष की सूचना। फिर शोभा हो कैसे?

बिना दूल्हे की बारात जो है। वास्तविक राजा तो ठहरे सात समुन्दर के पार, यहाँ तो हमारे लाट अपनी कुण्डली की विधि मिला रहे हैं।

राजा—हाँ,यह नहीं प्रतीत होता कि शादी की बारात है। बाजों की कमी सचमुच ही उत्सव को फीका किये हुये है। यद्यपि यह भी उसी पश्चिमीय सभ्यता की सादगी की बानगी है, किन्तु पूर्वीय शोभा को जिसकी उत्कण्ठा का यह आडम्बर है, नीरस लखाती है।

शास्त्री—हाँ, स्वयम् सम्राट का ऐसे अलभ्य अवसर पर न उपस्थित होना एवम् उनके सहोदर भ्राता के भाव में भी लाट का प्राधान्य विलक्षण विडम्बना है।

राजा—यह उस सभ्य देश की प्रजा की कुटिलनीति है। निदान सवारी निकल जाने के पीछे भी ऐसी ही ऐसी बहुतेरी बातें होती रहीं कि इतने ही में हमारे नव्वाब साहिब भी वहाँ आ पहुँचे और वार्तालाप का आनन्द और भी अधिक बढ़ा कि जिनका आख्यान यद्यपि प्रिय पाठकों को अति रोचक होगा, किन्तु संकोच ही उचित अनुमित होता है, क्योंकि विस्तार स्वयम् इष्ट नहीं, विशेषतः विषय विशेष प्राचीन होने से। इसी से अब अति सूक्ष्मतया हम कई बातों की कुछ कुछ सूचना दे इसे समाप्त करना चाहते हैं। अस्तु, तीन बजे, कि शास्त्री जी उठ खड़े हुये और कहा, कि अब विलम्ब करने से सायम् सन्ध्या लुप्त हो जायगी। सब लोग उठे, राजा साहिब अपनी मोटरकार पर शास्त्री जी को ले चलते हुये और हम लोग नव्वाब साहिब के संग हुये !!

नवाब साहिब ने हमें और श्रीमान् भयंकर भट्टाचार्य जी को अपने ही साथ बिठलाया, उनके और अनेक पारिषद् तथा मित्र अन्य गाड़ियों पर बैठे, इसी से चलने के साथ ही विविध प्रकार की बातें छिड़ चलीं; जिससे न केवल आगत मित्रों के रहने सहने और उनके विचार, बिहार, व्यापार और अन्य अन्य अनुष्ठित कार्य्यों का विवरण हमें ज्ञात हुआ, वरञ्च दिल्ली की सामयिक अनेक बातों का भी पता चला। इस प्रकार की बातों के झकोरों में अनेक सड़कों की धूल उड़ाते, वाह्य प्रान्त के सायम्-समीर का सेवन करते हम लोग अपने-अपने निवास-स्थल पर आ पहुँचे और सुख से रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल आवश्यक नित्य कृत्यों से निवृत होकर हम दस बजे दिन को घर से निकल परिभ्रमण में प्रवृत हुए।

यह क्रम प्रायः निरंतर कई सप्ताह तक यों हीं चलता रहा, कि नित्यप्रायः दस बजे घर से निकलना और विशेष अवसरों को छोड़ बहुधा आठ बजे से

दस बजे तक रात को पलटना। इसी से नित्य का वृतान्त हम यथाक्रम से न लिखकर केवल मुख्य-मुख्य विषयों पर कुछ लेखनी सञ्चालन करना चाहते हैं; क्योंकि हमारा वर्णनीय विषय तो केवल इस अवसर पर एकत्रित अपनी मित्र मण्डली से सम्बन्ध रखने वाली अनेक वार्तायें और सिद्धान्त है। हाँ, उसके प्रसंग में कुछ-कुछ सामयिक उत्सव और स्थानादि का आख्यान और उनपर हम लोगों की सम्मति और समालोचनादि भी कुछ आही जायँगी। क्योंकि उस उत्सव और दर्बार आदि का सामान्य वृतान्त तो प्रायः सब समाचार पत्रों में प्रकाशित होई चुका है; हम भी अपनी "भारत बधाई वा भारत सगाई।" नामक कविता में सब कुछ कह चुके हैं; यहाँ उससे अधिक और क्या कहा जा सकता है।

आज ३० दिसम्बर है। आज ही प्रदर्शनी जिसकी बहुत दिनों से धूम धाम सुनाई पड़ रही है, लार्ड कर्जन के हाथों खोली जायगी इसी से सब का लक्ष्य उधर ही है। कल के निर्णीत क्रमानुसार ठीक दस बजे हमारे नवाब साहेब अपने समस्त परिवार और कई मित्रों के सहित मेरे डेरे के द्वार पर आ धमके। गाड़ी की आहट पाते ही हम भी उनसे जा मिले। और सब लोग इधर उधर नगर को देखते भालते प्रदर्शिनी के निकट आ पहुँचे। क्या कहना है। बड़ी धूमधाम है। इस प्रदर्शिनी के खोलने का समारम्भ क्या है, मानो होनहार दर्बार का पूर्व रूप है। ब्याह के तिलक की मुहफ़िल या बारात की सोहगी, अथवा दर्बार दुलहिन की मुँह देखावनी व होली तिवहार की बसन्त पञ्चमी है। जिधर से देखिये गाड़ियों की कतार और मनुष्यों की भरमार, टिकट की लूट और साथियों की छूट। प्रदर्शनी भवन का वाह्य प्रान्त ऐसा मनोहर दिखलाई देता था, मानों यदि आगरे का ताजमहल मुसलमानी बाद-शाहत की एक अनोखी यादगार है, तो कदाचित् यह भवन अंगरेज़ी राज्य का अपूर्व स्मारक बनाया गया है। दूर से इस पर भी संगमरमर की भ्रान्ति होती। किन्तु यहाँ तो चार दिन की चाँदनी की चमक दमक रहती। यह झूठी कलई की हुई मनोहर इमारत चन्द्रोज़ा नुमाइश के लिये सचमुच केवल चन्द्रोज़ा नुमाइशी है। अस्तु, सब राजे महाराजे राजकर्मचारियों से भरे जन समुदाय में लाट कर्जन आये, स्वागत हुआ और श्रीमान् ने एक वक्तृता देकर प्रदर्शिनी खोली। लोग भीतर घुसे और प्रदर्शनी भवन में सङ्गृहीत पदार्थों को देख दिखा प्रसन्न मन अपनी-अपनी राह ली।

हम लोग अपने कई मित्र मिलकर यह स्थिर कर रहे थे, कि अब क्या करना चाहिये और कहाँ चलना चाहिये कि श्रीमान् भयङ्कर भट्टाचार्य्य महाशय ने आकर कहा, कि क्या विचार हो रहा है ?

नव्वाब—यही कि, इस वक्त कहाँ चलें और क्या करें ?

भयं० भट्टा०—कहाँ चलें ? चलो हमारे डेरे पर ।

नव्वाब—आपके डेरे पर ! कहाँ ?

भयं० भट्टा०—यहीं और कहाँ ?

नव्वाब—यही कहाँ ?

भय० भट्टा०—अजी इसी—कुकुरिया—अँ हँ:—कुत्सितिया बाग़ के उधर ।

नव्वाब—क़ुदसिया कहो क़ुदसिया ।

भयं०भट्टा०—अजी पारसी लवज का उच्चारण यथावत हमसे कैसे हो सकता है । आइये, चलिये, यहाँ क्यों खड़े हो ।

नव्वाब—वहाँ क्या है ?

भयं० भट्टा०—वहाँ है—अत्यन्त निकट श्री यमुना जी, शुद्ध जल, झाऊ का जंगल, हरियारी, और हमारे चौबे का अखाड़ा, संसार में विलक्षण उनकी सब चाल ढाल और अनोखी बातों का आनन्द, और सबी कुछ । चलो चलो ऐसी गहरी छनावैं कि नवाब साव आप मस्त हो जाँय । हमारे हाथ से तो कई बार आपने पीयी है नेक चौबों के पञ्चाइती रगड़े का भी तो सुख लूटो ।

नव्वाब—आपने तो एक दिन भंग की दावत ही दी है । तबी आपके डेरे पर चलेंगे, आप जितना पिलायेंगे, पियेंगे, और जो जो मज़े दिखलायेंगे देखेंगे । आज क्यों ?

भयं० भट्टा०—अजी भंग की दावत ही क्या ? नित्य ही यहाँ तो सैकड़ों की घुटती है । उस दिन यदि अपनी तो आज पञ्चायती ही का आनन्द लीजिये । इस समय वहाँ अनेक प्रकार का आनन्द ही आनन्द है । सैर इसी बगीचे ही से आरम्भ कीजिये और आइये । कह—वह सब के आगे! आगे हो लिये और घोड़े की भाँति इस मित्रमण्डली रूपी रथ को खींच ले चले ।

हम लोग उनके साथ साथ जो यमुना तट पर जा पहुँचे, कि देखा, कि वहाँ चौबों की एक अच्छी सेना पड़ी है,—कहीं सेरों भाँग घुलती, तो कहीं

घुटती और कहीं छनती। कहीं लोग नहाते धोते, तो कहीं कसरत करते और अनेक स्थान पर परस्पर दाँव पेंच होते। कहीं भाँग के नशे में बदमस्त चौबे गाते, तो अनेक विचित्र वचन रचना करते सराहते। कोई अनेक अलौकिक वेश विन्यास में तत्पर दङ्गल में जाने को उतावले लखाते। देखते ही चित्त ऐसा प्रसन्न हुआ कि—मानो बृज ही में पहुँच गये और कदाचित ये मथुरा ही का कोई वाह्य प्रांत है, जहाँ का यह देवकल्प-ब्राह्मण वृंद अपने निष्कपट भोले भाव से किसी अन्य युग के मनुष्यों की भ्रान्ति चित्त में उत्पन्न करता है। जैसे ही हम लोग कुछ निकट पहुँचे कि—"जै जमना मैय्या की जय।" की पुकार मची। हम लोगों के मित्र श्री मान भयङ्कर भट्टाचार्य से उनमें कइयों ने पूछा,—अरे भट्टा! ये इतेक जजमान तू एक साथ कहाँ सूँ पकड़ ल्यायो? स्याबास! स्याबास! आजतो तूने चकाचक भाँग और धकाधक लड्डुआन की अच्छी ठहराई।

भयं० भट्टा०—अरे से नाय नय। ह्याँ तो तिहारेई माथे चकाचक छनाइबे को ल्यायो। इन मैं कोऊ यजमान नाय नै। ये तो उलटे हमारे ह्याँ भाँग पीयबे को आये हैं, सो नेक सिंदौसी ल्या। देर मती कर।

चौबे—ऐसो! तौ चिंता काहे की! ले सिंदौसी ले। अरे टेपरो! दौड़! अरे खाँखरो! कछू बैठबे को लाय और वा गागर की छनी भाँग ल्याइयो।" सुनते ही कई दौड़ पड़े, कम्मल और चटाइयाँ बिछ चलीं। हम और सेट डरपोक मल एक चटाई पर और चार चटाइयों पर नव्वाब साहेब तथा उनके पारिषद लोग बैठे। दो पर और दूसरे लोग। भयंकर भट्टाचार्य्य जी ने कहा, अरे या अंगरेज बने वालिष्टर के बैठिबे को तो कुर्सी चाहिये। ये तो भला सबरे हिंदुस्तानी हैं, तासों धरती ही पर बैठ सकें, पहाड़ चौबे बोले कि अरे कुम्भ करण! तू औंधो ह्वै बैठ जा, ये तोपैं खुरसी लगाय बैठ जायगी।

भयं० भट्टा०—नहीं वा गाटडी को इतै खींच ला, और वाई पैं एक कामरी गेर दे।

निदान इस प्रकार हम लोगों के बैठते ही मटकने और कुल्हड़ों में भाँग बट चली! कई प्रकार के लड्डू और मिठाइयाँ भी कसोरों में आईं, लोग यथेष्ट खाने पीने लगे जो तनिक भी नाक भौं सिकोड़ता कि भट्टाचार्य जी की डाँट सुन कर सन्न हो जाता। हमारे वैरिष्टर साहिब तो एक ही घुड़की में सीधे हो गये; परन्तु सेठ जी कहने लगे कि "भला यमुना के तट पर ब्राह्मण के धान्य कैसे खाँय?" उत्तर मिला कि तू भी मँगा और खिला। उन्होंने कुछ

न कह धीरे से एक रुपया निकाल कर हाथ जोड़ा कि यदि यह स्वीकार हो तो आज्ञा पालन करूँ।

भयं० भट्टा०—अरे तुम को लज्जा नहीं। दिया भी तो एक, जो इतने चौबों के मिर्च का भी मोल नहीं, माँग तो पीछे रही। उसे तो एक चौबे ने उठा लिया फिर सेठ जी ने शरमा कर दो रुपया और निकाले, फिर कुछ सुन कर दो रुपया और उसे भी उसी ने उठाया; अब तो पाँच पाँच रुपया मानों होटल के बिल का दाम सा सबको चुकाना पड़ा। नव्वाब साहेब ने दस दिये। सब चौबे भट्टाचार्य्य की पीठ ठोंक चले और भट्टाचार्य महाशय सेठ जी पर बहुत बिगड़े कि इसने बड़ा अनुचित काम किया हमारी नाक इसने काट ली। मित्रता का नाता आज इसने तोड़ दिया। यह तो कुछ न हुआ।

१६६० आ० का०

[असमाप्त]

शोकोच्छ्वास

हा भारत ! तेरे दुर्भाग्य का कहाँ वारापार है ! तेरी जो सुसन्तान तेरी शोभा के हेतु होतीं जिन पर तेरी भलाई की आशा की जा सकती वे अकस्मात् चटपट तुझसे दूर कर दी जातीं । यदि विचार करते तो इसी वर्ष तुझसे ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छीन लिए गये, जिनकी पूर्ति अब एक प्रकार असम्भव सी प्रतीत होती है । फिर न केवल एक ही गुण और योग्यता के, वरञ्च सभी अंश के एक से एक अद्वितीय पुरुष-रत्न तुझसे बिलग हो रहे हैं । किसके किसके लिये आँसू गिराएँ । इस वर्ष जैसी क्षति तुझको सहनी पड़ी वह अकथनीय है । तेरे सभी प्रान्तों ने अनेक अमूल्य रत्न खोये, किन्तु उनमें तो ऐसे अनेक लोग अद्यापि लभ्य हो भी सकते हैं कि जो तुझे आश्वासन दें । किन्तु हतभाग्य यह युक्तप्रदेश तो अन्य सब गुणों की भाँति इससे भी हीन है । हाय उसने अपने बहुत बड़े आधार को खोया है । विशेषत अवध तो मानो अनाथ ही हो गया । इसी शोक सहानुभूति के अर्थ अयोध्या में आये एक सुप्रसिद्ध माननीय ताअल्लुक़दार का यह कथन कैसा कुछ सत्य है कि—"साहब अब तो कोई ऐसा हममें रहाई नहीं कि जो अवध का रिप्रेजेण्टेटिव हो कर कहीं जासके और उसकी तमाम अज़मत और शान को दिखला सके । महाराजा साहब अयोध्या का चल बसना तो गोया सूबः अवध का बेचिराग़ हो जाना है ।"

अयोध्या तो मानो लुट ही गई । क्योंकि उसका एकमात्र स्वामी आज उससे जाता रहा । उसका अन्तिम प्रतापादित्य स्वरूप प्रतापादित्य अस्त हो गया ! यद्यपि वह अनेक दुस्सह प्रताप-सम्पन्न सूर्य्यवंशीय महामहिम महाराजाधिराजों की वियोग व्यथा सहन कर चुकी है, इक्ष्वाकु, मान्धाता, कुकुत्स्थ, दिलीप, रघुरामादि के शोकानल में जल कर वज्र-हृदया हो गई है, तथापि वह आज अत्यन्त ही अधिक विह्वल हो गई है, और सहस्रों निवासियों के अतिरुदन के मिस मानो अपने आन्तरिक शोक-शूल को प्रकाशित कर रही है । वह सोचती है कि—"जिन पतियों के आधार पर मैंने अमरावती और अलका की शोभा को भी अपने सौभाग्य और सौंदर्य्य से तुच्छ की थी और जिनके वियोग को सहते-सहते दीन और हीन होती-होती निज जननी बसुन्धरा के अंक में लीन हो चुकी थी, विधाता ने उससे छुड़ा फिर नवीन जन्म दिया

किन्तु प्राचीन ही नाम को दे, दोनों दशाओं में आकाश और पाताल तुल्य अन्तर के स्मरण रूप शोक सम्पन्न हृदय कर मुझको संसार में मुंह दिखाने पर बाध्य किया। अत: मैं अपने नाम और रूप के भेद को समझ सदैव संकुचित ही रहती आई। क्योंकि देखती कि एक अंगुल भूमि में भी मेरी उस अड़तालिस कोस विस्तृत पुरानी सुहावनी शोभा का कहीं लेशमात्र भी शेष नहीं है। वरञ्च उसके स्थान पर स्मशान, यवनों का क़ब्रिस्तान, ऊजड़ और सुनसान इतस्तता विश्रृंखल और प्रशस्त प्रणाली विहीन कुछ सामान्य देव-स्थान भी वर्तमान, तो उनमें केवल दीन प्रजाओं को सब प्रकार भयावह प्रमादी बैरागी और बानरों ही का ठुट्ठान, वर्तमान सामान्य विख्यात नगरियों की साधारण सभ्य जनता और सुख शोभा सामग्री से भी विहीन, सब प्रकार से दीन और मलीन थी। किन्तु हाय! जिस प्रताप के प्रताप से उसमें कुछ अन्तर होने लगा, पिछला दृश्य पलट कर कुछ नवीन सुहावनापन दिखलाई पड़ने लगा कि बस अचाञ्चक शोक यवनिका आ गिरी।"

वास्तव में उसका ऐसा शोक मनाना और विलाप वृथा नहीं है। अयोध्या के हृदय से स्मशान का दृश्य दूर कर "शृंगार हाट"[1] लगा देना आज किसी दूसरे से कब सम्भव था! संसार का सबसे आदि महानगर, सूर्य वंशीय महाराजाओं की जगद्विख्यात राजधानी, आर्य्यों के अति पवित्र और परम पूज्य तीर्थ अयोध्या की नितान्त ग्रामीण दशा देखना किसी सहृदय आर्य्य सन्तान को कब सह्य था, किन्तु उपाय क्या था? पचासों लक्ष मुद्रा व्ययकर उसके शृंगार करने का साहस किसे था! इसी सें मानना पड़ता है कि कदाचित् केवल इसी लिए इस प्रताप पुञ्ज प्रताप की सृष्टि हो तो क्या आश्चर्य्य है।

अवध की राजधानी लखनऊ वरञ्च समीपवर्ती फैज़ाबाद में ही मुसलमानी बादशाही इमारतें देख लौटे पथिकों की आँखों में इस संसार सम्राट की राजधानी श्री अयोध्या में भी किसी राजद्वार तथा राजसदन के लखाई पड़ने की भी आवश्यकता थी, फिर न्यूनातिन्यून अयोध्या राजसदन सा भी यदि वह राजसदन न होता, तो क्या होता? अथवा यदि उसके राजद्वार का आकार लक्ष्मी द्वार से भी न्यून होता तो क्या होता। नृसिंहद्वार पुरन्दर द्वारादि सदृश द्वारों से यदि वह हीन ही होता तो क्या होता? मुक्ताभास से सौध यदि उसमें न होते तो क्या होता? यदि उसमें भाँति भाँति के राजोचित सामाग्रियों के अर्थ भिन्न विभाग, यथोचित साज और साधन से सम्पन्न, निजनिर्माता की

[1]अयोध्या नगर का राज्य महल के पास का मोहल्ला है।

बुद्धि वैभव और सरसता बतलाते न होते, तो क्या होता? वास्तव में सद्यः स्वर्गारोही महाराज अयोध्या, जो कि स्वयं महाराज अयोध्या हुए थे, महाराज अयोध्या पद को समयानुसार पूर्णतः चरितार्थ कर सके थे। उन्होंने अपने शीघ्र नश्वर शरीर छोड़ने के पूर्व न केवल अपना चिरस्थायी शरीर स्वरूप सुन्दर सुविशाल अयोध्या राजसदन मात्र निर्माण किया, वरञ्च अयोध्या की अंगड़ खंगड़ बीहड़ और बेढंगी बस्ती को आज कल के उत्तम से उत्तम महा-नगरों की श्री में भी सम्पन्न कर दिया। व बीच अयोध्या में राजसदन के सन्मुख शृङ्गार-हाट नामक महाराज से निर्मित नवीन चौक पर पहुँचते ही और लक्ष्मी द्वार पर दृष्टि पड़ते ही कैसे ही सुविचक्षण और सहृदय सज्जन के भी न केवल मुख से, वरञ्च हृदय से भी अकस्मात साधुवाद निकलना आरम्भ होई जाता और ज्यों ज्यों वह अधिक आगे बढ़ता त्यों त्यों उसकी संख्या निरन्तर अधिक ही होती चली जाती। कुछ दूर जाकर फिर वह मुग्ध हो मौन होता और महाराज से मिलकर तो आनन्द विह्वल हो अपना मन ही वार फेर बैठता क्योंकि उनसे मिलकर किसी श्रेष्ठजन को उससे विशेष सन्मान पाने की कामना शेष न रहती। सामान्य को उससे अधिक सत्कार और आदर संसार में अस म्भव प्रतीत होता; क्योंकि वह अति असामान्य सदगुणागार सरल-स्वभाव सत पुरुषरत्न थे। वह यदि अभिमानी, ईर्षी वा दुर्दण्ड दुराचारियों की दृष्टि में पुरुष व्याघ्र प्रतीत होते तो सामान्य सज्जन सहृदयों के हृदय में नितान्त सरल स्वभाव वरञ्च अति विनम्र और विनीत रूप से निवास करते। जैसा कि रघुवंश में कालिदास कहते हैं:—

"भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यदारत्नैरिवार्णवः॥"

वे भाँति भाँति के गुणवानों के न केवल गुण ग्राहक और आश्रयदाता थे, वरञ्च उनके गुणों के अभिमान को अपनी विलक्षण कुशाग्र बुद्धि द्वारा संशोधन शक्ति से दूर करने में भी सर्वथा समर्थ थे। क्योंकि वह प्राज्ञ, विशारद, शास्त्री वा आचार्य्य न होकर भी महामहोपाध्याय थे। वह इञ्जिनियर न हो कर भी अभुत शिल्पकार थे। जिसका प्रमाण-स्वरूप अयोध्या राजसदन है। वह बनस्पति-विद्या विशारद न होकर भी उसमें अपूर्व प्रवीणता रखते थे, जिसके प्रमाण ऋतुपति-विलास, पावस-प्रकाश, मरकत-विभास और मधुकर निवास ही हैं। प्रताप घटी यन्त्र, चित्रशाला, चित्रकूट विनोद वापी आदि देख

उनकी चमत्कृत चातुरी और सर्वसद्गुण सारग्राही होने मे कौन सन्देह कर सकता है।

*लक्ष्मी द्वार कि जिसका सा सुन्दर फाटक भारत मे कदाचित ही कही हो क्योंकि उससे अधिक द्रव्य लगे फाटक चाहे कई क्यों न हों, पर उसकी सा नाम बनावट और सजावट तो कदाचित दुर्लभ है। जिसपर सदैव नौबत झडती और जिसके ऊपर 'मेकडोनल क्लाक टावर'-जिसके ऊपर राज पताका उडती थी, जिसके भीतर जाते ही विलास रग भूमि जिसमे सैनिक समूह का आवासस्थल, सामने जिनके पुरन्दर द्वार जिसके भीतर राज कोष, जिसके ऊपर राज कार्यालय कि जिसमे जाने से प्रयाग के हाईकोर्ट का भ्रम होता था, उसके एक पार्श्व मे चिडिया खाना, दूसरे पार्श्व मे नृसिह द्वार, दूर्वादल सुसज्जित प्राङ्गण के मध्य विद्युत प्रभास्तम्भ के चतुर्दिक गोलाकार मार्ग जिस पर सदैव भारवि के कथनानुसार "अनेक राजन्यरथाश्वसकुल, तदी प्रभा-स्थाननिकेतनाजिरम्" दृष्टान्त दृष्टिगोचर होता था।

यदि लक्ष्मी द्वार लक्ष्मी के अनेक अङ्गो से सोभायमान, तो पुरन्दर द्वार अपने पूर्ण आलङ्वाल से पूर्णत चरितार्थ होता और नृसिंहद्वार वास्तव मे नृसिह के आवास होने से सबसे अधिक सार्थक होता था न कि केवल महाराज के पिता के नाम होने के कारण से जिसके आगे से राजसदन आरम्भ होता, जिसमे कही शृङ्गार का, तो कही राधा माधव का मन्दिर, कही राजराजेश्वर नामक भगवान् भूतभावन का दिव्य देवायतन, तो कही पञ्चदेव के भिन्न-भिन्न स्थान, कही आस्त्रागार तो कहां औषधालय, कहीं रत्नागार तो कही पुस्तकालय, साराश सभी राजोचित सामग्री के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रशस्त और उचित स्थान वर्तमान, जो अपनी-अपनी बनावट और सजावट से सुसम्पन्न शोभा की वृद्धि कर तो भिन्न भिन्न ऋतु और अवसरों के अनुकूल विहार-भवन, स्नानालय और अर्चनालय, ने पथ्य और शयनागार, क्रीडा और कुतूहल के मनोरञ्जन और सुख सामग्री सम्पन्न आवास निर्मित हैं। बीच मे रनिवास का प्रधान द्वार जिसपर अब समस्त स्थलो से सिमिट कर श्री विराजमान् हो रही है, वर्तमान हैं। उसके आगे बढकर जिसने मुक्ताभास महल देखा है, महाराज की शिल्प चातुरी, उनकी अति प्रशस्त और उच्च रुचि का परिचय पा आश्चर्यित हुआ है। उसकी न केवल बनावट वरञ्च

* महाराज अयोध्या का सदर फाटक

सजावट भी अनुपम है। यों आगे बढ़ते चन्द्र भवन सौध में पहुंचते ही जिसमें अधिकांश महाराज निवास करते, देख मन मुग्ध होता था। जिसके सन्मुख श्री दर्शनेश्वर जी का सुविशाल शिवालय जो एकमात्र प्राचीन निर्मित इमारत है, देखने वालों की आँखों में राज्य के प्राचीन गौरव को नवीन करता, जिसके चतुर्दिक अति चमत्कृत दृश्य। कहीं चमन, तो कहीं लान, जिसके गोलाकार चतुर्दिक श्वेत शङ्ख, मरकत के भांति भांति के आसन शोभायमान। कहीं फौवारे पानी उछालते तो कहीं कुण्डों में मछलियाँ पर फेंकतीं खिले कमल और कुमुदिनी की शोभा बढ़ातीं। कहीं पुष्पवाटिका तो कहीं उपवन जिनके बीच बीच मयूर और राजहंस थिरकते और मटकते मन लुभाते। मानों जिसमें सदैव बसन्त बसता, न कहीं देखने को एक सूखा पत्ता या पांखुरी मिलती फिर क्या मजाल कि इतने बड़े विस्तृत वाटिका वा समस्त प्रकार के भीतर साक्षात्मर्कटपुरी अयोध्या के बीच कहीं एक भी बन्दर तो वहां दिखाई दें।

कहीं इञ्जन धकधकाता समुद्र कूप से पानी निकालता, तो विद्युत्व्यजन और विद्युत् प्रभा का भी प्रबन्ध करता, कहीं छाया चित्र के सुविशाल आलड्वाल सम्पन्न स्टुडियो के शीशों की चकाचौंध, तो कहीं राजराजेश्वर यन्त्रालय की मशीन कागज़ उगलती है। देवालयों के स्थान स्थान में यदि सुरों की तरङ्गें उठतीं, तो कहीं साहित्य सुधा की वर्षा होती। राजसदन के प्रत्येक स्थान पर यदि काशी और प्रयाग की भाँति वाटर पम्प में पानी पा सकते, तो कलकत्ते और बम्बई की भाँति रात को वहाँ विद्युत् प्रभा की जगमगाहट भी देख सकते और देखते कि वहाँ सब कार्य्यों का भुगतान प्रायः टेलीफ़ोन ही के द्वारा होता, फिर राजे महराजों के यहाँ की तो क्या, किसी साधारण अमीर के यहाँ भी जाकर आप को उनके अनुचर और भृत्यों से प्रायः असन्तोष का कारण होगा, परन्तु यह विशेषता केवल उन्हीं के प्रबन्ध की थी कि आप जहाँ से फाटक पर पहुँचे, और यथाउचित वरञ्च उससे भी कुछ अधिक स्वागत और सत्कार वहाँ के प्रत्येक मनुष्य के द्वारा आपका होता हुआ लखाई पड़ेगा।

उनका विजया दशमी का दर्बार और उसके पश्चात् शरद् पूर्णिमा तक का उत्सव जिसने देखा है, वह उनकी शान व शौक़त का क़ायल होगा। श्रावण में जिन्होंने प्रंशसित श्रीमान् के शृङ्गार बन में झूलनोत्सव की पाँचों

छटाओं की झाँकियाँ की हैं, वह उनकी भक्ति, शऊरदारी, 'टेस्ट' और 'सेंटीमेंट' को समझ सका होगा।

आप अवध के तीसरे नम्बर के तअल्लुक़दार थे, किन्तु न केवल सर्व प्रकार सर्व श्रेष्ठ थे, वरञ्च अवध प्रदेश के तो साक्षात् सूर्य्य थे। वास्तव में वह एक अनुपम पुरुष रत्न थे। वह ब्राह्मण होकर भी क्षात्र गुण संयुक्त थे। वीरता का अलौकिक साहस आज भी उनमें देखा जाता था। उदारता कैसी कुछ कि जिसे जो जानते हैं, मुक्त कण्ठ से मानते हैं। असंख्य सद्गुण सम्पन्न होने पर भी वह एक ही गुणग्राहक थे। उनके विषय में एक सुकवि का यह कथन बहुत ही सत्य था:—

"चिन्तामनि सुजनन कहँ, वैरिन काल। युवतिन मदन मुरतिया, अवध भुआल"॥

वह असाधारण श्रीमान होकर भी एक अनोखे आचारवान ब्राह्मण थे, सांसारिक विषय-सुखों से सर्वथा सुखी, उसके उपभोग में मस्त होकर भी धर्म परायण थे, कर्मवीर होकर भी प्रबल ईश्वर-परायण प्रारब्धवादी थे। सनातन धर्म के परम आग्रही होकर भी उचित संशोधन के पक्षपाती थे। उत्कट शैव होकर भी परम वैष्णव थे, रामोपासक होकर भी श्री कृष्ण के चरणनख चन्द्र के चकोर थे, अयोध्याधिप होकर भी वृन्दावन के किङ्कर थे, वह बड़े शान व शौकत के बेनज़ीर अमीर वरञ्च महाराज होकर भी सामान्य जनों के समान सरल स्वभाव और निरभिमानी थे। मिलने जुलने की रीति नीति, शिष्टाचार और वार्तालाप की चतुराई में मनुष्य के मन को मोह लेना वा आगत स्वागत और सत्कार-व्यवहार में किसी को आजन्म के लिये मोल ले लेना—यह तो उन्हीं के बाँटे पड़ा था।

वह रसिक होकर भी धर्म-परायण थे, वह उग्र स्वभाव होकर भी न्यायवान् थे, वह उचित दण्ड देने में समर्थ होकर भी क्षमाशीलता का परिचय देते थे। हितैषी और उपकारियों का प्रत्युपकार करना तो वह जानते ही थे, अपकारियों के अपकार के पलटे वह उपकार करके उन्हें लज्जित करना भी भली भाँति जानते थे। वह इस समय के मनुष्य होकर भी अत्यन्त प्राचीन आर्यों की मर्य्यादा का निर्वाह करते थे और फिर पुरानी चाल ढाल के होकर भी नये लोगों के मन लुभाने में समर्थ थे।

उनकी रहन सहन वज़: अन्दाज़ और कार्य्यों में पुरानी और नई, अंग-

उनकी सभी बातें अलौकिक और सुहावनी होती थीं, "बिगड़ने में भी ज़ुल्फ़ उसकी बना की" के सदृश उनके किसी भूल के काम में भी एक विचित्र चातुरी और चमत्कारी लखाती थी।

वह थे तो सामान्य महाराज, परन्तु उनका चित्त सम्राटों के समान था। कहने के लिए तो वह तअल्लुकदार थे, परन्तु सच तो यह है कि भूतपूर्व शाह अवध के मिजाज़ की बू-बास आज कुछ उन्हीं के पास आती थी—रस, उत्सव और आनन्द का समुद्र जिनके सराहनीय समाज में सदैव उमड़ा रहा करता था। यदि उनके वेश और बानक में प्राचीन आर्य्यता का अनुकरण प्रगट होता, तो साथ ही उनकी बातों और कार्य्यों से निखरी निखराई नई सभ्यता और वज़ादारी भी लखाई पड़ती थी कि जिसे देख लोग चकित और चौकन्ने हो जाते थे। यों ही जो मनुष्य जिस प्रकार प्रसन्न हो सकता था, उनसे मिल कर वह उसी प्रकार आह्लादित हो जाता था। यदि सामान्य पथिक उनकी श्री समृद्धि, वैभव और विविध दृश्य निर्माण चातुरी अथवा सत्कार से, तो अनेक अर्थप्रार्थी निज निज अर्थ को पाकर निहाल होते और अनेक प्रकार के गुणी जन अपने गुणों को दिखाकर मालामाल होते थे। किन्तु हाय ! किसी के कथनानुसार—

"गरिगो गुमान आज गुनी गुनवन्तन को,
हाय गुनगाहक जहान सों निकरि गो!"

यद्यपि हम लोग उनके अन्तरङ्ग भेदों के जानकार थे और सम्बन्ध हमारा अत्यन्त घनिष्ठ था, किशोरावस्था, अर्थात छात्रावस्था ही से हम लोग परस्पर परिचित थे। क्योंकि हम भी उन दिनों फ़ैज़ाबाद के ज़िला स्कूल में पढ़ते थे, उस समय भी हमें उनकी अलौकिकता भस्मपुञ्ज में छिपी आग की चिनगारी सी जुगजुगाती लखाती थी; वह क्यों न ऐसे होते, क्योंकि वह अवध के असाधारण वीरवर महाराजा सर मानसिंह बहादुर कायमजङ्ग के० सी० यस० आई० द्विजदेव के दौहित्र तथा उन्हीं से लालित पालित और सुशिक्षित किये गये थे। वह एक बहुत बड़े पद-प्राप्ति की आशा से हताश हो सामान्य दशा को प्राप्त होकर भी उस महत्व प्राप्ति के उद्योग में व्यस्त रह अनेक वर्ष विविध विधि-विडम्बना-वारिधि को विलोड़ित करते, भारत के समस्त प्रांतों में स्वच्छन्द विचरण करते, अपने असीम साहस का परिचय देते, विपत्ति के दिनों को व्यतीत करते, अलभ्य लाभ से लाभवान् हुए थे। इसी से उनके

अनुभव और बहुज्ञता का परिमाण न था। साहस और धैर्य्य का वारापार न था। वरञ्च:--

विपदि धैर्य्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

इन सब गुणों के वे साक्षात् आदर्श थे। तौ भी उन्होंने जिस हीन दशा में राज्य प्राप्त किया था, उसमें उसका पुनः पूर्ववत मान और प्रताप का स्थापन करना केवल इन्हीं का कार्य्य था। अयोध्या और उसके चारों ओर प्रताप का विश्रृङ्खल अनेक उद्दण्ड जाति और समूहों पर इस उत्कट अंगरेज़ी राज्य के समय अपना प्रबल प्रताप प्रज्वलित करके उन्हें शासित कर सीधे मार्ग पर चलाने में जिस नीति-निपुणता, साहस और प्रगल्भता का उन्होने परिचय दिया था, वह कदाचित् साम्प्रतिक स्वाधीन नृपतियों से भी दुष्कर था।

वह किसी उचित अथवा आवश्यक कार्य्यों के करने में कभी हतोत्साह नहीं हुए और अनेक ऐसे ऐसे टेढ़े कार्य्य किये थे, कि जिन्हें जो लोग जानते हैं, हमारे कथन को कदापि अत्युक्ति न मानेंगे। वास्तव में इतना बड़ा नीति-निपुण, साहसी और वाग्मी तो एतद्देशीय नृपतियों में से कदाचित् ही कोई हो। उनके दरबार में सदैव यदि रोअ़मा और तअ़ल्लुक़दाराने अवध की भरमार रहती तो अच्छे अच्छे पण्डित सुविज्ञ चतुर और गुणियों की भी क़तार सुशोभित रहती। वहाँ न केवल सांसारिक कार्य्य वा प्रबन्ध, संगीत साहित्य-रसानुभव अथवा अन्य अनेक मन बहलाव ही की चर्चा होती, वरञ्च परोपकार और परमार्थ चिन्तन का भी अवसर आता था। उनमें न केवल कोरा धर्म्म आग्रह था, वरञ्च दया, दानादि से भी वह युक्त था, 'प्रतापधर्म्मसेतु' जिसका साक्षी है। अभी विगत ग्रहण के अवसर पर काशी में गजदानादि के अतिरिक्त उन्होंने प्रत्येक प्रशस्त पण्डितों को पचास पचास रुपये के अतिरिक्त दुशाले और पीताम्बरादि बाँटे थे, और अंतिम समय में भी उत्तमोत्तम दान किये। सारांश उनकी उदारता तो विश्वविख्यात थी। वरञ्च उनमें ढूंढ कर भी लोग केवल एक बहुव्ययता का ही दोष निकालते थे और कहते थे कि:—
"वह तनिक अपना घर देख कर नहीं चलते हैं, अंत इसका अच्छा नहीं।" किन्तु संसार ने देख कर स्वीकार कर लिया कि वह अपने सिद्धान्त में कृत-कार्य हुए और अंत तो जैसा उनका बना कहीं कदाचित् किसी का बना हो।

इसी से आज उनके महात्मा होने में शंका न रही, किन्तु शोक कि इतना बड़ा सहृदय सर्वगुण-सम्पन्न महानुभाव, इस देश का एक अनुपम आधार, वास्तव में भारत का परम प्रकाशित नक्षत्र अकस्मात् अस्ताचलावलम्बी हुआ ! 'रस कुसुमाकर'* को कुसुमित करने वाला स्वयं कुम्हला गया ! 'शृंगार लतिका'* नये प्रसूनों से सुसज्जित होने ही को थी, कि ऋतुराज बिदा हो गया ! आज आज 'शृंगार हाट'[१] अलङ्कारहीन हो गया ! 'नृसिंह द्वार'[२] से नृसिंह सुत नृसिंह जाता रहा। 'लता वन बिहार'[३] का विहारी चला गया ! 'कुंज कुटीर'[४] का कूजित विहंग उड़ गया। 'चन्द्र भवन'[५] की चन्द्रिका चन्द्रशेखर में जा बसी; 'गौरी द्वार'[६] के गौरव का भार उसका रक्षक गौरीकान्त को सौंप भागा ! 'मुक्ताभास'[७] की आभा फीकी पड़ गई ! 'गजमदन'[८] मलिन-बदन हो आज रानीमदन बन गया।

अचानक इस भयानक समाचार को सुन कर उनके इष्ट, मित्र, स्नेही और प्रशंसक गण चकित से हो गये, क्योंकि अभी कुछ ही दिन हुए कि उनका स्वास्थ्य एक प्रकार अच्छा सा हो गया था। श्रीमान् के स्वास्थ्य में गड़बड़ तो ग्रीष्म ही से आरम्भ हुआ था, जिस कारण वे श्री हरिद्वार ही ग्रीष्म काल भर रहे, किन्तु श्री गंगा जी ने उनको सांसारिक स्वल्प स्वास्थ्य के स्थान पर सदाकालीन सुख देना स्वीकार कर, उन्हें केवल अपने इष्ट मित्र और बान्धओं से परस्पर सम्मेलन मात्र के अर्थ ही कुछ अवसर दिया। यही कारण था कि दूसरी नवम्बर का दर्बार, अयोध्या राजसदन के पूर्वोक्त मुक्ताभास नामक राजभवन ही में हुआ, जिसमें कि फ़ैज़ाबाद के कमिश्नर ने छोटे लाट के स्थानापन्न होकर महाराज को महामहोपाध्याय की पदवी सम्प्रदान सूचक राजकीय सनद दी और महाराज अपने सब इष्ट मित्रों, तअल्लुक़दारों, पण्डितों, पारिषदों और बान्धवों में सस्नेह मिले और सब को समुचित सन्मान कर बिदा किया। महाराज को देख डाक्टर स्वीनी और स्थानिक सिविल सर्ज्जन और मेडिकल बोर्ड ने अपने निदान में जब रोग को जलोदर का पूर्वरूप स्थिर किया तब चिकित्सार्थ कलकत्ते के सुप्रसिद्ध कविराज श्री द्वारिकानाथ सेन आह्वान किये गये और वे उत्तमोत्तम औषधियों का प्रयोग कर चले तथा रोग भी घट चला था। परन्तु महाराज ने स्पष्ट

---

* ये दो इनकी पुस्तकें हैं। १ से ८ ये स्थान राज्जसदन अयोध्या के भिन्न २ विभागों के नाम है।

शब्दों में कह अपने पारिषदों से मानों इस महा यात्रा के नौ दिन पूर्व ही सूचना सी देते कह दिया था कि "मैं नवी नवम्बर के नौ बजे श्री वृन्दाबन की यात्रा करूँगा। क्योंकि वहाँ श्री यमुना जी में एक नहर निकलवानी है जिससे वह केशी-घाट से हटकर रेत न छोड़ें और जिसमें श्री वृन्दावन के यात्री निकट यमुना स्नान के सुख से वञ्चित न हों।" जब सेक्रेटरी ने महाराज से फ़िहरिस्त तैयार करने को पूछा, तब महाराज ने कहा, कि "अब की बार तो हम अकेले यात्रा करेंगे।" शोक है कि इस लाक्षणिक उक्ति को कोई न समझ सका, प्रत्युत इसके शाब्दिक अर्थ ही पर लोग परस्पर साश्चर्य्यवार्त्ता करते और इस अनुचित यात्रा साहस पर परिताप ही करते रहे। कविराज महाशय की चिकित्सा बराबर होती रही, परन्तु साथ ही महाराज अपने नित्य कृत्य स्नान और सन्ध्योपासानादि भी करते हो रहे। यद्यपि इतनी कड़ी बीमारी और कमजोरी थी, पर आश्चर्य्य का विषय है कि महाराज का यह हुक्म एक दिन के लिये भी भंग न हुआ।

निदान नवीं नवम्बर का अमांगलिक प्रभात हुआ। महाराज चन्द्र भवन नामक कोठी के दूसरे मंजिल से उतर, स्नान कर भस्म लगा और सन्ध्या वन्दन कर, श्री दर्शनेश्वर नाथ को पुष्पाञ्जलि चढ़ाने के लिये तामदान पर सवार होकर गये और उनसे सदैव के अर्थ विदा होने की आज्ञा माँग, कोठी में वापस आये; और पारिषदों को स्वर्ग द्वारघाट पर, जहाँ से कि दशरथादिक अयोध्याधिपों ने स्वर्ग यात्रा की थो, चलने के अर्थ शिविका तैयार करने की आज्ञा दी। यह सुनकर लोग बहुत ही विस्मित हुए और सजल नयन हो सादर निवेदन करने लगे कि श्रीमान् ऐसी आज्ञा न दें और न इतने अधीर हों। परन्तु महाराज का कुटिल भ्रूभँग देख पुनः किसी का साहस न पड़ा कि विलम्ब करें। शिविका प्रस्तुत हुई और महाराज उसपर चढ़कर राजद्वार से निकल साक्षात् स्वर्गद्वार घाट को चले। बीच में श्री देवकाली जी को सबद्धाञ्जलि नमस्कार किया तथा श्री नागेश्वरनाथ * की अभिवन्दना की और स्वर्गद्वार घाट पर पहुँचे।

स्वर्गद्वार घाट जाने का भयानक समाचार, तार की खबर सा, समस्त अयोध्या और फ़ैजाबाद में बात की बात में फैल गया और जो लोग जहाँ थे, वहीं से दौड़ पड़े कि यह क्या अनर्थ हुआ चाहता है। स्वर्ग द्वार पहुँचने

---

* अयोध्या जी में शंकर का देवालय

पर महारज ने गजादिक बहुमूल्य पदार्थों का दान किया, तदुपरान्त श्री गंगा जल तुलसी आदिक ब्राह्मणों से प्रस्तुत करने को इंगित किया, जिसके आने पर उसे पानकर तुरन्त ही स्वर्ग को प्रस्थित हुए । हा !—

"धिगिमां देह भृतामसारताम् ।"

क्या अन्त समय में सर्व सामान्य जन इस प्रकार सावधानी से अपज महायात्रा का प्रबन्ध कर सकते वा ऐसी सद्गति पाते हैं ? शोक ! अब इसके आगे की कथा कहने का किसे साहस हो सकता है । सारांश, महा कोलाहल और आर्तनाद के चीत्कार से अयोध्या नगरी भर उठी । अयोध्या के समस्त बाज़ार और दूकानें बन्द हो गईं और उस सायंकाल को अयोध्या मात्र में न तो कहीं दीपक जला और न किसी ने भोजन किया । महारानी का शोक आज तक समस्त अध्योयावासियों के चित्तों पर छाया हुआ है और कदाचित् बहुत दिनों तक रहे, वरञ्च बहुतों को तो आजन्म रहेगा । वास्तव में अब फिर अयोध्या ऐसा अधिपति काहे को पायेगी । उस दिन फैज़ाबाद की सरकारी सब अदालतें भी बन्द रहीं ।

महाराज का जन्म सन् १८५५ ई० के जुलाई मास में हुआ था । शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुल भूषण श्री महाराज मानसिंह के दौहित्र और सदैव उन्हीं के साथ बचपन ही में रहा करते थे । महाराज मानसिंह के देहान्त के पीछे उनकी महाराणी शोभा कुँवरि ने एक दूसरा दत्तक अपने पति के भतीजे लाल त्रिलोकी नाथ सिंह को लिया, जिनसे इस राज्य के पाने निमित्त महाराज से बहुत दिनों तक अदालत हुई । अन्त को 'प्रीवी कौन्सिल' ने प्रशंसित महाराज बहादुर को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया ? जिस कारण से रियासत बहुत ऋणग्रस्त हो गई । महाराज के पिता नृसिंहनारायणसिंह ने इस लड़ाई में महाराज की बड़ी सहायता की थी ।

महाराज सूबा अवध के समस्त तअल्लुक़दारों के अंजुमन के यावज्जीवन सभापति थे और जिस दिन से गद्दी पर बैठे उपाधियों की परम्परा से सदा विभूषित हुआ किये । महाराज को अयोध्या नरेश की पदवी सन् १८८७ ई० में श्री महाराणी विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर मिली थी । इसके उपरान्त वे अनेक बार छोटे लाट और बड़े लाट की लेजिस्लेटिव कौन्सिलों के मेम्बर हुए । १८९५ में के. सी. आई. ई. का पदक पाया । श्रीमान् अन्य अनेक गुणों के आकर होते हुए निज मातृ भाषा के बड़े ही प्रेमी थे ।

उन्होंने साहित्य का एक अद्वितीय भाषा काव्य "रसकुसुमाकर" नामक ग्रन्थ लिखा जिसपर कि डाक्टर थीबो और फेडरिक पिंकाट आदि ने प्रकर्ष प्रशंसा-सूचक सम्मति दी और यही कारण था कि गवर्नमेण्ट ने उन्हें महामहोपाध्याय का पद सम्प्रदान कर उनके विद्या विषयक अनुराग की प्रतिष्ठा की। आज-कल महाराज ने निज मातामह स्वर्गवासी महाराज मानसिंह जी द्विजदेव के अपूर्व काव्य 'शृंगार लतिका' का एक अद्वितीय भाषा-तिलक लिखकर प्रस्तुत किया था और १२ फ़ार्म तक उसे अपने राजराजेश्वर यन्त्रालय में छपा भी चुके थे, किन्तु कुटिल काल ने उसके प्रकाशित करने का काल न दिया। आशा है कि महाराज की उत्तराधिकारणी श्रीमती छोटी महाराणी महोदया उसे मुद्रित कराके महाराज के इस अन्तिम कृत्य से पूर्ण और प्रस्तुत कर हिन्दी के साहित्य में उनकी अमल कीर्ति को चिरस्थायिनी करेंगी।

महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया श्रीमती छोटी महाराणी के द्वारा बड़ी ही धूमधाम से और यथा रीति सम्पादन की गई कि जिसमें लाखों मुद्रा व्यय हुआ महा पात्र की सवारी इस धूम की निकाली कि लोगों को महाराज ही की सवारी का धोखा होता था। इसलिये कि महाराणी जी ने प्रायः महाराज के सब निज के बर्तने की सामग्रियाँ भी उसे दे डाली थीं। वास्तव में उन्होंने जिस उदारता, शान व शौक़त से अंतिम कृत्य समाप्त किया, वह न केवल उनके अकृत्रिम पतिप्रेम और उनमें अटल भक्ति का साक्षी है, वरञ्च उससे यह भी प्रमाणित हो गया कि श्रीमती में प्रशंसित उदार महाराज की अर्द्धाङ्गिनी होने की पूर्ण योग्यता प्रस्तुत है। एवम् न सामान्य वरञ्च विशेष प्रबन्ध का भी भाव उनमें वर्तमान है। क्योंकि इस अवसर पर आये न केवल अवध के असंख्यतअल्लु-क़दार और भ्रान्त सज्जन, वरञ्च भारत के अनेक प्रान्तों से पधारे बहुसंख्यक अतिथियों का जिस प्रकार आतिथ्य और सत्कार उनके द्वारा हुआ, वह किसी ऐसी भोली भाली भामिनी का जिस पर अचानक आकाश फट पड़ा हो, जिसने कभी कोई भी प्रबन्ध का कार्य्य न किया हो, असह्य शोक मूर्च्छित अवस्था में उचित रीति से निर्वाह करना परम असाध्य है। इसी से आशा होती है कि प्रशंसित महाराणी इस राजकीय भार को भी अवश्य ही यथावत् वहन कर सकेंगी।

महाराज को अपने अंतिम कृत्य के सम्पादन होने में कुछ शंका थी, जिस कारण वह अपने जीवन से निराश हुए, चाहते थे कि गृहस्थ आश्रम को छोड़ कर संन्यास ले लें, किन्तु अयोध्या में कोई योग संन्यासी लभ्य न होने के

कारण, काशी से किसी परम योग्य संन्यासी को ले आने के अर्थ अपने प्राइवेट सेक्रेटरी बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर बी. ए. को भेजा, किन्तु ईश्वर को अपने भक्त की अन्तिम अवस्था में व्यर्थ विधि व्यापार से विरूपता और शोभा शून्य इष्ट न थी, अतएव उन्हें उसी वेश और भाव से उपस्थित होने की आज्ञा हुई कि जिसमें वह इतने दिन संसार में स्थित थे।

महाराज की अवस्था अभी ५१ वर्ष की थी और वह निःसन्तान रहे, जिस कारण पाँच वर्ष पूर्व सं. १६०१ में श्रीमान् एक वसीयत नामा के द्वारा अपने समस्त राज्य की उत्तराधिकारिणी अपनी छोटी महाराणी को कर गये और उन्हें अपने पश्चात् किसी को उत्तराधिकारी अथवा दत्तक पुत्र लेने का भी अधिकार दे गए हैं। प्रशंसित महाराणी के प्रबन्ध में सहायता देने के अर्थ यदि आवश्यकता हो तो भारत गवर्नमेण्ट से किसी सुयोग्य सिविलियन सहकारी के नियुक्त करने और राज्य पर अधिक ऋण होने से उसके चुकाने की सुगमता के अर्थ कुछ विशेष प्रकार से दया दृष्टि दान की भी प्रार्थना की है तथा 'कोर्ट आफ़ वार्डस' द्वारा प्रबन्ध होने का निषेध किया है। आशा है कि गवर्नमेण्ट उसे सादर स्वीकार कर अपनी उदारता का अवश्य परिचय देगी। क्योंकिमहाराज न केवल देश भक्त थे वरञ्च वह पूरे राजभक्त भी थे। वह जैसे कि देश के सामान्य परोपकारी कार्य्यों में स्वार्थ लेते थे, वैसे ही गवर्नमेण्ट के भी अनुष्ठित कार्य्यों में पूरी सहायता करते थे। इसी कारण गवर्नमेण्ट उनकी सदैव सन्मान वृद्धि करती आई है।

अंत को हम लोग महाराज की अर्द्धाङ्गिनी महाराणी महोदयाओं से अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकाशित करते, यद्यपि उनके आश्वासन के अर्थ कोई उचित वाक्य नहीं पाते, क्योंकि उनका शोक असामान्य है, जिस कारण कि उनकी आँखों में समस्त संसार अन्धकारमय प्रतीत होगा, तथापि यही कहना उचित समझते हैं, कि ईश्वर की इच्छा को अटल और प्रबल मान कर वे धैर्य्य धारण करें और निज प्रिय पति की उज्वल कीर्ति की यथाशक्ति रक्षा करने में तत्पर हों। और तो —

"दस द्वारे को पींजरा तामें पच्छी पौन।
रहिवोई अचरज अधिक गये अचम्भा कौन॥"

१६६३ वै० आ०का०

विधवा विपत्ति वर्षा

जबसे इस देश के अधिकार का भार बृटिश शासन ने अपने ऊपर लिया प्रकाश्यतः पूर्वोक्त अंधकार से सचमुच संसार शून्य दिखाई देने लगा, परंतु खेद की बात है कि बहुतेरे पर्वत के दर्राओं के तुल्य यहाँ के उत्तम कुल वाले शिष्ट और महापुरुषों के आगार में (जो हम दीन अबलाओं के हेतु कारागार से भी अधिक बधिक हैं, निराधार कोटिशः बालविधवायें विचारी जो नाना प्रकार की नई नई यन्त्रणा से मारी जातीं, प्रतिक्षण जिनको कठिन कष्ट के संग कल्प तुल्य व्यतीत होता है) अन्याय के अंधकार का अधिकार बना है। तो अब इस अवसर को जिसे उस सूर्य्य के प्रकाश का मध्याह्न कहना चाहिये, यदि कुछ उसमें न्यूनता न हुई तो सिवाय विष घूंटने के हम निर्वलम्बा अबलाओं के जिनके कि नाकों दम और होठों पर प्राण आ गया है, दुसह दुःख की अधिकाई से मुक्त होने के लिये दूसरा और कौन चारा है। यद्यपि हम लोगों को न एक किन्तु ईश्वरीय अकृपा से भी गले के हार बनाये गये, परंतु यहीं अर्थात् न स्वर्ग और न पाताल किन्तु इसी पृथ्वी के यूरप और भारत ही में दिन और रात्रि का सा अंतर हो गया है, और और देशों की स्त्रियों को कोई विपत्ति बाधा नहीं करती क्योंकि अबला नाम तो केवल इसी पापभूमी की स्त्रियों के लिये यहाँ की भाषा में है, अतएव यूरप देश की, सो भी स्त्री जाति की, महारानी* के राज्य में, भी यदि हम दुखियायें दुःख से दूर न की गईं तो फिर क्या :—"खाक इंसाफ है खुदाई में"! तो भारतीय बालिकाओं के करुणास्पद दुःख मय इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि एक समय में यहाँ की बालिकायें जन्मते ही मार डाली जाती थीं। चाहे इसके कारण दुष्ट यवन ही क्यों न रहे हों, पर तो भी अवश्य वह रीति हम लोगों के अर्थ इतनी दयनीय न थी, कारण यह कि वह दुःख हमें ऐसी अवस्था में प्राप्त होता था जब हमें दुःख के नाम का भी ज्ञान न था। एक ही बार में पल्ले पार हो नित्य के नये नये दुखड़ों के झेलने से बचकर मानों हमें वह एक प्रकार के सुख का कारण था।

---

*महारानी विक्टोरिया

परन्तु हाँ अब तो वह समय है कि पाँच वर्ष की कन्या का विवाह आज कल के लोक और शास्त्र के अनुसार उत्तम और उचित समझा जाता है। वर भी चार ही पाँच वर्ष के ढूंढ़े जाते हैं। क्योंकि जिन्हें भगवान ने खाने पीने का ठिकाना दिया है, उनके घर की बड़ी बूढ़ी, और पुराने ढङ्ग के बूढ़ेबाबा लोग सदा यही कहा करते हैं, कि "बस अब थोड़े दिन जीना और है; अपनी आँखों से लड़के पोते का विवाह देख लें, फिर कुछ इच्छा नहीं।" यदि कोई भूला चूका भलामानस बोल उठा कि "महाराज अभी तो लड़का शादी योग्य नहीं भया" तुरन्त क्रुद्धित हो कहने लगते हैं कि 'फिर क्या जब मूछ दाढ़ी आवै तब दूसरे तीसरे ब्याह के समान व्यर्थ का टंटा आपको पसन्द है?" भीतर से माँजी साहिबा फ़र्माने लगीं कि 'अरे! दुलहा भी कहीं मुछाड़िया सोहता है? खासा छोटा मोटा, गोल मठोला, काजल दिलवाये, सहरा लगाये, खिलौना सा, दुलहा के संग उसकी खासी गुड़िया सी बहू सोहती हो, सजता है। तुम तो लाला जी, हो गये हो पागल, ऐसी भी बात कहीं करनी होती है। और बचवा का ब्याह तो अबके साल न होगा तो राम जानै मैं तो ज़हर खाकर मर जाऊँगी। वाह! अच्छी कही तुमने तो, भगवान बहू के हाथों की चार रोटियाँ खिला दे, फिर मरना हुई है। जो ग़रीब हैं वे पापी दो वर्ष की लड़कियों को भी मिसल लौंडियों के चाहे लड़का हो वा बूढ़ा, रोगी हो या कोढ़ी; चोर, डाकू, जुवाड़ी वा दुष्ट हो या भला मानस, कुलीन हो या नीच, रुपिया ले बाजारी सौदा-सा हवाले कर देते हैं। फिर उनकी कथा कौन कही जाय। चित्त में अनुमान करने ही से जाना जा सकता है। रहे वे, जो कि यद्यपि रोटियों से भी दुखी हैं, पर तो भी कानी कौड़ी को हराम मानते हैं और चित्त से धर्म, परलोक, और ईश्वर का डर मानते हैं, यदि अच्छे कुल में विवाह करने को हठ करते तो न उन्हें जहेज़ में देने को गठरी की गठरी रुपया पाते न ब्याह होता। परन्तु चाहे जिस तरह का ब्याह हो, ख्याल प्रायः दोई बातों का रहता है, एक तो पंडित जी की कुण्डली के विधि मिलने का, अर्थात् चाहे अंधा, काना, कुबड़ा, लूला, लंगड़ा, काला, कुरूप, मूर्ख, दुष्ट, क्या सर्वादोषयुक्त क्यों न हो, कुण्डली की विधि मिलने से लक्ष्मी-समान रूप गुण सम्पन्न कन्या का ब्याह करी देवेंगे। जाति और खानदान अच्छा हो, चाहे वह खाने बिन मरता वा कैसा ही फ़ाके-मस्त हो, इसपर कुछ ध्यान न देवेंगे। निदान नीच से भी नीच, वा संसार भर की दुष्टता क्यों न करता हो, या विद्या के नाम काला अक्षर भी न

जानता हो, पर तो भी सरस्वती सी पंडिता और बड़े बाप की बेटी उसे ब्याह देंगे, परन्तु गणना का बैठ जाना उसमें भी आवश्यक है।

ऐसी अवस्था में ऐसी निर्दयता, कठोरता, और अन्याय के साथ जो विवाह प्रायः बाल्यावस्था ही में किया जाता है, यद्यपि उससे जो जो आपत्तियाँ आतीं हैं वर्णन उनका सर्वथा असम्भव है; पर तो भी यह तो प्रसिद्ध है कि ऐसे ब्याह से आपस की प्रीति और मेल कैसे उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है। अन्योन्य प्रकृति का प्रतिकूल होना हर अवस्था में दुःख का विषय है किन्तु इस स्थान पर धर्माधर्म तथा शास्त्राज्ञा का कुछ भी विचार नहीं करते! क्योंकि अपने पवित्र धर्म शास्त्र में भगवान मनु यों आज्ञा देते हैं कि:—

"काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमतीसती। ऊर्द्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विंदेतसदृशम्पतिम्॥ अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्। नैनः किञ्चिदवाप्नोति नाचयं साधि गच्छति॥"

अर्थात् ऋतुमती भी कन्या होकर गृह में मरण तक रहे। परन्तु गुणहीन पुरुष को वह कन्या कदापि न दे। तीन वर्ष तक ऋतुमती कन्या अच्छे वर की आशा करे इसके अनन्तर समान पति को प्राप्त हो। पिता आदि आज्ञा नहीं देते, और कन्या आप से भर्ता को स्वीकार करे तो उस कन्या वा उस वर को कुछ दोष नहीं।"

निदान अब इन गिनतियों को मैं नहीं गिनना चाहती, जिनका अन्त नहीं कि कोई सुन्दरी कुरूप पुरुष को; विद्या विनय शील सौजन्यादि गुण हीन दुष्ट, पामर, नीच, निर्लज्ज, मूर्ख को; बड़े घर वारी, वारी सुकुमारी, दरिद्र, अक्खड़, फ़ाकेमस्त, जर्जर लस्त को ब्याह दी जाये; अर्थात् ऐसा ही कहीं (काकतालीय न्याय, के समान) कोई गोटी ठीक पड़ जाय तो संयोग और प्रारब्ध से नहीं तो प्रकृति-विरुद्ध होना ऐसी अवस्था में अधिकांश सुलभ है। परन्तु धन्य हैं ये भारत की भामिनियाँ कि इस दशा पर भी वे अपने धर्म और कुलकानि का त्याग नहीं करतीं, किंतु बेपीर बधिक से वैरी सदृश बाप से दी गई लड़कियाँ आँख मूँदे पति के संग बेउज्र चली जाती और जो कुछ दुख सुख पड़ता खुशी से झेल जाती हैं। बुरे से भी बुरे पति को ईश्वर तुल्य जान उनकी सेवा से अपने जीवन के दिन बितातीं; और शालग्राम की छोटी बड़ी सब बटिआयें तुल्य जानतीं, तथा घी का लड्डू टेढ़ा भी मीठा मानती हैं,

पुण्य पातिव्रत धर्म को निभातीं, प्राप्त दुखों को पूर्व-जन्मकृत कर्म-संस्कार मान इस जन्म में पति सेवा से उसे संवारती, और कदाचित् मन पर मैल नहीं आने देतीं। महा दुख का विषय है, कि यदि अब वह खराब वा खोटा बड़ा वा छोटा उत्तम वा अधम आधार को जो हमें अन्धे की लकड़ी के तुल्य हो रहा था, जब न रहा, तो कैसे हम सब की सब ऐसी दीन दशा में संसार के सन्मार्ग रूपी सत्मार्ग पर ठीक चल सकती हैं। एक मात्र अवलम्ब से अवलम्बित, यथा भग्न नौका से बचा यात्री किसी घट वा काष्ट के आधार पर बड़ी बड़ी लहर में उलटता, पुलटता, किसी रीति जा रहा हो, और उस आधार से भी निराधार होकर यदि महासागर सदृश इस भव सागर से पार हुआ चाहे, कैसे सम्भव है। सो भी प्रायः उस अज्ञान अवस्था में कि जब वह सर्वथा मुग्ध हो।

मेरी समझ में तो उसके जीवन में शादी केवल मृग तृष्णा है। कैसे अन्याय का विषय है जब कि ऐसी अवस्था म ब्याह किया जाता है जब शीतला देवी के ग्रास तुल्य अथवा नाना प्रकार की जो बालब्याधियाँ होती हैं, उनके कराल गाल में जाने के योग्य कोमल बालक दुलारे दुलहे और गुड़ियों की तरह दुलहिनें जो विचारियाँ ब्याह की भाँवरी भरने को भी केवल एक खेल जानतीं, ब्याह दी गई हैं। इसी पर एक कवि ने कहा है :—

"सखितें हूँ हुती निसि देखत ही जिन्ह पै वै भई हीं निछावरियाँ।
उन पानि गहो हुतो मेरो जबै सबै गाय उठीं ब्रजडामरियाँ।
अखियाँ भरि आवतीं मेरी अजौं सुमिरे उनकी पग पायरियाँ।
कहियै तो हमारे वे कौन लगैं जिनके संग खेली हौं भाँवरियाँ" ॥

थोड़ी सी भी सर्दी गरमी पहुंचने से वा पेट या सिर दुखने से, जैसे कि क्षुद्र ब्याधियों में लड़के मरा करते हैं, मर गये, तो बस ! फिर क्या था, अनर्थ हो गया, हाहाकार मच गया रोहा पीट की आवाजें आने लगीं, लोग मातम पुर्सी को शोकसूचक वेष धर धर कर घर में उनके शोक प्रकाशनार्थ आने जाने लगे, स्यापे की तैयारियाँ होने लगीं, बाहर की औरतें आकर नित्य रो रो कर उस भोली भाली कन्या के सामने उपद्रव मचाने लगीं। और यद्यपि वह यह नहीं जानती कि मेरा जो कुछ इस दुनियाँ में था सर्वस्व ईश्वर ने हर लिया, और इस संसार का एक मात्र मेरा आधार मुझसे बिछुड़ गया, पर तो भी उसे कुल परम्परा, और लज्जा, विनय की मानो शिक्षा सी

देती, और कोसती कि अरी पापिन ! अभागिन, बेहया ! तू रोती नही, क्या तू जानती नही कि पति तेरा मर गया, और तू बालरण्डा हुई ! हाय राम ! हे राम ! इत्यादि वाक्य उस दयायोग्या बालिका को कह कह कर बेजाने दुख को जताती, और सतातीं, जिन्हें वे विचारियाँ सोचती भी पर नहीं समझ सकतीं। कोई हाथों की डहडही चूरियाये कूँच कूँच कर चूर करतीं, कोई उनके अमल ललाट से सिन्दूर को दूर करतीं, कोई काजल और महावर धोती, और कोई कोई सुथरे रगीन वस्त्र छीन उसे मैली मिट्टी से रगी मैली कुचैली धोती पहनाती, और कोई सिर के बालों को खोल कर उनमें धूल भरतीं हैं, और कहती कि "तू ! कोने मे मूँ छिपाये बैठा रात दिन रोया कर ! और अपना मूँ किसी को मत दिखाया कर ! कोई शुभ कर्म को प्रारम्भ करता हो, वा किसी मगल कार्य को जाता हो उसे यह अपना अमङ्गल वेष भूल कर मत दिखा, तुलसी का पूजन, और ठाकुरजी की सेवा किया कर, और यह माला लेकर राम राम जपा कर।" न उसे आँगन की हवा लगने पाती, न वह पूरे पेट भर खाना खाने पाती, पाँच पाँच व्रत रह कर (अर्थात् एकादशी से परिवा पर्यन्त) केवल रूखा सूखा अन्न सो भी चौथाई पेट खाने को पाती, इसलिये कि इन्द्रियाँ प्रबल न हो। पास उसके कोई हमजोली बालिका भी नही जाने पाती, कि कदाचित् उसकी बातें और चाल ढाल इसे भी न भा जाये, या कोई कुसग का प्रभाव न आ जाये। दिन रात वह उसी एक कोठरी मे पडी पडी बिलख बिलख कर मरती है। कहाँ तक गिनाऊँ कि स्मरण करते ही रोमाञ्च होता, दिल भर आता और छाती थर्राने लगती, आँखों से आँसुओं की झडी लग जाती है। अब यदि सोचिये कि कौनसा कारण ऐसा हुआ जिससे एक मनुष्यजातीय निरापराधिनी अज्ञान बालिका समग्र जीवन पर्यन्त को इस घोर दुख से विधवा करके बैठाई गई, सिवाय इसके कि क्षण भर ग्रन्थि बन्धन का सयोग वा हाथ का स्पर्श, सिन्दूर दान के समय मस्तक से हुआ, वा पाणिग्रहण के अतिरिक्त कुछ और नहीं। परन्तु हा ! यदि इतने ही स्पर्श से विवाह माना जाय तो लडकपन में सैकडों ऐसे पुरुष स्पर्श होते हैं, तो क्या सैकडों विवाह मान लेने होंगे ?

अब टुक और प्रकार की विधवाओं का चरित्र तथा उनकी आपत्तियों का भी वर्णन जो दाम लेकर लौंडियो की भाँति बेची गई, वा गणना और कुण्डली के मिलान मे, वा बाप की बेईमानी और नीचपन से कसाई के हवाले गऊ के तुल्य, स्वभाव प्रकृति विरुद्ध अत्यन्त अन्धा और अन्याय के सग सुपुर्द

की गई, विवाह कर ससुराल में भी जाकर मैके के तुल्य रहीं, वा कठिन क्लेश के कारागार में रह कुछ दिन तक मानसिक शोक सहीं, पर जब वे भी कृपा निधान से लह गये, अर्थात यमलोक की यात्रा को सिधारे, यदि आतरीय कष्ट न हो तो भी बाहरी आलडवाल कब पीछा छोड़ता है, परन्तु वास्तव में न केवल एक प्रकार किन्तु अनेक प्रकार से क्लेश का कारण तो अवश्य ही होता है। चाहे कुछ क्यों नहीं, निदान जब हर तरह दुःख की अधिकाई होने लगी, न्याय और धर्म का लेश न देख, व्यर्थ कौन क्लेश उठाये, चित्त में अपना सा ज्ञान ठान लिया, और अन्धेर नगरी चौपट राज में सब उलटा ही काज सीधा जान लिया, पुरुषों को अन्याय और देश तथा कुलजन के निष्ठुरता का आँतरीय यही प्रयोजन जान, मन में निश्चय अपना सा अनुमान मान लिया, और उनकी आँखो में धर्माधर्म सम जान पड़ने लगा। सच है! महर्षि मनुभगवान अपनी स्मृति के (नवमाध्याय) के आदि में लिखते हैं कि "जो कि सृष्टि के आदि ही में ब्रह्मा ने स्त्रियों का स्वाभाविक चित्त चञ्चलता से युक्त, पति के विरह की असहनशीलता इत्यादि गुणमय बनाया, अतएव सत्पुरुषो से रक्षित स्त्रियों को भी भर्ता का विकार होता ही है, और पति के विरह से कामान्ध स्त्री स्वरूपवान वा कुरूपी और उत्तम अधम पुरुष का कुछ भी विचार नहीं करती, क्योंकि शय्या, आसन, अलंकार के बताने का स्वभाव और काम, क्रोध, कठोरता, द्रोह, कुचाल इत्यादि स्त्रियों के लिये पहले बनाया गया।" आगे तो ऐसी दशा में उनके घर के लोग उन्हें मार डाला करते थे कि आगे की आफतें और उपद्रव नहीं होती थीं।

अब इस अंगरेजी राज्य में वह न हो सकने से, खाने पहिनने तथा और कष्टकारक व्यापार तथा लात, घूसा, जूती पैजार, और धौल धप्पड क्या, किन्तु (प्रायः गुप्त प्रकार से) प्राण दण्ड भी करी डालते हैं। अथवा यहाँ तक कष्ट देते कि उन्हे लाचार हो किसी नीचे ऊँचे के साथ निकल जाना, वा बाज़ार मे खानगियों का पेशा स्वीकार करना वा मरना होता। संयोगात यदि ऐसा न हुआ, गर्भिणी हुई, तो प्रथम गर्भपात की वह वह उपद्रव और प्राणान्तक कष्टदायी व्यापार किये जाते, जिन्हे सुन कर पत्थर का भी कलेजा पसीजे और राक्षस के भी रोंगटे खड़े हो अर्थात् ऐसी अवस्था मे जिसमे स्वास लेना भी कठिन, और जब अपने सिर के बालबदन को बोझ रहते लेटाकर चार चार स्त्रियों का पेट चढना और पैर से पेट को रौंदना, कूदना, कि जिससे प्रायः प्राण व्यय भी हो ही जाया करता है, यूँ ही बच्चों को काट काट कर

निकालना और कहाँ तक कहूँ कि इस बीभत्स रस और लज्जा रहित व्याख्यान के वर्णन को लेखनी आगे नहीं चलती !

निदान जो वे मरीं, हस्पताल मे गई । यदि खुली-खुला अर्थात् प्रकाश हुआ तो पुलीस और अदालत के अमला ने लूट मारा, जात पाँत से घर का घर गया, और कुल कलङ्कित हुआ। यदि इतने उपद्रव पर भी गर्भ निपात न हुआ तो विष और फाँसी से आत्मघात करना हुआ । उसके उपरान्त भी पूर्वोक्ति आपत्तियों का आरम्भ हुआ, अथवा जो कदाचित् पूरे दिनों के होने पर सतानोत्पत्ति हुई, तो उसका मूँ पानी में डुबो कर वा कपडे में उसका मु लपेट कर, वा और यत्न से साँस बंद करके, या उस मांस के लोथडे को किसी वर्तन मे कसकर मूँदी, या गला घाट कर कहीं गाड़ गूड देतीं या नहर और पनालों वा मांद और बिलों में घुसेड देतीं, या और रीति से फेंक देतीं, अथवा यदि कहीं दयावानों से काम पडा, तो मूँही कहीं ऐसे विकट निर्जन स्थान मे जा फेंका कि किसी और के हाथ न लगे, और आपसे आप काम तमाम हो जाय । निदान इसी प्रकार सहस्त्रविधि भ्रूण हत्याएँ नित्य प्रति होती रहती जो सब पर प्रकाश और विदित हैं। परन्तु जो कदाचित् किसी के आसपास घर के भेदिये दुष्ट शत्रु वर्ग दूसरे की इज्जत के लेने वाले और उपहास के चाहने वालों ने पुलिस मे गुप्त रीति से इत्तला कर दी, वा जिले के हाकिमों को गुप्त पत्र द्वारा विज्ञप्ति किया, और झटपट कुछ उत्तम प्रबन्ध हुआ, घर के लोग उनके असाहसी और डरपोक हुए, तब तो बचते बचते बच गया तो भाग्य से बच गया, नहीं तो फिर भी वही कर्म करते और मार ही डालते, क्योंकि यही कारण है कि विधवाओं के पुत्र इतने बडे देश में भी कहीं नहीं दिखाते। यदि जीते जीते जी गये, तो कलङ्क के पुतले बने घूमे, जिनका जीना उनके कुल भर के संग मरने से भी अधिक दुखदायी होता है । सच है इस देश के इन्ही बुद्धि-बैरियों के लिए यह मसल मशहूर है कि "फूटी सहेंगे पर आँजी नहीं।" क्योंकि ये वे मनुष्य हैं कि उन पूर्वोक्त उपद्रव और विपत्ति को प्रसन्न हो सहेंगे, निर्लज्जता का लबादा ढील उस पर पाप का पग्गड बाँध कर, कलंक की कलगी खोसे चैन से फिरेंगे । ये परलोक भय से चर्चित चन्दन को मिटा चहरे पर लोकापवाद, कुटिलता और कुकर्म की कालिमा सुन्दरता से लगाये घूमेंगे, अधर्म की आग में डूबकर भी धर्म-परायण अपने को समझेंगे, परन्तु शुद्ध धर्म के निष्कण्टक राह पर कदापि न चलेंगे। सौ गट्टे प्याज सौ जूतियों के साथ खायँगे, इस लोक और परलोक, जात-पाँत

सबसे आयेंगे, उसी बहू या बेटी को उसी घर के पुत्र और दामाद से सुन्दर शास्त्राज्ञानुसार प्रकाश रीति से ब्याह का नाम सुन 'कालनेमि, वशावतंस,' कान पर हाथ धर राम राम ! यह अधर्म, यह अनर्थ, यह अनहोनी बात यह परम्परा-मर्य्याद के प्रतिकूल कार्य किससे हो सकता है ! कह कब कदापि स्वीकार न करेंगे, निदान अब मैं इन बे सींग-पूंछ के पशुओं के गुणगान को छोड़ और इनकी मूर्खता की कहानी से मुँह मोड़, दूर फिर उसी कथनीय विषय पर, जिसका शेष एक अंश अभी नहीं वर्णन किया गया है, वर्णन करती हूँ।

अब उन स्त्रियों की दशा निवेदन करती हूँ जो अनन्या पतिव्रता, स्वकीया कहाती हैं कि जिन्हें कमलिनी की भाँति सूर्य और कुमुदिनी की भाँति चन्द्र, एवम् चातकों की भाँति स्वाति-बिन्दु की रीति केवल एक ही अपना प्रियतम प्राणाधार ही आधार है, दूसरा चाहे विष्णु बन क्यों न आकर अपनी प्रीति पाश में लाया चाहे, कदापि नहीं आने की, और सिवा उस एक के कदापि और के नाम भी जिह्वा पर नहीं लाने की। वे दो प्रकार की हैं, अर्थात् एक तो वे जो पति का मुँह देख चाहे "याही चित्त चारहिं चितोत चित्त दे चुकी" की भाँति उन पर अनुरक्त भई, वा इस भवसागर में से प्रारब्ध अनुसार सीपी का मुक्ता पाकर उसी पर संतोष कर अपना जीवितेश और जीवनाधार मान बैठीं, उनका आजन्म पर्यन्त का वियोग होने से जिनका जीवन सर्वथा असह्य और असम्भव है, ऐसी दशा में उनका अपने प्रियतम के गले में हाथ डाले प्राण के साथ प्राण छोड़ देना, वा उनके मुर्दा और जीव रहित शरीर के संग अपने सजीव शरीर को साथ जला देना, वा उनसे शून्य असार संसार को अपने से भी शून्य और रहित कर देना, अथवा सब ही दुःख जिनके संयोग से सुख थे, उसी संयोग में इस कथन मात्र दुःख को सुख का मूल मान, मन भावन की विरह-व्यथा व्याप्त होने न पावे, वा उस यमपुरी के मार्ग में उस की सेवा में बाधा न हो, अनुमान सती हो जाना, उनका मानों फूलों की सेज पर ऐसा सोना था कि जिसमें फिर न आँखें खुलें, यही उस दुख को हरनेवाली और सदैव के सुख को करने वाला उपाय था। दूसरी वे अज्ञात मुग्धा बाल विधवायें कि जो यह भी नहीं जानतीं कि विधवा होने से कौन सी हानि वा लाभ है; और किस रीति से क्या होने से क्या होता है, वा किसको विधवा कहते हैं; ऐसी दशा में कि पति का अर्थ भी न समझे और उस नाम मात्र के पति के भी मरने पर यदि पुनर्विवाह हो, तो उन्हें भी यही उपचार विचार के

अनुसार उचित था, क्योंकि चाहे केवल विधवा होने ही मात्र के लिए उनका विवाह क्यों न हुआ हो अथवा पति का सम्बन्ध केवल इस दो अक्षर के शब्द का नाम कानों में सुनने ही तक क्यों न रहा, और चाहे संसार की अत्यन्त आवश्यक आवश्यकता और मुख्य रसानुभव से वंचित रह कर भी समस्त जीवन उन्होंने यद्यपि व्यभिचारादि दोष से दूषित न होकर भी व्यतीत किया, पर तो भी इस अत्यन्त सूक्ष्म विचार से विचारने योग्य विषय को जब कोई विचारवान विचारेगा, लाचार हो यही कहना उसे उचित होगा कि इससे अधिक दुःख संसार भर में कोई नहीं। प्रायः सब अवस्थाओं में ऐसे दुःखी को प्राण त्यागना परम सुखास्पद है और इस दशा में इससे सुन्दर कोई अन्य उपाय नहीं है। अतएव हर तरह से यही सिद्ध होता है कि सती हो जाने की प्रथा इस समय, इस मंडली, और इस प्रचाली के अनुसार अत्यन्त उत्तम, उचित और न्याय थी।

पर हाय! जिस निगोड़े विधाता ने हमें इस देश और ऐसी बुद्धि वाली मण्डली में स्त्री जाति के मध्य उत्पन्न किया और इस काले ललाट में दुस्सह दुःख देखने ही के लेख लिखे, क्या वह उसके बाधक रोगों के दूर करने हारे औषध का वैद्य नहीं जो उसके निशाने पा लक्ष्य चूकें? देखिये! यद्यपि यह अंगरेजी राज प्रायः सब ही को सुखदायी, भाग्यवश इस देश में स्थापित हुआ, पर हम लोगों के लिये कदापि ऐसा दुःखदायक कोई न था, जिसमें भी जो हम लोगों की दशा पर दया प्रकाश करने ही के अपराध से विधि के वैरी होने के कारण बुद्धि विभ्रम रूपी दण्ड के भागी हुये, ऐसे गवर्नर जनरल और वाइसराय अर्थात् राज्य प्रतिनिधि लोगों ने यहाँ आकर जो हम लोगों की दशा पर करुणा करके छोटे दुःख को दूर करना चाहा, बड़े भारी दुस्सह दुःख के पहाड़ को हमारे सिर रख गये। अर्थात् जैसे कोई दयावान किसी के गले लिपटे सर्प को शस्त्र से मारा चाहे और उसके दुर्भाग्य और होनहारी मृत्यु के कारण भ्रम से शस्त्र का आघात उस मनुष्य पर हो जाने से उसकी मृत्यु हो जाय, यद्यपि उस दयावान् मनुष्य का कोई अपराध नहीं पर तो भी ईश्वरेच्छा प्रतिकूल आचरण से मृत्यु का कारण तो वही गिना जायगा, और मृत्यु सर्प द्वारा न कही जाकर केवल शस्त्र द्वारा कही जायगी, इसी रीति से जिस महात्मा महानुभाव राज्य प्रतिनिधि ने सती होना अनुचित कार्य समझ कर बन्द किया, यह न समझा कि इसका परिणाम क्या होगा। जैसे किसी के फोड़े के चीरते समय चिल्लाने पर दया कर कोई जर्राह या फस्द देते हुए फस्साद

को रोकें, पर यह न समझे कि फिर इस फोड़े के मवाद की वृद्धि से इसकी क्या दशा होगी, वा दुष्ट रक्त रह जाने से इसका समग्र शरीर बिगड़ कर नष्ट हो जायगा, वा टूटी टँगड़ी को डाक्टर न काटने पावेगा, तो उसके कारण घायल मर जायगा। मैंने माना कि अनुभवी राज्य शासकों ने अनुचित स्थान से बहते पनाले वा नहर का अवरोध किया है, पर यदि उसके बन्द होने से वह मकान या नगर कि जिसका समग्र पानी उसी एक राह से बहता था कोई दूसरी राह न पाकर गिर जाने तथा नष्ट होने पर कुछ भी ध्यान न दें, तो यह कौन सा न्याय और इंसाफ, तथा दया और कृपा है।

अब यह बतलाइये कि हम लोग कई करोड़ भारत की विधवायें क्या करैं, और क्या कहें ? क्या खाकर कैसे मरैं, और कैसे इस असह्य दुःख को सहैं ? क्यों कि जो जो आपत्ति विपत्ति थी और भी जो सब कहनी अकहनी बातैं थीं, जहाँ तक मुझे सूझीं और समझ में आई कह सुनाई। यह भी सुना जाता है कि किसी पश्चिम देश के नगर की बहुतेरी विधवाओं ने गवर्नमेंट में एक निवेदन पत्र भेजा है कि "हम लोगों को स्वयंवर करने की आज्ञा मिले, तथा और स्थानों में भी इस विषय का कुछ आन्दोलन हो रहा है, और मदरास से तो एक सभा ने महाराणी विक्टोरिया की सेवा में एक निवेदन-पत्र भेजा है, कि विधवाओं के विवाह होने के लिये कोई कानून जारी की जाय, इसी रीति बम्बई के हाईकोर्ट ने किसी ऐसी विधवा को जो पुनर्विवाह किया चाहती थी, जिसके सम्बन्धी उसे वारण करना चाहते और विवाह करने पर वस्त्राभूषणादि हर लेना चाहते थे, महान्याय गृह ने अकृत्कार्य किया, परन्तु हा ! यह तो वह पापी पश्चिमोत्तर देश ही है जहाँ की स्त्रियाँ जिह्वा संचालन नहीं कर सकतीं और और की क्या कथा है ! कदाचित यदि कोई यह कहैं कि धर्म विषयक कामों में गवर्नमेंट हस्तक्षेप नहीं कर सकती। तो प्रथम इसका उत्तर तो केवल इतना ही कह देने से मिल जाता है कि, सती होना भी तो धर्म था, इसमें क्यों गवर्नमेंट ने हस्तक्षेप किया और क्यों इसमें नहीं करती ? क्योंकि ये दोनों बातैं एक ही स्थान पर लिखी हैं, अर्थात् सती होना और पुनर्विवाह। फिर क्या कारण कि एक बात को तो आप बन्द करैं, और दूसरे में धर्म का सम्बन्ध लाकर बोलैं भी नहीं ? सर्व साधारण विधवाओं के लिये हमारे शास्त्र तीन आज्ञा देते हैं—उत्तम विधि "सती होना, अर्थात् पति के शरीर के साथ जल जाना" सच है ! पतिव्रता निज पति-प्रेम वती स्त्रियों को अवश्य यही उचित है। दूसरे ऐसी स्त्रियों के लिये कि जिनके

लड़के-बाले हैं, और वे प्रायः अज्ञान और असहाय हैं। फिर पति ने उचित अवस्था पर अर्थात् वृद्ध हो प्राण त्याग किया, अपनी भी अवस्था पर यौवन का लेश तक न रहा, किन्तु वृद्धता ने घेरा और इन्द्रियाँ प्रायः शिथिल हुईं, चित शान्ति और भक्ति तथा ज्ञान से युक्त हुआ, तो वे ब्रह्मचर्य पूर्वक ईश्वर के अर्चन और वन्दन करतीं, और अपुष्टान्न अर्थात् शाक फलाहार के भोजन से पेट भर लेतीं, वस्त्राभूषण से बिलकुल प्रयोजन न रख, उदासीन वृत्ति से उस थोड़े जीवन को काट डालतीं, वा जिनके शरीर पुष्ट है अथवा जिन्हें मरने की शीघ्रता, वा अत्यन्त विरक्त हुईं, चान्द्रायण इत्यादि व्रतों से शरीर को जला कर राख हो गईं, उनके लिये भी सती होने से अधिक दृढ़ता—धर्म परायणता चाहिये। मैं कह सकती हूँ कि उनसे ये कदापि कम नहीं, जैसे किसी ने कहा है "उनको सती न जानिये जो पति संग जरि जायँ। साँची सती प्रमान जो जरत जरत जरि जायँ।"

तीसरी वे जो कि प्रायः बाला वा युवती हुई हैं, अथवा जिनके सन्तान नहीं वा जिनका स्वभाव पूर्वोक्त दोनों प्रकार में से नहीं और चित्त की कादरता से सती होना एवम् दुःख-असहन शीलता से ब्रह्मचर्य भी नहीं कर सकीं, अथवा चित्त की इच्छा हुई तो नियोग (अर्थात् केवल एक वा दो पुत्र उत्पन्न कर लिया तथा पुनर्विवाह किया। शास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं, यथा

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथा सुरः।
गांधर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
मनु० अ० ३ श्लो० २१"

अर्थात् १ ब्राह्म (वर को बुलाकर वस्त्र और गहना सहित कन्या दान),२ दैव (यज्ञ में ऋत्विक को दान),३-ऋषि (एक गऊ का शुल्क लेकर वा यों ही दान),४-प्रजापत्य (वर और कन्या धर्म करें),५-आसुर (मोल ली कन्या वा द्रव्य के बदले व्याही)

६—गाँधर्व (वर और कन्या की परस्पर-इच्छा से संयोग हो)

७—राक्षस (युद्ध करके जीती गई वा मारते काटते हुये पुरुष से हठ पूर्वक हरी गई।

८—पैशाच (सोती, नशे से उन्मत्त, वा रोग से पीड़ित समय का संयोग) इसी प्रकार १२ तरह के पुत्र कहे गये।

औरसः क्षेत्रजश्चैवदत्तः कृत्रिम एवच।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बांधवाश्चषट्॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्चषड् दायदबांधवाः॥

अर्थात १ औरस (संस्कार से युक्त अपनी स्त्री में अपना उत्पन्न किया गया)। २ क्षेत्रज (नपुंसक, और व्याधि से युक्त अर्थात राजरोग वा आजन्म न छूटने योग्य कुष्ट इत्यादि का रोगी, वा मरे हुये मनुष्य की स्त्री में धर्म करके अन्य से उत्पन्न पुत्र), ३-दत्तक (आपत्काल में माता-पिता जल से प्रीति सहित समान जाति का अपना पुत्र जिसे देवैं)। ४ कृत्रिम (समान जाति वाला गुण-दोष का जानकार पुत्र के गुणों से युक्त जिसे पुत्र बनावै), ५ गूढोत्पन्न (गृह में उत्पन्न ऐसा पुत्र जिसका यह न जाना जाय कि यह किससे उत्पन्न हुआ), ६-अपबिद्ध (निज माता पिता से त्याग किया और दूसरे से ग्रहण किया गया), ७-कानीन (जो पिता के घर में बिना ब्याही कन्या ने एकान्त में पुत्र उत्पन्न किया उस कन्या से विवाह करने वाले का वह पुत्र), ८ सहोड़ (जानी अनजानी गर्भवती कन्या से विवाह होने पर जो पुत्र उत्पन्न हुआ तो उस विवाह करने वाले का पुत्र), ९-क्रीत (माता-पिता से जो पुत्र मोल लेकर बनाया गया हो), १०-पौनर्भव

(यापत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥

अर्थात जिस स्त्री को पति ने त्याग किया, अथवा विधवा, अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष की भार्या हो के उस दूसरे पुरुष से जो पुत्र उत्पन्न किया) [किन्तु विवाहिता स्त्री पुरुष सम्भोग से दूषित न हो और दूसरे पुरुष का आश्रय करै तो उस पुरुष के साथ फिर से विवाह के योग्य होती हैं], ११ स्वदत्त (माता-पिता से रहित वा त्याग किया गया, अपनी आत्मा को जिसै देवै वह उसका पुत्र), १२ शौद्र (शूद्र की कन्या से उत्पन्न पुत्र परन्तु ब्राह्मण पिता होने से उसका नाम पारशव होता है)।

कहाँ तक गिनाऊँ कि दासी तथा दासी की दासी का भी शूद्र से उत्पन्न भी पुत्र पूर्वोक्त पुत्रों के अभाव में हिस्से का भागी हो सकता है। और विधवा-विवाह के कर्तव्य होने में प्रमाण देने की यद्यपि मुझे बहुधा आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम विचारियों पर, परम दया कर बड़े परिश्रम से श्रीयुत

परम विद्वान्, सत्यधर्मधुरन्धर अधर्मतिमिरनाशनैकप्रभाकर पण्डितवर ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का बनाया ग्रन्थ जिसका सार भाग लेकर बाबू काशीनाथ जी ने अनुवाद कर आज-कल प्रकाश किया है और जिसके अनुसार संग्रह कर एक ग्रन्थ श्रीयुत नवीनचन्द्र राय ने भी छापा था उसके द्वारा इसके प्रमाण सब पर विदित हैं, जिसका यह प्रभाव हुआ कि बंगाल इत्यादि देशों में सैकड़ों विधवाओं का पुनर्विवाह हो गया। क्यों न हो जब कि ऐसे महात्मा उक्त पण्डित जी ने जो आज कल के साक्षात बृहस्पति हैं, प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों में सभा कर हठी पण्डितों को परास्त करके स्वयम् अपने सब पुत्रों का ब्याह सजातीय बाल-विधवाओं से किया। ईश्वर ने संसार की सृष्टि के प्रबन्धार्थ न केवल मनुष्य, किन्तु पशु, पक्षी तथा नाना जल-जन्तु इत्यादि समस्त जीवों के लिये नर और मादीन दो तुल्य वस्तु का सिरजन किया। यथा मनु—"प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थञ्च मानवाः।" अर्थात "गर्भधारण के लिये स्त्री और गर्भ स्थापन के अर्थ पुरुष उत्पन्न किया। अतएव दोनों बराबर हैं, और अधिकार भी दोनों का सम है; जैसे फिर मनुका वचन—"यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।" अर्थात् जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र और पुत्र के समान कन्या है" किन्तु स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा हमारे शास्त्रकारों ने रक्खी है; यथा—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः "यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ शोचान्ति जामयोयत्र विनस्त्याशु तत्कुलम्। न शोचन्तिणयत्रेत वर्धते तद्धि सर्वदा"॥ अर्थात् जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं। और जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ सब क्रिया निष्फल होती हैं। जिस कुल में स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल झट पट नष्ट हो जाता है, और जहाँ वे शोक नहीं करती, वह कुल सदा बढ़ता है।" परन्तु यहाँ के आजकल के मनुष्यों ने तो स्त्रियों को कुछ चीज नहीं समझ कर, जो कुछ दुख था,सबका भागी इन्हीं को ठहरा लिया है। पूजा और पत्री कैसी, देखिये जैसे पुरुषों को नौ दशाओं में अधिकार है कि प्रथम स्त्री का त्याग कर दूसरा विवाह करैं।

"मद्यपाऽसाधुवृत्ताश्च प्रतिकूलाचयाभवेत्,
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नीच सर्वदा।
वन्ध्याष्टमेधिवेद्याब्दे दशमेतु मृतप्रजा,
एकादशे स्त्रीजननी सद्यत्वप्रियवादिनी।" (मनु)॥

अर्थात जो मद्य पीने वाली (१), साधुओं के आचरण से रहित (२), शत्रुता करने वाली (३), सदा रोग से युक्त (४) घात करने वाली (५), निरन्तर अर्थ का नाश करने वाली (६), वन्ध्या (७), जिसके लड़के मर जाते हों (८), वा केवल कन्या उत्पन्न करने वाली हो (६),तो क्रम से आठवें दशवें ग्यारहवें वर्ष में पुरुष दूसरा विवाह करै और अप्रिय बोलने वाली को तुरन्त त्याग दे (१०), इसी भाँति स्त्रियों के लिये भी विविध अवस्थाओं में विविधै रीति से आज्ञा है यथा :—

"प्रोषिते धर्मकार्येपि प्रतीक्ष्येष्टौ नरः समः।
विद्याऽर्थ षष्ट यशर्थे वा कामार्थत्रींस्तु वसरान।"

धर्म-कार्य, विद्या के अर्थ, यश के और काम अर्थ विदेश गये पति की प्रतीक्षा और आशा क्रम से आठ, छः, तीन वर्ष के पर्यन्त स्त्री करै। इसके उपरांत वह दूसरा विवाह कर ले। अब इनके अतिरिक्त और दशाओं में भी जो शास्त्रों की आज्ञा है उन्हें भी देखना उचित है। अब ये श्लोक जो आगे लिखे जाते हैं पाराशर संहिता के हैं। कि जो धर्मशास्त्र केवल कलियुग के वास्ते बनाया गया है—"कलौ पाराशरः स्मृतः। अर्थात पाराशर निरूपित धर्म कलियुग का धर्म है"। उसमें भगवान् पाराशर ने "अनेक कलियुगे नृणां युगह्रासा निरूपितः" अर्थात युग के ह्रास अनुसार मनुष्य की शक्ति भी घटती गई, अतएव धर्म भी युग के अनुसार दूसरा ठहराया जाय।

धार्मिक ग्रन्थियों के ढीला होने पर विधवाओं को प्रथम से दूसरे विवाह की आज्ञा दे दी और इस दूसरी विधि को इस प्रकार लिखा है, यथा—

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेचपतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयिते ॥"

अर्थात् पति के अनिर्दिष्ट हो जाने से (विदेश जाने से पता न मिले) वा मर जाने, संन्यासी होने, नपुंसक, वा पतित हो जाने पर इन पाँच अवस्थाओं में स्त्री को दूसरे पति का विधान है।" ऐसा पाराशर महर्षि का मत है, फिर यही वचन नारद संहिता के द्वादश विवाह-पाद में भी है, यथा—

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेच पतिते पतौ।
पञ्च स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
अष्ट वर्षाण्युपेक्षत ब्राह्मणी प्रोषितंपति म्।
अप्रसूताद्युचत्वारि परितोऽन्यं समाश्रयेत् ॥"

अर्थात पति के अनिर्दिष्ट होने, मरने, नपुंसक, संन्यासी वा पतित हो जाने से इन पाँचों आपद् में स्त्रियों को अन्य पति का विधान है। पति विदेश जाने से ब्राह्मणी आठ वर्ष तक अपेक्षा करे, और यदि लड़के न हुए हों तो चार ही वर्ष ठहर कर पीछे दूसरे पति को ग्रहण कर सकती है।" बहुतेरे गोबरगणेश शर्मा लोग कह बैठते हैं कि यह विधि वाग्दत्ता कन्या के लिये हैं; पर वे यह नहीं समझते कि वाग्दत्ता कन्या के पुत्र कहाँ से होगा। अप्रसूता के लिये चार वर्ष लिखा तो अब वाग्दत्ता से कौन सम्बन्ध रहा। नारद ने मनुप्रणीत बृहत संहिता को संक्षेप करके अपनी संहिता रची है, अतएव वह मनुसंहिता का एक अवयव मात्र है।

इससे इस वचन को मनु का भी वचन मानना चाहिये, इसी कारण माधवाचार्य्य ने पाराशर भाष्य में उस श्लोक 'नष्टेमृते' इत्यादि को मनु का वचन कहा है॥ फिर सब शास्त्रों में प्रधान वेद है; उससे भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत है, और सदा से होता आया है, क्योंकि तैत्तिरीयआरण्यक के षष्ट प्रपाठक के एक अनुवाक के १३ और १४ मन्त्र से प्रगट होता है कि किसी अहिताग्नि के मृत्यु होने से उसकी स्त्री अपने पति के शव के पास बैठती है तब यह मन्त्र पढ़ा जाता है,

"इये नारी पति लोकं वृणानानि पद्यत्त उपत्वा मर्त्य प्रेतं।
विश्वे पुराण मनु पालयंती तसौप्रजां द्रविणश्चहे धेहि॥"

अर्थात् हे मनुष्य! तेरी स्त्री अनादि काल से प्रवृत धर्मों की रक्षा करती हुई, पतिलोक की कांक्षा करके तेरे मृत देह के समीप प्राप्त हुई; उस अपनी धर्म पत्नी को इस लोक में निवासार्थ अनुज्ञा देकर सन्तान और धन ग्रहण करने दे।' इसके पीछे पुरोहित उस विधवा स्त्री के पास आकर बाँये हाथ से पकड़ कर इन मन्त्रों का अर्थ कला के अनुसार करता है। उसे उठाता है, और १४ वाँ मन्त्र पढ़ता है—

"उदीर्ष्व नयिभिह जीव लोक मितासु मेतमुप शेष यहि।
हस्त ग्राभस्य दिधि षोस्त मे ततपत्युर्जनित्व मभि संवभूव॥"

अर्थात हे स्त्री! तू उस पति के पास सोई हुई है जिसके प्राण चले गये हैं, उठ जीव लोक में आ, अब उस पति की स्त्री बन जो पूर्व विवाहिता स्त्री के पाणि-ग्रहण करने की इच्छा करता।"

यद्यपि वेद में भी प्रमाण मिलने से अब और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं, पर तो भी और स्मृतियों में भी इसकी स्पष्ट विधि मिलती है; और न केवल मरने तथा पूर्वोक्त ही अवस्था में, किन्तु कई स्थानों में तो यहाँ तक आज्ञा है कि पिता अपनी दान की हुई कन्या को भी फेर ले, और दूसरे वर को इस पूर्वदत्ता कन्या को दे देवै, यथा कात्यायन का वचन—"समुपदन्य जाता पतितः क्लीव एव वा। विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घाभयोऽपिवा॥ ऊढ़ापि देया सान्यस्मै सहा वरण भूषण। अर्थात जिसके साथ विवाह भया हो यदि वह अन्य जातीय, पतित, क्लीव, दुष्टकार्य में लीन, सगोत्र, दास वा चिर रोगी हो, तो विवाहिता कन्या को भी वस्त्र भूषणों के सहित अन्य वर को देना चाहिये।" फिर भगवान् वशिष्ठ जी भी आज्ञा देते हैं कि "कुल शीलविहीनस्य षष्ठादि पतितस्यच। अपस्मार विधर्मस्य रोगिणा वेष धारिणाम्। दत्तामपि हेरत्कन्यां सगोत्रोढाँतथैवच। अर्थात कुल शील विहीन क्लीवादि, पतित, आपस्मार, रोगग्रस्त, विधर्मी, चिर रोगी, वेष धारी, तथा सगोत्र, ऐसे वर के साथ विवाहिता कन्या को भी छीन लेना चाहिये (और अन्य को देना चाहिये)। और भी देखिये फिर उसी स्मृति की आज्ञा "याच क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्य अन्यं पतिं विंदते मृते वासा पुनर्भूर्भवति।" अर्थात जो स्त्री क्लीव, पतित वा उन्मत्त भर्ता का त्याग करके अथवा पति के मरने पर अन्य पति से विवाह करे वह पुनर्भूः कहाती है।"

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है, यथा "पुनर्भूः संस्कृतोपुनः अर्थात् चाहे कन्या पुरुष सम्भोग से दूषित हो या नहीं, पुनर्वार उसका विवाह संस्कार होने ही से वह पुनर्भू कहाती है, ऐसे हीं विष्णु ने भी आज्ञा की है, और इसी प्रकार मनु ने भी आज्ञा दी है कि जो विवाह-वर्णन में ऊपर लिखी जा चुकी है। रहा नियोग, यथा मनुः—"देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ नियुक्तया। प्रजेप्सिताधि-गंतव्या सन्तानस्य परिक्षये॥" अर्थात् संतान के अभाव में यथा विधान नियुक्ता स्त्री देवर वा सपिण्ड द्वारा अभिलाषित पुत्रलाभ करे।" सो तो मानो विवाह हुआ नहीं है। और मानो वह पुत्र दूसरे से उत्पन्न नहीं किया गया, किन्तु वह पुत्र उसी का है जिसके साथ उस स्त्री का विवाह हुआ। इसीलिये एक अथवा दो लड़के होने पर वे दोनों फिर "गुरुवच्चस्नुषावच्च वर्तेयाताम परस्परम्। (मनु) गुरु और पुत्रवधू की नाई परस्पर व्यौहार करैं, यदि बड़ा भाई हो, और छोटा हो तो माता और पुत्र के तुल्य और जो पुरुष

मरे भाई की स्त्री को उसके धन के साथ ग्रहण करले वह उसी स्त्री में पुत्र उत्पन्न करके उसका सब धन उसी पुत्र को दे देवै। यथा मनु "धनयो विभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेवच। सोपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यातस्येव तद्धनम्॥" न यह विधान प्रायः मरने ही पर किन्तु उन सब अवस्थाओं में जो क्षेत्रज पुत्र के लक्षण में कही गई है, इसका यहाँ तक विधान किया है कि:—

"यद्यर्थितातु दारैः स्यात् क्लीवादीनां कथंचन।
तेषाँमुत्पन्न-तंत् नाम पत्यं दाय मर्हीव॥

अर्थात् नपुंसक भी विवाह कर इच्छा से अपनी स्त्री में पुत्र उत्पन्न करा के अपना हिस्सा दे सकता है। किन्तु इसीलिये क्षेत्रज पुत्र को औरस के समान माना है। अब यदि अनुमान कर देखा जायगा तो पौनर्भव भी उसी के बराबर ही ठहरेगा। यद्यपि सतयुग के लिये मनुजी ने पौनर्भव को दसवाँ पुत्र कहा, परन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे छठवाँ और दत्तक को सातवाँ मान कर मनु की तरह पूर्व पुत्रों के अभाव में पर दो को श्राद्ध और धन का अधिकारी माना। पर वशिष्ठ ने "पौनर्भवश्चतुर्थः" चौथा माना, एवम् विष्णु ने भी "पौनर्भवश्चतुर्थः। दत्तकश्चाष्टमः" चौथा ही और दत्तक को अष्टम कहा; परन्तु कलियुग के धर्मशास्त्र पराशर-स्मृति में न पुनर्भू और न पौनर्भव का कहीं नाम है, क्योंकि कलियुग में पुनर्विवाहिता विधवा न पुनर्भू कहाती, न उसका पुत्र पौनर्भू पुकारा जाता है; किन्तु कलि में वह औरस पुत्र कहाता है। अब सब प्रकार से विधवा-पुनर्विवाह शास्त्रों से तो कर्तव्य-कर्म सिद्ध हो चुका और जो कहीं कहीं इसका कुछ साधारण रीति से निषेध पाया जाता है, तो उसी प्रकार से पुरुषों के भी पुनर्विवाह का निषेध किया गया है, जैसे याज्ञवल्क्य "अनन्य पूर्विकां काताम सपिण्डाय वीयसीम। अर्थात् जिसका पहिले विवाह न हुआ हो ऐसी स्त्री से विवाह करना।" इससे भी विधवा पुनीर्विवाह होता था, झलकता है, वैसे ही याज्ञवल्क्य (दीपकलिका) तथा उद्वाहतत्वधृत बोधायन का वचन—"श्रुति शीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणोऽर्थिने देया,, (अर्थात् वेद पढ़ा, ज्ञानवान्, विनाव्याहा, प्रार्थनाकारी पुरुष को कन्या देनी चाहिये) परन्तु पुरुषों के लिये कोई रोकटोक करने वाला नहीं, और हमारे अर्थ कोई कहने वाला भी नहीं, सच है वे प्रबल हैं, और हम अबला अबला!

अब यह भी देखना चाहिये कि विधवा-विवाह आगे होता था या नहीं? तो महाभारत के भीष्म पर्व ९१ अध्याय में लिखा है, कि "अर्ज्जुनस्यात्मज"

श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान। सुता या नागराजस्य जातः पार्थ न धीमता॥ ऐरावतेन सादत्तांह्यनपत्या महात्मना। पत्यौहते सुपर्णेन कृपणा दीन चेतना॥ भार्यार्थं ताञ्च जग्राह पार्थ कामवशानुगाम। अजानन्नर्जुनं श्चापि निहतं पुत्रमौरसम्॥ जघान समरे शूरान राज्ञस्तान भीष्म रक्षिणः।" अर्थात् नाग राज की कन्या के विषय अर्जुन का वीर्यवान पुत्र श्रीमान इरावान नाम उत्पन्न हुआ। सुपर्ण के द्वारा उस कन्या का पति हत होने से नागराज महात्मा एरावत ने उस दुःखिता, विषस्मा, पुत्र-हीना कन्या को अर्जुन को दान किया। अर्जुनने उस विवाहार्थिनी कन्या का पाणिग्रहण किया॥ अर्जुन ने उस औरस पुत्र को न जान कर भीष्म-रक्षक पराक्रांत राजाओं को युद्ध में प्रहार किया"।

अब इसमे दोनों बातें स्पष्ट सिद्ध हुईं कि विधवाओं का पुनर्विवाह भी होता था, और विधवा पुनर्विबाहिता के पुत्र उसके दूसरे पति के काल के प्रथम ही से और पुत्र माने गये। फिर न केवल अर्जुन किन्तु देखिये कि जब विचित्रवीर्य मर गये, तो श्री वेदव्यास जी ने उनकी दो रानियों से दो पुत्र धृतराष्ट्र और पाँडु तथा उक्त राजा की दासी में विदुर को उत्पन्न किया। फिर यह तो मरे पर की दशा है, पाँडु ने जीते जी अपनी स्त्री कुन्ती से आज्ञाकर अपनी दोनों स्त्रियों में पाँच महाप्रतापी पुत्र पांडवों को देवताओं से उत्पन्न कराया, अर्थात् धर्मराज से युधिष्ठिर, वायु से भीम, इन्द्र से अर्जुन, और अश्विनीकुमार से नकुल और सहदेव। सो यह तो एक प्रकार की राहकी बात है। सच है :—

"समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद्भवेत" अर्थात् साधू लोगों की व्यवस्था वेद की नाईं प्रमाण होती है; परन्तु शोच की बात है कि हमारे देश के मनुष्य तो लकीर पर फ़कीर हो रहे हैं, इन्हैं क्या मतलब कि किसी बात का विचार करें, वा सोचैं, समझैं, या खोज करैं; और सत् असत् तथा भले बुरे का विवेक करें! इन्हे केवल पशुओं की रीति खाना, सोना, और मर जाना मात्र आता है। इनसे यदि कोई इस बात की चर्चा भी कर दे, तो सौ गाली देंगे, कान पर हाथ रख कुत्ते सी जीभ निकाल कर चिक चिक करने लगेंगे। खीसैं बाय बाय कर सियारों की भाँति काएँ कायँ कर खोपड़ी खाली कर डालेंगे। वा वनविलारों की भाँति घुड़ुक घुड़ुक कर लड़ने को मौजूद हो जाँयगे, कोई कटोरी सा मूँ बाकर कहने लगेंगे कि भाई! बात तौ साँची है पर जो आज तक नहीं हुई उसे करैं यह कैसे हो सकता है?

जो कुछ बुद्धि से वास्ता भी रखते हैं कहते हैं कि भाई! हमतो तैय्यार हैं पर अकेले हमारे कबूल करने से क्या हो सकता है, कोई पहिले करे हम देख लें कि उसकी क्या दशा होती है, तो हम भी करैं। जो चित से चाहते भी हैं वे भी इसमें इन्ही के डर से अगुआ नहीं होते, कहते हैं कि कौन नक्कू होकर जात-पाँत से जाय; पर यह नहीं सोचते कि यदि कोई प्रथम न करैगा तो कैसे प्रचार होगा; सभी इसी रीति सोच सोच कर रह जायेंगे, मेरा तात्पर्य यह नहीं कि जिसका पति मर जाय सबी का—चाहे वह अस्सी वर्ष की बुढ़िया क्यों न हो—पुनर्विवाह कर दिया जाय। किन्तु यह अवस्था और इच्छा की बात है, केवल इसी को रोक टोक अवश्य उठ जानी चाहिये, क्योंकि देखिये, सुलोचना अपने पति इन्द्रजित् के साथ सती हो गई, पर मन्दोदरी ने विभीषण को पति करके भी आनन्द से जीवन व्यतीत किया, इसी रीति सुग्रीव से तारा ने व्याह किया।

यद्यपि मनु ने तैतीस वर्ष के वर के साथ १२ वर्ष की कन्या का विवाह का विधान किया है पर अब कलि में भला १२ वर्ष की कन्या के साथ २० वर्ष का तो वर हो! अर्थात् बाल्य-विवाह माता पिता की बेईमानी तथा बिना परस्पर इच्छा के अनुचित और अयोग्य रीति का विवाह बंद हो, और विधवाओं का पुनर्विवाह किया जाय। इसी रीति को आर्यों में प्रसिद्ध महाराज राजर्षियों में श्रेष्ठ वेणु ने जारी किया था, और महाराजधिराज शाहंशाह अकबर ने भी आज्ञा इसके प्रचार में तथा बाल्य-विवाह को बन्द करने में दी थी। फिर हाल ही में जापान के राज्य से यह आज्ञा हुई है, कि २० वर्ष से कम की अवस्था में पुरुष और १८ वर्ष से कम में स्त्रियों का विवाह न हो।

१९३८, वै० आ० का०

देश के अग्रसर और समाचार पत्रों के सम्पादक

जो घर बैठे अपना काम आप भली वा बुरी रीति से कर लेते हैं, उनसे प्रायः सर्व साधारण से सम्बन्ध नहीं रहता, इनमें निश्चय वह नहीं आ सकते जिन्हें भगवान ने दस के पालने और सुधारने का भार दिया है, उनके कार्यों से औरों का भी सम्बन्ध है। उनके अच्छे और सत्चरित्र होने से दस वैसे ही हो सकते हैं, उनके बिगड़ने से और लोग भी वैसे ही बिगड़ सकते हैं, परन्तु इनसे कहीं बढ़ा पक्ष उन लोगों का है जिनके कार्य दैवयोग से सर्व साधारण से सम्बन्ध रखते हैं, चाहे प्रारब्ध ने उन्हें यह योग्यता दी है, या वह स्वयम् ऐसे आप बन बैठे हैं। पहिले में राजा लोग और उनके कार्यकर्ता, तथा एक विजयी जाति पराजित जाति के ध्यान से गिने जा सकते हैं। दूसरे में समाचार पत्रों के सम्पादक और इतर राजनीतिज्ञ लोग आ सकते हैं। यदि राजा और उसके कर्मचारी अच्छे हैं, देश धन-धान्य से सुखी हो सब प्रकार से मनोहर देख पड़ता है। आज कल के कर्मचारीगण एक विजयी जाति द्वारा इस वृहत् भारत भूमि में शासन करने के निमित्त भेजे गये हैं। यह किस मुँह से कौन कह सकता है कि कर्मचारी सिविलियन व्यक्ति सराहनीय नहीं है। इनके कार्य के भार पर ध्यान देने पर और इनकी कठिनाइयों को विचारने पर जी यही कहता है कि जैसा कुछ प्रभुत्व भगवान ने इनके हाथ सौंपा है उसको जिस उत्तमता से यह निर्वाह कर रहे हैं कदाचित् पृथ्वी में ऐसे योग्य लोग कम मिलेंगे जो इस प्रकार कर सकें। जिस देश में कभी आये नहीं, जिसकी भाषा जानी नहीं, जिसके वासियों के अद्भुत और विचित्र व्यवहारों को स्वप्न में भी देखा नहीं, वहाँ संयोग से ऐसी कम अवस्था में भेज दिये जाना और अमित अधिकार को पा भी इस योग्यता से अपने कठिन कार्य को निर्लोभ हो निर्वाह करना, कुछ ऐसी सहज बात नहीं है। परन्तु वह विदेशी और अन्य मतावलम्बी हैं, उनकी उदारता मत और व्यवहारों के विषय में ऐसी है कि वह इस विषय को प्रजा की रुचि पर छोड़ दिये हैं, वह चाहे जो मत ग्रहण वा त्याग करें उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। उनका जो कुछ प्रभाव इस देश पर पड़ा है और जैसा कुछ कि उनका अनुकरण देश कर

रहा है, जो कुछ दशा में परिवर्तन हो रहा है, उससे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे इस विषय में निस्पृह हैं। आज उनके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है, आज केवल उन सत्पुरुषों के विषय में कहना है जो आप से आप देषोपकारक बने हैं, देश की दशा सुधारने, इसके दुःखों को मिटाने पर तत्पर हुये हैं, और राजा और प्रजा के एक उत्तम वा निकृष्ट प्रकार के बिचवई व मध्यस्थ हैं। इनमें समाचार पत्रों के सम्पादक मुख्य हैं, क्योंकि इनके उद्योग से बहुत कुछ सुधार सम्भव हो सकता है, विलायती देशों में तो इनका प्रभाव इतना बढ़ गया है कि इनके बिना उनका निर्वाह होना कठिन है। परन्तु इस अभागे देश में अभी वह बातें बहुत दूर हैं, अभी समाचार पत्रों की दशा बहुत ही खेदजनक है। लोगों की रुचि इस ओर हुई नहीं है। जो समर्थवान हैं और जिनकी सहानुभूति ऐसे उत्तम कार्य में होना आवश्यक है उनकी कृपा-दृष्टि उनके ओर है जो उन्हें बेढंगी बातें सुनाते और उनकी नींव खोदते कुछ भी नहीं हिचकते; हिन्दी समाचारपत्रों के सम्पादकों में भी मेल और अन्योन्य सहायता की कुछ चिन्ता नहीं है। एक कुछ कहता तो दूसरा कुछ, एक विषय अवश्य ऐसा है कि जिसमें प्रायः बहुत से एक मत हैं और वह यह है कि देश के नवयुवकों और विशेष कर अंगरेजी विद्या के विद्वानों पर नितान्त रुष्ट हो दोषारोपण करना। उनकी छोटी भूलों पर निर्दय कुटिल बचनों से भरी पंक्तियाँ लिखना। क्या सचमुच हमारे देश के युवक निन्दनीय हैं? क्या देश की ऐसी दीन दशा उन्हीं के द्वारा हुई है? कोई कहता है कि इन्हीं सबों ने कांग्रेस कर इन दश वर्षों में जितना धन खोया उससे बहुत कुछ देश की उन्नति हो सकती थी। हमारे देश के धनिक जितना धन अपनी व्यर्थ क्रीड़ाओं और अकारण उत्सवों में तथा अधिकारियों के सत्कार और उनके प्रसन्न रखने के अर्थ नाना उपायों में व्यय करते हैं उससे तो थोड़े ही दिनों में बहुत कुछ उन्नति देश की हो सकती है, परन्तु उनको रोकने वाला और कहने वाला कोई नहीं देख पड़ता। एक ऐसे कार्य में जिसका गूढ़ता गुरुता अभी पूर्वोक्त कहने वालों को नहीं समझ पड़ती, भविष्य में जिसका प्रबल प्रभाव निश्चय मानना होगा उसके अर्थ, व्यर्थ धन फेंकने को कहना विचित्र दिल्लगी समझ पड़ती है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि नवयुवकों ने जितना उत्साह कांग्रेस करने के अर्थ दिखाया है और जो परिश्रम कि उन लोगों ने इसके निमित्त किया है उसका फल लाभ यही है कि वर्ष भर में चार दिन गला फाड़ कर घोर रव से निर्भीक हो चिल्लाने

का अवसर उन्हें मिलता है; यदि वह देश के व्यापार के निमित्त इतना ही परिश्रम करते तो बहुत कुछ उत्तम परिणाम उसका हो सकता था, नहीं तो केवल राजनैतिक विषयों के पीछे फ़कीर हो रहे हैं जिसका सुनने वाला भी कोई नहीं है। कांग्रेस करने के अर्थ जो इतनी दूर दूर से लोग आते हैं उनके उद्देश्य ही कुछ और हैं, उन्हें देश के और विषयों से प्रयोजन नहीं है, उन्हें केवल देश की दशा दिखाने, कर्मचारियों की भूलों पर यथार्थ आलोचना करने और गवर्नमेण्ट से देश के विघ्नों पर विशेष कार्य्य का भार दिलवाने और प्रजा निर्वाचित महासभा की प्रार्थनाओं को देश की यथोचित प्रार्थना जानने और उसके अधिक अधिकार प्राप्त करने से प्रयोजन है। उन्हें यह निश्चय हो गया है कि जब तक एक ऐसी सभा को अधिकार प्राप्त न होगा, तब तक देश की दशा सुधरनी कठिन है। वह यह जानते हैं कि कर्मचारी सिविलियन इतने योग्य होने पर भी विदेशी ही हैं। देश के आभ्यन्तरिक हानि लाभ से वास्तविक में उन्हें वैसा प्रयोजन नहीं है जैसा कि एक देशी को हो सकता है उन्हें अपने नैमित्तिक कार्य्यों से प्रयोजन है। देश में शान्ति रखना और गवर्नमेण्ट की आय के बढ़ाने का प्रयत्न करना ही अपना परम धर्म और कर्तव्य मानना उनका काम है। भाड़े पर रक्खे हुए विदेशी कार्य्यकर्ता पृथ्वी मात्र में ऐसा ही करते हैं। यही स्वाभाविक भी है। विशेष राग जन्म भूमि ही से हो सकती है। जहाँ रहना नहीं है वहाँ के विशेष विषयों से प्रयोजन ही क्या है यह विचारने पर यदि इस विषय की चेष्टा की जाय, कि कार्यकर्ताओं का विशेष ध्यान देश की कुदशा की ओर खींचा जाय और इसका प्रयत्न भी साथ ही साथ हो कि वे एक ऐसी महा-सभा को विशेष आदर से देखें और अन्त को उसे राजनैतिक अधिकारों से उसकी योग्यता देख भविष्य में भूषित करें तो क्या यह उद्योग सराहनीय नहीं है। क्या इससे वह बातें साध्य न होंगी जिनके अभाव से लोग छटपटा कर अपनी बेकली दिखाते और अधभरे घड़े से छलकते और जो किसी प्रकार कुछ कर रहे हैं उन्हीं पर अपनी जीभ की चोखी छुरी चलाते।

फिर कांग्रेस प्रतिनिधियों पर यह दोषारोपण करना कि वह देश के व्यापार की ओर ध्यान नहीं देते इस कारण से व्यर्थ है कि वह अपना अपना व्यय कर वर्ष में एक बार एक स्थान को जा सकते हैं, यद्यपि इतना भी धन खोना उन्हें कठिन है और इसी के संकोच से बहुतेरे कई बार नहीं भी जा सकते, परन्तु इतना तक उनका किया साध्य हो सकता है, विशेष करना उनके

सामर्थ्य से परे है। व्यापार के निमित्त पूंजी की आवश्यकता है यह देश के नवयुवकों के पास नहीं है। भारतवर्ष के समग्र स्कूलों में घूम कर देखिये किन किन कठिनाइयों और दुःखों को सह लोग किसी प्रकार विद्याभ्यास कर रहे हैं। और विद्यालयों से उतोर्ण होने पर यदि उन्हें पूंजी की पुष्टता होती तो चारों ओर नोकरी नोकरी की चिल्लाहट न सुन पड़ती निदान ऊँची नीची नोकरी कर लेना ही उनका परम कर्तव्य हो रहा है। और प्रकार किसी कोई रीति चल ही नहीं सकती। जीविका के द्वारों को देश के व्यापार को बढ़ाना धनिकों के हाथ में है।

यदि यह कहिये कि जिस प्रकार काँग्रेस के अर्थ नाना स्थानों में घूमघूम लोगों को उत्तेजना दे प्रति वर्ष कई सहस्र मुद्रा एकत्रित करते हैं, उसी प्रकार यदि परिश्रम कर लोगों के चित को व्यापार की ओर आकर्षित करें तो क्या व्यापार की उन्नति न हो! यह प्रायः सभी जानते हैं कि कांग्रेस को, जिससे बहुत कुछ देश को आशा है, केवल वही विशेष समझ सकते हैं जिन्हें किसी प्रकार की शिक्षा मिली है, तो उसे छोड़ दीजिये और सर्वधारण के योग्य धर्म सम्बन्धी विषयों को लीजिये; तो चाहे कैसहू भारी से भारी विद्वान उपदेशक वा शिक्षक क्यों न हो और कोई सभा किसी नगर में करने की इच्छा करे तो क्या उसके आह्वान् पर ढीली धोती ढीले देशी महाजन कभी आ सकते हैं? सारांश बात यह है कि किसी प्रकार की उन्नति की आशा पुरानी चालके मनुष्यों से सम्भव नहीं हो सकती। जो बुलाने से किसी सभा में न आवेंगे, न किसी विषय की उन्नति के अर्थ और प्रकार से सहायता देंगे, और न घर जाने से और प्रार्थना करने से भी किसी प्रकार कैसहू उपयोगी उद्योग के अर्थ उत्सुक हो योग देंगे उन्हें कैसे कोई समझा-बुझा सकता है। कांग्रेस के मुख्य कार्य्यकर्ताओं को यह दुःख प्रति वर्ष झेलना पड़ता है; अन्त को ऐसे निपट निकम्मों के द्वार को जाना और उनसे किसी प्रकार की सहायता मांगना उन सभों ने छोड़ दिया है। रह गये वो जो देश के गिने प्रतिष्ठित धनवान हैं जिनके इस ओर ध्यान दिलाने के अर्थ हम लोग कई-बार लिख चुके हैं और जिनकी इस ओर दृष्टि फिरने से सब कुछ सम्भव और सुलभ हो सकता है, उनको किसी प्रकार ऐसे परमावश्यक विषय में कुछ करने को देश के युवक उत्सुक कर सकते हैं समझ नहीं पड़ता। उनकी तो उनके यहाँ पहुँचने तक की नौबत नहीं हो सकती। फिर वे अपने नाना सुख की सामग्रियों को

छोड़ कैसे देश की कुदशा की ओर दत्तचित्त हो सकते हैं यह वही समझैं जो नवयुवकों को गालियाँ देते नहीं लजाते।

इसमें सन्देह नहीं है कि नवयुवकों की चाल-ढाल और विशेष व्यवहारों में पूर्व भारतवासियों की अपेक्षा बड़ा अन्तर पड़ा जारहा है। उनके धर्म्म और कर्म्म भी सब छूटे जारहे हैं। उनके विचार ही कुछ अद्भुत शोचनीय हो रहे हैं। परन्तु इसके विषय में हम लोग पहिले ही कभी लिख चुके हैं कि, "अन्य एक विदेशी विद्या के पढ़ने से, जैसी रुचि उसके लेखकों और कवियों की होती है, मत विषयक जैसा स्वाच्छन्द्य, ऐहिक विषयों के विचार की प्रणाली, प्राचीन अपरिचित मत के गूढ़ विषयों की अज्ञानता के कारण जैसा कुछ तिरस्कार कि उनके जी में समाया रहता है उनके लेखों की प्रति पंक्तियों से प्रकट रहता है, फिर उन्हीं को रातदिन देखने मनन करने से और विद्या के अभाव से उसी में उत्तमोत्तम बातें भरी हैं, विद्यार्थी के हृदय में यदि ऐसी आभा पड़े और वह पाश्चमीय प्रकाश से प्रकाशमान हो इतर सब अन्धकारमय मानै तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है। 'यन्नवे भाजनेलग्नः संस्कारोनान्यथा भवेत,' उसके कोरे हृदय को अपने मत के विषयों का प्रथम में भाजन न बना, स्वतन्त्र नास्तिकत्व का प्रवेश करा पीछे से पछताना व्यर्थ है, कि इनके आचार विचार समग्र भ्रष्ट हो गये, पुरानी परिपाटी के उन्मूलक हो रहे हैं, प्रशंसनीय उत्तम प्रथा को बिगाड़ा चाहते हैं। इसमें समझाने बुझाने से काम नहीं चल सकता जिनसे हमारे मत से कोई सम्बन्ध नहीं, जो अपने आधुनिक मत की प्रशंसा में फूले नहीं समाते, हमारे विश्वास भक्ति, आचार और विचार को मिथ्या भ्रम बतलाते, उनसे कोई आशा सहानुभूति वा सहायता मिलनी कठिन है। अतः जब तक देश अपने बालकों की शिक्षा पर ध्यान न देगा, उसकी रुचि के अनुसार बातें बननी परदेशियों के हाथ से असम्भव है।

बालकों की शिक्षा के विषय में विचार करना और उन्हें अपनी रीति से पढ़ाना देश का परम कर्तव्य है। इधर न ध्यान देने से वे बातें जो हमारी परम स्पृहणीय हैं, हमारे वंश से चली जाँयगी, देश की दशा बदल कर और ही कुछ हो जायगी। क्या आश्चर्य कि कुछ दिनों में यह देश नास्तिकों से भर जाय, और बहुमत जो मुसल्मानों के प्रबल आघात से इस हीन दशा को पहुँच गया है निर्मूल और निर्बीज हो जाय। परन्तु ये बातें किससे कही जाती है। कौन इसका सुनने वाला और करने वाला है। क्या साधारण जन जिन्हें

अपनी जीविका के अर्थ इस दरिद्र देश में नाना उपायें करनी पड़ती हैं, कभी भी कुछ कर सकते हैं। समग्र देशों में सामाजिक सुधार का भार धनिकों पर रहता है, उन्हीं के हाथ डालने से उद्धार की आशा सम्भव होती है। यदि वह अपने हाथों में देश के बालकों की शिक्षा का भार ले लें, कि जिसका लेना परमावश्यक है, तो फिर इस प्रकार गिड़गिड़ाने, और दोषारोपण करने की आवश्यकता ही जाती रहे। बिना पतवार की नौका जैसे मन मानी बहती है, ठीक उसी प्रकार शिक्षा की दशा इस देश में है। पराधीनता के कारण, देशियों के उत्साह हर विषयों में जाते रहे इन्हें सब कुछ असम्भव समझ पड़ता है। इनके जी में यह निश्चय हो गया है कि हमारा आज्ञा पालने का काम है हम हुक्मी बन्दे हैं। आज्ञा देने वाले हिन्दू को छोड़ और सब है।

तो नवयुवकों के सुधारने का भार भी उन्हीं लोगों पर है जो घर बैठे पछताते और जो कुछ हो रहा है उसे ईश्वरेच्छा मानते और कुछ करने को जी नहीं करते। आगामि में देश की दशा को सुधारने और इसके आगम के बनाने की आशा केवल नवयुवकों से है। इन्हीं की योग्यता पर सब कुछ निर्भर है। यदि इनकी यथोचित शिक्षा न हुई और यह न सुधरे तो फिर हिन्दू मत की क्या दशा होगी, थोड़े बिलायती परिपाटी पर जाने वालों को देख अनुभव हो सकता है। अभी मन्द्राज प्रदेश में एक स्थान पर एक हिन्दू के क्रिस्तान हो जाने पर वहाँ वालों ने अपना विलग विद्यालय खोलने की इच्छा की है और वह लोग अब अपने लड़कों को पादरी स्कूल में जाने न देंगे। यही हमारे देश के श्रेष्ठों को करना उचित है। संसार के जितने मत हैं उनके अनुयायी उसके विस्तार के निमित्त रात्रि दिवस परिश्रम कर रहे हैं। कितना धन केवल इसीके निमित उनका व्यय हो रहा है कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसे कम लोग हैं जो क्रिस्तानों को करोड़ों रुपया खोते इस देश में न देखें हों। वह समझते हैं कि उनके मत को जो नहीं मानते बहके हुये हैं, उनका उद्धार न होगा, इसी से वह परिश्रम करते हैं धन खोते हैं, कभी कभी अपना जी देते नहीं डरते, परन्तु बसुधा को कुटुम्ब मान उसके उद्धार के अर्थ वद्ध परिकर हैं। इधर अपनी ओर दृष्टि फेरिये तो अपने ही बालकों और भाइयों की कुछ चिन्ता हिन्दुओं को नहीं है। न कोई धर्म शिक्षक है, न कोई धर्म्म की पुस्तकें छपती हैं, न हिन्दूमत के निमित्त कोई कार्य्यवाही होती है। यदि हमैं अन्य मतावलम्बियों को हिन्दू नहीं बनना है तो हमैं लड़कों और भाइयों को नास्तिक बनाने की इच्छा भी नहीं है। कोई तो संसार को अपना

कुटुम्ब मान उसके उद्धार को दौड़े और कोई अपने भाइयों को नास्तिकत्व में डूबते हुये न बचावै। कुछ अद्भुत् दुर्भाग्य के ये लक्षण हैं। हमारे देश के श्रेष्ठों को क्या यह सुन कर कुछ लज्जा आवेगी ? क्या वह धर्म शिक्षा की ओर ध्यान देंगे।

फा०, १९५१

हमारे धार्मिक, सामाजिक वा व्यावहारिक संशोधन

दुर्भाग्यवशात' जो दुर्दशा के दिन सम्प्रति भारत भोग कर रहा है उसका स्मरण न करना ही उसके सच्चे हितैषियों के लिये यदि अच्छा कहें तो कदाचित् कुछ अनुचित न होगा, क्योंकि वास्तव मे उसका उन्हे स्मरण नितान्त दुःखद है। आज कल तो मानों गोधूली का सा समय है जिसे हम दु.ख की रात वा सुख का दिन कह सकते, अथवा न जिसे यथार्थ उन्नति वा अवनति का काल मान सकते हैं, क्योंकि दो चार विषय मे जो इधर देश उन्नति भी कर रहा है, तो उधर बीसों बातों मे सीमावाह्य अवनति वा सर्वस्वाहा हुआ जाता है! यदि सोचते हैं कि वर्तमान समय के बचे बचाये बुड्ढे लोग अधिकांश मूर्ख, दुराग्रही और अनेक मिथ्या विश्वास के फन्दे मे पडे बहुत कुछ देश के अवनति के कारण हैं, तो साथ ही पाश्चात्य शिक्षा सम्पन्न नवीन ज्योतिधारी युवक उनसे अधिक अकर्मण्य, प्रमादी और विपरीत बुद्धि और दुष्टाचरण वाले लखाई पडते हैं। यदि अनेक प्रचलित प्रणाली दूषणीय दिखलाती, तो जिस प्रकार उसका सशोधन बिचारा जाता वह उसमे के रहे सहे गुण को भी समूल नाश करने मे समर्थ सा समझ पडता! और इस भाँति यथार्थ कल्याणप्रद और श्रेयस्कर यत्न किसी ओर दृष्टिगोचर नही होता !!!

अतएव कुछ दिन से अनेक मध्यवर्ती लोगों ने यही सिद्धान्त कर लिया था कि जैसा चर्खा चल रहा है, चलने दो, इसका उखाड़ पछाड ठीक नहीं; क्या जाने भला करते कही और भी निकृष्ट फल न हो। यद्यपि उनका ऐसा विचार कैसा ही कुछ अनुचित वा अश्लाघ्य क्यों न रहा हो, परन्तु इसके विरुद्ध किसी अन्य दल के न होने से एक प्रकार के स्वास्थ्य का हेतु तो अवश्य था, और प्रचलित प्रणाली में जो गुणदोष था उसमे न्यूनाधिक न होने तथा उसके वर्तमान रहने मे कोई शका भी न थी परन्तु अब समय के फेरफार से कुछ और ही अवस्था आ पहुँची है, अब एक के स्थान पर अनेक प्रबल दल खडे हो गये हैं, जिनमें कई बातों मे कई का विचार तो शत्रुता की सीमा को पहुँचा, कोई कोई मध्यवर्ती कोई न्यायाभिलाषी और शेष

उदासीन वृत्ति का अवलम्बन किये चुटकी बजा बजा कर जृम्भायमान हो रहे हैं; मानों उनके कानों पर जूँ भी नहीं रेंगाते।

ईसाई, मुसाई, यवन म्लेच्छादि हमारे धर्म कर्म आचार विचार के पूरे शत्रु हैं, और ब्राह्म समाजी 'आर्यसमाजी, तथा अँगरेज़ी शिक्षा के दुष्ट प्रभाव से विकृत मस्तिष्क वाले काले साहब लोग वा जिन्हें नक़ली अँगरेज़ कहना चाहिये, आधे शत्रु हैं। अथवा यों कहिये कि वेदाना दुश्मन, और ये नादान दोस्त हैं, क्योंकि उनका आघात केवल धर्म ही पर होता है और वे केवल हमारे विश्वास का नाश किया चाहते, परन्तु येतो आचार, विचार, व्यवहार और जातीय संस्कार आदि सभी को समूल नाश करने की ताक में अहर्निश पड़े रहते हैं। यदि उन्हें हममें एक दोष लखाई पड़ता, तो ये उन्हें सौ दिखलाने को सन्नद्ध रहते, यदि वे हमारी एक विषय में निन्दा करते तो ये निन्दा सहस्र नामस्तवराज का पाठ ही सुना चलते। कुशल इतनी ही है कि यद्यपि राजा भिन्न धर्मी है तथापि न्यायवान है, और वही न्यायाभिलाषी दल है, यद्यपि कसरकोर किसीमें नहीं है, और कौन जाति वा समाज छिद्र शून्य है, पर और का देखने दिखाने वाला कोई हो वा न हो, पर हमारे लिये तो अवश्य ही इतने हैं; अस्तु यदि वस्तुतः न्याय ही हो तो चिन्ता नहीं। परन्तु नवीन अनुष्ठान में न्याय की इच्छा रखने पर भी न्यायकर्ता से प्रायः अन्याय भी हो जाया करता है, फिर अत्यन्त विचित्रता तो यह है कि पूर्वोक्त दल जिन्हें हमने नादान दोस्त कहा है, आस्तीन के सर्प से सदा हम से पृथक् रहकर भी हमारे अग्रसर बनकर हमारे हित के मूल में मीठी छुरी चलाते और अत्यन्त शोक का स्थल यह है कि हमारे मुख्य समाज के लोग जिन्हें सनातनधर्मावलम्बी कहते हैं उदासीन भाव के अवलम्बन करने वाले हैं उनकी एक प्रकार नित्य नूतन हानि और सर्वथा सर्वनाश की सामग्री निपट सन्निकट भी देख पड़ती, तो भी तो कुछ उद्वेजित वा आत्मरक्षा के लिये चेष्टित नहीं दिखलाते, फिर भला कहिये तो इससे अधिक आश्चर्य और शोक का स्थान अन्य कौन होगा? इनके अतिरिक्त एक छोटा सा दल स्वदेश हितैषियों का भी है, जिनके दो भेद हैं। अर्थाथ सच्चे और झूठे, पूर्वोक्तों की संख्या बहुत ही न्यून है, और पश्चादुक्तों की अधिक जिनको केवल अपनी कीर्ति वा प्रसिद्ध मात्र से प्रयोजन है। उन्हें देश के वास्तविक हित चिन्तनकी उतनी उत्कंठा नहीं जितनी अपने ख्याति और आन्दोलन के सिद्धि की है। वे इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते कि कदाचित् हमारे प्रस्तावित विषय के कार्य में परिणत

होने से कहीं और भी अनिष्ट फल न होकर देश के लिये विशेष हानिकारी हो और खेद यह है कि इन्हीं के द्वारा सब नवीन संशोधन के प्रस्ताव होते चाहे वे किसी विषय से सम्बन्ध क्यों न रखते हों, सो भी किसी दूसरे प्रकार से नहीं वरंच—केवल राज नियम द्वारा कि जिसके विधि होने के पश्चात किसी को कुछ कर्तव्य ही शेष नहीं रहता !

अवश्य ही राजा धर्म्म का भी नियन्ता है, परन्तु साम्प्रति भिन्नधर्म्मी राजा के होने से प्रजा के विश्वास के विरुद्ध राजा का विश्वास है। उनका शील, आचार, विचार और सभ्यता दूसरे देश धर्म्म और समाज से सम्बन्ध रखती है, और फिर उसी को अनुमोदन और अंगीकार करने के लिये इस देश का एक भाग अत्यन्त उत्सुक और उत्कण्ठित है ! पुराने चाल के लोग बिचारे जानते ही नहीं कि समाज किस पशु का नाम है अथवा उसके शिर पर कै सींग होती हैं। न वे इसके लाभ के जानकार,और न इसमें स्वार्थ लेते, वा योग देते ! रहे फिर वही नये साँचे के ढले लोग जिनके वृतान्त ऊपर वर्णित होई चुके हैं। बस जो वे कहें सब सुनें,और जो करें उसी को राजा और प्रजा देखें। फिर सौ पचास मनुष्यों के कार्य्य का प्रभाव करोड़ों मनुष्यों पर पड़ना कैसा कुछ भयंकर है, यह सबी सहृदय को समझना सुलभ है, परन्तु क्या किया जाय कि जो लोग कार्य्य करेंगे, वे फलसिद्धि के भागी होइँगे जो चुप चाप बैठे हैं अनिष्टफल का स्वाद चख सिर पर हाथ धर रोवेंइंगे इसमें विचित्रता ही क्या है ! अब जहाँ समाज की यह दशा हो वहाँ सामाजिक विषय के सुधार की चर्चा ही करना व्यर्थ है।

अवश्य ही भारत की पैतृक सम्पत्ति धर्म्म है, अतः इसके अनेक समाज भी संगठित हैं, किन्तु वे जीर्ण शीर्ण और अत्यन्त छिन्न भिन्न हो केवल नाम मात्र को शक्ति रखते हैं। अतः उनकी संज्ञा भी समाज के स्थान पर जाति होनी चाहिये, अथवा एक प्रकार का परिवार क्योंकि उसमें सर्व साधारण व्यक्ति का अधिकार कुछ भी नहीं है, वरञ्च यदि है तो विशेषों ही का। इसके अतिरिक्त हमारे धर्म की भी शाखायें असंख्य हो गई हैं, तब उसकी डालियों की कथा कौन कहे, आर्य्यधर्म्म के पौराणिक शाखा की एक डाली वैष्णव ही को क्या कोई बतला सकता है, कि उसमें कितनी टहनियां फूट गई हैं ? और मूलमत का प्रभाव यहाँ आकर किस दशा को पहुँचा है ? शैव और शाक्त का बैर जाने दीजिये, और वैष्णवों की चारों

शखाओं की भी चिन्ता छोडिये क्या एक सम्प्रदाय में भी परस्पर प्रेम है? कहीं चार मन्दिर के महन्थ अथवा एक गुरु के चेले भी कभी अपने उस मत के उन्नति वा सुधार का उपाय करने में सन्नद्ध हुए दीखते है? हाँ यदि उनके गुरू चाहें तो चेले नहीं नहीं करेंगे, पर क्या आपने कभी स्वप्न में भी सुना, कि ये गुरुगोस्वामी वा महन्त अपने से कैसेहू बड़े महात्मा से कभी मिलने गये हैं? वा कभी जा सकते वा कहना मान सकते, अथवा सर्वथा अपने ही हित की भी बात सुन सकते हैं? वा कभी किसी सुधार के अर्थ यत्नवान होते, वा हो सकते हैं? और कदाचित् सौ में एक हुये भी तो क्या उसका कुछ प्रभाव समस्त सम्प्रदाय पर पड़ सकता है। जाति के जत्थों की भी यही दशा है, घर घर और प्राणी प्राणी बैर और फूट के अजीर्ण से आर्त हैं, हमारे यहाँ सदा से धार्मिक सामाजिक आदि सबी विषयों के संरक्षक स्वदेशीय आर्य्य राजा और ब्राह्मण लोग थे। दुर्भाग्य से वे दोनों अधिकार-च्युत हो गये; दोनों का शासन अब भारतीय प्रजा पर नहीं है। यदि कहीं कहीं कुछ है भी तो वह केवल नाम मात्र के लिये राज्यशासन चिर दिन से विदेशी विधर्म्मियों के अधिकार में और धर्म्म शासन विविध सम्प्रदायिक गुरुघण्टालों के अधिकार में है। समाजिक विषय के कुछ अंश केवल छोटी ही जातियों के मध्य उनकी पञ्चायतों के आधीन हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों में वह भी नहीं। इस प्रकार ऐसी कोई युक्ति अब कहीं से दृष्टि गोचर नहीं होती कि जिससे यथेष्ट ऐसे ऐसे सुधारों के सुगमता से होने की आशा हो सके, वा जिससे एकता की झलक झलके, वा समूह के किसी एक अनुष्ठान में भी यथा-योग्य तत्परता हो सके? फिर भला ऐसे दुर्दशाग्रस्त जाति के हित की आशा केवल ईश्वर ही के अनुग्रह पर न छोड़ कर और कौन से उपाय से हम कर सकते हैं?

कुछ दिनों से उन्हीं पश्चिमीय विद्याविशारदों अथवा उन्हीं के सन्तो-षार्थ कई नवीन समाज भी गठित हुये हैं, जैसे ब्राह्म समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, सुधारसमाज आदि, परन्तु वे समाज केवल धर्म्मविश्वास विहीनों ही को अपने में मिला सके, और विशेषतः धर्म्म ही से सम्बन्ध रख एक भिन्न धर्म्म समाज बन सब से पृथक होकर प्राचीन सब दलों के विरोधी बन गये, एवम् जो कुछ उनमें समाजिक संशोधन भी हुआ वह केवल उसी समाज के अन्तर्गत, न कि अनेक अन्य जाति और समाज के समूह में यों हीं

अनेक अनर्गल व्यर्थाचरण और आन्दोलनों के कारण समस्त अन्य समूह से घृणास्पद और परम निन्द्य माने गये। योहीं जब तक उनके नेता वा मूलसंस्थापक जीते रहे, कुछ कुछ कोलाहल और कार्य्य कर सकें, परन्तु उनके पीछे वह भी एक विशेषसंज्ञासम्पन्न सामान्य समूह मात्र रह गये और जैसे भारत में सहस्रों मत के लोग थे, वैसे ही दो चार मत वाले ये भी बढ़ गये, वरंच सर्व सामान्य आर्य्य सन्तान इन्हें यों अनुमान करने लगे कि जैसे चार विधर्म्मी परदेशी थे, वैसे ही चार स्वदेशी भी हो गये। इन समाजों से विशेष लाभ लोग यही बतलाते हैं, कि बहुतेरे लोग क्रिस्तान होने से बचे, यद्यपि भारत में क्रिस्तानों की वृद्धि इस कारण नहीं हुई है कि लोग ईसाई धर्म्म पर विश्वास करके कृस्तान हुये हैं वरञ्च भूख के मारे और अनाथ होकर; अतः यह लाभ भी केवल नाममात्र अथवा अत्यन्त न्यून ठहरेगा, तौभी जो आचार बिचार की हीनता अथवा हानि उनके क्रिस्तान होने से होती कदाचित् इनमें कुछ न्यून हो। जो दुराग्रह उनको हमारे साथ रहता है कदाचित् ही इनमें कुछ न्यून हो; हमको जो सम्बन्ध उनसे था, कदाचित् ही कुछ न्यूनाधिक इनसे है क्योंकि यों तो भारतीय क्रिस्तान भी अँगरेज़ों से अधिक ही सहानुभूति हमसे प्रकाशित करते हैं। फिर आप ही सोचिये कि ऐसे समाजों से इस विशाल आर्य्यवंश का क्या उपकार सम्भव है? वरञ्च सब से अधिक हानि इनसे यह हुई है कि अब जो सुशिक्षित युवक प्रतिवर्ष पाठशालाओं से निकलते हैं उनमें अधिकांश सुकुमार बुद्धि, जिनके मस्तिष्क में अँगरेज़ ग्रन्थकर्त्ताओं के उपजाये स्वधर्म्म विश्वास-ह्रास, और पश्चिमीय-सभ्यता के उल्लास के मनसूबे भर रहे हैं, मानों ये सब समाज उन्हें कार्य्य-क्षेत्र बन गये हैं। जिन्हें जितने प्रमाद की पूँजी हाथ लगी वे उतने ही आगे बढ़ते, और अपने संग-दोष से औरों को भी लेते, तथा एक साथ स्वधर्म्म, कुल, परिवार, समाज और सम्प्रदाय के बैरी बन जाते और कोइल के बच्चे के समान चट अपने समुदाय में मिल जाते हैं, और जिन्हें अँगरेज़ी विद्या का पूर्ण स्वाद मिला वे तो इन्हें भी अन्धा ही अनुमान करते, और ईश्वर परलोक वा धर्म्म कर्म्म का नाम सुनना भी सह्य नहीं कर सकते !!!

आज यदि हमारे पश्चिमीय विद्याविशारद नवीन-ज्योति-धारी युवक समूह चमकीले पीतल के झूठे गहने और भड़कीले गिलट के बरतनों के समान केवल ऊपरी तड़प झड़प रखने वाली पश्चिमीय सभ्यता पर मोहित न हो

अपने वास्तविक सदाचार के सच्चे सुनहरे और जड़ाऊ गहने जिनपर मूर्खता की मैल जम गई है देकर उसे मोल न लेते, वे इस प्राचीन प्रासाद तुल्य समाज का संस्कार वा झाड़-पोंछ मरम्मत वा चूना कलई करने के बदले गिराकर एक नया फूस का अँगरेजी बंगला बनाने के अर्थ न विह्वल होते। यदि वे भारत को यूरप न बनाकर केवल वहाँ के उत्तम विषयों के संग्रह से इसकी शोभावृद्धि करने मात्र का मनसूबा रखते, यदि वे स्वयम् क्रिस्तान वा म्लेच्छाचारी न बन उनके केवल उत्तम गुणों ही से सुसम्पन्न हो आत्मोन्नति के लोलुप लखाई पड़ते, यदि वे अपने समाज में मिले हुये स्पष्ट और प्रकाश-भाव से अन्दोलन कर उसे आगे बढ़ाने के अर्थ बद्धपरिकर दिखाते--न स्वयम् उसे छोड़ अलग होने को, यदि वे इस नौका की पतवार बन पीछे से उचित मार्ग से ले चलने के अर्थ उद्योगी होते तो अवश्यमावश्य इसकी दशा शीघ्र ही प्रशंसनीय होती, परन्तु वे तो उसे छोड़ अपनी और उसकी दोनों की दुर्दशा ही को अपनी इतिकर्तव्यता मानते हैं! वे नहीं चाहते कि हम अपने उद्योग से इस पुरानी वाटिका के कण्टक निकाल प्राचीन फूल-फल वाले वृक्षों को गोड़ और सींच कर तथा नवीन उत्तमोत्तम वृक्षों से भी इसे युक्त करें, वरञ्च एक साथ सबको काट कर केवल दूब लगाकर एक रंग हरा कर दिखलायें जैसे कि स्वाभाविक सब भूमि हरी है! ठीक यही दशा आज-कल के भारतीय समाज, संस्कार वा धर्म, संस्कार, व्यक्ति और समाजों की भी है, जो वास्तव में देश की रही सही सम्पत्ति मर्यादा और कायरता चिन्ह, चक्र को भी मिटा देगी।

अस्तु ऐसे ही अनेक जन अपना और अपने समाज का कुछ कुछ संस्कार और संशोधन कर अब समस्त देश वा समस्त आर्यजाति मात्र की कुरीतियों का संशोधन करना चाहते हैं, यद्यपि वह केवल वाग्जाल मात्र फैलाते और सच्चे चित्त से कोई उचित उद्योग तत्पर नहीं दिखलाते, वरञ्च केवल अपनी ख्याति वा उस दृष्टान्त के अनुसार जैसे किसी सोहागिन स्त्री ने किसी विधवा को प्रणाम किया तो उसने आशीर्वाद दिया, कि "बहन तुम भी हम सी हो" के अनुसार वे अपनी शुभचिन्तकता दिखलाते हैं, अर्थात् अपने ही समान औरों को भी बनाया चाहते हैं। शोक है कि उनमें इतनी योग्यता वो सहानुभूति नहीं कि वे स्वयम् कष्ट उठाकर हमको अच्छे मार्ग पर ले चलते, वे हमारे लिये अपनी हानि कर हम से मिले इस योग्य रहते कि

उनपर हम विश्वास करते और उनकी बातें मानते, अच्छा होता यदि वे सुकोमल बचनों के द्वारा हमें उपदेश करते और केवल विशेष विशेष कुरीतियों को स्वयम् दूर बहाते, वा केवल उसी अश में वे हमसे आगे बढते, वे हमारे समाज के दुर्गुणों और कुप्रबन्धों के निकालने को धर्म रीति पर आन्दोलन करते और उसके प्रबन्ध मे स्वयम् हस्तक्षेप करते, न कि बुढिया मारने के लिये यम को परचाते !

परन्तु खेद है कि वे अनेक अश मे योग्य और अच्छे होकर भी अपनी अदूरदर्शिता से अपने को इस योग्य न रख सके कि सर्वसामान्यजन उनके उचित बातों को भी उपदेश बुद्धि से सुनें, भला पापिष्ठा रामाबाई का धर्मोपदेश कोई सच्चरित्र स्वधर्मनिष्ठिता आर्यललना क्योंकर मान सकती है, जब कि वह स्वयम् अपने ही को हिन्दुबाला का आदर्श न बना सकी, वह सौ विधवाओं का आश्रम क्यों न बनाये ! कब कोई आर्य साध्वी विधवा उसमें पदार्पण करना उचित समझेगी ? किसी पादरी साहिब की बनाई रामचरित्र वा कृष्णचरित्र नामक पुस्तक को कब कोई सुविज्ञ आर्य सन्तान प्रेम से पढ सकता है ? यथा—

गतानुगतिको लोकः कुट्टनी मुपदेशनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥

साराश इन समाज सशोधकों को स्वयम् अपने उपदेश से कृतकार्य न होने की ऐसी दुराशा हो गई है कि वे इस ओर मुख भी नही मोडते, यद्यपि यह भी उनकी भूल ही है, क्योंकि सत्यश्रम से किये कार्य का फल तो अवश्य ही होता है, और यही उसका उचित उद्योग भी है। पर उन्हे इसमे दुराश के अतिरिक्त अधिक श्रम भी स्वीकार नही है अतः उन्हें 'हर्रा लगे न फिट-करी और रग चोखा होय' वाली कहावत की युक्ति निकालनी पड़ी, चाहे उससे लाभ के स्थान पर हानि ही क्यों न हो, परन्तु कृतकार्यता का यश मिले, अतः वे बात बात मे राज-नियम की सहायता लेने के अर्थ बद्ध परिकर होते हैं और इस अवस्था मे उनके समाज वा सहयोगी जन के अतिरिक्त अन्य न्याय-प्रिय जन भी हाँ मे हाँ मिलाने को उद्यत हो जाते हैं।

भारत में प्राचीन काल से चिर प्रचलित प्रणाली सती होने की थी, और सच्ची सती स्त्रियों के लिये कदापि वह अनुचित भी न थी क्योंकि अब भी

अनेक सच्ची पतिव्रतायें अपने प्यारे पति के वियोग में बिना बिलम्ब के अन्य उपायों से प्राणान्त करती ही हैं; हाँ, उचित मार्ग से वारण किये जाने पर अनुचित रीति का अवलम्बन करती है, पर क्या कोई कह सकता है कि इसके प्रचार के समय में केवल ऐसी ही सच्ची स्त्री मात्र सती होती थी अन्य नहीं, अथवा इधर मूर्खता के दिनों में क्या उससे कुछ अन्याय भी नहीं होता था ? नहीं, मुसलमानी राज्य के फैलाये अन्धकार के दिनों से कुछ-कुछ अत्याचार इस अंश में भी हो जाया करता था; यद्यपि उसकी संख्या न्यूनाति न्यून ही थी, क्योंकि अनेक मूर्खाधिराज जिनके घर में एक दो सती हो गई होती, इससे भी अपना कुल धर्म्म सा अनुमान करते, और विधवा को जिसे कि उसके पति के मरते ही यह संकल्प होता, यदि उत्तेजना न देते तो विशेष वारण की चेष्टा भी न करते रहे हों, अनेक बाल विधवाओं को भी अपने गर्हित जीवन से यह गति अच्छी ही अनुमान होती थी, और वस्तुतः जिन जातियों में पुनर्विवाह प्रचलित नहीं है उसके लिये अच्छा ही था; और क्या आश्चर्य्य कि उनके स्वजन भी कभी कभी इसी को एकमेव कल्याण मार्ग देख उसके इस अनुष्ठान में सहायक हो जाते रहे और ठीक अंग-रेजों के बेकाम घोड़े को गोली मार देने, वा डाक्टरों के जीवनाशा विहीन रोगियों को कष्ट से बचाने के लिये विषैली औषधि के प्रयोग के समान उसका जीवन सार्थक इसी में समझते रहे हों, और जलने के कष्ट से कातर विधवाओं को चिता से न कूदने देते रहे हों, यद्यपि ऐसी राक्षसी लीला कदाचित ही कहीं होती तौ भी यह जाति के लिये अवश्य ही कलंक की कारण थी, जिस कारण राजनियम द्वारा यह निषिद्ध ठहराया गया और अनेक सच्ची सती और पतिव्रताओं को भी इस महत् धर्म्म कृत्य के करने का अवसर नहीं है वरञ्च उन्हें किसी कुत्सित रीति से अपना मनोरथ सफल करना होता है !

इसी भाँति अनेक राजपूत आदि जातियों में उसी समय कन्याओं को मार डालने की भी एक कुत्सित रीति प्रचरित हो गई थी। अवश्य ही मनुष्य मात्र को इस कुप्रथा का स्मरण शोक और आश्चर्य्यदायक है परन्तु यदि पद्मिनी, अश्रुमती वा कृष्णकुमारी आदि के स्वजनों की दशा अनुमान कीजिये, वा उनके आत्मा की सम्मति लीजिये तो अवश्य ही वह आश्चर्य्य बहुत ही न्यून हो जायगा, क्योंकि उस विपत्ति के समय म्लेच्छों को विवश हो लड़की देने से अनेक अभिमानी क्षत्रियों को यही

श्रेयस्कर मार्ग जान पड़ता था। अस्तु, लड़कियों के देने के लिये नित्य कलह करने, और कई सहस्र प्राणनष्ट करने के स्थान पर यह समझ कर कि "न रहेगा बांस, न बाजैगी बाँसुरी" जन्मते ही लड़कियों को किसी भाँति जी कड़ा कर मार डालना तो एक और बात थी, परन्तु एक जाति में निष्प्रयोजन भी इस प्रकार की प्रथा प्रचरित हो जानी कैसी कुछ विलक्षण पशुता थी! यद्यपि ये कुचालें अँगरेजी राजनियमों ही के द्वारा सम्प्रति नष्ट हुईं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जो समय अब है उसमें स्वयम् भी वे कुरीतियाँ न चल सकतीं। सती होना यदि सर्वथा निषिद्ध न भी ठहराया गया होता तौ भी आज वे अन्यथा व्यवहार कदापि न हो सकते।

हम यद्यपि ऊपर कह आये हैं, कि आजकल का विधर्मी राजा भी हमारे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता, परन्तु वह ऐसे ऐसे धर्म के अंश में बाधक होने में तो बाध्य होता ही है, और विशेष राजनियम द्वारा इसका संशोधन करता ही है चाहे कोई कितना हूँ हाहाकार वा आन्दोलन क्यों न करैं, क्योंकि वह अपने विचार से इसमें मौनावलम्बन करना सर्वथा अन्याय समझता है। सती होने के विरुद्ध राज नियम होने में सामान्य प्रजा की ओर से कुछ न्यून विरोध नहीं हुआ था, किन्तु एक छोटा दल उसके पक्ष में भी खड़ा होगया था, अन्ततः राजनियम होने से बड़े की हार, और छोटे की जीत हुई। ब्राह्म समाज तभी से पुष्ट हुआ और सनातन धर्म रक्षणी सभाओं की "प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः" के अनुसार हार हुई। इस भाँति कल की बात है कि—"सहवास सम्मति" नियम निर्माण होने के समय में जो समस्त देश-व्यापी घोर आन्दोलन हुआ था, उसमें भी प्राचीन प्रणाली पोषक वा सनातन धर्मावलम्बी आर्यों के विशेषांश समुदाय ने इसका बहुत ही उदण्ड भाव से विरोध किया था, परन्तु न केवल नवीन बहके-विगड़ैल लोग वा शिथिलविश्वास नूतन मत वाले ही, वरञ्च अनेक न्यायप्रिय सुविज्ञ प्राचीन मातानुयायी सज्जनों ने भी उसका विधि होना उचित अनुमान किया, तथा अनेक अंश में सहमत रहते भी अपने सुवृहत्समाज के भय को त्याग कर उन्हें इस उचित विषय में सहमत होना ही पड़ा।

जैसे कि श्रीमान् महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह वीरेश मिथिलाधिपति को। और जब उनके ऐसे मत के विषय में समाचार पत्रों में वादाविवाद हुआ, और अनेक आग्रही समाचार पत्रों ने उनके स्वाभाविक धर्म सम्बन्धी विश्वास

पर विश्वास कर इसे झुठलाया तो प्रसशित महाराज ने इसके विषय में एक मुद्रित पत्र सब समाचार पत्र सम्पादकों के निकट भेज कर अपनी सम्मति प्रकाशित की थी, जिसे हम आनन्द कादम्बिनी कार्यालय से लेकर यहाँ उद्धृत कर देना भी उचित अनुमान करते हैं.—

"सम्पादक आनन्द कादम्बिनी'

महाशय,

सहवास बिल पर अपने सम्मति का एक पत्र आप के पास भेजता हूँ। कृपा करके इसे अपने देशहितैषी पत्र मे छाप कर कृतार्थ कीजिये।

श्री लक्ष्मीश्वरसिंह शर्मा
महाराज दरभगा।"

यद्यपि जब से आर्य शास्त्रों के विरुद्ध म्लेच्छाचार प्रचारक नवीन मत-प्रवर्तक लोगों ने भ रत मे अपना अपूर्व उत्पात आरम्भ किया तभी से सनातन धर्म सभाओं की सृष्टि हुई, और उनकी वृद्धि के सग इनकी भी वृद्धि हुई, और यदि ब्राह्मसमाज के विरोध मे दस पाँच की सख्या थी, तो दयानन्दी आर्य-समाज के विरोध मे सैकडो बनी, और अब उन सब को उचित रीति पर चलाने एवम् उन्हे पुष्ट कर उनकी शक्ति बढाने के लिये 'भारत धर्म महा-मण्डल' की भी सृष्टि हुई है, परन्तु इस वृहत् समूह पर शासन करने वाली ये सभायें कहा तक कृतकार्य हुई हैं, वा इनके द्वारा समयोचित कौन सा नवीन अनुष्ठान आरम्भ हुआ, विचारने से बहुत ही निराश होना पड़ता है। क्या किया जाय दुर्भाग्य से जो सब भाँति पुराने हैं, वे कुछ भी नवीन कृत्य करना न तो जानते, और न किसी हित की शिक्षा ही मानते, वे केवल भाग्य भरोसे रहने के अतिरिक्त कार्य क्षेत्र में आना ही नहीं जानते फिर :—

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

अस्तु, अब तक इस आलस्य और उदासीनता से अनेक अन्य मूल्यवान सामग्री के नाश होने पर भी हमारी जातीयता और धर्म्म का नाश नहीं हुआ था, परन्तु अब काल क्रम से वह समय आगया है कि यदि इसी भाँति इधर से उपेक्षा कुछ दिन और रही तो निश्चय अब इन दोनों के भी नाश होने में विलम्ब नहीं है।

शोक है कि यदि कोई 'आर्य्यजाति' हितैषी नामक शत्रु चिल्लाते, कि भारत की स्त्रियाँ बन्दीगृह निवासिनी हैं, उन्हें स्वच्छन्द कराना चाहिये; तो

कोई कहते कि विधवा-विवाह बलात् करा देने की व्यवस्था करा देनी उचित है। यदि कोई बकता कि हिन्दू लोग तो विधवाओं से बलात् एकादशी आदिक अनेक कठिन व्रत कराकर उन्हें इतना अशक्त कर देते कि वे स्वयम् थोड़े दिन में मर जातीं, तो कोई रोता कि अजी निराश रोगियों को भी तो अधजले देकर और नितान्त बूढ़े बूढ़ियों को 'हरी बुला बुला कर' मार डालते हैं। अनेक हिन्दू समाज संशोधक अर्थात् सत्यानाशक चाहते, कि हिन्दुओं में भी मुसलमान क्रिस्तान आदि समाज की भाँति "तलाक़" अर्थात् विवाह सम्बन्ध तोड़ने की भी परिपाटी प्रचरित की जाय, तो अनेक जन इस सोच में मर रहे हैं कि पिता के कन्यादान दिये हुये पति को यदि कन्या न चाहे, तो पति के साथ जाने में वह राजाज्ञा द्वारा बाध्य न की जाय ! यों ही बहुतेरे चिल्ला रहे हैं कि देवधन के विषय में भी कोई राजनियम विधिवद्ध होना चाहिये, क्योंकि इसमें बड़ा अन्धेर है इसी भाँति कोई कहता है कि बाल्य-विवाह उठाओ, तो कोई समझाता कि भाई विवाह व्यय तो घटाओ, अब इनमें से अनेक बातें तो अवश्यही अनर्गल एवम् नितान्त निर्मूलक केवल प्रस्तावकारियों के विकृत मस्तिष्क की प्रमाणस्वरूप विशुद्ध प्रलाप मात्र हैं, परन्तु वस्तुतः क्या सबी वैसीही हैं ? अथवा उनमें से किसी में भी कुछ संशोधन की आवश्यकता नहीं है ? और यदि है, तो क्या किसी के अर्थ आर्य्य गण कुछ भी सुधार सोचते, करते वा उसके योग्य होने के अर्थ उद्योगी हैं;और यदि नहीं, तो क्या उसके सुधार के लिये कोई अन्य उपाय का होना भी उचित है ? यदि है, तो क्या राजनियम के अतिरिक्त सुलभ कोई दूसरा और भी है ? हम लोग कदापि स्वप्न में भी नहीं चाहते कि अपने धार्मिक और सामाजिक विषय में भी राजनियम के वश हों परन्तु उसी भाँति यह भी कोई मेधावी कैसे चाहेगा कि चाहे कुरीति और कुप्रबन्ध से समाज वा जातिका सर्वनाश होजाय परन्तु राज नियम द्वारा कदाचित् सुधार न हो। अवश्य ही यदि समाज में इतनी शक्ति वा योग्यता नहीं है कि वह इन कुरीतियों के दूर करने की स्वयम् कुछ भी चेष्टा करे, तो राजनियम द्वारा भी सुधार न होकर कुरीति और कुप्रबन्ध से निरन्तर हानि पाकर किसी जाति वा समाज का अधःपतन कैसे कुछ दुर्भाग्यता का कारण है।

पूर्वोक्त प्रस्ताव अब न केवल हमारे विपक्षियों की ओर से सामान्य रीति पर आन्दोलन किये जाते, वरञ्च यथा विधि पूर्ण परिश्रम और यथोचित रीति

पर हो रहे हैं, उनमे अनेक विषयों पर भारतसाम्राज्य को भी दत्तावधान होना पड़ा है, कई प्रस्ताव व्यवस्थापक सभाओं तक पहुँचे, और कुछ पर विचार आरम्भ हैं, और यहाँ हमारे भोले भाइयों के समीप केवल एक ही गुरु मंत्र है, "गवर्नमेएट को कदापि हमारे धार्मिक वा सामाजिक विषय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये" परन्तु उन्हें चेतन्य होना चाहिए कि ईश्वर की कृपा वा कोप से अब वह समय आ गया है, कि अनेक जन आप के प्रतिकूल प्रार्थना करते और प्रमाणित करने को सन्नद्ध हैं कि यह वास्तव में अन्याय है, और इसका रोकना राजा का मुख्य धर्म है। सौभाग्यवशात् हमारा राजा कदापि इन विषयों में हस्तक्षेप करना भी नहीं चाहता, परन्तु जहाँ उसे निश्चय हुआ कि-इस कुरीति में प्रत्यक्ष हानि है, तो वह केवल आप के पूर्वोक्त गुरुमंत्र जपने से नहीं मान सकता। कल ही के भूतपूर्वलार्ड लैन्सडाउन का इस विषय में मत स्मरण कीजिये, और ईश्वर के लिये उस गुरुमन्त्र का भरोसा छोड़िए, यदि आप नहीं चाहते कि राजनियम के अड़-खड़े में निकाले जाँय तो अड़ियलपन की बात भूल, दाँत और हाथ पाँव चलाना छोड़, आँखे खोलिये और सीधी चाल से उचित मार्ग पर चलिये। अपना प्रबन्ध आप कीजिये, अपनी न्यूनता की वृद्धि और हीनता की पूर्ति और दोष का त्याग कीजिए, और कराइये। अपने भूले भाइयों को समझाइये। अपने ऊपर उनके सुधार का बोझा उठाइये, उनके लिये कुछ अपने समय, साहस, और अर्थ का व्यय कीजिये; शरीर को कष्ट दीजिये, पुराने अन्धकार को छोड़ टुक नये उँजेले में आइये, संसार की दशा और प्रवाह के अनुसार अनुसरण करना आरम्भ कीजिए। केवल कुढ़ कर रह जाने से, वा अपने मूँ अपनी ही बात कहने औरकी न सुनने से आप कदापि कृतकार्य्य न होयेंगे, वरञ्च अपने प्रतिकूल फल पा पा कर मारे शोक के विक्षिप्त हो जायेंगे।

यद्यपि भारत की दशा अब अत्यन्त हीन हो रही है, तौ भी अद्यापि वह करोड़ों रुपये के अटकल अकेले दान विषय में व्यय करता है; परन्तु क्या आज उस दानश्रद्धा के स्थिर रखने के लिये भी कुछ द्रव्य कहीं से व्यय होता है ? जिस धर्म के मूल पर उसकी स्थिति है, क्या उसकी रक्षा के कार्य में भी कभी कानी कौड़ी लगती है ? दूर न जाकर यदि गयावाल, प्रयागवाल, मथुरा के चौबे, काशी के घाटिये, वा पुजारी लोग, अथवा हमारे विन्ध्याचल के पण्डों ही की दशा पर दृष्टि दीजिये, तो क्या न्यून खेद होता है, कि जो लोग लाखों रुपये प्रति वर्ष धर्म्मखाते का खाते हैं, और धर्म्म ही से अपने

यजमानों की अश्रद्धा कराते हैं! इनमें कहाँ पर कितने हैं जो पुरोहित की उपाधि पाने के योग्य हैं? कितने अपने ब्राह्मणोचित धर्म्म का पालन करते, कितने पुरोहित के वेष में रहते, वा स्वधर्म्म रक्षा का कुछ भी यत्न सोचते? विरुद्ध इसके कि नाना प्रकार के नीच व्यसन, दुराचार और कुत्सित कृत्य में लीन रहते जिनके दर्शन मात्र से कठिन अश्रद्धा का उद्रेक होता! फिर जहाँ के धर्म्माधिकारी ऐसे हैं वहाँ उनके यजमानों को इनसे धर्म्म विषय में क्या सहायता मिल सकती है वा श्रद्धा की वृद्धि हो सकती है, समझना सहज है। सुतराम इनसे धर्म्म, जाति वा देश का क्या उपकार है, वा होगा? यदि ये लोग सामान्य हमारे अन्य धर्म्म कार्य्यों में उद्योग न करें तौ भी कुछ विशेष चिन्ता नहीं, परन्तु अपनी दशा तो सुधारें, अपने जीविकास्थल वा निज धर्म्म स्थान की तो रक्षा करें अपने आपको उस पद के योग्य तो रक्खें और कुछ नहीं तो अपने कृत्य से समग्र जाति को कलंकित करने के कार्य्य तो न करें।

यद्यपि इनमें से अधिकांश बातें शेष उन दोनों समूहों में भी वैसी ही आक्षेप योग्य और शोकदायक हैं, तौ भी इनमें उनमें आकाश और पाताल का अन्तर है क्योंकि ये लोग तो यजमानों से दान दक्षिणा में द्रव्य पाते जिसमें केवल उन्हीं का स्वत्व है, उनके व्यय का उन्हें पूर्ण अधिकार है, चाहें जैसे क्यों न करें, तथा उनका स्वरूप भी दान श्रद्धा के न्यूनाधिक्य का कारण हो सकता है; और यही दशा, केवल विशुद्ध दीक्षागुरु वा कनफुँकवा ब्राह्मणों की है जो किसी महापण्डित वा महात्मा के वंश में तो जनमें और आप केवल वही दो चार दस मन्त्र पढ़े हैं कि जिसको उन चेलों को देकर चेला बनाते, दम्भार्थ केवल पूजा का लम्बा चौड़ा आलवूडाल फैलाते, अपने हाथ पका कर खाते, और ब्राह्मणों ही से अपने जूठे बरतन मँजवाते, तथा चौका देकर पानी पीते हैं; परन्तु अन्य गुरु गोस्वामी लोग, पुजारी, अधिकारी और पण्डे तथा वैरागी महन्त लोग जो अपनी भेंट और पूजा के अतिरिक्त देवधन के भण्डारी, अथवा अन्य धर्म्मार्थ अर्पित द्रव्य के भी कोषाध्यक्ष हैं, अत्यन्त ही आक्षेप योग्य हैं, यजमान तो देवस्थान के निकट जलाशय निर्माण के अर्थ, अन्नसत्र (सदावर्त) चलाने के लिये, देवता के कुछ [illegible] भोगराग के अर्थ द्रव्य देता; और उस रुपये से बाबा जी के [illegible] क्रय किये जाते, पुजारी जी के नाम से वही रुपया बैंकों और महाजनों की कोठियों में वियाज कमाने के लिए जमा किया जायगा! और

"अब उसका विचार करेंगे, और तब वे उसका आरम्भ करेंगे" कहते ही कहते सबको उसकी सुध भी भुला देते हैं। यद्यपि चेलों को गुरु जी से ऐसे विषयों मे पूछने का साहस होना तो स्वभावतः सर्वथा ही असम्भव है।

अस्तु दई के निहोरे अब भी आँख खोलो, यह समय दूसरा आ गया, कर्त्तव्य शून्यता को तिलाञ्जिलि दो और अपने कुरीतियों को अन्दोलन कर स्वय सुधारो नही तो नई रोशनी वाले ऐसे राजनियम स्वीकृत करा देंगे जिससे तुमारा प्यारा सनातन धर्म सनातन के लिए अङ्ग-भङ्ग कर दिया जायगा और तब तुमारा प्रयत्न "अरण्य रोदन" सा होगा।

१६५१ वै—ना० नी०

वीर पूजा

यद्यपि वीर देशों तथा वीरता-गुण-विशिष्ट समाज में वीर पूजा की प्रथा प्राचीन है, तौभी आजकल विदेशियों की चालें देख ही कर हनुमानजी के समान हमारे देशबान्धव अपनी प्राचीन पद्धति को नवीन बुद्धि से मान्य मानते, अथवा उसको उचित समझते हैं। हम लोग वीरवंश हैं, भारत वीर देश है, यद्यपि इसमें किसी को सन्देह हो, तो है के स्थान पर था, कह देने से कदाचित् फिर जिह्वा सञ्चालन का अवसर उसे न रहेगा; क्योंकि महाभारत भारत ही में हुआ था, और कई सौ वर्ष तक रुधिर की नदियाँ यहीं प्रवाहित होती रहीं। उस समय जब कि संसार में लोग केवल ढेले पत्थर और लाठी सोंटेही को अस्त्र शस्त्र अनुमान करते थे, हमारे यहाँ धनुर्वेद के आचार्य विद्यमान थे। सुतराम् यदि हम साहंकार यह कहें कि हम वीर वंश हैं, तो कोई वारण करने वाला नहीं है। हाँ चाहे कोई मुसकरा कर यह क्यों न कहा दे, कि—"हमारे दादा ने घी खाया था, हमारा हाथ सूँघ लो' की कहावत के अनुसार तुम पुरानी कहानी क्यों गा रहे हो? आज अपनी दशा देखो।" तो यद्यपि इसका सीधा सा उत्तर यही है, कि आज बृटिश गवर्नमेण्ट के प्रभाव से प्रथम तो इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; पर जहाँ पड़ती है, वहाँ कुछ देख भी पड़ती है, किन्तु हाँ, बिना अभ्यास के उसका बीज अवश्य नाश होता जाता है। यद्यपि व्यर्थ कट्टरपन और कलहप्रियता अथवा उपद्रवशीलता तो न हममें कभी थी, न अब है और न हम उसे अपने में लाने के आकांक्षी, परन्तु यथार्थ वीरता और छलछद्महीन शूरता तो केवल हमी लोगों में थी और अब भी है; वरञ्च सत्य तो यह है कि इस धर्म्म युद्ध और कलङ्कशून्य शूरता ही के कारण छली और कपटी वैरियों से हमें सदा नीचा देखना पड़ा, किन्तु वास्तविक वीरोचित बानि को हमने कभी नहीं छोड़ी।

अस्तु, सुरेंद्र, शङ्कर, और दुर्गा की पूजा हमारे यहाँ वीर पूजा ही थी। पीछे भैरव, वीरभद्र, और हनुमान की पूजा भी वीर पूजा ही थी, और है। परन्तु समय के फेरफार और प्रथा परिवर्तन से अब उसका रूप बदल गया।

इसके अतिरिक्त बहुतेरों मे देवता की भावना तथा श्रद्धा और विविध कामनाओं के कारण उसके रूप मे बहुत विभिन्नता हो गई है। स्पष्टतः यों समझिये कि महाराज श्री रामचन्द्र जी की रामनवमी का उत्सव छोड कर रामलीला और विजयादशमी का त्योहार हमारी वीर पूजा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि देवबुद्धि की पूजा उनके मन्दिरो मे होती है राललीला और विजयादशमी की पूजा विशुद्ध वीर पूजा है। शमी वृक्ष मे शमीरमा रानी की पूजा वीर पूजा ही का जाज्वल्य प्रमाण है। फिर उसी दिन शस्त्रादि पूजा, वीर पूजा होती है (भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी की भी वीर पूजा होती है, जो मथुराजी और ब्रज के आस पास के नगर ग्रामादि मे विशेष प्रचरित है, और जो "कसबध" के नाम से प्रख्यात है। किन्तु बहुत दिन होने के कारण यह पूजायें भी अब केवल धार्मिक पूजाओं मे परिगणित हो गई अतएव साम्प्रतिक समय के अनुसार किसी आधुनिक योग्य वीर की पूजा वा उत्सव उसकी अमल कीर्ति के स्मरण और सामाजिक उन्नति के अर्थ प्रचरित करना भी सर्वथा उचित ही है। फिर वह भी किसी ऐसे प्रसिद्ध मनुष्य वीर की, जो नये रङ्ग ढङ्ग के सब प्रकार से अनुकूल हो, और जिसमे सब सम्प्रदाय के नवीन मस्तिष्क वाले आर्य्य सन्तान जो बाहर को छोडकर अन्त.करण से भी साहिब लोग नही हो गये हैं, बिना पश्चिमी पादत्राण परित्याग करने के कुर्सियो पर बैठे बिठाये कर सके। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि-- वह पूजनीय वीर कौन हो?

इधर के वीर नरपतियों मे सर्वश्रेष्ठ महाराज विक्रमादित्य और उनसे उतर कर शालिवाहन ही हुये और कदाचित् आर्य्य साम्राज्य का गौरव सूर्य्य इसके पश्चात् ढलता ही चला गया, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका शाका और सम्वत् है। अस्तु, यदि इन्ही की पूजा प्रचरित होती, तो आज सारे भारत की एक ही प्रधान वीर पूजा होती। परन्तु सारे भारत को एक मे मिलाने का जैसे कोई उपाय नहीं, तैसे यह भी समझिये, और जब फिर आज भारत भिन्न भिन्न जाति और थोकों मे विभक्त है, तो थोक-थोक की वीर पूजा भी ठीक ही है। निदान कुछ दिनों से महाराष्ट्रों ने वीरवर महाराज शिवाजी छत्रपति की पूजा प्रारम्भ की है, जिसको देख कर अब बङ्गालियों ने भी अपने यहा महाराज शीलादित्य की पूजा आरम्भ कर दी। अब यदि महा राज शिवराज ही की पूजा समस्त भारत करता तो क्या हानि थी, वरञ्च एक प्रकार उचित ही था, परन्तु वह महाराष्ट्र महाराज्य स्थापनकर्त्ता मान

लिये गये, न कि आर्य्य राजोद्धारक। तब यदि वे महाराष्ट्रों ही के थोक में चले गये और जब वीर शीलादित्य बङ्गालियों के पूज्य हुये, तो पञ्जाबियों को तो कुछ ढूँढ़ना हीं नहीं है; यदि हेर खोज की आवश्यकता है तो हमीं लोगों को, जिन्हें सदैव सबी अच्छी वस्तुओं के लाले पड़े रहते हैं।

सम्प्रति हमारी प्रादेशिक राजधानी प्रयाग का अङ्गरेज़ी सहयोगी 'इण्डियन प्यूपल' ने इस पर विचार कर यह सम्मति दी है, कि—"हमलोगों को मुगल सम्राट् अकबर का वार्षिकोत्सव करना चाहिये।" जिसका खण्डन करते हुये सहयोगी भारतमित्र ने बहुत ठीक लिखा है, कि मेवाड़पति महाराणाप्रताप सिंह का महत्व शिवाजी से अधिक है, प्रताप का उत्सव मनाकर उत्तर भारत क्या समग्र भारत के हिन्दू जातीय उत्सव को सार्थक कर सकते हैं, और तभी उनकी वीर पूजा असली वीर पूजा हो सकती है।" इस पर बम्बई का सहयोगी श्री वेङ्कटेश्वर समाचार कहता है, कि—"इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रतापसिंह ने गो, ब्राह्मण तथा देश की रक्षा करने और क्षत्रियों की स्वतन्त्रता अक्षुण रखने के लिये घरबार, राजपाट तथा राजसुख त्याग, मुसल्मानों की आधीनता स्वीकार करने के बदले उनसे लड़ने में अपना जन्म बिताया और जङ्गल पहाड़ों में रहकर अनेक कष्ट उठाये, यहाँ तक कि कठिन समय आ पड़ने पर घास की रोटी खाकर भी अपना निर्वाह किया और अन्त में हिन्दूराज्य स्थापित करके छोड़ा, उसको भूल कर उस कुटिल हृदय अकबर का उत्सव करने की सलाह देनी, जिसका उद्देश्य हिन्दुओं में मिलकर उन्हें सब प्रकार से चौपट करने का था, आश्चर्यजनक और भूल भरी बात है।" यद्यपि हम अपने इन दोनों सहयोगियों से इस अंश में सहमत हैं कि—यावदार्य्य-कुल-कमल-दिवाकर हिन्दूपति बादशाह महाराणा उदयपुराधीश वीरवर प्रतापसिंह के वार्षिकोत्सव रूप से वीर पूजा की जाय, और उनकी अति उज्ज्वल कीर्ति का आर्य्य सन्तानों को स्मरण कराने का शुभ अवसर दिया जाय। हम यह भी मानते हैं, कि—वह निज कुल में अकेले आपही अतुलनीय और पूजनीय वीर नहीं हुये; वरञ्च अनेक, और न केवल पुरुष, वरञ्च पद्मिनी समान कई नारियां, जिस कारण वह वंश हमारा गौरवस्वरूप है; क्योंकि उपरोक्त उसकी दोनों उपाधियां कदाचित् स्वयम् इसका प्रमाण है, तौभी हम अपने प्रादेशिक अंगरेज़ी सहयोगी को अनेक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते; क्योंकि वह भी बहुत दूर की कौड़ी लाया है, और ठीक हमारे पूजनीय वीर के प्रतिद्वन्द्वी ही को

अपना पूजनीय मानकर उसकी वीर पूजा कराया चाहता है। अस्तु, हमको उसकी पूजा तो इष्ट नहीं है, क्योंकि आर्य्यों को पूजनीयों की न्यूनता नहीं है। मुसल्मान भी उसे न पूजेंगे, क्योंकि उसमें मुसल्मानों की स्वाभाविक धर्म्मान्धता, कट्टरपन और आग्रह न था, तब उस यवनकुल मुकुटमणि सौम्य अकबर की जिसकी जीते ही जी पूजा हो चली थी, पूजक सम्प्रदाय भी तो इस समय कोई अवश्य चाहिये। फिर सिवा ऐसे लोगों के जिन्हें कुछ विशेष विचार वा विवेचना बाधा नहीं करती, जो विजातियों और सजातियों में भेद नहीं मानते; और दोनों को सब अवस्थाओं में सर्वथा समान जानते, पवित्र वेद और .कुरान, बाइबिल को एक आँख से देखते, उनके लिये भी तो किसी एक ऐसे वीर की परम आवश्यकता है कि जिसकी वे लोग पूजा करें। सुतराम् उन्हें अकबर से बढ़ कर दूसरा पूज्य कौन मिल सकता है ? इसी भाँति हम लोगों को भी कोई वीरवर प्रतापसिंह से बढ़कर इधर आदरणीय नहीं लखाई पड़ता, अतः विना विलम्ब के हम लोगों को भी उक्त महाराणा का वार्षिकोत्सव करके अपने एक आधुनिक जातीय गौरव के हेतु इस दुर्लभ वीर की प्रतिष्ठा और पूजा कर जातीय जीवन को उन्नत और उत्साहित करना चाहिये; और किसी प्रकार इसमें कदापि कुछ भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।

सारांश यह कि साम्प्रतिक हिन्दी पत्रों के प्रस्ताव जैसे फल शून्य हो उनके अकेले एक ही अङ्क में समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार इसमें न होना चाहिये। वरञ्च देश के अग्रगण्यों को इसका प्रयत्न अभी से कर चलना उचित है, और पत्र सम्पादकों को इसपर बारम्बार आग्रह करते उन्हें स्मरण दिलाते ही जाना चाहिये, क्योंकि इस नवीन प्रथा के प्रचार के अतिरिक्त हमारे देश और जाति पर जो महाराणावंश का भारी ऋण है उसके अकृतज्ञता के ब्याज को अधिक बढ़ना न चाहिये, क्योंकि आर्य्य-जाति का अवशिष्ट साम्राज्यपद का भाव जो है सो अब इसी वंश में विद्यमान है, जो हमारे अतुल अभिमान का हेतु है। ईश्वर उसे सदैव निर्विघ्न रक्खे और उसे नित्य नवीन उन्नति प्रदान करता रहे।

१९६१ वै० आ० का०

भावी भारतीय-महा-सम्मिलन

अबकी बार की कांग्रेस विशेष रुचिकर, शोभाशाली और उपयोगी होगी। क्योंकि वर्ष भर से भारत की क्या, समस्त संसार की, आंखें बंगाल के ऊपर हैं। सब की उत्कण्ठा उसके असीम साहस सम्पन्न सुयोग्य सन्तानों से मिलने और उनकी गाथा उन्हीं के मुखों से सुनने की है। दुःख से भुने बङ्गाल को भी अपने समस्त देश के चुने नेताओं और सभ्यों के समक्ष आह भरे मुंह खोलने का अवसर मिलेगा। जब कि ईश्वर और राजा दोनों दीन प्रजाओं की दुहाई सुनकर भी अनसुनी कर विपक्षी से बन जाते हैं तो औरों की सहानुभूति और आश्वासन ही दुखियों के घावों को पुजाने में समर्थ होते हैं। इसी से अपनी स्नेहभरी उपस्थिति में उनका दुःख भुलाने को कौन सहृदय जन परमोत्सुक नहीं है। हमारे देश भर को और सब से पहिले बङ्गाल को, यह भी अब निश्चय हो गया है, कि व्यर्थ के वितण्डावाद और गला फाड़ने में कुछ प्रयोजन नहीं होता, कार्य्य तत्परता में ही समग्र देश का कल्याण हैं। एक चित्त हो, कटिवद्ध होने ही से भारी कार्य्यों का होना सम्भव है। हमारे देश का हाथ विलायत की कलों ने बांध रक्खा है। हमारी मूर्खता ही ने सब ओर से हमें लाचार कर बेकार बना दिया हैं। हम कभी इस दशा में उनकी बराबरी नहीं करते, इससे हमें समाजवद्ध हो अपने व्यवसाय को बढ़ाना पड़ेगा। इसी से इण्डियन-नेटाल-कांग्रेस ने अब व्यापार की ओर विशेष ध्यान देकर अपने अधिवेशनों के साथ साथ प्रदर्शनियां खोलनी आरम्भ की हैं। इससे देश भर की कारीगरी के नमूने एकत्र देख पड़ते हैं, और क्रमशः उत्तम कारीगरी की खींच होती और शिल्पियों को इससे हर प्रकार विशेष लाभ की सम्भावना होती है।

स्वदेशी आन्दोलन ने हमारे देश के कारीगरों को उन्निद्रित कर उन्हें मरते मरते बचाया है। हांथ पर हांथ धरे ऊँघते, अपने माल की खपत न देख, अपनी प्रारब्ध पर खीझते, न जाने कितने रोज़गारियों के मुरझाये गालों पर अब सुर्ख़ी आ गई है। उन के परिवार अब सूखी रोटिओं से पेट भर स्वदेशी आन्दोलनकारियों और उसके आग्रहियों को असीस दे रहे

हैं। स्वदेशी की जन्मभूमि ही पर यह प्रदर्शनी अबकी बार बड़े धूम से हो रही है। इसी से इस अवसर पर देशी वस्तुओं के दिखावट में किसी प्रकार की त्रुटि न होगी। कलकत्ते के विशेष माड़वारियों और विहार के सभ्य विहारियों को छोड़ और देश-मात्र की आंखें इन दर्शनोचित पदार्थों के दर्शन से प्रफुलित हो जायँगी। केवल कुछ विदेशियों ही की आंखों से अश्रु धारायें चलेंगी, क्योंकि वे अपने नाश की सूचना इस प्रदर्शनी में देखेंगे। जिनके कानों को (वन्देमातरम्) शब्द कराल कुठार था, वह सब इस देश के कौशल के अपार भण्डार और व्यवसाय की चमत्कार विभूति को कैसे देख सकेंगे। हा! नरकनिवासिनी तृष्णा! तेरी माहिमा कैसे कही जाय! सुनते थे कि दावानल से जलती भूमि पर बन्दर अपने बच्चों को नीचे धरकर बैठ जाते हैं और अपने को बचा लेने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु तेरी लीला प्रत्यक्ष देखने में तो अभी आई है। भला क्या सचमुच वे स्वदेशी के कारण जले जा रहे हैं? नहीं, यह तो कोई ऐसी बात नहीं थी, यदि लोभ और स्वार्थान्धता उन्हें विचार का कुछ अवकाश और शक्ति देती, तो वे अनायास सहज ही में इसे तुरन्त समझ लेते कि वे लाभ के रूप में गरल पान के लोलुप हो रहे हैं। स्वदेशी की रुकावट उन की शक्ति से परे है। इसमें हमारा कल्याण है, जीविका है, स्थिति है। सर्व्वग्रासी दुर्भिक्ष से बचने का यही एक उपाय है। मोह-निद्रा और आलस्य में सोते भारत के जगाने की यही एक तीखी, गुणकारी और नीतिसिद्ध अद्वितीय सुंघनी वा नस्य है। अतएव आशा है कि भारत के सच्चे हितैषी व्यापारी कभी इस सुअवसर को हाथ से जाने न देंगे और यथाशक्ति वे इस प्रदर्शनी में अपने प्रान्त की बनी वस्तुओं को भेजते हुए उसके सुसम्पन्न करने में कुछ कसर न रक्खेंगे।

कभी सोता, कभी जगता, कभी करवटें बदलता, लड़खड़ाता, हमारा प्यारा श्री भारतधर्ममहामण्डल भी अबकी बार कलकत्ते में उसी समय पर अपना रंगीन और आग्रही चश्मा लगाये पहुँचता है। हर्ष का विषय है कि हमारे लिखने पर ध्यान दे मण्डल ने इस बार तो वहाँ अधिवेशन करना स्वीकार किया है। किन्तु हमारी इच्छा है कि यह सदैव के लिये स्थिर हो जाय कि कांग्रेस के साथ ही वरञ्च उसी के मण्डप में इसके भी अधिवेशन हुआ करें, जैसी प्रार्थना कि हम पहिले ही कर चुके हैं। इसी प्रकार और भी कई सभायें वहाँ होंगी, जिससे अबकी बार कलकत्ता अपनी अनुपम शोभा को धारण करेगा। भारत के परम हितैषी और उसके सुविख्यात सुपुत्र

श्रीमान् मिस्टर दादाभाई नैरोज़जी उसके सभापति के आसन को तीसरी बार सुशोभित करेंगे और देखेंगे कि उन के लालित-पालित शिशु की अब यौवनावस्था आ गई है। अतः कांग्रेस में अब की बार बहुतेरी नई बातें भी उसके कर्तव्यों के विषय पर अवश्य निर्धारित होंगी। राय बहादुर श्री युक्त आनन्द चारलू सी० आई० ई० ने, इस विषय पर हिन्दोस्तान रिव्यू में, एक बहुत ही समयोचित और उपयुक्त लेख में अपने विचारों को प्रकट किया है। उन का यह अग्रह बहुत ही उचित है, कि "कांग्रेस की बैठकों के पीछे उनका सभापति अपना पदत्याग न करे, किन्तु वर्ष भर उसी पद पर रहे, जब तक कि दूसरे अधिवेशन में कोई और व्यक्ति उस पद पर न चुन लिया जाय। जिससे कि बीच में कभी अवसर उपस्थित होने पर वह कांग्रेस की ओर से आवश्यक कार्य्यों को करता और उसके सिद्धान्तों को प्रकाश करता रहे। हर एक प्रान्तों के अर्थ भी एक एक सहायक सभापति उसी अवसर पर चुन लिये जायँ, जिसमें वे भी वर्ष भर अपने अपने प्रान्तों का कांग्रेस सम्बन्धी कार्य्य किया करें।" निःसन्देह यदि इस रीति से कार्य्य किया जाय तो कांग्रेस विशेष पुष्ट हो जाय, और हर प्रान्तों के लोग चैतन्य हो वर्ष भर कुछ न कुछ करते ही रहें। नहीं तो जैसे जंक्शन स्टेशनों के मुसाफ़िरख़ाने थोड़ी देर गाड़ियों के आने पर, कोलाहल पूर्ण हो जाते और गाड़ियों के छूटने पर फिर सन्नाटे में रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी एक बार दिसम्बर में एकत्रित हो अपनी अपनी आवश्यकताओं की प्रार्थना गवर्नमेण्ट से कर, साल भर अखण्ड निद्रा में पड़े सोते रहते हैं। हम लोगों का प्रथम कर्तव्य विद्या और व्यापार बिषयक होना परमावश्यक है। यदि हमारे शिक्षित जन इस विषय की ओर एक चित्त हो ध्यान दे कुछ करने का संकल्प करें, जैसा कि बहुत से बंगाली युवकों ने अब करने की प्रतिज्ञा की है, गवर्नमेण्ट से चातकों की भांति स्वाती के बूंद पाने की जो आशा लगाए हुए हैं छोड़ दें क्योंकि कोई भी गवर्नमेण्ट हमारे निज के कामों को सुधारने, वा उस में योग देने के अर्थ तत्पर नहीं हो सकती, विशेष कर एक विदेशी प्रजा-तन्त्र राज्य, तो सर्व्वथा कांग्रेस के सभिकों को इस प्रकार वर्ष भर उन्निद्रित रखने की उक्त लेखक महाशय की सम्मति अवश्य ही अति लाभप्रद होगी। फिर जैसी श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार कहता है कि "कांग्रेस इस समय लिखे पढ़े देशवासी मात्र की सभा है। इसलिये अङ्गरेज़ लोग यह कहने का अवकाश पा रहे हैं कि देश के जन साधारण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

सो देश के जन साधारण को भी इस समय कांग्रेस में मिलाने का प्रयोजन है। यद्यपि सदैव लिखे पढ़े देशवासी ही विद्याशून्य देशवासियों के प्रतिनिधि होंगे; परन्तु उन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापन करने के लिये गांव-गांव में पञ्चायत बनाने की बड़ी भारी ज़रूरत हुई है। इस बार की कांग्रेस में यदि और किसी बात की आलोचना न हो तो केवल इसी बात की आलोचना कर पञ्चायत स्थापन करने की व्यवस्था पक्की करने की बड़ी भारी आवश्यकता हुई है। उन्हीं पञ्चायतों के द्वारा वर्तमान लिखे पढ़े लोग ही प्रतिनिधि बनकर कांग्रेस करेंगे। उस दशा में कांग्रेस को जन साधारण में सम्बन्ध रहित कहनेवाले वैसा फिर कहने का साहस नहीं करेंगे और उनकी कहने न कहने की कोई परवा न करने पर भी उसी प्रकार की कांग्रेस से सब प्रकार देशोपकारक कार्य्य हो सकेगा। सो पञ्चायत स्थापन ही इस बार की कांग्रेस का सर्व प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।" निश्चय हमारे सहयोगी की सम्मति बहुत उचित और माननीय है, क्योंकि बहुतेरे देशहितैषियों की यही उत्कट कामना भी है, जिसके लिये कुछ लोग तत्पर भी हो गये हैं। सुतराम् अवश्य ही उक्त प्रकार की पञ्चायत स्थापन कर कांग्रेस को विशेष परिपुष्ट करना नितान्त आवश्यक है।

१९६३ बै० आ० का०

स्वदेशीय वस्तु स्वीकार और विदेशीय बहिष्कार

जब हम विशेष ध्यान से देखते हैं, तब एक प्रकार सारा भारतवर्ष ही बदला सा लखाई पडता है। यद्यपि इस परिवर्तनशील ससार मे अदल बदल का होना तो नित्य स्वाभाविक है, किन्तु भारत की परिवर्तनावस्था कुछ विशेष विचित्र लखाई पडती है, जिसमे कदाचित् यह भी कह देने में अत्युक्ति न होगी कि अब यहाँ के पञ्चतत्व मे भी कुछ २ परिवर्तन प्रारम्भ हो रहा है। क्योंकि जहाँ का आकाश सदैव सामगान और सगीत की तान से भरा रहता, यज्ञ धूप से सुगन्धित और सुहावना दीखता था, वह इञ्जिनों की सीटी और उनकी धकाधक ध्वनि से पूरित यूरोपीय आकाश का भ्रम उत्पन्न कराने लगा है। सामान्य वायु के अभाव मे जहाँ पैसे धेले के पखे से वायु का कार्य्य चलता था, तहाँ अब बिजुली के पखे वायु प्रदान कर रहे हैं। अलकतरा, फिनाइल, आइडोफार्म आदि भाँति २ की नई दुर्गन्धियों से दुर्गन्धित स्वाभाविक वायु का प्रवाह बहने लगा है। जहाँ केवल कण्डे और लकड़ी की अग्नि थी, तहाँ पत्थर के कोयले की भट्ठिया, केरोसिन और बिजली के चूल्हे और चिराग जलते हैं। विलायती मिट्टी, पत्थर, ईट और लोहे घरों के उपादान और पत्रो के रूप मे यहाँ की पृथ्वी को भी तोपते जाते हैं। सामान्य कूपों को पाटते यद्यपि अनेक प्रकार के अशुद्धि को फैलाते, नदियों के स्वाभाविक सुस्वादु जलोंको विकृत् करते, नल के बल से जल का प्रवाह कुछ और ही गति से बह चला है, तौभी भाँति २ के विलायती पानी मद्य, औषधारिष्ट, बरफ आदि से अब यहाँ के पानी का भी पानी उतर गया है। तब सामान्य भारतजात वस्तुओं की परिवर्तनावस्था की कौन कथा कही जाय ?

अवश्य ही सोलह आना भारत तो तबी तक था, जब तक विशुद्ध भारत भारतवर्ष कहलाता था। जबसे इसका नाम हिन्दोस्तान पड़ा, चार आना घट कर बारह आना शेष रहा था, किन्तु जबसे कि इण्डिया कहलाया इसने अपना सब कुछ गवाया और कदाचित् अब उसे आना, आध आना कह देने में भी कुछ विशेष सकोच नहीं होता, क्योंकि अब भारत में कुछ भी

भारतीयता का अवशेष नहीं लखाता ! शिक्षा-दीक्षा विदेशी, विद्या-बुद्धि विदेशी, मति-गति विदेशी, रीति-नीति और प्रीति विदेशी, चाल-ढ़ाल और माल-ताल भी विदेशी, खान-पान विदेशी, व्यायाम, विश्राम और नाम तथा काम सब विदेशी ही विदेशी की भरमार है। जिधर दृष्टि दीजिये सर्वत्र बस विदेशीय ही सामग्री का प्रचार है, जिसकी गिनती हम कहाँ तक गिनायें और यदि गिनायें तो कैसे पार पायें। इस देश में अब ऐसा कोई कदाचित् ही स्थान होगा कि जहाँ विदेशी का विस्तार न हो;इसी से आज भारत में प्रायः सबी स्वदेशी वस्तुओं का मिलना कठिन हो रहा है, जो कुछ पदार्थ कहीं कही लखाई भी पड़ते हैं वह प्रातःकालीन दीपशिखा से स्वल्पायु हो रहे हैं। फिर इससे अधिक परिताप का और कौन विषय हो सकता है !

आप यदि हमारे घर आइये और हमारे दीवानखाने वा ड्राइङ्ग रूम और कमरों को मुलाहिज़ा फ़रमाइये तो देखिए, कैसी कैसी चमत्कृत चीजों से वह आरास्ता और पैरास्ता है। ऐसी ऐसी अजीब और गरीब घड़ियाँ, बाजे और खिलौने, यन्त्र और दिल बहलाव की सामग्रियां पाइयेगा कि वाह वाह करते रह जाइयेगा। परन्तु यदि यह जानना चाहिये कि यह सामग्रियाँ कहाँ की बनी हैं, तो वही अमेरिका, जर्मनी, फ्रान्स, इटली और इङ्गलैण्ड को छोड़ चीन, जापान, ईरान अथवा अफ़गानिस्तान का नाम कदाचित् ही सुनने में आये और यह तो अत्यन्त असम्भव है कि उसमें कोई भारत की वस्तु भी लखाई पड़ जाय। क्योंकि चाहे कोई भारतीय वस्तु ऐसी भी हो कि जो वहाँ स्थान पाने की योग्यता रखती हो. किन्तु जब कि हमारे हृदय में उसको स्थान नहीं है, तो इसमें कैसे मिल सकती है। अवश्य ही यद्यपि जयपुर में अति सुन्दर सुहावने और मन लुभाने वाले चित्र बनते और मिलते हैं, परन्तु हमें तो केवल विलायती ही भाते। सहारनपुर, बरेली, मुरादाबाद गोरखपुर आदि स्थानों में लकड़ी के बने अनेक उत्तम पदार्थ लभ्य होते, परन्तु हमें विलायती ही जँचते। आगरा, गया आदि में पत्थर; लखनऊ, चुनार और निज़ामाबाद आदि में मिट्टी, ढाका, टाँडा, काशी, आदि में सूत और रेशम; काश्मीर और अमृतसर आदि में ऊनी वस्त्र बढ़िया और बहुमूल्य लभ्य होते; दिल्ली और काशी आदि में तारकशी, गोटे पट्ठे और बेलबूटे तथा रुई की कारीगरी अद्यावधि बहुत कुछ होती, किन्तु उनको कौन पूछता है ? मुरादाबाद, सलेमपटी, अयोध्या, कर्नाल आदि के बर्तन, फर्रुखाबाद और लखनऊ की छींट और छपे कपड़े; ग्वालियर और जयपुर में रंग के काम बहुत अच्छे

होते हैं, परन्तु अब उन्हें कौन लेता है ? इसलिये कि हमारी तो पसन्द ही बदल गयी है। हमारी रुचि और आवश्यकता में बहुत भेद पड़ गया है। भारतीय अब भारतीय नहीं रहे, वे अब साहेब लोग बनने की लालसा में मर रहे हैं। इसी से उन्हें भाँति भाँति की विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। परन्तु शोक ! वे अपनी दशा को भूल कर भी नहीं सोचते।

अधिकांश भारत की बनी वस्तुओं में पुरानी ही रुचि और प्रणाली का अनुकरण किया जाता है जो अब क्रमशः कपूरवत् प्रायः लुप्त होती चली जा रही है। उसके स्थान पर जो नवीन वस्तुयें प्रचारित हो रही हैं, उसकी आवश्यकता को स्वदेश से पूर्ण करने में बड़ी कठिनाइयां हैं। अतएव सर्वप्रथम हमें अपनी रुचि में परिवर्तन करना और आवश्यक नवीनता के निर्माण का यत्न करना चाहिये, जो कष्ट, व्यय और श्रमसाध्य हैं। इसी से स्वदेशी प्रचार के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ करना है, परन्तु यदि हमारा दृढ़ अनुराग हो। क्योंकि शोक से कहना पड़ता है कि बहुतेरी ऐसी आवश्यक नवीन सामग्रियां भी कि जो इस देश में बनती और मिलती हैं, हम उसे न लेकर जब तक द्वीपान्तर से नहीं मंगाते, सन्तोष नहीं लाते। हमारे चढ़ने की भाँति भाँति की गाड़ियाँ यहाँ भी मिलतीं, तौ भी यावत्सम्भव हम उन्हें विदेश ही से मंगाते, सब प्रकार के जूते यहाँ बनते, तौभी हम डासन ही का शू पहिनते। साबुन यहाँ भी अच्छे बनने लगे हैं, परन्तु बिना पिअर्स सोप के हमें चैन नहीं। इत्यादि २ कहाँ तक गिनायें, बहुतेरी उत्तम स्वदेशी वस्तुओं के लभ्य होते हुये भी लोग विदेशी ही पर टूटे पड़ते हैं, जिसका कारण केवल अंगरेजी का अनुकरण मात्र है। जो वह करें वही हमारे लिये विधि हो रहा है। हम लोगों को इतना विचार नहीं कि विदेशी लोग तो स्वदेशानुराग के कारण सात समुद्र पार से भी आकर यहाँ अपने देश के पदार्थ को कार्य में लाते और हम अपने देश की बनी वस्तुओं को छोड़ विदेशी पदार्थ ले ले कर भकुआ बनने के प्रत्यक्ष प्रमाण बनते हुये, अपने देश के उद्यम का सर्वनाश कर रहे हैं, जिस कारण कितने ही सुन्दर पदार्थ जो यहाँ बहुतायत से बनते थे, अब देखने में भी नहीं आते। निदान जब तक हम में स्वदेशानुराग न हो, अपने देश की वस्तुओं से सच्ची प्रीति न हो, अपने देशोद्धार की चिन्ता न हो, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार कैसे सम्भव है ? उसके लिये सर्वप्रथम उपरोक्त स्वभाव और गुण का सञ्चय करना परमावश्यक है। स्वदेशीय वस्तु प्रचार के लिये विदेशी वस्तु बहिष्कार एक प्रधानाधार वा मुख्य साधन

है। तथापि न्यूनातिन्यून इतना विचार तो रखना अवश्य ही उचित है कि जो स्वदेशी पदार्थ देश में लभ्य होते हैं, कदापि विदेशी न लिये जायँ। स्वदेशी पदार्थ चाहे विदेशी से किञ्चित् भद्दा और घटिया मूल्य में मँहगा क्यों न मिलता हो, तथापि अचल आग्रह रखना उचित है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी के अति सुन्दर और सुविज्ञ बालक को देख कर प्रसन्न होना और अपने बालकों को तद्रूप विद्या और गुण से सम्पन्न करना परम उचित हैं, किन्तु अपने कुरूप और मन्द बुद्धि बालक के स्थान और स्वत्व को उक्त दूसरे के बालक को दे देना कैसी कुछ विचित्र मूर्खता और जघन्यता है! समझना सहज है। सच है,—"खारे वतन अज़ सुम्बुलोरैहाँ खुशतर।"

हम अति कष्ट से भूमि जोतते, अन्न बोते, सींचते, काटते और दाँ ओसा और स्वच्छ कर राशि मात्र लगाते, परन्तु उसको खाते हैं दूसरे द्वीप के लोग। हम उसे बेंचकर क्या पाते हैं? सांप के बटन वा सींघ की कंघी, काग़ज के चित्र और मिट्टी के खिलौने। हम सौ सौ दुःख झेलकर कपास बोते, परन्तु रूई निकाल विदेश भेज देते और उसके बदले में विदेशीय बने कपड़े मोल लेते। उसके सीने को सूई वा यन्त्र तथा बटे सूत भी वहीं से लेकर सीते, वहीं के सिद्ध रंग से उसे रंगते और वहीं के बने बटन लगाकर पहिनते; उसे तथा मुँह धोने के लिये साबुन भी वहीं से लेते; लिखने के काग़ज़, क़लम और रोशनाई वहीं से मंगाई जाती, पढ़ने की किताबें भी वहीं से आती। यदि यहाँ भी छपती, तो सब सामान वहीं से आता यदि लोटे, थाली और लोहे की सन्दूकें, हम यहाँ बनाते, तो तांबे, पीतल और लोहे की चद्दरें वहीं की लेकर! कहाँ तक गिनायें बहुतेरा कोरा माल प्राय: यहाँ से एक रुपये मूल्य पर वहाँ जाता, तो घूम कर पचीस-पचास का होकर यहाँ आता! हम जिसे एक रुपये पर बेचते तो फिर उसी को पचास रुपये पर मोल लेते हैं! चार रुपये का बैल का चमड़ा यहाँ से जाता, तो वहाँ से पचास रुपये के जूते और सैकड़ों के बेग बन कर आते। यहाँ से दस रुपये की रुई जाती तो पांच सौ की अधी बन कर आती। सारांश हमारे सुख की सब्बी सामग्री विदेशी ही सिद्ध और सुसम्पन्न करते और हम लोग आनन्द से हाथ पर हाथ धरे बैठे ऊँघते। कहिये, कैसा आनन्द है? हम आलसियों के सदृश भगवान् किसी की भी दुर्गति न करे, जिस देश की ऐसी दशा हो उसकी स्थिति कैसी कुछ भयङ्कर होगी, सहज ही समझ में आ सकती है। पर हमने इस पर आज तक कभी ध्यान भी न दिया, जब तक खाने को मिला जाता था,

चैन उड़ाते और अँगड़ाइयां लेते रहे। रुपया जब तक सामने खनकता रहा, एकशा नम्बरवन का नशा जमा रहा। जब उसकी खनखनाहट सात समुद्र पार जा बसी, नशा उतर गया। मुफ़लिसी की खुमारी आ सिर परचढ़ बैठी। अब जो किसी भांति होश ठिकाने आया, तो देखते हैं कि चारों ओर दाने दाने के लाले पड़ गये हैं। लोग ताशा सा पेट बजाते भूखभूख चिल्ला रहे हैं। अपनी अंतड़ियां भी जब मरोड़ खाने लगीं, तो सोचने लगे कि बस, अब कुछ कार्य्य करना चाहिये। परन्तु क्या करें कि कहीं से कोई आशय नहीं सूझता। क्यों कि हमें एक सेवा वृत्ति ही का आधार लखाई पड़ता था, उसमें अब और भी विदेशियों की भरमार है। यदि कोई और उद्यम किया चाहते, तो प्रथम तों कोई उद्यम लखाई ही नहीं पड़ता, जो अपने पुरखे करते थे, यदि उसे हठात् हम करना भी चाहें, तो कर नहीं सकते; क्यों कि अभ्यास छूट गया है। जितनी सुगमता से आगे कार्य्य होता था, अब हमसे नहीं होता। उधर कलों की सहायता से स्वल्प मूल्य और श्रम से जो पदार्थ बनते, हमसे कैसे बनेंगे? फिर उस भाव में हम कैसे किसी को दे सकेंगे और क्यों कोई हमारे बनाये पदार्थ क्रय करेगा। यह तबी सम्भव है कि जब यहाँ के लोग केवल अपने ही देश के बने कैसे ही निकृष्ट और महँगे पदार्थ पर सन्तोष करें और कैसेही सुन्दर और सस्ते विदेशी पदार्थ को भी न छूयें, इसमें चाहे उन पर कितने ही कठिनाई क्यों न पड़े। इस रीति से कुछ ही दिनों पीछे ये सब अभाव अवश्य दूर हो जायँगे, किन्तु आज तो बिना इतने स्वार्थ-त्याग के कदापि कुछ कार्य्य चलता नहीं दीखता।

सारांश जो वस्तुएं हमारे यहाँ बनती हैं, यदि वे विदेशी पदार्थों सी सुन्दर और सस्ती नहीं हैं, तो उन्हें तत्तुल्य करने की चेष्टा करनी चाहिये न कि उनका सर्वथा अभाव। उसका एकमात्र उपाय और कारण केवल उसमें निज रुचि का स्थापन मात्र है। इसी भांति जो वस्तुयें अभी देश में अलभ्य हैं उनको देश में निर्माण करने की चेष्टा करना परमावश्यक है। जिसके अर्थ बहुत कुछ आत्मत्याग, देशानुराग, दृढ़ प्रतिज्ञता आदि गुणों की आवश्यता है। केवल विदेशी वस्तु वर्जन वा बहिष्कार की प्रतिज्ञा और प्रलाप करने ही में क्या फल हो सकता है। क्योंकि हमारी आवश्यकतायें बहुत बढ़ गई है, उनकी पूर्ति अवश्य ही करनी होगी। जब तक देशमें उनका अभाव है विदेशी वस्तु वर्जन एक प्रकार परम असम्भव है। इसी भांति हमारी प्रकृति में भांति भांति के जो विकार उत्पन्न हो गये हैं, उनका संयम भी परमावश्यक है क्योंकि

जब तक मनुष्य में आत्म संयम न होगा, संसार उस के लिये भयावना बन जायगा। इसी से इस प्रश्न के सम्बन्ध में बहुत सावधानी सापेक्ष्य है। देश के अग्रसरों को बहुत ही सुगमाहित हो इस समय कार्य्यानुसरण करना चाहिये और सर्व सामान्य भारतीय प्रजा को प्रमाद शून्य स्वदेशानुराग का व्रत लेते हुये अपने उचित उद्योग में संलग्न होना चाहिये जिससे अवश्य ही कल्याण की आशा है। क्योंकि ईश्वरानुग्रह से अब देश सुषुप्ति अवस्था का विसर्जन कर बहुत कुछ चैतन्यता लाभ कर चला है।

कार्तिक १९६३ वैक्रमीय आ० का०

भारतीय प्रजा में दो दल

यद्यपि द्वन्द्व के योग से जगत् की सृष्टि और स्वयम् जगत् ही द्वन्द्वमय है, अतः संसार में कहीं इसका अभाव नहीं है, तो भी भारत के समान और कहीं इसकी अधिकता नहीं है। क्योंकि हम वेद और शास्त्रों में सृष्टि के आरम्भ ही से देवता और दैत्यों के साथ ही उत्पत्ति का प्रमाण पाते और देवासुर संग्राम की कथा सुनते हैं। पीछे से आर्य्यों और राक्षस, दस्यु आदि, तथा सभ्य और असभ्यों से भी युद्ध होता रहा, इसी भाँति वैदिको और बौद्धों के परस्पर कलह का वृत्तान्त भी किसी से छिपा नहीं है। पश्चात् जब से यहां विदेशियों का आगमन हुआ, कुछ इसकी पुष्टि और अधिक हो गई। इसी से यहाँ की प्रतिद्वन्द्विता के दो भाग किये जा सकते हैं, अर्थात् एक स्वदेशी और दूसरी विदेशी। प्रतिद्वन्द्विता अधिकांश केवल धर्म और आचार विरोध के कारण उत्पन्न होती थी, जो एक के प्रबल होने पर दूसरे दल को अपने बल से परास्त कर स्वराज्य स्थापन कर कुछ दिन के अर्थ शान्त हो दब जाती रही; क्योंकि देवासुर संग्राम से लेकर वैदिक और बौद्धों के परस्पर युद्ध, अथवा विक्रमादित्य वा भगवान् शङ्कराचार्य्य के समय तक यही रीति रही कि जब जिस दल में कोई प्रतापी उत्पन्न हुआ दूसरे को ध्वस्त कर अपना अधिकार स्थापित कर अपने धर्म और आचार विचार का विस्तार बढ़ा चलता; फिर जहाँ कुछ दिन निर्द्वन्द्व भाव से सुख और शान्ति का भोग कर व्यसनशीलता में पड़ प्रमाद और अन्याय की अधिकता करता, दूसरे दल को उसके निर्मूल करने का उत्साह होने लगता; क्रमशः उसकी पुष्टि हो चलती और वही दूसरे के विजय का कारण होती। इसी से कभी देवता जीते तो कभी दैत्य, कभी आर्य्य तो कभी राक्षस, अथवा कभी वैदिक तो कभी बौद्ध; तौभी यह सब प्रतिद्वन्द्विता स्वदेशी ही थी।

किन्तु विदेशियों का आक्रमण तो यहाँ केवल धन-लोभ और राज्य-लालसा ही के कारण होता रहा। यद्यपि भिन्न धर्मियों के आने में प्रायः धर्म द्वेष के कारण भी रक्तपात हुआ, और कभी २ कदाचित् लोग जो उनके धर्म को स्वीकार कर लेते, तो जब यहां फिर कोई प्रतापी उत्पन्न होता, उस धर्मा-

न्धकार को दूर कर देता। स्वदेशी जेता से जो विदेशी पलायित होते और जो कहीं न जाकर यहीं रहते, वे अपने आचार विचार और धर्म विश्वास को छोड़ जेता के अनुगामी हो जाते थे। योंही स्वदेशी विरुद्ध दल को भी परास्त कर विजयी दल अपने आंशिक धर्म और आचार विचार को अकस्मात् स्वीकार करा उनके पूर्व धार्मिक और आचार विचार के स्वरूप को ऐसा परिवर्तित कर देता कि थोड़े दिन पीछे उनमें कुछ भी विभिन्नता शेष न रहती। अतः यद्यपि देश विजय के साथ ही साथ धर्म का अधिकार भी स्वयमेव प्रबल और शिथिल होता रहा, तौ भी आर्य्यों के प्रतापादित्य के प्रखर प्रकाश के समय न केवल भारत समीपस्थ देश मात्र, वरञ्च दूर दूर के द्वीपों में भी प्रायः भारतीय धर्म ही का अधिकार अटल रहने से प्रथम विदेशियों के आने पर भी प्रायः धर्म्म में विशेष उलटफेर नहीं होता था।

किन्तु पश्चिमीय देशों में खृष्टीय धर्म के प्रचरित होने के पश्चात् मुहम्मदीय मत की सृष्टि के साथ ही साथ उसके प्रचार के व्याज, धन लोभ और राज्य विस्तार-लालसा के वश उसके अनुयायियों के आक्रमण जो चारों ओर होने लगे, संसार में एक विचित्र उलटफेर के कारण हुए। क्योंकि यह लोग जिस दशा में जय-लाभ करते, निज धर्म को भी साथ ही बलात् स्थापन कर चलते किन्तु जब जहीं राज्य च्युत होते अपने धर्म को प्रायः निर्मूल होते देखते रहे क्योंकि फिर देश विजयी स्वदेशी राज-मान्य धर्म प्रचरित हो जाता। किन्तु दुर्भाग्यवश भारत में वह दशा न हो सकी। यद्यपि यहाँ का धर्म स्वाभाविक सत्य और ठोस था, उसके अनुयायी प्राणपण पूर्वक उसको स्थित रखने के अति आग्रही थे, सुतराम् वह उस सार शून्य धर्म को नितांत परवश होने पर भी स्वीकार करने में सम्मत न होते, तौभी बहुतेरे बलात् आचार भ्रष्ट होने से निज प्राचीन सत्य धर्म से च्युत हो इस नवीन विरुद्ध धर्म के अनुयायी होकर कुछ दिनों में उसी दल में परगणित हो कट्टर मुहम्मदी हो गये। शोक है कि इधर कोई स्वदेशी प्रतापी राजा और धर्माचार्य्य के न होने से इसका कुछ प्रतीकार भी न हो सका। फिर आर्यों में आचार भ्रष्ट को कदापि अपने समाज में सम्मिलित करने और उनसे नितान्त घृणा का व्यवहार रखने में उनकी संख्या दिन दूनी और रात चौगनी बृद्धि करती रही जिससे आज इस देश में पञ्चमांश संख्या केवल मुहम्मदियों की होगई है। यदि मुगलों के राज्य के समाप्त पश्चात् यहाँ आर्य्यवंशीय साम्राज्य सुदृढ़ रूपसे कुछ दिनों स्थापित रह गया होता और साथही कोई

दूरदर्शी उच्चाशय धर्माचार्य्य उत्पन्न हुआ होता; कदाचित् यह प्रतिपक्षी दल कभी का निःशेष हो गया होता अथवा नाम मात्र अवशिष्ट रहता; परन्तु ऐसा न हो एक तृतीय विदेशी भिन्न धर्म्मी के राज्य होने से आज यहाँ की प्रजा के दो दल बन गए, जो देश के दुर्भाग्य का एक नवीन कारण हो गया है।

मुसल्मानी राज्य में राजा और प्रजा के दो ही धार्मिक वा जातीय दल थे, जिन दोनों में प्रायः धार्मिक झगड़े होते और कभी कभी मुसलमान राजा के हाथ पड़कर कुछ प्रजा बलात् मुसलमान बना दी जाती थी, तौभी प्रजा का समूह अति वृहत होने से यह उसके सामर्थ्य से सर्वथा बाहर था कि वह देश भर के विश्वास के विरुद्ध बल प्रयोग कर सब को अपना धर्म स्वीकार कराता। अवश्य ही द्रव्य के लोभ से वा अनेक बलात् बने मुसलमान अपने नये धार्मिक व्यवहार के करने में बाध्य रहते थे, तथापि उनके उस मार्ग पर चिर दिन पर्य्यन्त स्थित रहने का मुख्य कारण केवल किसी प्रकार से भी अपने पूर्व धर्म सम्प्रदाय में प्रवेश की निराशा ही थी; जो आज भी लाखों नवीन बने मुसलमानों को उनके पाले धर्म के प्रतिपालन का हेतु है। आज भी यदि कोई मनुष्य एक मुसलमानी स्त्री के प्रेम में पड़कर उसके साथ खाना खा ले, तो फिर वह किसी प्रकार हिन्दू नहीं हो सकता। बस इसी एक अड़चन से नित्य हमारी जाति की संख्या घट रही है; जिस कारण सम्भव है कि किसी दिन इसका मूल नाश हो जाय।

अब किञ्चित सोचिये कि यह कैसे अनर्थ की बात है। वास्तव में यदि एक बार धर्म च्युत होने वा आचार भ्रष्ट हो जाने से पुनः हमारे धर्म में आने का कोई उपाय ही न होता, तो आज कदाचित् भारत में आर्य्य जाति वा सनातन धर्म का नाम भी न बचा रहता। किन्तु हाँ जगद्गुरु भगवान शङ्कराचार्य और महाराज विक्रमादित्य के से सम्राट के बिना वह आज असम्भव ही हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले समय गुरु नानक अथवा गुरु गोविन्द सिंह, वा राजा राम मोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती सरीखे उदार दूरदर्शी धर्म्माचार्य्यों ने इस पर कुछ ध्यान दिया। परन्तु उन सब का प्रयत्न केवल अपने प्राचीन वा नवीन धर्मानुयायियों की संख्या ह्रास की रक्षा ही करने में समर्थ हुआ न विशेष संख्या वृद्धि में सहायक हो सका। क्योंकि यह लोग अपने पुराने धर्मानुयायियों में से केवल कुछ लोगों को अपने उपदेश से अलग कर समय के अनुसार ऐसा बना सके जिन पर विधर्मियों का आक्रमण व्यर्थ हो। उनमें किसी ने केवल विधर्मियों को उनके धर्म विश्वासान्ध-

कार को दूर कर सद्धर्म्म के उजेले में लाने का विशेष उद्योग नहीं किया, नहीं तो मुहम्मदीय-धर्म्म जिस के मूल सिद्धान्त बहुत ही कच्चे और निरे चर हैं भारतीय धर्म के समक्ष कब ठहर सकता। परन्तु यहां तो लोग उन्हें अस्पृश्य और अभाष्य मान उनसे उपेक्षा ही करते रहे। उन्होंने जैसे अपने वीरदर्प से शत्रुओं की उपेक्षा करते करते हीनबल हो परवशता की बेड़ी पहन ली, धार्मिक अभिमान से प्रमत्त हो अधर्म के भी प्रवर्तक हुए और अपने धर्म-द्रोहियों की इतनी संख्या बृद्धि कर दी, कि नित्य उनके हाथों आज धर्म का संहार देख यद्यपि परवश पड़े रोते, तौभी उसके मूल कारण का प्रतीकार करने में आनाकानी करते हैं। यह अपने आस्तीनों में साँप पालकर निश्चिन्त पड़े सोते, तौभी अद्यापि उनके कानों पर जूँ नहीं रेंगते।

हमारे इसी प्रान्त और इसी नगर के दक्षिण पार्श्व में चिन्तामनपुर आदि ग्राम हैं। वहाँ शाही जमाने के मुसलमान हुए क्षत्री लोग बसते हैं। जो न तो मुसलमानों का हुक्का पीते, न गोवध करते, न गोमास खाते हैं। व्याह शादियों में भी पण्डित ही पुरोहित से काम लेते और अधिकांश रीति रस्म उनमें अभी तक पुरानी हिन्दुस्तानी ही बरती जाती है। परन्तु अद्यापि किसी हिन्दू समाज, सनातना आर्य्य सिख, दयानन्दीय समाज वा ब्रह्म समाज की ओर से कुछ भी कभी उद्योग न हुआ कि वे किसी प्रकार के तो हिन्दू फिर बना लिये जाते। यहाँ तो "मद्योच्छिष्टघटम् यथा" त्याज्य कह ही कर लोग सन्तुष्ट होने वाले हैं, चाहे उन्हीं के हाथों अपनी कैसी ही नैतिक, सामाजिक और धार्मिक हानि क्यों न उठायें।

अस्तु, अब भी बिना विलम्ब के हमको चाहिये कि हम अपने विधर्म्मी शत्रुओं से धर्म विजय पाने के अर्थ अपनी चतुरंगिनी सेना को संवार और सुधारकर उनमें ऐक्य और उत्साह को बढ़ाते हुए धर्म्म युद्ध के लिए सन्नद्ध हो ब्रह्म समाज रूपी सफ़र मैंना को उस कुपथ को स्वच्छ करने के अर्थ आगे बढ़ायें। सिक्खों की सम्प्रदाय के तोपखाने को प्रस्थानित करें। भगवद्भक्ति रणवाद्य बजाते, विजय वैजयन्ती उड़ाते अनेक वैष्णवादि वैरागी-वालेण्टियरों को बढ़ाते, दयानन्दीय समाजियों की पदातिक सेना को उनपर तर्कशस्त्र घात का आदेश दें एवम् सनातन धर्म्मी अश्वारोहियों को उनके पीछे चलाते, कर्म ज्ञान, उपासनादि सद्धर्मोपदेश रूपी नाना प्रकार के गोले बरसाते विरुद्ध धर्मियों के मिथ्या विश्वास दुर्ग को तोड़कर भारत में केवल भारतीय धर्म का एकछत्र राज्य स्थापन करें। हमारे जिन शस्त्रों से आज यूरोप और अमेरिका

के वैज्ञानिक वीर हार रहे हैं यह काठ की कृपाणधारी बाल सेना उनकी चोट सहकर कब खड़ी रह सकती है।

यह उद्योग हमें केवल उपकार बुद्धि से, केवल भूलों को ठीक राह पर लाने के अभिप्राय से करना चाहिये, कदापि द्वेष बुद्धि से नहीं। क्योंकि हमारा धर्म किसी से द्वेष करने की आज्ञा नहीं देता। हां जो हमसे द्वेष करते हैं उनसे उस द्वेष को दूर कराना हमारा कर्तव्य अवश्य है। एवम् देश में व्यर्थ द्वेश को हटाने का उपाय भी अवश्य ही करना चाहिये। यद्यपि यह द्वेष उस जाति का मूल धन है अतएव इसका दूर होना तबी सम्भव है, कि जब उनके चित्त में पूर्ण रीत्या यह विश्वास हो जाय कि ईश्वर की उपासना और भक्ति ही केवल कल्याण का हेतु है दया, दम, दान, क्षमा सत्य आदि ही धर्म के मुख्य अंग हैं। दंभ, द्वेष और हिंसा आदि उत्कट अधर्म हैं एवम् मनुष्य के आदेश तभी माननीय हैं, कि जब उसे अपनी अन्तरात्मा निर्विवाद रूप से स्वीकार करे। केवल किसी के इस कह देने से कि "यह हुक्मे खुदा है" नहीं मान लेना चाहिये।

अस्तु, सम्प्रति कितने ही मुसलमान हिन्दू देवी देवताओं को भी पूजते हैं कितने ही उनमें मुसलमानी असद्व्यवहार से घृणा करते हुए अनेक हमारी रीतियों का पालन करते हैं। फिर क्या उनसे अन्य विरुद्धाचारी मुसलमानों सा हमें व्यवहार रखना चाहिये। नहीं, जब एक विधर्मी बड़ी भारी सम्प्रदाय हमारे देश में आ बसी, वा बनी है, तब हमें उनके साथ कुछ भातृभाव और मेल बढ़ाना ही चाहिये, उनमे जितने विशेष शुद्ध आचार व्यहार में हैं हमें उन्हें उतना ही अधिक आदर देना चाहिये।

आगे सब प्रकार के विवादों का निबटेरा केवल कृपाण के द्वारा हो जाता था, जो जिससे प्रबल होता, वह उसे परास्त कर मनमाना कृत्य करा लेता था। किन्तु अब समय दूसरा उपस्थित हुआ है, हिन्दू और मुसलमान एक तीसरे भिन्न-धर्मी राजा की प्रजा हैं। देश की समस्त प्रजा की पुकार ही में देश का इष्ट साधन होता है। परन्तु अब एक राजा की एक जातीय प्रजा के स्थान पर दो जाति की प्रजा होने से दोनों के परस्पर विवाद और विद्वेष के कारण प्रजा की शक्ति अत्यन्त निर्बल है। इसी से देश के सुशिक्षित शुभचिन्तक अग्रगण्यों को अब दोनों में विशेष एकता उत्पन्न करने के बिना देश की हीन दशा दूर होने की आशा नहीं है। सुतराम् अब लोग इसके लिये विशेष चेष्टित होते दिखाते हैं।

निःसन्देह अंगरेज़ी राज्य के आरम्भ होने के आगे और बहुत दिन पीछे पर्यन्त भी परस्पर हिंदू और मुसलमान प्रजाओं में बन्धुभाव स्थापित था। राजा का जाति होने पर भी मुसलमान यह समझते थे कि अब यही हमारा देश है, यहाँ के सबी निवासी हमारे भाई हैं। इन्हीं से मिल कर रहने में हमें सब प्रकार का सुख और सहायता मिल सकती है, एवम् विरोध से विरुद्ध फल मिलेगा और केवल धार्मिक विभेद के अतिरिक्त और किसी प्रकार की हम लोगों में भिन्नता भी नहीं है। हाँ, अनेक मुसलमानी बादशाह नव्वाब और सूबेदार वा उनके राजकर्मचारी जो केवल मिथ्या धार्मिक विश्वासान्ध होते अवश्य मुसलमान प्रजाओं का विशेष पक्ष करते और हिन्दुओं को दबाते थे। किन्तु वह केवल राजशक्ति ही के सहारे जैसा कि आज दिन भी सदैव यूरोपियनों के साथ भारतीयों को राजद्वार से नीचा देखना पड़ता है। किन्तु वृटिश राज्य स्थापित होने पर मुसलमानों को फिर कोई कारण ऐसा शेष न रहा कि जो धार्मिक उत्सवों को छोड़ हिन्दुओं से विवाद का हेतु हो। इसी से दोनों में इतना स्नेह बढ़ गया, कि जैसा ठीक परस्पर अपने समान धर्मियों से था। नित्य नैमित्तिक व्यवहार में वे दोनों दूध और चीनी से मिल चले थे। मुसलमान हिन्दुओं से मिलकर होली खेलने और परस्पर गाली देने, और सुनने, हिन्दू मुहर्रम में रोने और छाती पीटने लगे। मुसलमानों के यहाँ होली और हिन्दुओं के घर मुहर्रम की मजलिसें होने लगीं वे उनके घर यदि ईद मिलने जाने लगे, तो ये होली और दशमी में उनसे गले मिलने आने लगे। दोनों धर्म वाले अपने भिन्न धर्मी मित्रों की बहू बेटियों के साथ निज की बहू बेटियों के समान बुद्धि और व्यवहार रखने लगे। परस्पर विधर्मी भाई, भतीजे, भाभी, दादी और चाची भी बन गई, उनमें ऐसा शुद्ध प्रेम बढ़ा कि केवल श्मश्रु और शिखा के अतिरिक्त और कोई भेद न रहा, दोनों दल के लोग परस्पर एक दूसरे की शादी और ग़मी में सगे भाई से सम्मिलित होने लगे। अब बुद्धिमान जन स्वयम् अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे मेल के संग रहनेवाली भिन्न जातीय प्रजा के रहने से भी देश को क्या हानि हो सकती है? क्योंकि इनका होना भी ठीक वैसा ही था, जैसा इस देश में बौद्ध, जैनी, वा वैष्णव और शाक्तों का परन्तु प्रजा में ऐसा एका एक तीसरे भिन्नधर्मी, विदेशी राजा के अनेक कूट नीति विशारद प्रधान राज कर्मचारियों की दृष्टि में उनके स्वेच्छाचारपूर्ण शासन में कदाचित् कुछ बाधक प्रतीत होने लगा। अंगरेज़ों में एक कहावत है कि "फूट उपजाओ

और शासन करो !" कदाचित् इसी नीति से सरकार ने अपनी सेवा के अर्थ हिंदू और मुसलमनों की नियुक्ति में एक प्रकार के न्यूनाधिक्य का ऐसा पचड़ा फैलाया, कि बहुतेरे लोभान्ध अर्थ पिशाच उसी का ढंढोरा पीट पीटकर अपनी उदर पूर्ति के लिए अच्छा उपाय देख निज भोले भाईयों को बहका चले। अवश्य ही ऐसे खुशामदी टट्टुओं ने इस रीति कुछ कुछ अपना स्वार्थ भी साधन किया, परन्तु साथ ही उन्होंने निज देश तथा जातीय बन्धुओं की अपरिमित हानि कर डाली।

वे मुसलमानों को समझा चले कि "हिन्दुओं को प्रजा के राजनैतिक स्वत्व माँगने दो, उनके उद्योग से भारत को जो राजनैतिक अधिकार मिलेगा, उसमें तो हम उनके संग स्वतः लाभवान होंगे किन्तु प्रकाशतः हिंदुओं के राजनैतिक आन्दोलन से विरोध प्रकट करते हुए मिथ्या शुश्रूषा कर इधर कुछ अनुचित लाभ को भी ले चलो। फिर हमारा अन्याय ही में कल्याण भी है, क्योंकि न्यायतः तो हम केवल पञ्चमांश सेवा प्राप्ति के भागी हैं। राजकर्म्मचारियों की मिथ्या शुश्रूषा के बल से हम सर्कारी सेवा में आधे से भी अधिक भाग को ले मरेंगे।" अधिकांश अदूरदर्शी मुसलमान इस पर ढल भी गये। उन्होंने यह कुछ न समझा कि देश और जाति को केवल सेवा के अतिरिक्त अन्य अनेक स्वत्वों का भी आवश्यकता है। निदान बीस वर्ष पीछे अब उनको अपनी उस मोह-निद्रा से चौंकने का अवसर मिला है। बहुतेरे लोगों को अपने उन अग्रगण्यों की कुनीति की हानियाँ कुछ सूझने लगी हैं। अलीगढ़ में जिसे वास्तव में अलीगढ़ अथवा अरब का बच्चा ही कहना चाहिये और जहां से प्रथम ही इस अन्धी-नीति का प्रचार हुआ था, जहां कि "मुहामिडन ऐंग्लो ओरियण्टल कालेज" रूप नये सर सैय्यदी साँचे के मुसलमान ढालने की टकसाल खुली है; जिससे आजकल के नीम अँगरेजी ढाँचे के मुसलमान उस प्रान्त में अपने को मुसलमान जाति का भावी आदर्श बतलाते हैं, उनके नेता और अग्रगण्यों ने भी सम्प्रति मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, कि अब हिन्दुओं से मिलकर हमें भी राजनैतिक अन्दोलन में स्वार्थ लेना चाहिए। यद्यपि सुयोग्य दूरदर्शी मुसलमानों का यह मत बहुत आगे से ही था, किन्तु देश के दुर्भाग्य से उनका विशेष भाग अपने नैसर्गिक दुराग्रह और अनुचित लाभ लोभ का वशवर्ती हो अब तक इसके विरुद्ध अड़ा रहा।

अस्तु, यह अवश्य ही हर्ष का विषय है कि अब हमारे मुसलमान

भाइयों का भी भ्रम दूर हो चला है, स्वदेशी अन्दोलन के कारण उन्हें यह ज्ञात हो गया है कि हमारे उद्योगों का फल यदि हमें न्यून, तो उन्हें अधिक लाभदायक है। कदाचित् कुछ दिनों में उन्हें यह भी निश्चय हो जाय कि देश के कल्याण के लिये प्रजा का परस्पर विरोध अति हानिकारक है। क्योंकि जैसे किसी गाड़ी के एक पहिये के टूट जाने से वह नहीं चल सकती, जोड़ी के एक घोड़े वा बैल के विरुद्ध गति अवलम्बन से उसकी दशा बिगड़ती, वैसे ही किसी देश की दो जाति की प्रजाओं का परस्पर विरोध उसकी उन्नति का बाधक है। हमारे और मुसल्मानों के अब कोई द्वेष का कारण भी नहीं है और राजनैतिक विषयों में विरोध, तो केवल मूर्खता है कि जो अनुभव द्वारा दूर हो रही है। रहा, धार्मिक विरोध उसके समूल दूर होने का उपाय हम ऊपर कह चुके हैं। किन्तु वह विलम्ब और कष्ट साध्य है। इसके अतिरिक्त यदि परस्पर सहानुभूति की वृद्धि हो जाय तो धार्मिक विरोध रह कर भी विशेष हानिप्रद नहीं हो सकता। इसी से हमें यथाशक्ति परस्पर विरोध के घटाने का उद्योग करना चाहिये। जहां तक हम देखते हैं वर्ष में केवल दो अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं कि जो हम लोगों में द्वेष उत्पन्न कराने के हेतु हैं अर्थात् एक हिन्दू त्योहारों के समय मुहर्रम का आना और दूसरा उनका बकरीद पर गोहत्या करना। इसमें मुहर्रम के अवसर पर तो सब प्रकार से हमको उनके कथन का पालन करना चाहिये, क्योंकि उसमें जो हमारी धार्मिक हानि भी होती, वह किसी प्रकार सह्य है। हां बकरीद का अवसर अवश्य ही हमारे लिये अति संकट का है इसमें हमें उनसे क्षमा याञ्चा करनी चाहिये और उन्हें भी इसमें हमें अनुगृहीत करना चाहिये। क्योंकि उनके धर्म के अनुसार उसमें केवल ऊँट, दुम्बा और बकरों की कुर्बानी उचित है। यद्यपि कुर्बानी करना सब के लिये अति आवश्यक भी नहीं है, जो कि उनके शास्त्र से प्रमाणित है। फिर इस देश की कृषि का कार्य्य गोवंश ही के सहारे चलता है और हिंदू मुसलमान उसी के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अतः उसके वध से जो हानि होती है, उसे सब समझ सकते हैं। इसी से अनेक मुसलमान सज्जन भी इसे वैसा ही निकृष्ट समझते कि जैसा हम लोग समझते हैं! सुतराम् उन्हें न केवल परस्पर विरोध शान्त्यर्थ वरञ्च देश रक्षार्थ गोवध का त्याग करना उचित है। योंही हम लोगों को भी यथाशक्ति उस अवसर पर विरोध और उपद्रव को बचाना ही चाहिये। एवम् यथाशक्ति किसी अवसर पर कोई ऐसा कार्य्य न करना चाहिये कि जिससे

हमारी ओर उन्हे घृणा वा विरोध सूचित हो वरञ्च यदि वे अपने नैसर्गिक द्वेष और दुराग्रह मे कोई अनुचित व्यवहार भी करे तो यथाशक्त उपेक्षा और क्षमा करना चाहिये। क्योकि यदि हमारा भाई कुछ अन्याय करता है तो उस पर यावत्सम्भव दया और क्षमा करना उचित है।

नि. सन्देह मुसलमानों मे दुराग्रह और स्वाभाविक द्वेष का अश अधिक होता है, जिसका एक छोटा सा टटका प्रमाण यह है कि बगाल मे जब लोगों ने "वन्देमातरम्" कहना आरम्भ किया, तो जो मुसलमान हिन्दुओं के सग जातीय उत्सव मे सम्मिलित हुए, इसके उच्चारण में रुकने लगे। अब कोई विचारवान् यह नही बतला सकता कि इसमे कौन सी धार्म्मिक हानि थी, किन्तु नही कुछ पार्थक्य होना ही उचित समझा गया। बुद्धिमानो ने उन्हीं सस्कृत शब्दों का पारसी उच्चारणानुसार उसी अर्थ से मिलता जुलता दूसरा पद "बन्देमादरम्" बनाया, जिसमे फिर कुछ भी आपत्ति का स्थान नहीं है। तौ भी यह अनुकरण उनको न जॅचा। वरञ्च उन्होंने "अल्ला. अकबर" पुकारना आरम्भ किया। पूछिये तो, कि यह क्या मसजिद की नमाज है? ईश्वर के पवित्र नाम को भक्ति से लेना चाहिये, जिसके लिये अनेक अवसर हैं। यहा इसका क्या काम? क्या आश्चर्य्य कि यदि अब किसी सभा मे हिन्दू ताली पाटे तो मुसलमान छाती वा सिर पीटना उचित समझे। अस्तु क्या किया जाय, दुराग्रह से क्या चारा है, नही तो काशी काग्रस के अवसर पर हमने मि० अली मुहम्मद भीम जी महाशय को "वन्देमातरम्" मडली की यात्रा निकालते और उन्हे अति उच्च स्वर से 'वन्देमातरम्', कहते सुना है। अस्तु, जो हो, हमे अपने भूले भाइयों को येनकेन प्रकारेण सॅभाल कर अपने देश, अपने और उनके हित का साधन अवश्य करना चाहिये।

गत बरीसाल की जातीय समिति के सभापति मि० रसूल ने अपने मुसलमान भाइयों के विषय मे कहा था, कि—"देश के राजनैतिक आन्दोलन से अलग रह कर उन्होंने अपने को बड़ी मुश्किल मे डाल दिया है। उन्हे अपने नफा नुकसान की कुछ भी खबर नही। जो लोग उनके नेता बने हुए हैं, उन्हीं की कृपा से मुसलमानों की ऐसी दुर्गति हुई है। जाति की भलाई का खयाल छोड केवल स्वार्थ के लिए वह सरकार की खुशामद करते हैं। उन्होंने अपने जातीय भाइयों को पट्टी पढा दी है कि 'देश के राजनैतिक मुआमलों से तुम्हे कुछ मतलब नहीं। तुम उन झगडों मे मत फँसो। यदि तुम सरकार की राय के विरुद्ध चले तो याद रखना एक भी सरकारी नौकरी न

मिलेगी।' नेताओं की ऐसी बातें उचित हैं, या अनुचित, इसका खयाल मुसलमानों ने कभी नहीं किया। इसी कारण वह जहां गिरे, वहीं पड़े हैं। अपनी ऐसी दशा के कारण वह जहां घुसे, उनकी बेक़दरी हुई, वहीं उन्हें शर्मिन्दा होना पड़ा। यदि हम अपना बुद्धि से काम लिये होते, नेताओं पर भरोसा न किए होते, तो उनकी बातों का मर्म हम पहिले ही समझ जाते।"

"हमें सदा यही सिखाया गया, कि 'हिन्दू अराज-भक्त प्रजा हैं उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।' ईश्वर करे अब भी हमारी आंखें खुलें, हम देखें कि हमने अपनी पालिसी में और हिन्दुओं ने अपनी पालिसी में क्या लाभ उठाया। सरकार या हमारे नेता चाहे कुछ कहें, हम हिन्दुओं से अलग नहीं हो सकते। बुरे या भले के लिए हमारा उनका चोली दामन का साथ है। हम दोनों एकही मातृभूमि के पुत्र हैं। धर्म्म सम्बन्धी मुआमलों में हम और चीन या ज़ंज़िबार के मुसलमान एक हो सकते हैं। पर राजनैतिक मुआमलों में क्या हिन्दू और क्या मुसलमान या ईसाई सब एकही नाव में सवार हैं। हमारे नेताओं ने हमारी आंखों पर ऐसी पट्टी बांध दी है कि इतनी सीधी बात भी हम नहीं समझ सकते।"

"बीस वर्ष पहिले जब कांग्रेस का आन्दोलन उठा, हम जान बूझ कर हिन्दुओं से अलग रहे, केवल इसलिये कि हमें अच्छी अच्छी नौकरियां मिलेंगी। पर क्या ऐसा हुआ? नहीं, हम तो दिन दिन गिरते ही रहे और हिन्दू बराबर उन्नति करते रहे। अंग्रेजों में चाहे कुछ भी ऐब हो, पर क़दर शनासी का उनमें बहुत बड़ा गुण है। निष्पक्ष और निडर होकर आलोचना करने के लिए वह हिन्दुओं की बहुत इज्ज़त करते हैं। पर हमसे वह दिल से घृणा करते हैं। केवल इसलिए कि हम बड़े खुशामदी और राजनैतिक मुआमलों में बोदे हैं। हम समझते थे कि हमारे हिंदुओं से अलग रहने के कारण सरकार हमसे खुश होगी। उसके हर विभाग में हमी हम होंगे। पर क्या ऐसा हुआ? कलकत्ता हाईकोर्ट में इस समय तीन हिन्दू जज हैं, पर मुसलमान एक भी नहीं। क्या कलकत्ते के मुसलमान वकील बारिस्टरों में एक भी जज बनाये जाने योग्य नहीं था? यदि नहीं था, तो क्या मुसलमानों का दिल बढ़ाने के लिए सरकार इलाहाबाद या लाहौर के मुसलमान वकील या बारिस्टरों में से किसी को जज नहीं बना सकती थी? पर ऐसा न हुआ। हमारे नेताओं की बदौलत ही हर विभाग में हम अयोग्य समझे जाते हैं। कारण इसका यह भी है कि न तो मुसलमानों में एका है और न उनको कोई राय

है। हम यदि चाहते हैं कि हमारी बात सुनी और पूछी जाय, तो हमें चाहिये कि अपने नेताओं की सीख भूल जायँ, स्वयम् विचारें, स्वयम् अपनी भलाई बुराई का ध्यान रक्खें।"

"सरकारी रियायतों पर विश्वास रख कर उन्होंने लिखना पढ़ना नहीं सीखा। वह समझते थे, कि हमें इसकी कोई जरूरत नहीं। बेपढ़े ही सरकार हमें नौकरियां देगी। पर यह उनकी बड़ी भूल है। अब स्वदेशी आन्दोलन लीजिये इसकी बाबत भी पूर्वोक्त नेताओं ने मुसलमानों को सुझाया, कि "वास्तव में यह हिन्दू मात्र का आन्दोलन है और राज भक्ति के विरुद्ध है।" इस मुआमले में भी यदि मुसलमान स्वयम् विचार करके देखते, तो उन नेताओं पर विश्वास न करते। क्योंकि उन्हें मालूम हो जाता कि हिन्दुओं से अधिक मुसलमानों ही का इसमें लाभ है। कोई मुसलमान जिसे ईश्वर ने जरा भी बुद्धि दी है क्या इस बात से इनकार कर सकता है कि समस्त देश के जुलाहों को इस आन्दोलन से लाभ नहीं पहुँचा? क्या कलकत्ते के भूखे मरते ग़रीब मुसलमानों को बीड़ी बनाने से रोटी का सहारा नहीं हो गया? अधिक शिक्षित होने के कारण हिन्दू मुसलमानों की अपेक्षा अधिक नौकरियां पा सकते हैं। तब विचारें अनपढ़े मुसलमानों का एक मात्र सहारा ऐसेही छोटे-छोटे व्यापार हैं। इन्हीं से वह अपने परिवार का पेट पाल सकते हैं। इस से स्पष्ट है कि स्वदेशी आन्दोलन से अधिक लाभ हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों ही को पहुँचेगा और पहुँचाया है। अतः मैं अपने मुसलमान भाइयों से प्रार्थना करता हूँ कि राजनैतिक मुआमलों से अलग रहना छोड़कर वह हिंदुओं से मिल जायें और सब मिलकर अपनी मातृभूमि की भलाई सोचें यदि सब मुसलमान यहाँ से अरब, ईरान या तुर्किस्तान चले जायँ तो और बात है, पर जब तक वह इस देश में रहें, उन्हें हिंदुओं से मिल करके चलना होगा। राजनैतिक विषयों में इन दोनों का एक ही उद्देश्य होगा। हमारे हाकिम जैसी हुकूमत आज कल करने लगे हैं, उसका कारण यही है कि हम में फूट है। एक मसल है—"एक रहेंगे जीयेंगे, अलग होंगे मरेंगे।" ठीक यही दशा हमारी है। यदि हम सब एक रहेंगे, सरकारी कर्मचारी हमारे शरीर और हृदय को गुलाम न बना सकेंगे। उनकी नव्वाबी और दबाव को हम अच्छी तरह रोक सकेंगे। यह सब जानते हैं कि इस समय बंगाल पर घनघोर घटा छा रही है। सब इससे विचलित हुए हैं। हमारे एक रहने से यह घटा [illegible] हो जायगी। कल आशङ्कायें जो हमें घेरे हुए हैं, गायब हो जायँगी।

और अन्त मे हम अपने बाद अपने बच्चो के लिये बगाल को कुछ और खुशहाल बनाकर छोड जावेंगे।”

निदान, अब वह समय है कि भारत की प्रजा मे दो दल अथवा कयी दल क्यों न हों, परन्तु उन्हें परस्पर का द्रोह और विरोध भूल करते हुए ऐक्य उत्पन्न कर आपस मे मिलकर देश के हित साधन मे सलग्न होना चाहिये। क्योंकि इसी कारण भारतवर्ष की ऐसी हीन और दीन दशा हुई है। और जब तक यह विरोध याही बना रहेगा इसके उद्धार का कोई उपाय न होगा। सुतराम् हिन्दू और मुसलमान दोनों दल को अब अपने अपने आग्रह को शिथिल करके परस्पर स्नेहवर्धन मे यत्नवान् होना चाहिये।

रंग की पिचकारी

"कवि वचन सुधा" के पीछे 'नागरी नीरद' ही ने होली का नम्बर निकाल लोगों को उसकी विधि बतलाई और प्रायः होलियों में वह अपना आरम्भ किया हुआ कर्तव्य करता ही जाता था। क्रमशः कलकतिये समाचार पत्र भी होली मनाने लगे; नहीं तो वे स्वदेशाचारानुसार प्रायः शारदीय पूजा ही में हँस लिया करते थे। यों देखादेखी जो लोग इधर होली में हँसने लगे, तो प्रायः निज योग्यतानुसार अपने पाठकों के मनोरञ्जन के हेतु भी होते रहे और अवश्य ही कोई-कोई उनमें कृतकार्य्य भी हो जाते थे। यद्यपि वह एक ही रंग में शराबोर न भी दिखलाते, तथापि उनमें कुछ सुहावने रंग की पिचकारी के छीटों से सुशोभित लखाते ही थे। किन्तु उन्हें देख कुछ लोगों ने बेरंग अथवा बेढंग रीति से भी रंग छिड़कना आरम्भ किया,—ठीक उसी भाँति, जैसे कि आज कल लोग अपने केशर, बक्कम, मजीठ व किंशुक और गुलाल के लाल और पीले रंग के स्थान पर विविध रंग की विलायती नीली हरी वा बेगनी रंग की बुकनी से बने विविध विरुद्ध रंगों को फेंक न केवल लोगों के वस्त्र ही बिगाड़ देते, वरञ्च देखनेवालों की दृष्टि को विरुद्ध दृश्य दिखला कर बेंत खाने के योग्य कार्य्य करते, योंहीं कोई किसी के मुहँ में बलात् कालिख लगा गले में लतड़ियों की माला पहना जूतियाँ खा जाते हैं। तद्रूप कई लोग चाहे किसी को अच्छा लगे वा नहीं, कुछ बेढंगी बातें बक देने ही में अपने को कृतकार्य्य मानते हैं! वास्तव में यह ठीक नहीं, इसी से ऐसों की दशा पर अगले कवियों ने कहा है कि—"होली खेलही न जानें, वह तो निपट अनारी!" सो यदि कोई अपने पत्र पाठकों को सुहाती हँसी ठिठोली से प्रसन्न कर सके, तो उसका होली मनाना सर्वथा उचित है, किन्तु व्यर्थ किसी का दिल दुखाने वा घृणा उत्पन्न कराने से कोई लाभ नहीं। युक्त रीति पर गाली देने में भी रस आता और अयुक्त रीति पर स्तुति भी बुरी लगती है। इसी से इसमें इसका ध्यान रखना अत्यन्तावश्यक है कि जिसमें किसी को हँसी के स्थान पर रुलाई न आए। योंही जैसे लोग कालिख आदि के व्यवहार से किसी को कष्ट पहुँचाने ही के अर्थ होली के आने की प्रतीक्षा

करते, वैसेही कुछ लोग इसी ब्याज से कुछ मर्मस्पर्शी बातें कहकर किसी किसी से दूसरी कसर निकालने ही के लिये व्यर्थ उटपटांग बातें बक चलते हैं कि जो सर्वथा अयोग्य है। कुछ लोग अब एप्रिल फूल के भी फूल बनते हुए वास्तव में अपने को फूल प्रमाणित करते हैं। क्योंकि होली-फूल जब एप्रिल फूल का परदादा हई है तो क्यों वह हिन्दू होकर व्यर्थ क्रिस्तानों के मेल में मिलने का प्रयत्न करते हैं!

इस वर्ष भी कुछ लोगों ने होली मनाई और किसी किसी से कुछ ठिकाने से बोली ठोली बोलते भी बन आई। जहाँ कुछ कचाई है उसके अर्थ आगामि में सुघड़ई लखाई जाने पर ध्यान रहे, व्यर्थ की ढिठाई से हँसाई कराना ठीक नहीं। क्योंकि इस बार भी देखा कि कई लोगों ने कैयों पर अयोग्य आक्रमण किये जो अनुचित थे। समान श्रेणी में भी सम्भ्रान्त के सम्भ्रम का विचार अवश्य है। गुलाल, बाप, भाई, बेटे और साले को भी लगाया जाता ही है, किन्तु सब को एक समान नहीं। वरञ्च उसमें भी भेद रहता है। बस, इसमें भी उसका ध्यान रखना चाहिये; नहीं तो केवल जलीकटी के आधिक्य से आनन्द के स्थान पर केवल रसाभास और वैमनस्य ही की वृद्धि सदा सुलभ है। यद्यपि इस बार कोई व्यक्ति विशेष इसका लक्ष्य नहीं है, बरञ्च केवल सामान्य भाव का रंग छिड़काव है; तौभी आशा है कि इस पिचकारी के छींटों से लोग चैतन्य हो जायंगे।

लाल गुलाल तो मानों होली वा फागुन का प्राण है क्योंकि इसकी शोभा का हेतु है। अवश्य ही गडडामियरी पौशाक पहिनने वाले बहुतेरे अंगरेजीबाज साँवले साहिब लोग इसका लगवाना मानों अपने मूँ में कालिख लगवाने से कम नहीं जानते, किन्तु हम उन्हें आर्य्य सन्तान ही नहीं मानते, इसी से उन्हें केवल संसार का कूड़ा करकट समझ होलिकानल में झोंक देना मात्र ही इति कर्तव्य समझते। नहीं तो जो इस वर्षान्त में हर्षोच्छलित मन बनानेवाले, स्वाभाविक मानव मात्र को आनन्द विह्वल वा प्रेमोन्मत्त करने वाले वसन्तोत्सव के शुभ अवसर पर भगवान् पुष्पधन्वा पञ्चायुध के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अपने इष्ट मित्रों के गालों पर लाल गुलाल न मले अथवा उसे वारण करे तो किसी कवि के कथनानुसार उसे इसी पद्य का सम्बोधन उचित है कि—"नाहक तू जन्म लीन्यो मूरख अवनि महिं, बूड़ि क्यों न गयो उल्लू चुल्लू भर पानी में।" सुतराम् हम इस होली के हौस में भर अपने सुहृद सहयोगियों और प्रिय पाठकगण के गाल लाल

किये बिना नहीं रह सकते और हँसकर उन्हें प्रेमालिङ्गन किये बिना नहीं मान सकते। अवश्य ही वे बहुत दूर पड़े हैं, किन्तु मन उनसे वहीं मिलकर इन कार्य्यों के करने में समर्थ है, अतः वह अपना कार्य्य कर अपराध की क्षमा चाहता है।

हमारा होली का त्योहार हँसी ठठोली, बोली ठोली और गाली गलौज के अर्थ भी विख्यात है। वास्तव में हर्ष का चिन्ह भी यही है, आनन्द मनाने का नियम भी यही है और सच पूछिये तो इस होलिकोत्सव का वास्तविक सत्कार भी यही है। हाँ, अवसर और पात्र तथा उसके प्रयोग के प्रकार का विचार अवश्य है; क्योंकि इसके विरुद्धाचरण से फल विपरीत होता है। सो सहृदय पाठकों की कृपा से होली बीत जाने पर भी उसका अवसर उपस्थित है, अब पात्र का विवेक मात्र और सापेक्ष्य है। पात्र हमारे प्रिय पाठकों से बढ़ कर कोई मिलता कब है। मिले भी तो उसकी इतनी प्रतिष्ठा कहाँ कि वह इस सत्कार का भागी हो सके। इसी से अब हम उन पात्रों के तीन भेद कर अर्थात् पात्र, सुपात्र और कुपात्र तीनों के अर्थ अलग-अलग यथा योग्य तीनों सत्कार का प्रयोग करके होली मनाने का प्रयत्न करेंगे।

लोग तीन का नाम सुन चौंकेंगे कि "भाई! यह तीन कैसा? नहीं नहीं डरने की कुछ बात नहीं है। हम अपने ग्राहकों के तीन भेद कर उनके अर्थ होली के तीनों सत्कार का प्रयोग करेंगे। जैसे कि एक सामान्य सुपात्र कि जिन्हें कुछ परलोक में यमदंड और इस लोक में उपहास का भय है, इस पत्रिका पर यथार्थ अनुराग के कारण जिन्होंने कादम्बिनी का यदि सब नहीं तो कुछ मूल्य दिया है; उनको हम सामान्य बोली ठोली ही से सत्कार करते हैं और वह केवल एकमात्र कि—कृपाकर निज कृपा विस्तार पूर्वक अब शीघ्र मूल्य दे दीजिये और हमारा अनन्त धन्यवाद ग्रहण कीजिये। दूसरे श्रेणी के पात्र हमारे वे बेखबर पत्र पाठक कि जो पत्र तो जब मिला खोलकर अपने मनोरञ्जन में प्रवृत्त हुए, किन्तु दाम देने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। कदाचित् उनमें कुछ लोगों के ध्यान में—यदि कभी कुछ मूल्य देना पड़ेगा—समाता भी होगी, तो तबी कि जब उन पर कठिन चाँप चढ़े, क्योंकि सामान्य सूचना वा कार्डों का पचा जाना तो उनके अर्थ सदा सुलभ है। अतः उनकी सेवा में द्वितीय श्रेणी का सत्कार समर्पण कर हम यह प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर के निहोरे कुछ धर्म का भय भी विचार अब मूल्य भेजने की दया दिखायें और हमें अनुगृहीत बनायें तथा अधिक न सतायें। हम पत्रों से अधिक खोद विनोद

न कर केवल इसी कटु बचनों द्वारा उन से छेड़खानी कर कृतकृत्य होने की आशा रखते हैं। आशा है कि वे तृतीय श्रेणी के प्रवेश से डरकर उदारता का परिचय देंगे। रहे वे जो ईश्वर ही के घर से तृतीय सत्कार गाली गलौज के पात्र वा कुपात्र हैं, उनकी तो कथा ही अकथ है। वे सदैव लज्जा का पट उलट बेसुध औंधे पड़े रहनेवाले, पत्रों के निवाले निगलते ही चले जाते नहीं अघाते और डकारते तक नहीं, सदैव पराये पत्र पत्रिका को निज पिता की सम्पत्ति समझते दाम के नाम की भी चिन्ता चित्त में नहीं लाते। कितने ही तक़ाज़ों के पत्र और कार्ड नित्य जिनके रद्दीदान में पड़े सड़ा करते और वे कहीं ऐ कुछ भी कान पूँछ नहीं हिलाते! बहुतेरे उनमें ऐसे भी नर पिशाच देखने में आते कि जो पाँच वर्ष पर्य्यन्त निरन्तर पत्रिका पढ़ वेल्यूपेएबिल पार्सल के मूल्य देने से मुकर कर अधिक हानि के घलुये दिलाने के भी कारण होते। तब सिवाय सौ गाली को छोड़ वे अन्य और किस सत्कार के पात्र हैं और उन्हें छोड़ तीसरे का स्वत्व किसे पहुँच सकता है? सुतराम् उनके इधर और उधर सात पुश्त को लाख लाख गाली हैं। आशा है कि अब अपने यथोचित सत्कार को पा वे प्रसन्न हो किञ्चित कांख-कूँख कर अपनी संकुचित कृपा को विस्तार दे आगामि में इसकी आवश्यकता न लायें।

इन सब से विलक्षण कुछ ऐसे भी व्यक्ति विशेष हैं कि जो इन अन्तिम श्रेणी वालों के भी दादागुरू हैं। जिनसे प्रथम तो हम तक़ाज़ा ही नहीं कर सकते और यदि करते तो वे केवल खीस बा कर केवल हैं—हैं की हिनहिनाहट सुनाते वा कहते कि हम तो इष्ट हैं, मित्र हैं, हमसे मूल्य! वे यह भी नहीं जानते कि अन्ततः काग़ज रोशनाई और डाक का महसूल कुछ भी तो देना चाहिये, वह खैराती खाते में भी जाते लजाते। पत्र प्रेरकों में भी सूरत नहीं दिखाते फिर ऐसों को कहिये कि क्या कहें? और उन्हें कौन सी गाली दें कि जो निर्लज्ज शिरोमणि विधाता के घर के बने हैं! अस्तु, ऐसे कंजूस मक्खीचूस ग्राहक भी क्या कुछ शरमाने की कृपा दिखायेंगे!

हमारे तरफ से जो त्रुटियाँ हुआ करतीं उसका हम स्वयम् शोधन कर, पूरा मूल्य नहीं चाहते, वरञ्च हिसाब से घटाते हैं। यदि वह चाहैं कुछ जुर्माना भी लें किन्तु क्या वे कुछ न देकर ही पत्र-पठन-न्याय संगत मानते हैं? वे पत्रिका लौटा ही देकर आगामि से क्षति न पहुँचाने की भलमनसाहत दिखा सकते थे। जो हो, आशा है कि हमारे सज्जन पत्र-पाठक-समूह इस होली की गाली गलौज से अवश्य शिक्षा ग्रहण कर अपनी वास्तविक कृपा दिखायेंगे।

होली की इस ठठोली को निरी ठठोली ही जान वैद्य की गोली सी न पचा जायँगे। यदि वे ऐसा करेंगे, तो सचमुच गाली खायँगे, अन्यथा इस बोली ठोली पर प्रसन्न हो बुरा न मान वे अवश्य ही प्रसन्नता का प्रमाण दे हमें अनुगृहीत बनायेंगे।

पुरानी का तिरस्कार और नई का सत्कार

यद्यपि पुरानी सब वस्तुओं का तिरस्कार और नवीन का सत्कार सहज स्वाभाविक है, किन्तु यह बीसवीं शताब्दी तो मानो मेदिनी को पुरानी मूढता से शून्य कर देने ही पर तत्पर है। क्योंकि ससार में न केवल विदेशी वस्तु और मनुष्यो ही के बहिष्कार का क्रम बढता जाता, वरञ्च बहुतेरी बहुत दिनों से बरती जातो स्वकीय अत्यावश्यक वस्तुओं का भी बहिष्कार आरम्भ हो चला है और उसके स्थान पर अनेक परकीय नवीन ओछी और निकम्मी चलन का प्रचार बढता गया है, बरञ्च सच पूछिये तो मानो लोगों के सिरों पर बेतरह इसका शौक भूत सा सवार हो चला है। यहाँ तक कि जो ससार मे बड़े प्यार वा शृगार का आधार समझा जाता था, अब वह भी निःसार समझा जा कर तिरस्कार की धार मे बहाया जाता है। आज केवल सब के शरीर ही पर से विचार आरम्भ कीजिये, परिच्छदादि को छोडकर यदि बालही पर दृष्टि दीजिये तो देखिये कि कुरुचि की कैसी भरमार है, नवीन सभ्यता किस प्रकार सत्कार के योग्य वस्तुओं का भी तिरस्कार कर स्वयम् तिरस्कार के योग्य हो रही है। हम आर्य्य हैं, कौन जाने कि आप भी अनार्य्य न हों, अतः प्रथम इसी जाति की नवीन सभ्यता का नक़ाब उठाइये और झाकिये कि कैसी सूरत नज़र आती है,—

देखिये कि आर्य्य लोग अपनी पुरानी चाल छोड़, धोती खोलकर पाजामा पहिनने लगे—कदाचित् दूसरों से मेल मिलाने के अभिप्राय, वा पहिनने खोलने के समय, अथवा व्यय के सकोच के अभिप्राय से फिर उपवस्त्र वा दुपट्टा छोडा—कदाचित् व्यय और बोझ के अतिरिक्त गले की फासी समझ कर कि कही कोई यदि पहुँचकर पकड ले तो फिर कुछ करते ही न बन पडे। जामे को भी कदाचित् और असुविधाओं को छोड़ इस भय से फेका कि वायु लगते ही कहीं उलट गया, तो बस भरमाला ही खुल जायगा। अतः बगल-बन्दी आई, पर वह भी न भाई। अन्त को चपकन पर आ अड़े कि वह चिपक कर ठीक शरीर पर बैठने में सहायता देगा। अब पगड़ी भी उतार कर फेंक दी। क्या इस भय से कि लुच्चों का आधिक्य

विशेष हो रहा है ? हंसी हंसी में भी कहीं उछाल दें, तो और तो और, घण्टों बांधने ही में लग जायं। अतः फेल्ट कैप डाट चले कि जो गिरने में बिलम्ब करे और गिरने पर न तो बाल बिगड़े न इज्ज़त जाय, वरञ्च नंगे सिर हो जाने पर और भी प्रतिष्ठा बढ़े। किन्तु डर यह अवश्य है कि बे उसकी गर्मी से कहीं अपना रहा सहा मस्तिष्क ही न गला दें। अस्तु, यह सब तो पुराने बहिष्कार हैं, नई सभ्यता ने अब और ऊपर चढ़, उनकी शिखा भी कतर कर उन्हें टेलर हिन्दू कहलाने की अपकीर्ति से बचाया और कदाचित् यह सुझाया कि यदि कोई उसे पकड़ लेगा, तो तुम क्या करोगे ? सुतराम् इस मूढ़ता का विसर्जन कर दो। वास्तव में आज तक लोग उसी को पकड़ पकड़ कर इन्हें चपतियाते चले ही जाते हैं। क्या अब इस बहिष्कार से उसका भी बहिष्कार सम्भव है।

मुसलमानों ने झोलझाल जुब्बा कुरता, एबा और क़बा पहिनना छोड़ा—कदाचित् इस अभिप्राय से कि जो उन्हें राह चलते देख बैल या घोड़े भड़कते और कुत्ते भी भौंकते हुए पीछे लग जाते,—वरञ्च कभी कभी नोच खसोट भी आरम्भ कर देते थे, अब न करें; अतः पीछे फटी काली फ्राग कोट पहननी आरम्भ की, जिससे कि और सुविधा को छोड़ मेढ़क से उछलते कूदते जहाँ चाहें, बिना प्रयास शीघ्र घुस जायं और किसी को कुछ भी खबर न हो। अम्मामा खूंटी पर रख, लाल नमदे वाली तुर्की टोपी पहन, मानों मिथ्या स्वाधीनता सूचक पूंछ लटका ली, जिसमें कि तम्बाकू के पिण्डे पर खुंसे लाल मिर्चे की शोभा होने के सिवा कदाचित् मच्छर और मक्खियों के उड़ाने में भी कुछ सहायता मिलने के अभिप्राय से; अथवा कौन जाने कि हिंदुओं की कटी शिखा को उन्होंने अपने सिर पर जमा लेनी भी उचित समझा हो। गरारेदार चौड़ी मुहंड़ी वाला पाजामा छोड़ा,—कदाचित् यह समझकर कि हवा के एकही झोंके में पर्दाफ़ाश होना सदा सुलभ रहता है, योंही अनेक आवश्यक अवसरों पर इज़ारबन्द खोलने और बांधने के दुःख से पतलून चढ़ा चले। किन्तु उनकी बिचली चाल छकलिया अंगरखा, औरेब पाजामा और दुपलड़ी टोपी की निजाकत न आई। केवल शर्ट पर नेकटाई लगाई जाने से वह मजा कब आ सकता था, क्योंकि उभरी छाती और साफ पेटी ही जब न लखाई पड़ी, तब मजा ही क्या बाकी रहा। यद्यपि उन्होंने अब अपनी प्यारी दाढ़ी भी मुंडानी आरम्भ कर दी—इस-

लिये कि जिसमें नौजवानी की निशानी गालों पर बाल न आना—बाकी रहे। जैसा कि—

"सफाई उठ गई चेहरे की
जब खत का निकाल आया।
फिर वह कीमत कहां रहती है
जब चीनी में बाल आया॥"

परन्तु इस कम्मल की लाल टोपी का सत्यानाश हो जिसने कि सब चेहरे की ज़ीनत ही मिट्टी में मिला दी। अब वह मिश्की जुल्फों की बनावट और पुरपेच काकुलों की सजावट किसके माथे हो, जिन्हें देख लोगों के दिलों पर सांप लोटते थे? हाय! अब तो सभी के सिर के बाल आठवें रोज कतर कर सामने कुछ काले बाल छोड़ दिये जाते हैं। फिर जब सिंगार का आधार बाल ही न रहा, तो सुरमा और मिसी का रंग ही कब जम सकता है? पान खाना तो मानो शरह के रू से हराम सा हो गया! अब बतलाइये कि शोभा का सामान बाकी ही क्या रहा? हां, वे अब अपने मुंह में एक एक लूकी जरूर घुसेड़ने लगे हैं कि जो बजुज़ आशिकों को गुल देने के और किसी विशेष सुबीते की वस्तु नहीं दिखलाती। हां, राह चलतों, विशेषतः बेचारे पुरानी छूत-छात के पाबन्द भोलेभाले हिन्दुओं पर थुकने का कुछ अच्छा सुबीता है, यों ही कुछ जबान टेढ़ी कर के बोलने का भी। नहीं तो वह गुड़गुड़ी की गुड़गुड़ाहट वा बड़े भचभचे की भचभचाहट और नैचे की भड़भड़ाहट का आनन्द कहां? अंगरेज़ी जूतों का स्वाद तो मानो सभी भारतीयों को ऐसा भाया कि किसी को किसी चाल का कोई हिन्दुस्तानी जूता अब नहीं अच्छा लगता! सारांश, आज सबी हिन्दोस्तान निवासी चाहें वह आर्य्य सन्तान हों वा मुसल-मान, हिन्दोस्तानी कहलाते लजाते, सफेद साहिब बनने की लालसा से अपनी पुरानी चाल-चलन को छोड़ने और दूसरों की ग्रहण करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। उन्हें दूसरों की अच्छी बुरी की कुछ भी तमीज़ नहीं, उन्हें तो सीधा आंख मूंद वही करना भाता कि जो आज श्वेताङ्ग लोग करते हैं। ये औंधे खोपड़ी के लोग यह कदापि नहीं विचारते कि वे ऊष्ण प्रधान देशवासी हैं। अतः उनका अनुकरण हमें कदापि सुविधाजनक नहीं। उनकी कोड़ियों बकसुये और तस्मों वाली पोशाक जो किसी घोड़े के जीन से कम नहीं, हमारे योग्य नहीं है। मगर नहीं, आज सब हिंन्दोस्तानी अपनी आखों पर भाँति भाँति के चश्मों (ऐनक) के ढोके लगाये, मानो ऊपरी आँखों के साथ हिये

की भी गंवाये अन्धे बन बेतकल्लुफ घोड़े और बछेड़े बने उसी जीन समान डबलजीन और गर्म्मी में भी फ़लालीन की पोशाक में कसे कसाये चारों ओर कूदते फांदते नज़र आते हैं। इतना नहीं सोचते कि आज कल इस पहनावे पाल में पड़े आम से पक कर घुल जायंगे! वे खायंगे कच्चा मांस और सड़ी मछली अथवा दाल भात, और पियेंगे सोडा वाटर और ब्राण्डी, तो जीयेंगे कैसे? यह गर्म देश है, इसी से इसके योग्य वह कदापि नहीं है।

यूरप वा श्वेतद्वीप तो मानो पश्चिमीय सभ्यता का मायका अथवा पीहर ही ठहरा, कि जिसको वर कर भारत भर आज श्वेताङ्ग होने की अभिलाषा से साँवले से काला बना जाता है। यदि इङ्गलैण्ड उसका बाप, तो फ्रान्स उसकी माँ है जहां यदि प्रातःकाल वह और, तो सन्ध्या होते ही होते और ही ढब की हो जाती है। वास्तव में पश्चिमीय सभ्यता अभी बाला और तृतीया नायिका वा वेश्या-वृत्तिधारणी है, क्योंकि वह संसार के सामान्य जन समुदाय से अपना अर्थ-संग्रह कर श्रीमती बनती जाती है। वह औरों की चाल चालाकी से लेकर लेने से भी मुकर कर चोंचले बघारती किसी प्रकार नहीं हारती और न यह विचारती कि यह जिसकी वस्तु है उसी के आगे अपनी बनाने में कुछ लज्जा की आवश्यकता है, या नहीं! इसके अतिरिक्त वह अभी परिपुष्ट नहीं हुई है, इसी से उसमें अधिक छिछोरापन और कचाई है कि जिससे उसे अपना पेट भरने को चारों ओर फिरना पड़ता और उलट पुलट कर नया स्वांग भरना पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों में वह ग्राम्य वा जङ्गली से नागरी बनने की प्रयासी बनी है, अतः उसमें बहुत कुछ चटक मटक की लालसा स्वाभाविक है, और उसी चटक मटक पर हमारा हिन्दोस्तान सौ जान से कुर्बान है। वह हमारी बारहबन्दी को डबल् ब्रेस्ट कोट बनाती, हमारे लबादे को ओवर कोट कर डालती, फतूही को वेस्ट-कोट पुकारती और नई काट-छाँट से भोले भारतीयों के कान काटती है। हमारी ही दुपलड़ी टोपी कतर ब्योंत कर वह गबरू सोलजरों के गोर मुखड़ों पर लगा अजीब शोभा दिखलाती, परन्तु यह बात हमारी समझ में नहीं आती! हिन्दोस्तानी कुरते और अँगरखे की आस्तीनें जब ढीली थीं तो उन्होंने अपनी चुस्त की, जब हमने वैसी की, तब उन्होंने अपनी इतनी ढीली कर दी कि वह पाजामे की मुहँड़ी का मुकाबिला कर चली, बस हम फिर उसी पर ढल चले, परन्तु सँभल कर ठीक अपनी जगह पर न आ सके।

उन्होंने अपनी टोपी, जो हमारी टोकरी से कदापि कम नहीं होती—जिन में कितनी ही वास्तव में घास, फूस, वा सींक से चटाइयों सी बनी वा बुनी होतीं और जो प्रायः छाते के स्थानापन्न वा सरदी गर्म्मी और ओस के बचाव के अर्थ ही धारण की जातीं—उतारकर भारत भर की पगड़ी जो वास्तव में हमारी शोभा और इज़्ज़त थी, उतार इज्जत उतार ली। वह अपनी जंगली पौशाक से बैठने में अशक्य होने के कारण खड़े होकर लघुशंका करने की चाल चला अधिकांश भारतीयों से भी इस पशुधर्म्म को अङ्गीकार कराया। योंही उसी मूल कारण से नङ्गे नहा कर हमारे देश के असंख्य बेतमीज़ परदोषानुकरणशीलों को न केवल नङ्गा कर वस्तुतः नङ्गा बनाया, वरञ्च बहुतेरों को तो अपनी घृणित असभ्यता का सनकी बना उनसे वाह्यभूमि जाते समय जलपात्र उठाने का भी परिश्रम छुड़ा सर्वथा नार्किक कृमि बना डाला! हमारे देश के लोग स्वभाव ही से नकल करने में बड़े प्रवीण होते हैं, इसी से आगे के लोग दूसरों के अच्छे गुणों को चट ग्रहण कर लेते रहे, परन्तु अब के लोग तो बुरी बातें भी अपनाने लगे हैं। प्रथम जिन आर्य्य सन्तानों ने मुसलमानों से माँग निकालनी और चटक मटक कर बोलना सीखा, उन की देखादेखी उँगलियों पर थूक लगा लगा कर किताबों के पन्ने उलटने लगे थे, अब अँगरेज़ों की देखादेखी जीभ से चाट-चाट कर लिफाफा बन्द करने और पिन्सल से लिखने, एवम् दाँतों से कलम भी पकड़ चले हैं! जिस किसी से अगले छू कर नहाते थे, अब लोग उनसे हाथ मिला कर अपने को कृतार्थ मानते और न मिलाने पर निज मानहानि समझते हैं! निदान उस अँगरेज़ी सभ्यता की लीला का वर्णन ही क्या हो सके कि जिसके अनुकरण से भारत का सब प्रकार सर्वनाश हुआ है; तौभी भारत में आकर उसने अपना बहुत कुछ सुधार किया है कि जिसका आख्यान यहां अस्थानीय है। सारांश इतने ही में समझ लीजिए कि हमारे श्वेताङ्ग प्रभुओं ने अपने खान-पान और रहन-सहन में देश-काल का विचार कर बहुत कुछ उलट फेर किया है। वे अब यहाँ गर्मियों में काले कपड़े छोड़ प्रायः श्वेत वस्त्र पहनने लगे हैं, जो उन पर उतना ही बुरा लगता कि जैसे भारतीयों को काला कपड़ा धरे खाता है। उन के उजले मुहँ पर काला ही अच्छा लगता है कि जैसे हमारी साँवली सूरत पर उजला कपड़ा। उन्होंने अपनी बहुतेरी बेढंगी टोपियों को भी कुछ-कुछ छोटी कर और सुधारकर उस पर पगड़ी का अनुकरण करना आरम्भ किया कि जो अच्छा ही कहा जा सकता है।

आगे अंगरेज़ों में बहुतेरे यदि दाढ़ी रखते; तो मूँछ नहीं और यदि मूँछ रखते थे, तो दाढ़ी नहीं ; किन्तु अब उन्होंने प्रायः दाढ़ी और मूँछ दोनों सफ़ाचट करना आरम्भ किया है—कदाचित् इस अभिप्राय से कि जिसमें सदा सोलह वर्ष के मालूम हों, अथवा स्त्री का परिच्छद धारण करते ही बिना कठिनाई के मेमों के मेल में मिल जाँय और किसी को कुछ भी पता न चले। विशेषतः यदि नाटकों के अभिनय में ऐसी आवश्यकता आ पड़े तो उसके आगे पीछे कुछ परिवर्तन करना न पड़े। फिर कौन जाने कि यह जोरू की गुलाम जाति उन्हीं के कहने से इस चलन को स्वीकृत किये हो, क्योंकि मुखचुम्बन के समय—कि जो प्रथा उनके यहां अति अधिकता से प्रचलित है—बहुत सा बाल दुःख का हेतु होता ही होगा। इसके अतिरिक्त यदि हमारे देश की स्त्री अबला, तो वे प्रबला होती हैं, सुतराम् वे किसी प्रकार पुरुषों को आगे कदापि नहीं बढ़ने देना चाहतीं ; कौन जाने कि वे यह समझ कर अपने-अपने पुरुषों को इस बेअदबी करने से रोकती हों कि जब हमारे मूँछ दाढ़ी नहीं, तो तुम भी हमारी तरह साफ़ सूरत रक्खो कि जिससे हम से अधिक तुम में कुछ न हो। समान वस्त्र पहन जिसमें हम और तुम दोनों तुल्य स्त्री वा पुरुष बन सके और कभी कोई विभेद न रहे। कहो, कैसा ? क्या अच्छा सुबीता और कैसा परस्पर प्रेम का निर्वाह है। जो हो, हमें यहां केवल कमी का आश्चर्य है कि हमारे देशवासियों ने इसका अब तक अनुकरण नहीं किया, विशेषतः मध्य और पश्चिमीय भारतीयों और उसमें भी ख़ास कर मुसल्मानों ने। कैसी लज्जा का विषय होगा कि यदि अंगरेज़ी फ़ैशन के नक़ाल इतने अंश में अपनी शिथिलता दिखलायेंगे ?

अंगरेज समाज की अधिष्ठात्री देवी केवल कोमलाङ्गी लेडी लोग ही हैं। इसी से वहाँ का सारा फ़ैशन प्रायः उन्हीं के आधीन है, जिन्होंने हमारे यहां से सीख यद्यपि अपनी बहुत कुछ दशा सुधारी, तौ भी उनकी जातीय हठ-धरमी और विलास-लालसा ने उनमें अभी वह आनन्द न आने दिया कि जो स्वाभाविक था। उन्होंने अपने कमाचीदार गौन को—जो किसी बड़े छाते से कम नहीं होता था, छोड़ा और उसके स्थान पर क्रमशः दूसरे उलट फेर भी किये, परन्तु अभी ठीक पर न आई। नितम्ब गुरुत्व कपड़ों के झोझ लटका कर लाना चाहा पर, यह न जाना कि दर्ज़ी की कारीगरी विधाता का मुक़ाबला कब कर सकती है ! उन्होंने चौड़ी-चौड़ी पेटियों से जो किसी घोड़े की तंग से कदापि कम नहीं, अपनी पेटी कस कर कमर को बाल बराबर

तंग बनानी चाही, किन्तु क्या उन्हें इसका भी ध्यान आया कि यह कैसी महा मूर्खता है ? अलावा इसके कि इसकी कसावट से कितनी ही मेंमें दम घुट-घुट कर मर गईं, —क्योंकि उनका तमाम बदन ऐसी ही विविध प्रकार के तस्मों से कस कस कर सुडौल बनाया जाता कि जैसे चीन की महजबीन अपने पैर छोटे करने के अभिप्राय से काठ की जूतियाँ पहन पहन उनकी वृद्धि को रोकने से अपने पैर बेकाम करके लुञ्ज बन जातीं,—यह अपनी ऊपरी शोभा-वृद्धि की लालसा से तमाम शरीर ही ढोल वा मृदङ्ग की भाँति कस कस कर बेकाम और निर्जीव बना देतीं और स्वाभाविक विधि की दी शोभा का सत्यानाश कर डालतीं हैं ! उनमें स्त्रीजनोचित लज्जा और सुकुमारता का लेश न रहने से वे केवल नक्ल की सामग्री मात्र रहती हैं। उनके बाल-ड्रेस वा नृत्यपरिच्छद के देखने से अनेक अवसरों पर यदि मनसिज उद्रेक तो मन में प्रायः दया और जुगुप्सा का भाव भी उदय होता है ! क्योंकि वे ऐसे अंगों को भी प्रत्यक्ष खोलकर दिखलातीं, जिसे देख वास्तविक सभ्यता कोसों दूर जा चिल्लाती कि—"अरी बावरियो ! यह कैसी जघन्यता है ! रसाभास कर क्यों शृङ्गार की मूँड़ी मरोड़ती हो। निर्लज्जता सरसता की सौत है !" उन्होंने गहने पहिने, परन्तु सींग और हड्डियों के आभारण भी, पक्षियों के पर और बाल, वरञ्च उनकी खाल को भी अपनी शोभा बढ़ानेवाली, समझा ! कहिये, यह नागरियों वा परियों का वेष विन्यास है, वा कोल किरात कुमारी अथवा हत्यारी व्याधिनियों का ? उन्होंने टीक, तौक़, सतलड़े, विविध प्रकार के हार और मालाओं का काम फ़ीतों से निकाल लेना चाहा। यह कैसा निष्फल प्रयत्न है, उन्हें आज तक यह न समझ पड़ा कि जो कार्य्य केवल आँखों की ताक और होठों की मुस्कुराहट से न होगा, वह सर्वाङ्ग प्रदर्शन से भी कदापि न होगा। हाय ! जो कमर में हाथ दे पर पुरुष के साथ प्रत्यक्ष नाचतीं, तब वह फिर इन्कार और इसरार के लिये क्या बाक़ी छोड़ती हैं ? वे बिचारी क्या जाने कि प्रेमियों की अति लघु लालसा भी प्रेमिका के अर्थ कैसी कुछ असमंजस उत्पन्नकारी होती है ! उनकी तुच्छातितुच्छ कृपा भी कितने मँहगे मोल बिकती कि जो स्वभाव से उन्हें उसके वितरण में अति उद्वेग का हेतु हो वारण करती है, यथा—

"हा हा बदन उघारि दृग
सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन के परैं
हँसी ससी की होय ॥" अथवा—

"देहु दिखाय दई मुख चन्द लग्यो अब औंधि दिवाकर आयन।" अथवा—"पाज़ेब की झनकार के मुश्ताक़ हैं हम लोग। क्यों पर्दानशीं! पैर हिलाया नहीं जाता?"

फाल्गुन १६५०

भारतवर्ष की दरिद्रता

जिसके धन और प्रशस्त भूमि की प्रशंसा, जिसमें प्रायः पृथ्वी मात्र की सबी वस्तु उत्पन्न होती हैं, संसार भर करता था; जहाँ सामान्य ऋतुओं के भोगने से देशियों को किसी दूसरे स्थान को जाने की आकांक्षा तक नहीं होती, और जहाँ की खानें सबी अमूल्य रत्नों को उत्पन्न करती, कोई भी प्रस्तर ऐसे नहीं हैं जो यहाँ उत्पन्न न होते हों; जिसके समृद्धि पाने की लालसा ने पहले समर विजयी सिकन्दर और सिल्यूकस को हिमपूरित पहाड़ों को ढकवा मैसीडोनिया के लम्बे भालों को यहाँ चमकाया, और फिर पीछे लुटेरे पहाड़ियों को उपद्रव और प्रलय फैलाने को बुलाया; जिसके खोजने में विलायत की कम्पनियों ने न जानें कितनी जहाजें डुबाईं, धन खोया और मनुष्यों को भी साथ ही साथ समुद्र में समाधि लेनी पड़ी, उसके दरिद्रता के कारण आज उपायें खोजी जा रही हैं। कौन समझ सकता था कि जो इतने रत्नों का आगार था, जिसके धन की प्रशंसा परदेशी कवियों ने की थी और जो इसी के लिए संसार भर में विख्यात था और जिसके ऐसे होने की शंका और प्रभुत्व पाने की इच्छा से आज कई पुरुषों से रूस घात लगाये है और अब ऐसा विकृत रूप धारण किये है, उसकी अब ऐसी दशा हो जाय कि जो अपनी उपज से इतर देशों को भी खिलाता था, वह अपने वासियों को दिन भर में एक बार भी न खिला सके। क्या भारतवासी व्यवसाय और परिश्रम बुद्धि और विद्या से हीन और शून्य तो नहीं हो गये; वा इस भूमि में वह शक्ति ही नहीं बच रही, जिससे जो केवल एक मनुष्य के परिश्रम से परिवार मात्र भोजन करते थे, अब सब के परिश्रम करने पर भी पूरे प्रकार से अटने के अतिरिक्त रात्रि दिवस पेट के चपेट से सँवई और साग, खजूर और गेहूँ की गाँठ तक का लाला पड़ा है। ऐसी दशा कैसे हुई और कैसे जो सुख का आकर था आज दुःख का विवर हो रहा है। इसी विषय पर आज हमें कुछ कहना है और उनके मिथ्या आश्चर्यों को झूठा बनाना है जो व्यर्थ अपने मन की बकते हैं और ऐसी साक्षात् वस्तु को झूठी ठहरा इस देश की समृद्धि को कहते हैं कि तब से उत्तम

है। यहाँ की दरिद्रता के कारण को विचारने और कहने पर बातें प्रत्यक्ष हो जाँयगी।

यह बात प्रत्यक्ष है कि जो देश बहुत घना बसा है वहाँ के वासियों को यदि कई प्रकार के मार्ग धन के उपार्जन के न हों तो एक ही दो अथवा तीन के रहने से उनमें भीड़ बड़ी हो जाती है इसी से लाभदायक अथवा सर्वपोषक नहीं हो सकते। यहाँ के वासियों को मुख्य एक ही मार्ग और नाम के वास्ते ३ मार्ग द्रव्योपार्जन के बच गये हैं, वनिज अथवा व्यापार कृषि और नौकरी।

व्यापार की दशा जैसी कुछ इस देश में आगे थी उसके समक्ष में आधुनिक व्यापार को किसी अंश में कोई ममताओं को पहिनते, बर्तते और काम में लाते थे एवम् अन्य देशी वस्तुओं के अनुपस्थिति से इन्हीं को स्थान मिलता था और धनाढ्यों के घर में जितनी सामग्री सजावट के अर्थ काम में लाई जाती थीं देशी ही रहती थीं। परन्तु परदेशी जहाज़ों के आगमन से यन्त्र निर्माणित, अल्प व्यय के कारण सर्वजन सुलभ वस्तुओं के सामने यहाँ की बनी पुराने चाल की भूखे ग्राहकों को कैसे रुचिकर हो सकती थी। निदान सांसारिक विषय में कुशल चघड़ चतुर विलायतियों की सस्ती स्वच्छ वस्तुओं के हिन्दुस्थानी पण्यों में प्रवेश पाने से और फ्रीट्रेड की आज्ञा इस देश के शासकों के देने से धीरे २ देशी व्यवसाय निष्फल हो चले और व्यापार के क्षेत्र में पराजित होने से पूंजी तक गवां इतर दोनों मार्गों में इस कक्षा के मनुष्यों ने प्रवेश करना आरम्भ किया और जो कुछ शेष बच गया है वह भी कुछ दिन में नष्टप्राय हुआ चाहता है। कारण इसका प्रत्यक्ष है हमारे देश का यह स्वभाव है कि कभी कोई कार्य्य दस जन मिलकर नहीं कर सकते और विलायती व्यवसायियों के सामने जो सदैव कम्पनी द्वारा बड़े २ साहस करते हैं कभी अकेले मनुष्य का किया कुछ नहीं हो सकता चाहे कितना हूँ धनी क्यूँ न हो; क्योंकि अकेले की अवधि बहुत थोड़ी होती है और कम्पनियाँ बहुत काल पर्यन्त भी जीवित रहती हैं। हमारे देश के मनुष्य क्यों एक साथ मिलकर कार्य नहीं कर सकते? क्यों इन्हें एक दूसरे पर भरोसा नहीं रहता? इसका कारण हम केवल दुर्भाग्य दुर्बुद्धि और प्रमाद समझेंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि यदि दृढ़ता के साथ ऐसे कार्य किए जायं और स्वच्छ व्यवहार के साथ उचित मनुष्य नियुक्त किये जायं जो ऐसे कार्यों को कर सकते हों और हर प्रकार से इसके उत्तर-

दाई हो और साझियों को निश्चय करा दिया जाय कि उनका धन रक्षित रहेगा और उचित कार्य्य मे लगाया जायगा, इसके हानि लाभ का वे भाग्यानुसार भागी होगे, तो ऐसे कार्य्य असाध्य नहीं हो सकते परन्तु वहाँ के वासियों के स्वभाव मे तो एकाकी रहना अकेले बर्ताव करना, रात दिन अपनी ही क्षुद्र रक्षा मे पडे रहना अच्छा लगता है। इन्हे ऐसे कार्य्य न केवल असम्भव जान पड़ते हैं वरन् इन्हे यह निश्चय हो गया है कि ऐसे सयोग मे एक दिन का निबटना कठिन है, क्योंकि मूर्खता मे उचित व्यवसाय की समझ इनमे नहीं हैं। अपने मन से जो चाहै वह करे परन्तु उचित शिक्षा और मन्त्र के मानने में अपना अपमान समझते हैं क्योंकि वे अपने अर्थ के जानने में ससार भर मे किसी को कुशल नहीं समझते। यदि खाने पीनें का ठिकाना है तो मूर्खता की अवधि में अपने को उस नियमित न्यून स्थान का नरेश मान जगत को तुच्छ समझते हैं। प्राचीन समय में जब इन्हें अपने देश वालों से केवल बर्तना पड़ता था तब तक तो किसी प्रकार इस अविश्वास और मूढता से कोई विशेष हानि नहीं हो सकती थी, परन्तु परदेशियों के आगमन से ये बातें विशेष हानिकर हो गई हैं। देश भी इस प्रकार से दरिद्र हो गया है कि एकाएकी साहस करना कठिन हो गया है तो बिना समाजवद्ध हुए व्यापार की वृद्धि, देशी वस्तुओं का सग्रह, परदेशी वस्तुओं का त्याग कदाचित् होना सम्भव नहीं है। भारतवर्ष के २५ करोड़ वासियों मे कोई भी ऐसा न होगा जो विलायती कपडे न पहिनता हो और दूसरी आवश्यक सामग्रियों को इन्हीं विलायतियों के घर की बनी न लेता हो। जब आवश्यक शारीरिक वस्त्र को हमे परदेशियों से लेना पड़ता है, तब धन का रहना कैसे सम्भव है, निदान व्यापार का नाश हो जाना ही देश की दरिद्रता का मुख्य कारण है। नाम-मात्र का एक व्यापार जो यहाँ के व्यापारी करते हैं जिन्हे हम व्यापारी न कहकर दल्लाल कहेगे, क्योंकि वे विलायती वस्तुओं के बेचने के बिचवई हैं, यद्यपि किसी प्रकार इनकी जीविका चली जाती है तथापि इस देश के धन की वृद्धि दल्लाली से नहीं हो सकती।

हमने व्यापार के विषय में कहा है कि व्यापारियों के व्यापार में हानि पहुँचने से उन सबों को इतर दोनों मार्गों को लेना पड़ा है यही कारण मुख्य है जिससे कृषिकारों को भी वही दु.ख भोगना पड़ा है जो सब भोग रहे हैं। खेती ही एक शरण व्यापारियों और चाकरों को मिली है। जितनी

प्रजा हिन्दुस्थान की है उनको किसी न किसी तरह पालना कृषिकारों के मत्थे पड़ा है। दयालु भारतभूमि ने अपने अङ्क में लक्ष्मी से तिरस्कृत, शक्ति और विद्या से शून्य हस्तकारी में मुग्ध, आधुनिक यन्त्र और पदार्थ विद्या में अकुशल, इसी से इतर देशियों के बराबर काम करने में अशक्त अपने आलसी सन्तानों को स्थान दिया है। परन्तु अब वह भी अपनी सन्तान की वृद्धि के कारण उनके सबके पालने में निश्चय असमर्थ सी देख पड़ रही है। प्राकृतिक शक्ति ने भी इसे जवाब दिया है। निरन्तर पीड़ित होने से इसमें अब उपज की शक्ति भी वैसी नहीं रही और खेतों के कर के बढ़ जाने से उनके मालिकों में परिवर्तन हुआ करता है। किसानों को इस परिवर्तन से धनहीन हो जाने के कारण समय पर उचित दयाशील त्राणदाता के न मिलने से कुटिल और निर्दय छोटी पूँजी वाले बनिये तथा और अल्प महाजनों की शरण लेनी पड़ती है, जो उनकी हड्डी तक चूस जाने में अन्याय और पाप नहीं समझते। नित्य प्रति देखने में आता है कि असामियों को बिसार के कारण कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी दूर इसी के लिए उन्हें निष्फल जाना होता है, चुटकी बजाना पड़ता है। और केवल इसीलिए कि उन्हें समय पर बिसार मिल जाय, जिसकी सवाई या यह डेढ़ी अपने दयाशील [!] महाजन को थोड़े ही दिनों में लौटा दें। कितने खेत बिसार न मिलने के कारण परती रह जाते हैं। यदि बिसार भी मिला तो समय पर और जितना चाहिए उतना नहीं मिलता। लाचार हो जहाँ १२ वा १३ पन्सेरी बीआ डालना चाहिए वहाँ ६ वा ७ पन्सेरी डाल सन्तोष कर लेते हैं। जानना चाहिए कि जिन्हें बिसार की इतनी कमी है उनके कर के-लेन देन की क्या दशा होगी। एक बार ऋणी हो जाने से किसान के गले की फँसड़ी महाजन के हाथ हो जाती है, और वह जीते जी इस ऋण से मुक्त नहीं होता क्योंकि इसकी गणना महाजन के अधीन रहती है। अनपढ़ा किसान मारे भय के चूँ तक नहीं कर सकता, अपनी बात नहीं खोता, महाजन नहीं बिगाड़ता, क्योंकि कल को फिर कहाँ जायगा। यह बात सही है कि गल्ला महँगा बिकने से किसान को अब उतना ही अन्न में विशेष लाभ होता है। परन्तु व्यय की वृद्धि से और ऊपर कहे गये कारणों के उपस्थित होने से किसानों को हर तिहाई केवल थोड़े दिनों के भोजन के अतिरिक्त सब अन्न कर तथा महाजन के व्याज ही के अर्थ बिक जाता है और वह पूर्ववत् शाक तथा और मोटे अन्न जो अन्य देशों में

पशुओं को दिये जाते होंगे खाकर दिन बिताता है। जहाँ पर जंगलों का आधिक्य है वहाँ पर पशुओं के कारण किसानों को जो कुछ कष्ट होता है अकथनीय है। निरन्तर रक्षा पर भी शस्त्र-हीन होने से पशुओं से तिहाई का बचना कठिन है, ग्रामों के स्वामी लोग सरकारी तहसीलदारों से बिना कर दिये नहीं छुटकारा पाते। इसी से वे अपने असामियों से निर्दयता से, चाहे उनके खेतों में वर्षा तथा और कारणों से कुछ भी उत्पन्न न हुआ हो, कर भर लेते हैं। दैवात् दो तीन वर्ष यदि उक्त कारणों से किसान को कुछ भी न मिला तो उसे खेती त्यागना पड़ता है। अन्तिम शरण से दुर्भिक्ष के कारण मुखमोड़ चोरी और भिक्षा की ओर दौड़ता है इसी से किसानों को वनपशुओं के समान मनुष्यों से भी तिहाई की रक्षा करनी पड़ती है। निदान करके बढ़ने से, परती ऊसर तक के उठ जाने से, इसी से पृथ्वी के तृणविहीन हो जाने से पशुओं के दुख पाने से, दरिद्रता के कारण जलाशयों के न होने से, अन्न का परदेश चले जाने से, नित्य परिवर्तन से, खेती ही की ओर और मार्गों के रुक जाने से सब के दौड़ने से किसान भी नित्यप्रति दीन और दरिद्र होता जाता है।

जब इस देश में परदेशी नहीं थे और राज्य का भार देशियों पर था, तब इसी देश के लोग नौकरी पाते थे। अब विदेशी राजा के होने से नौकरियां विलायतियों को विशेष कर दी जाती हैं। और देश के लोगों को परिश्रम कर उनके विद्याओं के पढ़ने पर भी नौकरी नहीं मिलती। यदि ये विदेशी यहाँ नौकरी कर यहीं रह जाते और अपने धन को इसी देश में रखते तो थोड़ा बहुत उपकार इस देश का उनसे होता, पर वे तो नौकरी कर कड़ाकुल पक्षियों की भाँति ऋतुपरिवर्तन होते ही पिन्शिन ले उड़कर अपने देश को चले जाते हैं। हमारे देश की दरिद्रता तब पूर्ण रूप से अत्यन्त हो जाती है। जब कोई नौकरी खाली होती है तो सहस्रों प्रार्थनाएँ उस स्थान के लिये की जाती हैं इतने लोग बेकार ही रहते हैं जो चारा देखते ही भूखे टूट पड़ते हैं। हमारे देश में उन जातियों के सिवा जो सदा से नौकरी कर आई है और सबों को इसकी विशेष चाह नहीं रहती थी, वरन् पराधीनता गर्हित मानते थे, दरिद्रता में अब सब नौकरी ही नौकरी चिल्लाते हैं। परन्तु शासकों का विश्वास हमारे ऊपर है। हमें भारी पदों के देने से सिटपिटाते हैं यद्यपि जिनसे शंका उन्हें हो सकती है वहां हमारी पहुंच असम्भव है। बहुत दिनों से यह देश आशा लगाए ताक रहा था कि कभी विलायत जाने

का अड़ंगा छूटता तो इस देश के कुलीन बिना जाति च्युत हुये अच्छी नौकरियाँ पाते, यदि उनकी भाग्य अनुकूल होती और न्यायपरायण इङ्गलैड के साधारण जनों ने अपनी भाषा से आज्ञा दे दी परन्तु असाधारणों की लोलुपता ने जो कलयुग में सब से बढ़ गई है, यद्यपि इसके अपरिमित कोषों के भरने में इस देश ने बहुत कुछ सहायता की है तथापि इसकी हाय हाय नहीं नहीं छूटी, अस्थिमात्रविशेष को भी खण्डित कर निगल जाया चाहती है, इस आज्ञा को दृष्टि से देखा है और मुख्यतः इस अभागे देश के क्रूरग्रहों के निर्दय दृष्टि ने ऐसी लाभदायक आज्ञा को पलटना चाहा है।

निदान धनोपार्जन के उपायों की दशा तो यों है परन्तु इसे कौन देखता है। साधारण लज्जा ढाकने मात्र के निमित्त स्वच्छ धोती और धुले कुर्ते को नगरों में पहिने लोग धन की जांच करते हैं। गाव में लंगोटी चढ़ाये पेट खलाड़े दुर्भिक्ष का रूप बनाये, चौथे उपवास पर भोजन पाने वालों को देख कोई नहीं कह सकेगा कि इस देश के चौथाई निवासियों के अर्थ सदा काल नहीं पड़ा रहता। परन्तु दानशील देश इनकी यह दशा नहीं देख सकता, किसी न किसी प्रकार इनके प्राण की संरक्षा करने से नहीं भागता। परन्तु जब एक देश का विशेष अंश सदैव के लिये ऐसी दशा में निमग्न हो जाता है तो राजा और दैव के अतिरिक्त इनका उद्धार कौन कर सकता है? राजा जैसा कुछ चेत किये है प्रत्यक्ष हैं। परमेश्वर की कृपा भाग्य और कर्म के अनुकूल होती है कर्म कर्म को क्या कहना है।

फाल्गुन १६५० वैक्रमीय

कांग्रेस की दशा

क्या उस छोटे से पैम्फलेट "एक वृद्ध मनुष्य की मनोकामनाएँ" की सुध कभी भूलने वाली है। उन दीन वचनों का स्मरण करने से कलेजा काँप उठता है और उन प्रेममयी पंक्तिसुधा से पूरित हृदय स्थल में देशानुराग की लहरें उठने लगती हैं। कांग्रेस के बाल्यावस्था की सुध फिर हो जाती है, फिर भी वही उत्साह, प्रेम, देशोन्नति की चाह से चमकते मुँह वाली मंडली कांग्रेस—पिता को घेरे खड़ी देख पड़ती है। अच्छे कार्य्य के संकल्प मात्र ही से मन प्रसन्न हो जाता है, उत्साह के मारे हर एक इन्द्रियाँ बल से भर उठती हैं, कुछ ऐसी तीव्रता शरीर में आ जाती है कि विचारते ही फल-सिद्धि सामने रक्खी हुई सी जान पड़ती है,देश की दुर्दसा को देख इसके उद्धार करने की प्रबल इच्छा से प्रोत्तेजित मंडली, उस दुर्गम मार्ग की, जिसे उसने बहुत कुछ तै किया है और करती जाती है, दुर्दशाओं का यथार्थ अनुभव कैसे कर सकती थी। उसे भला यह कब मालूम था कि जिनकी दशा के सुधार के अर्थ वह बद्ध परिकर हुई है उन्हीं में से विद्रोही, स्वार्थी कह नाना प्रकार की यातनाओं में उसे फँसाने को खड़े हो जाँयगे ? वह यह कब समझ सकती थी कि उपकार करते अपकार मिलेगा ? भला यह कैसे समझ सकती थी कि स्वतन्त्रता के पाले अधिकारी अपनी माता के वात्सल्य को भूल, जो अपने लिए अमृत है दूसरे के लिए बिष बना हमारे सदा के साथी, देशी मुसल्मानों को और ही कुछ समझा इसके जी को बहँका बिद्रोह के बीज को बो, अपने महा समुद्रों को पार कर बरफी घोसलों में बैठ हम लोगों की नासमझी पर ठिठोली करते होंगे ? मानों वह इनके अधिकारों को छीन स्वयम् राज्य करने को अचांचक प्रस्तुत हो गई थी, या व्यवस्थापक सभाओं को तोड़ स्वयम् व्यवस्था करने को उठ खड़ी हुई थी, या प्रधान सैनिक के आसन को छीन स्वयम् विजय सूची चिन्हों को लगा, हाथ में किर्च ले विद्रोह के बिगुल बजा इन्हें इनके स्टीमरों में बिठा जहाँ से आये हैं वहाँ लौटाने को तत्पर हो गई थी, या वाइसराय के अधिकार का मुकुट छीन, तैय्यब जी, नौरोज़ जी, बैनर्जी, माधवराय, तैलंग, यूल, ह्यूम, बेडर्बर्न या अयोध्यानाथ के शिरों पर

रख ब्रिटिश राज्य के उच्चविशाल सिंहासन पर बिठाने का संकल्प कर चुकी थी। इसके प्रतिकूल उसके विचार और ही कुछ थे, उसने पश्चिमीय विद्या में शिक्षा पाई थी, वह यह भली भाँति समझ चुकी थी बिना समाजबद्ध हुए देश की दशा सुधारने का प्रयत्न अकेले अकेले व्यर्थ होगा, वह यह जानती थी कि चाहे अँगरेज सिविलियन हमारे देश की भाषाओं में क्यों दक्ष न हों, चाहे अपनी जीवनी की विशेष अवस्था इस देश में खो, आया और अर्दली, खानसामा और लालबेगी, सर्दार और जमादर की नींव कहानियों को सुन, देश की विद्वत्ता की परख की कसौटी उन्हें क्यों न समझते हों, चाहे साफ़े-बाज़, फेटेबाज़, या अम्मामेबाज़, मुँशी लोगों और कत्तीदार, लट्टूदार या हाथ की बंधी पगड़ियों को दिए महाजन लोगों से, जो हुज़ूर २ करते, धनुही से झुकते, हाँ हाँ, सही सही, बहुत सही कहते क्षण भर को उनसे मिलने को जाते और अच्छा सुनते ही उठ खड़े होते, मिलकर देश की दशा का यथार्थ ज्ञान उनकी बातों ही से मान क्यों न बैठे हों। परन्तु उनकी पहुँच हमारी आन्तरिक दशा के जानने तक की कभी हो ही नहीं सकती। इसी से इन अन मिले परदेशियों से विशेष मेल उत्पन्न करने, इनके परम क्लिष्ट कार्य्य में इन्हें उचित कर्त्तव्यों के बताने, इनकी भूलों के दिखाने के अर्थ इतना परिश्रम और धन उसने खोना स्वीकार किया था। यह उसे प्रत्यक्ष हो गया था कि यदि ऐसी ही दशा कुछ दिन देश की और रही तो दुर्भिक्ष और अपव्यय की सताई प्रजा में उपद्रव और विद्रोह फैल जायगा। संसार के दुखड़ों का भी अन्त है, सन्तोष की भी सीमा है, मरता क्या न करता, जब भार सहा नहीं जाता, बोझ फेंकना ही पड़ता है, यह उसे स्वीकार न था, वह अशान्ति के फल को देख और पढ़ चुकी थी, इङ्गलैण्ड के अतिरिक्त किसी दूसरे के प्रभुत्व की चाह न थी, भारतवासी भाग्यबल के प्रभाव को मानते हैं, यह भाग्य ही का खेल था जो उसके गोद में बलात् भारत बालक अर्पण किया गया, और अब वह उसके सुखद सर्वजनप्रिय भावों को जान चुका है, कैसे विलग होने की कांक्षा कर सकता है? यही बातें थीं, यही चाह थी जिसने इस मंडली को एकत्रित की थी। परन्तु ऐसे विघ्न इस उपकारी कार्य्य में डाले गये कि बहुतेरे भीरु तो काँग्रेस के नाम से डरने लगे बहुतों ने तो मारे भक्ति के समाचार पत्रों में कांग्रेस से अपनी विलग्नता सूचन की, मानो कांग्रेस में बिना मिले ही इन्हें प्रायश्चित करना पड़ा, धनिकों और राजाओं की बातें और ही कुछ हैं। इन्हें देश की दशा से प्रयोजन ही क्या है। और यदि है भी तो

उसके अर्थ वह अपने को साधारण जनों से भी अशक्त मान बैठे हैं। इनमें से एक ने जैसी कुछ करतूत इसके विरोध में दिखाई और जैसी राजभक्ति उनकी उसमें झलकी सभी जानते हैं, और जो विघ्न इसमें हुए वह तो भुला देने योग्य हैं, परन्तु कुछ मुसलमानों को इसके विरोध के कारणों से खड़े हो जाना और अनपढ़ों को हिन्दुओं के विरुद्ध विरुद्ध शिक्षा देना बहुत ही खेद जनक परिणामोत्पादक हुआ, जो भूला नहीं जा सकता। लोग गत उपद्रवों के विषयमें सोचते और आश्चर्य्यित होते हैं कि जो साथ-साथ आज कई सौ वर्षों से रह आये, इतनी हेल-मेल जिनमें उत्पन्न हो गई थी कि दोनों के धर्म्मों की बहुत सी बातें एक दूसरे ने ले ली थी, वे कैसे आज आपस में गला काटने को तत्पर हो गये हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि द्रोह जब आपस में एक बार उत्पन्न हो जाता है लोग एक दूसरे को चिढ़ाने के यत्न में लग जाते हैं, परन्तु काँग्रेस इन विघ्नों के परे अब हो गई है। इन विघ्नों से जो हानि उसकी सम्भव थी वह हो चुकी अब उसके जीवित रहने में कोई शंका नहीं है, उसके वचनों का आदर गवर्नमेण्ट को करना ही होगा। वह सभा किसी एक प्रान्त के बनाए लोगों की नहीं है। देश भर के चुने योग्य पुरुष एकत्रित होते हैं, वे देशके प्रतिनिधि पूर्ण रूप से हैं, विरोधियों का यह कहना कि कांग्रेस कदापि देशमुख नहीं हो सकती, अनर्गल है। यह उसके सभ्यों के कार्य्य और विद्वत्ता से ही प्रकट है, इस विषय में बहुत कुछ कहा गया है। यहाँ उसके लिखने की आवश्यकता नहीं है परन्तु विरोधियों के विघ्नों को डाक कर जब यह सकुशल अपनी निर्विघ्न अवस्था को पहुँची तो इसके सहायकों में कुछ वैसी नियमता हम नहीं देखते, यदि वैसे ही होती तो मिस्टर ह्यूम को उतनी कड़ी बातें न सुनानी पड़तीं जो उन्होंने अन्त को विदा होते कही हैं और जिसे सुन हमारे मृतप्राय: विरोधियों के पीले मुख पर भी मुस्कुराहट आ गई है। काँग्रेस की शाखा जो इंगलैंड में खड़ी की गई है उसके अर्थ भी हम लोग सदैव संकुचित रहते हैं। उसके व्यय का पूर्ण प्रबन्ध हर एक प्रान्तों की काँग्रेस कमेटियों का किया नहीं हो सकता। जो कुछ हमारे हित के कार्य्य लंदन कांग्रेस कमेटी ने इस वर्ष किया है वह पाठकों को इण्डिया पत्र के देखने से जान पड़ेगा। निश्चय यदि पूर्ण रूप से वहाँ की कमेटी का प्रबन्ध कर दिया जाय तो वह बातें सब साध्य हो सकेंगी जो हमारी परमस्पृहणीय है। यदि आलस्य को छोड़ एक बार फिर वैसे ही तत्परता से देश इस कार्य्य के करने को सन्नद्ध हो जाय जैसी इसने इसके प्रारम्भ में दिखाई थी और कांग्रेस

के अर्थ व्यय का कोई निश्चय प्रबन्ध कर दिया जाय तो भविष्य में इसके अर्थ इतनी झंझट न उठानी पड़े और कांग्रेस के जीवित रखने के विषय में जो कुछ स्वागत कारणी सभा की ओर से सन् १८९५ की प्रयाग कांग्रेस में पंडित अयोध्यानाथ की मृत्यु पर शोक करते हुए पंडित विश्वम्भरनाथ ने कहा है उतना ही कह इसको समाप्त करते हैं। पंडित जी यों कहते हैं कि "...... इसी भाँति मुझे अत्यन्त शोक है कि वह सज्जन देशहितैषी हमारे बीच में नहीं रहे जिनका छाया-चित्र देखता हूँ तत्व नहीं है। मैं उनके पादत्राण को बलात्कार पहिनने के लिए अपनी इच्छा के प्रतिकूल बाधित किया गया हूँ। अभागे परिवर्तन और शोचनीय परम्परा ने यह समय मेरे लिये उपस्थित किया है। दुःख का विषय है कि हमारे प्रधान पुरुषों की मृत्युसंख्या बेप्रमाण बढ़ी है। उनकी असामयिक मृत्यु और अभाव से हम लोगों को असह्य दुःख सहना पड़ता है। हम लोगों को, जो इस क्षेत्र में बच गये हैं उचित है कि उसको पूरा करें जिसे वे दुर्भाग्यवश पूरा न कर सके यह हम लोगों का कर्तव्य है कि हम लोग उनके पवित्र स्मारकचिन्ह की वृद्धि कर चिरस्थायी करें और इस विषय के सिद्धि के अर्थ हम लोगों को उचित है कि ईंट पर ईंट, रद्दे पर रद्दा, और छत पर छत, उद्यम कर स्थापित करते चले जाँय, जब तक कि हम लोगों के स्वच्छन्दता के मन्दिर का कँगूरा वांछित उँचाई को न पहुँच जाय, और उन लोगों के आश्चर्य और अत्यन्त व्याकुलता का कारण न हो जाए जो इसे अनुचित अविश्वास और शंका से देखते आये हैं।"

मार्ग शीर्ष १९५१ वै०

भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा

गायन्ति केचित्, प्रहसन्ति केचिन्, नृत्यन्ति केचित्, प्रणमन्ति केचित् ।
पठन्ति केचित्, प्रचरन्ति केचित्, प्लवन्ति केचित्, प्रलपन्ति केचित् ।
परस्पर केचिद्, उपाश्रयन्ति, परस्पर केचिद्, अतिब्रुवन्ति ।
द्रुमाद्द्रुम केचिदभिद्रवन्ति, क्षितौ नगाग्रान् निपतन्ति केचित् ।
महीतलात् केचिदुदीर्णवेगा, महा द्रुमाग्रारण्यभिसम्पतन्ति ।
गायन्तमन्य: प्रहसन्नुपैति, रुदन्तमन्य: प्ररुदन्नुपैति ।
नुदन्तमन्य. प्रणदन्नुपैति, समाकुलतत्कपिसैन्य मासीत् ॥
नचात्र कश्चिन्नभूव मत्तो, नचात्र कश्चिन्नभूव दृप्त. ।
नखैस्नुदन्तो दशनैर्दशन्तस्, तलैश्च पादैश्च समापयन्त. ।
मदात् कपिंते कपय. समन्तान्, महावनम् निविषय च चक्रुः ॥

बाल्मीकि ।

बिजयादशमी बीती, दिवानी दिवाली भी आई और गई, फिर कोई न कोई और उत्सव के दिन आएहींगे, धन्य भारतवासी हैं जो सासारिक कार्य्यों को इस भाँति उत्तमत्ता से करते हैं कि मन का बहलाव हो, देवताओ की पूजा हो, आवश्यक कृत्य भी साथही साथ इन्ही की लपेट मे होते जायँ । इन्हे त्योहारो और उत्सवों से छुट्टी ही नही मिलती, यह सन्तुष्टता का फल है । सम्पन्न होने ही से समय का विभाग इस उत्तम रीति से हुआ था सब बाते भरी थी, किसी दूसरे की चाह न थी, नियन्ता सर्वज्ञ और कालवित थे, देश सुख सामग्री से सम्पन्न था, किसी दूसरे की समृद्धि के पाने की लालसा न थी, इसी से अपने ही मे सन्तुष्ट थे, परन्तु विदेशी लोलुपों की कुत्सित नजरीली आँखा से यह देखा न गया, दूर दूर से मरभूखे फाट पडे और इस सदा बसत व्यापी सुघर हरी भरी बाटिका को उजाड डाला, जिस ओर दृष्टि फेरिये, जहाँ जाइये, वहाँ बे बाते नही हैं जिन्हे अपने थोडे से बचे बुड्ढों से लडकपन से सुनते और इतिहासो मे पढते आये हैं अद्भुत व्यथा जी को पकड लेती है और ऊपर लिखे श्लोको की दशा का यथार्थ अनुभव हो जाता है । मुसल्मानी लुटेरों की निर्दयता का तो कहना ही क्या, जिनकी धर्म पुस्तकों वा उनके रचनेहारों के विचित्र

मस्तिष्कों में संसार-सिद्ध बातों ही के विरोध मे लिखा है, उनके अत्याचार का ठिकाना ही क्या है। पृथ्वी में कौन सा ऐसा मत है और हुआ है जो निर्दयता की सीख देता है और दे गया है, पर यदि जीवों पर दया दृष्टि नहीं है तो इसे हिन्दू राक्षसी मत के अतिरिक्त और कही क्या सकते हैं, परन्तु इन को इनके बडे दयावान, धर्म्मशील, महात्मा मुहम्मद ने अपने मत मे लोगों को लाने के अर्थ अनुचित बल का आश्रय लेने को आज्ञा दी, क्या ही उत्तम विचार है! कैसी कुछ इसी एक बात से इनके मातमी मत की निःसारता झलक पडती। ससार भर के जीवों से परमेश्वर ने मनुष्य को विशेष समझदार और विवेकवान बनाया इसे अपने भले बुरे की समझ पूर्णरूप से दी गई है, यदि वह किसी अवस्था मे परम सन्तुष्ट है और समझाने बुझाने से भी वही अपनी भक्त, अपने अनुराग की राग मे मस्त है, उसे छोड आँख उठाकर भी फॅसाऊ और बतोलिये उपदेशक की ओर नहीं देखता, तो खड्ग ले तर्जना देने से वा उसे टूक टूक उडा देने से कुछ हिंसक के मत की प्रशसा हुई? निश्चय प्राण देना कुछ सहज बात नहीं है. जब सकट मे मनुष्य पडता है, क्या नही कर डालता? यही कारण था जो बहुत से हिन्दू नाना यातनाओं के भय से वर्जित भोजन खाना स्वीकार कर इस हिन्दू मत के विशाल पवित्र और उच्च आसन से नीचे घसीटे गये और सदैव के लिये यह उन्हें अनभिगम्य हुआ, यदि और मतों के सदृश यह भी सुलभ होता तो कितने जो बलात्कार इच्छा के विरुद्ध मुसलमान बना लिये गये, और जिनके परिवार अबतक भी उस घृणित व्यापार को करने से भागते जिसके कारण आज कल इतना उत्पात हो रहा है, कभी हिन्दू बना लिये गये होते, परन्तु हिन्दूमत तो पृथ्वी मे एक ही मत है जो न दूसरे को अपने पास बुलाता और न भगेलुओं का पीछा करता, गए सो गए फिर इसके किसी काम के नहीं उन्हें तो स्पर्श करते भी इसे छूत लगती है। यह कैसी बात है! इसके गौरव और गूढ़ता की झलक तो इतने ही से प्रकट है अपने बल, दृढता, उत्तमता और पूर्णता का इसे उचित अभिमान है। तो जिसके मत मे ऐसी निर्दयी आज्ञा का पालन श्रेय माना जाता है, उनके और इतर देश के साथ बर्ताओं की क्या दशा होगी! इनके आगमन से उस पवित्र हिन्दू रहन सहन मे कैसा आघात पडा उसको अनुभव करने और इधर वर्तमान विकृत दशा उसी की देखने से प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु मुसलमानों को जो कुछ करना था वह इसी देश में रह करना था, हमारे धर्म और व्यवहारों में बाधा हमारे ऊपर अधिक अत्या-

चार, कभी-कभी अमानुषीय कर्म, यह सब हमें इनके राज्य के कारण सहने पड़ते थे, परन्तु धन के रहने से यह अतिगर्हित क्षुधा पीड़ा इस देश में न थी, लोगों को अशान्ति, निर्दयता, धनापहरण, अरक्षा से दुःख सहना पड़ता था, देश की ऐसी मरभूखी आकृति न थी धन और धान्य से पूर्ण प्रजा की दशा कुछ ऐसी शोचनीय न थी।

तो दिलीप रामचन्द्र और युधिष्ठिर के समय की चरचा जाने दीजिये, विक्रमादित्य, पृथ्वीराज, जयचन्द के समय पर मत ध्यान दीजिये, अकबर, शाहजहाँ और शिवाजी के दिनों की दशा पर मत मनन कीजिये; इधर जब से इस पश्चिमीय गोरे पद ने इस पवित्र भारत भूमि पर दृढ़ता से स्थिति जमाई और ऐहिक व्यसनों की कला दिखला भोले हिन्दू समाज पर प्रबल आघात की, तबी से यदि बिचार कीजिये तो यह निश्चय होगा कि इस देश का रंग और रूप कैसा बदल गया और बदलता जाता है कि- संस्कृति के प्रेमी उन्हीं की जाति वालों को इसके परिवर्तन पर परम खेद है। इन्हीं २००वर्षों में क्या का क्या हो गया जिनके पूर्व पुरुष मणिजटित सिंहासन पर बैठते थे उन्हें विलायती काठ की चमकीली कुर्सी ही बहुत सोह रही है जिनके देखने से सिंह को भी भय लगता, ऊपर से नीचे तक शस्त्रों से सजे वीर, अब उन्हीं की सन्तान ज़नानखानों में पतली छड़ी लिये अंग्रेजी जूता की एँड़ी खटखटाते कुत्तों से भुकवाते ऐंठे चले जा रहे हैं। जिनके शिर पर बहुमूल्य रत्नों से जटित सिर पेचें लगी पगड़ियाँ रहतीं अब उनके शिरों पर दो पैसे की दो पलड़ी टोपी हवा लगते उड़ी जा रही है। ५० वर्ष की अवस्था में जिनके बाप दादों की जवानी खिलती उन्हीं के लड़कों की अब दूध के दात भी नहीं टूटते कि आखों में चश्मा लगाने की आवश्यकता होती ३०, ४० वर्ष में उनकी सब गत हो जाती दरिद्रता के मारे जन्मे नहीं कि उन्हें कमाने खाने, नोन तेल लकड़ी की खोज पड़ी, लड़कपन ही से संसार में फँसने से बुढ़ाई दौड़ आती। उचित भोजन न मिलने और चिन्ताग्रस्त हो जाने से शरीर पतला दुबला रह जाता, मुख्य भोजन दुग्ध ही भारतवासियों का था वह अब जंगलों के कट जाने और ऊसरों के जोते जाने से पशुओं की दुर्गति के कारण मिलता ही नहीं, फिर बहुत ही कम अवस्था में विवाह हो जाने से और विशेष कर बुरे संगत में पड़ने से आज कल के युवकों की दशा बहुत ही शोचनीय है। आगे समाज का भय उसकी प्रबलता के कारण सब लोगों पर था। कोई वृहत्समाज की आवश्यकता इन क्षुद्र दोषों के सुधारने की नहीं थी।

वह समाज का कड़ा बन्धन जिसके ढीले हो जाने से अब मनमानी कार्य्य-वाहियाँ हो रही हैं, पहले ऐसा दृढ़ था कि अपने-अपने उचित् कर्म्मों में लोग लीन थे राजा के न्याय के कठिन ग्रन्थि से वह ग्रथित था छूट कैसे सकता था; परन्तु अत्याचारी विषयी विदेशियों ने इसे सैकड़ों वर्ष हुये अपने अन्यायी हाथों से तोड़ डाला। इधर अनुचित विषयों में स्वच्छन्दता के प्यारे पश्चिमीय परदेशियों के आगमन से जो नाम मात्र बचा बचाया कुछ समाज का गौरव था वह नष्ट हो गया। अदालत ने वह खेल दिखाई कि सब अपने अपने को चतुर नासमझ दौड़ दौड़ कर अदालती रंगभूमि में लीला दिखाने को तत्पर हुए। कोई ऐसी बात ही नहीं जिसका घर बैठे न्याय हो सके। अदालती लुटेरी नटियों के हाव भाव ने इनको अपने वश में रख वारांगनाओं की भाँति जब तक उनमें धन का कुछ स्वारस्य पातीं चुम्बक सी उनके अस्थिमात्र लौह शरीर में लपटी रहतीं। प्रजामात्र इन वस्त्रमोचन करने वालियों से दरिद्र और दुःखी हो गई है। मूर्ख देश आपस ही में लड़-मर रहा है। सब जानते हैं कि इससे हानि के अतिरिक्त और कुछ उठाना नहीं है, परन्तु उनकी तृप्ति बिना उसके चौखट तक गये नहीं होती। जितने अन्यायी हैं उनको यह बड़ा भारी आश्रय मिल गया है। बली सदैव निर्बल को इन दिनों दबा सकता है। वह धन और अधिकार के कारण कभी भी इन्हीं पंथों की शरण ले सकता; क्योंकि पंचों के पास बातें वैसी झूठी नहीं चल सकतीं यदि पंच न्यायी और योग्य हैं, जैसी कि अदालत में चलती हैं। पंच प्रायः उन्हीं विवादियों के समीप ही रहने वाले होते, वह उनकी बातों को जानते, इसी से शीघ्र ही निर्णय कर दे सकते। यह धन और अधिकार से युक्त अन्यायी को कब भा सकता है। उसकी इच्छा तो यह है कि अदालत से जल्दी निर्णय होती ही नहीं अधिकार के सुख तथा आय को अपने हाथों से क्यों छोड़ें, जो होगा होगा कोई ग्राम कोई नगर और कोई स्थान भारत भूमि में ऐसा नहीं जहाँ यह न होता हो। यहाँ तक कि पति और पत्नी पिता और पुत्र भी अदालत करने पर तत्पर हैं। समाज और कुटुम्बी का भय उनको कैसे हो उन्हें अदालत करते कौन रोक सकता है। यह मुसल्मानों के समय में न था, लोगों को आस पास के प्रतिष्ठित लोगों का कहना मानना पड़ता था, यही कारण था कि लोग अपने मन के नहीं हो सकते थे। ऐसी घृणित निर्लज्जता भी नहीं देखने में आती थी। अब अंगरेजी राज्य के उदार नियमों के कारण विषय का खुला बाजार लगा है। सत्चरित कदाचित् कुछ दिनों में देखने में भी न

आवेंगे इसी से मनुष्यता इस देश की दिन पर दिन क्षीण सी हुई जाती है। इन दुराचारों के रोकने का साहस कौन कर सकता है! आधुनिक गर्वनमेन्ट अपने ही देश मे इस विषय मे कुछ नही कर सकती तो यहाँ क्या कर सकती है।

विदेशी व्यापारियों ने भी लूट का डका बजा ऐसा इस देश के व्यापार को सत्यानाश किया कि जितनों की जीविका इससे चलती थी जिनके गृह मे व्यापार करने की परिपाटी चली आ रही थी, अब वह घूमते चिल्लाते चार पैसे की मजदूरी ढूँढ रहे हैं। विलायती व्यापारियों ने जैसी कुछ दीन दशा इस देशकी की और किसी प्रकार कभी हो ही नहीं सकती थी। जो प्राचीन नगर व्यापार मे विख्यात थे अब वहाँ खडहरों का दृश्य विदेशी व्यापारियों के निर्दयता को सूचित कर रही हैं। हम लोग इस योग्य नहीं कि अपने ही उपज को अपने काम मे ला सके हमारी आलस्य और अमीरी जली रस्सी के पेंच सी छुटें ही गी नही उपाय बिना कुछ होना सम्भव हो नही सकता। कपडे ही की ओर यदि केवल ध्यान दीजिए, तो यह निश्चय होगा कि भारत भूमि मे इतनी रुई ईश्वरेच्छा से होती है कि हमैं दूसरे देश से उसे मँगाने की आवश्यकता नही, परन्तु क्या दीन जुलाहे का कल से काम लेने वाले मैन्चस्टर के लुटेरू जुलाहे के सामने कुछ चल सकता है? यदि ऐसा हो सकता तो भारत के जुलाहे अपना काम छोड मारे-मारे न घूमते। देश का धन परदेश न चला जाता, साधारण पूँजीवालों का काम बिलायती व्यापारियों से सामना करने का नहीं है, और जिनके पास कुछ है, उनकी गाथा यदि विस्तार से लिखने का अवकाश हो ता एक जन्म एक लेखक का उन्ही की कथा के लिखने मे बीत जाय। देश के ऊपर उनका ध्यान तो कदाचित्त स्वप्न मे भी नहीं होता, मरै व जिऐ, मूर्ख हो वा पण्डित, धर्म्मी हों वा अधर्म्मी, उनसे कोई प्रयोजन उन्हे नही हैं, उन्हे खाने और आनन्द भर को भगवान दे दिया है आनन्द की निद्रा को छोंड उन्निद्रित हो ऑख खोल पराये के दुख के देखने और व्यर्थ उनके अर्थ कुछ परिश्रम का कष्ट उठाने से उन्हें क्या लाभ होगा? पाठकगण इन बातों के सोचने पर जी क्या कहता है? परन्तु झुझलाने से प्रयोजन ही क्या साध्य होगा? परमेश्वर की कृपा से इधर दो चार ऐसे प्रतिष्ठित युवक अपने अधिकार की योग्यता अपनी प्रजा को दिखला रहे हैं कि उससे बहुत कुछ आशा हम लोगों को हुई है। बिना प्रधान धनमानों के चेत किए

कभी कुछ होना सुलभ नहीं है। उनमें से महाराज मैसूर ने जिस प्रणाली पर चलना ग्रहण किया है उसी को अनुकरण करने की सम्मति हम लोग अपने विख्यात कुलीन धनमानों को देंगे। राम राजा की भाँति सुवर्ण का तुला दान देने और करोड़ों रुपया दे कुछ ब्राह्मणों को अयाच्य करने से देश की दशा सुधर नहीं सकती और जो युरपीय ढंग बदलने में केवल उनके अवगुणों को खींचते, बाल करते; पोलों खेलते, पार्टी देते, घुड़दौड़ दौड़ाते, न केवल अपनी उपहास कराते वरन अपने उचित कर्तव्यों के पूर्ण अयोग्य बनते जिनकी रक्षा और सुधार का भार भगवान ने उनके हाथों सौंपा है उनकी दुर्गत देखते नहीं लजाते, यह ऐसा भारत का अद्वितीय कठिन समय आ उपस्थित हुआ है कि यदि श्रीमानों ने अपनी योग्यता में कसर की तो उजड़ तो गया ही है निर्जीव भी हो जायगा। देश का उद्धार करना उनका परम् कर्तव्य है इस की सामर्थ्य भी भगवान ने उन्हें दी हैं।

यदि बृटिश गवर्नमेण्ट से हमें कुछ इन विषयों में आशा होती तो उक्त महानुभावों से व्यर्थ कहने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु क्या जिसे देश के पालने का भार भगवान ने दिया है उसे उनसे विमुख हो अपने आनन्द में निमग्न हो अपनी ही इन्द्रियों के सुखानुभव में दिन काटना अच्छा है? यह तो सभी कर सकते हैं। उनमें और इनमें फिर कोई भेद न रहा। फिर यदि प्रजा सुखी न रही तो उनके सुख का निर्वाह कहाँ तक हो सकता है। वह तो इन्हीं के सुख से सुखी हुआ चाहे। यदि विचार किया जाय तो व्यापार की ओर उनके विशेष दत्तचित होने से लाभ के अतिरिक्त हानि किसी प्रकार की नहीं हो सकती। अनुमान कीजिये कि यदि इस देश के राजा लोग एक बार इस बात पर तत्पर हो जाँय कि वे अपनी प्रजा को विलायती कपड़े पहिनने से रोकेंगे तो क्या गवर्नमेण्ट उनका कुछ भी कर सकती है? परन्तु आजकल के समय में धनमानों को प्रति पग फूँक कर धरना पड़ता है। करना न करना तो दूर रहे अप्रसन्न करने की चिन्ता से कोई ऐसा साहस करना कदाचित न स्वीकार करेगा। जहाँ थोड़ी झूँठी वा सच्ची बातों में लोगों को अपने अधिकार ही का भय रहता तो यह करना तो बड़ी बात है। कौन ऐसा विदेशी अंगरेज़ है जिसकी भौंह इसे सुनते ही न चढ़ जायगी तो ऐसी निर्भीक उचित आज्ञा को देते हमारे यहाँ के महाराज लोग हिचकेंगे। परन्तु क्या सहमत हो एक बार व्यापार की ओर ध्यान देने से कोई हमें रोंक सकता है? बम्बई और कलकत्ते में बहुत सा देशी कार्य्य आरम्भ हो गया है।

बहुत सी मिलें खड़ी हो गई हैं। एक स्थान और है जहाँ यदि कार्य आरम्भ किया जाय और इस बात की चेष्टा की जाय कि हम अपने देश को अपने ही देश के बने कपड़े घाटा भी सह पहिनायेंगे, जिसका करना हमारे देश के प्रधान धनाढ्यों और राजाओं को कुछ भी दुस्तर नहीं है; तो बहुत ही सुगमता से हो सकता है। हमारा प्रयोजन कराँची बन्दर से है, यदि इस स्थान पर कपड़े की उतनी मिलें खड़ी की जाँय जिससे भारतवर्ष के समग्रवासियों के अर्थ हर प्रकार के ओढ़ने पहिनने और बिछाने के कपड़े तैयार किये जा सकें, जिससे इन्हें और बाहरी कपड़ों को लेने की आवश्यकता यहाँ न मिलने के कारण न हो, और हर नगरों में इन मिलों के अढ़तिये नियुक्त हो जाँय, तो क्या मैन्चेस्टर कभी भी हमारी बराबरी कर सकेगा? हमारे यहाँ के साधारण धनमानों को अल्पपूँजी तथा कुछ पहिले घाटा सहने के भय से यह करना कठिन होगा। परन्तु यदि यहाँ के महाराज लोग सहमत हो एक बार ऐसा करने पर उद्यत हो जाँय तो देश की दरिद्रता छूट जाय। नवीन महाराज ग्वालियर का साढ़े तीन करोड़ रूपया जो गवर्नमेण्ट के पास है उसका उन्हें इस कार्य्य में लगा देना सर्वथा उचित है। वह रूपया गवर्नमेण्ट के पास पड़ा रहने से उनका कोई विशेष लाभ नहीं है जिसके निमित्त वह रक्खा हुआ था अब उससे वह कार्य्य होना असम्भव है फिर ऐसे उपकारी कार्य में उसे लगा देने से देश का धन बढ़ेगा, महाराज को जो साढ़े तीन रूपया सैकड़ा उससे वार्षिक मिलते हैं; हम लोगों को पूर्ण आशा है कि इतना ही उसी से कुछ दिनों में प्रतिमास मिलेंगे। एसेही और सब राजा मिलकर यदि कटिबद्ध हों ८०, ८५ करोड़ रूपया कपड़े के निमित्त लगा दें तो देश की दशा कुछ दिनों में और की और हो जाय। कराँची पूर्वीय मैन्चेस्टर और लंकाशायर बन जाय। राजाओं को लाभ हो देश दरिद्रता से छूटै। ऐसे ही और आवश्यक विषयों के भी बनाने का प्रयत्न धीरे धीरे किया जाय। परन्तु पहले कपड़े ही की ओर ध्यान देना उचित है। क्योंकि इसके बिना धनी से दरिद्र तक का काम नहीं चल सकता। यह आवश्यक विषयों में सबसे प्रधान है। परन्तु इतने लिखने से क्या कुछ भी लाभ होगा? क्या हम लोग आशा कर सकते हैं कि ऊपर की पंक्तियाँ कभी भी उनके कर्णगोचर हो सकती हैं? क्या इनके सुनने का अवकाश उनमें से बहुतेरों को होगा? क्या कोई हिन्दी समाचार पत्र का सम्पादक उन्हें ऐसे विषय के समझने तक को उद्यत कर सकता है? क्या उन्हें अपने बेप्रमाण निष्प्रयोजन कार्य्यों से कभी देश का उद्धार करने का अवकाश होगा?

हमारे देश के धनी विलायती अमीरों की कभी भी धन में समता नहीं कर सकते ऐसे ऐसे धनी विलायत में हैं जो इन सब राज्यों को मोल ले सकते हैं; परन्तु यदि वे ऐसे ही देश के तथा-अपने कार्य्यों में निस्पृह होते तो उनके देश की ऐसी दशा न होती। उन्हें धन गाड़ हाथ पैर ढील आलस्य की निद्रा में सोना, सूद खाना नहीं भाता। थोड़ी आय के हो जाने से ठिकाना लगने और कुछ अधीनों पर अधिकार पाने से सुख में निमग्न हो राग रंग में लीन हो देश से नाता तोड़, घर बैठे उन्हें जँभाना नहीं अच्छा लगता। रंग विरंगे रंगो से रंगे मोम के पुतले से, कार्य्य की गरमी से पिघलने वाले देश के धनिकों से उनकी क्या समता है। जिन्हें चार पग चलने में हाँफा छूटता, रात्रिदिवस जिन्हें बेकार बैठा रहना भाता वा अनुचित संगत में हँसी ठिठोली करना, जीवन व्यर्थ व्यतीत करना ही संसार-सुख समझ पड़ता, उनकी उनसे क्या समता हो सकती है, जिन्हें अपने देश के निमित्त जीवन खोना, उनके उचित शासन तथा उचित स्वत्वों के अर्थ अपना सुख त्यागना उनके दुख में साथी होना एकमेव कर्त्तव्य है। इस देश की ऐसी शोचनीय दशा कभी हो ही नहीं सकती थी यदि इस देश के महा-राज लोग ऐसे न होते। क्योंकि साधारणों का काम देश के उद्धार करने का नहीं हैं। परतन्त्रता ने साधारणों को निर्बल और दरिद्र बना दिया है इनमें वह तिग्मता जो विजयी जाति में होती है कभी आ ही नहीं सकती। इसी से जो काम बल से हो सकता था उसे धन से करने की आवश्यकता हुई है। सामना भी ऐसे लोगों से करना पड़ा है जो पृथ्वी में अपने बल और कौशल में विख्यात है। निदान यदि देशी महाराजों ने देश के व्यापार पर ध्यान न दिया तो कभी देशी व्यापार में उन्नति हो ही न सकेगी। कदाचित् विद्या के प्रभाव से और कुछ मनुष्यता आने से १००।५० वर्षों में कुछ दशा इसकी सुधर जाय क्या आश्चर्य है; परन्तु यदि यहाँ के धनमान तत्काल इसके इच्छा पर तत्पर हो जांय तो जो २०० वर्षों में न हुआ उसको हम लोग थोड़े ही दिनों में हुआ देखेंगे। अँगरेजी राज्य में कर के कारण जो क्लेश कि किसानों को अब सहना पड़ता है वह पहले मुसल्मानों के राज्य में न था। पहिले तो तब की अपेक्षा कर इतना बढ़ गया है कि बिक्री का परता लगाने पर भी यह अधिक ही जान पड़ेगा क्योंकि पहिले उपज बाँट लेने की प्रथा विशेष थी। उससे जब प्राकृतिक कारणों से किसान को कुछ न मिलता बाँटने वालों को भी कुछ नहीं मिलता था, सब जमींदार चकलेदारों के

देना पड़ता था। इनके धावा व दौरे का एक समय नियत रहता और जब उनकी अवाई को अदेनिये किसान सुनते अपनी लाई पूँजी किसी को सौंप उनके पहुँच से बाहर भाग जाते और उनके लौट जाने पर फिर घर लौट आते। और जो बाकी पड़ जाती उसको फिर वह कभी न देते। यह कहावत इस देश में निर्मूल नहीं है कि "बाकी तो नवाब भी नहीं पाते।" अब इस घर छोर समय में कोई भाग कर कहाँ जा सकता है। सरसरी कुर्की और वारण्ट उनका पीछा नहीं छोड़ते। तब अधिकारी धनी थे, क्योंकि उन्हें शासन करने में इतना व्यय नहीं करना पड़ता था। जागीरों से उनका काम बहुत चल सकता था। अब शासन करने और करके इकट्ठा करने में सेना सजाने और न्यायालयों के खोलने में समग्र आय गवर्नमेंट की लग जाती है और रात दिन नई आय के उपायों के खोजने में गवर्नमेंट तत्पर रहती। इसी से जो निश्चित है उसको कैसे छोड़ सकती है। यदि एक वर्ष गवर्नमेंट चाहै कि वह भूमि कर छोड़ दे तो उसका काम किसी प्रकार चल ही नहीं सकता। पास पैसा नहीं है। इधर आया उधर गया।

ऋण का भार भी भारी शिर पर है गवर्नमेण्ट की धन सम्बन्धी दशा तो दिल्ली के बादशाहों के छोटे नवाबों से भी बुरी है। प्रबन्ध के निमित्त बिलायत के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट से ग्रामों के चौकीदार और तहसीली के चपरासी तक जितने हर विभागों में कार्य्यकर्त्ता नियुक्त हैं उनका वारापार नहीं। यह सब के सब देश के धन के सोखनकारी हैं। परन्तु इतने पर भी सन्तोष इन्हें नहीं है। औरों को छोड़ यदि पुलिस की ओर ध्यान दीजिये तो जो कुछ देश के उपद्रव और शान्ति में इनका सम्बन्ध है दूसरे का वैसा नहीं है। इन्हीं के हाथ में प्रजा की रक्षा है, इनसे प्रजा को रात दिन बर्तना पड़ता है। इनकी कथा अकथनीय है। यह कुछ गवर्नमेण्ट से भी छिपी नहीं है। गवर्नमेण्ट जी से चाहती है कि इनका सुधार हो। परन्तु कहाँ तक गवर्नमेण्ट इन्हें सुधार सकती है। वह पंजाब के लाट की गत वर्ष की आलोचना से जो उन्होंने पुलिस पर की है प्रगट है। उसके अनुसार यह झूँठे अभियोग खड़ा करते और सच्चों को प्रायः गटकजाते। बहुत सी चोरियों की रिपोर्ट प्रजा नहीं करती कि पुलिस आकर व्यर्थ लोगों को तंग करेगी। पुलिस के सुधार के विषय में एक ही उपाय है जिसकी ओर गवर्नमेण्ट ने कुछ कुछ ध्यान दिया है। वह यह है कि जहाँ तक हो इस विभाग में योग्य पुरुषों का संग्रह हो और वेतन उन्हें अधिक दिया जाय जिससे उसे ऐसे लोग मिल सकें। हमारी समझ में तो

जितना अधिक व्यय पुलिस विभाग में गवर्नमेंट कर सके उतना ही अच्छा है। क्योंकि इन्हें सन्तुष्ट रखने से प्रजा सुखी होगी। इनकी लालच कम हो जायगी और फिर यह उन सहस्र प्रजा दुःखकारी उपायों को जो धनोपार्जन के उद्देश्य से करते हैं छोड़ देंगे, प्रत्येक कान्सटेबिल को १५) मासिक से कभी कम मिलना उचित नहीं है। और इनके हेड़ों को ४५) और इसी प्रकार ऊपर वालों का भी वेतन बहुत अधिक बढ़ा देना उचित है। और विभागों में गवर्नमेण्ट व्यय घटाने का यत्न कर सकती है, पुलिस में सदैव बढ़ाने का यत्न करना उसे उचित है। यदि उसे प्रजा के सुख की कुछ भी चिन्ता हो तो उसे उचित है कि पुलिस के सुधार पर अधिक ध्यान दे। और यह बिना अधिक व्यय किए और प्रकार किसी रीति से नहीं हो सकता।

नागरी के पत्र और उनकी विवाद प्रणाली

यद्यपि समाचार पत्रों का प्रायः प्रचलित विषयों पर सम्मति प्रदान, एवम् किसी विशेष विषय के उचितानुचित, कर्तव्याकर्तव्य अथवा न्याय अन्याय के निर्णयार्थ परस्पर वादानुवाद करना सामान्य धर्म्म है; तथापि देश, जाति, अवस्था, समय और योग्यता के अनुसार यथा रीति और नीति सभ्य समाज से उसकी सीमा भी प्रतिबद्ध है। पृथक पृथक जाति समाज सम्प्रदाय वा समूह के अनुसार भिन्न भिन्न विषयों पर स्वाभाविक अनुराग और आग्रह संकोच और उपेक्षा तथा उदासीनता और पक्षपात भी होता है; अतः समाचार पत्रों की भी एक जाति वा सम्प्रदाय मानी जाती है। अर्थात् वह जिस जाति वा समूह का पक्षपाती वा समर्थक है, उस जाति वा समूह के मुख पत्र होने से उसी जाति वा समूह का स्वरूप माना जाता, और उसका कथन उस जाति वा समूह का कथन अनुमान किया जाता है। इसलिये उसकी सम्मति वा बादानुवाद भी प्रायः सर्वसामान्य ही विषय पर होना उचित और विधि है क्योंकि इसके अतिरिक्त किसी विशेष विषय का जिससे जन साधारण को कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, किसी पत्र में स्थान पाना पत्र की मर्य्यादा का नाशक है योंही पत्र सम्पादक प्रकाशक अथवा किसी विशेष व्यक्ति के स्वार्थ साधन सम्बन्धी सामग्री का समावेश तो मानों महा निन्दनीय है। क्योंकि सामान्य रूप से प्रायः समाचार पत्र वा पत्रिकायें जन साधारण ही की सम्मति मानी जाती है। और यथार्थतः उसका सर्वसत्व एक प्रकार तत्सम्बन्धी समाज या समूह को मानना भी उचित और न्याय संगत है। पत्र का स्वामी और सम्पादक मानो एक एक प्रकार के कार्य कर्ता मात्र हैं, न कि सर्वथा स्वतन्त्र सर्व स्वत्वाधिकारी किसी पत्र के स्वामी वा सम्पादकका पत्र उसकी वैसी सम्पत्ति नही हैं, जैसे कि उसका ग्रह, वाटिका वा वाहन। वह उसके हानि लाभ का भागी अवश्य है, परन्तु उसका मत तो सर्वथा उसके समाज और समूह का अनुमोदित ही होना उचित है। चाहे उसका सम्पादक किसी विशेष कारण से सर्वथा उसके प्रतिकूल ही सिद्धान्त क्यों न रखता हो, परन्तु

वह निज का आग्रह छोड़ कर निज समाज वा समूह के मत ही को निज पत्र में प्रकाशित करने पर वाध्य है। इसके विरुद्ध आचरण करने पर वह अपने धर्म्म से च्युत होने और अपने पत्र की प्रतिष्ठा भंग करने का दोषी है।

प्रायः भाषा की दशा के अनुसार पत्रों की भी दशा रहती है। अर्थात् उसी की उन्नति अवनति के अनुसार वा आधार पर पत्रों की उन्नति या अवनति निर्भर है, वरञ्च पत्रों की दशा न केवल भाषा मात्र का किन्तु तत्सम्बन्धी देश तथा जाति और सम्प्रदाय की दशा का भी मुख्य प्रमाण भूत है। अब जैसी दशा हमारी भाषा की है, पत्रों की भी उससे अच्छी होनो कब सम्भव है। तौभी सम्प्रति हमारे पत्रों में प्रायः अधिकांश पत्रों की विवाद प्रणाली बहुत ही बिगड़ी लखाई पड़ती है। उसके सम्पादक आग्रह और हठ के वशवर्त्ती हो अपनी मर्य्यादा को सर्वथा भूल गये हैं, और वे अपने वक्तव्यांश की कोई सीमा नहीं रखते। वे किसी दूसरे की कैसी भी उचित सम्मति को मानना तो दूर रहा अपने विरुद्ध सुनना भी नहीं चाहते। वरञ्च अपने विरोधी को धन्यवाद के स्थान पर भी चाहें वह कोसों अन्याय की सीमा के भीतर क्यों न घुस जाँय ऐसी जली कटी और बेढंगी बातें सुनायेंगे कि जिससे उसका यातो फिर कुछ कहने ही का साहस न हो, और वह विचारा अपने उचित कहने पर पश्चाताप कर चुप रह जाय, वा उसी के तुल्य वा अधिक प्रभावोत्पादक वाक्यों में उत्तर दे। परन्तु प्रायः मौनावलम्बन में पराजय की आशंका से लोग चुप नहीं होते, वरञ्च एक के स्थान पर चार सुनने ही पर सन्नद्ध होते हैं, और इस प्रकार परस्पर का कलह बहुत ही विरूपता धारण कर लेता है।

सम्प्रति हमारी भाषा के समाचार पत्र और पत्रिकाओं के घोर आन्दोलन के हेतु दो विषय हैं,—प्रथम तो कुछ ऐसे भद्दे उपन्यास, वा नाटक कि जो मानों भारत के कई सच्चे कलंक से न तृप्त हो उसके सिर और भी झूठे कलंक लगाने ही के लिए लिखे गए हैं, नहीं तो क्या किसी विशेष रस वा कथा के समावेश के लिए अन्य जातीय पात्र के प्रवेश में कोई बाधा थी? विशेषतः उस दशा में जब कि वह घटना भी इतिहास अनुमोदित नहीं है। किसी किसी के उत्तर में यह भी कहा जाता है कि—"यह ग्रन्थ अनुवाद है, अतः दोषभागी भी लेखक मात्र है, न अनुवादक।" हाँ, जब हम यह देखते हैं कि मूल पुस्तक भी भारतीय भाषा ही में लिखी गई और लेखक भी उसके आर्य्य सन्तान ही थे, तो अवश्य ही भारत के भाग्य पर रोना

आता है, कि जहाँ ऐसे ऐसे महात्मा उत्पन्न होते कि जो अपने ही मूँ अपने को गालियाँ देकर भी सुकीर्ति चाहते हैं; परन्तु जहाँ के लोगों ने स्वार्थान्ध हो अथवा राज्य, धन धर्म वा प्राण बचाने, अथवा कल्याण का दूसरा उपाय न पाने से किसी आपत्काल में कापुरुषता के वशवर्ती हो कोई निन्दनीय कार्य्य कर भारत के निर्मल यश को कलंकित किया; तो उस नित्य अधःपतनशाली देश में आज उनकी सन्तान द्वारा नितान्त मिथ्या कलंक भी लगा कर उसकी वृद्धि करना यद्यपि कुछ विशेष आश्चर्य्य का विषय नहीं है, तौभी जो अपने देश पर मिथ्या कलंक का लगना नहीं सहन कर सकते, वा अपने आर्य्य कुल के गौरव स्वरूप राजपूत वंश की नितान्त मिथ्या अपकीर्ति वा गाली नहीं सुन सकते, महाराज रामचन्द्र के वंशज हिन्दूपति बादशाह भारत के अभिमान के एकमात्र आधार उदयपुर के प्रातः स्मरणीय महाराणा महोदयों के निर्मल यश को व्यर्थ मिथ्या कलंक से कलुषित देखकर चुप नहीं रह सकते, वे ऐसे ग्रन्थों के अनुवादकर्त्ता तो क्या वरञ्च आदर पूर्वक पढ़ने वालों अथवा पढ़कर पुस्तक न फाड़ डालने वालों को भी कदापि सीधी आंखों नहीं देख सकते; और न उस अपराध को क्षमा कर सकते हैं। फिर अनुवादक तो मानों दूसरा ग्रन्थकर्ता ही है। क्या कोई आर्य्य सन्तान जो नास्तिक, धर्मच्युत वा उन्मत्त नहीं है राम परीक्षा, कृष्ण परीक्षा वा और ऐसी इसाई पुस्तकें कि जिसमें हमारे वेद और शास्त्रादि की निन्दाएं लिखी हैं, किसी एक भारतीय भाषा से अन्य में अनुवाद करना उचित समझेगा कि जिसके हृदय में उनके गौरव का ध्यान लेशमात्र भी नहीं है। उनको अपने धर्म्म वा जाति से कुछ भी सहानुभूति नहीं है। अस्तु, उस कलंक के मिटाने की यदि कोई चेष्टा करता है, तो किसी स्वदेश स्वजाति वा स्वधर्माभिमानी आर्य्य सन्तान की समझ में कदापि अनुचित नहीं अनुमित हो सकता। वरञ्च एक मत से सभी को उसमें मुक्त कण्ठ से साधुवाद के अतिरिक्त दूसरा वक्तव्य असम्भव है। असावधानी के कारण जिससे यह भूल हो गई हो, उसे भी स्वार्थ त्याग कर सादर देश और जाति के मान रक्षार्थ अपनी भूल का प्रायश्चित कर्तव्य है। और ऐसा ही हुआ। परन्तु ऐसे भी आर्य्य सन्तान देखने में आये जो इसके विरुद्ध उस दोष को गुण बता चले, और यही सिद्धान्त स्थिर किया, कि—नहीं नहीं कदापि नहीं। जो किया सो किया। यदि किसी ने कोठड़ी के भीतर तुम्हारे बड़ों को गालियाँ दीं और हम उसे सुनकर मेले में सब से कहते फिरते हैं,

तो क्या अनुचित करते हैं ? तुम जाकर उसी से कहो ! खेद का विषय है कि उन्हें इतने पर भी सन्तोष नहीं, वरञ्च वेद शास्त्र और पुराणों तक को भी ले दे डाला, और स्वार्थ के विपरीत उदाहरण होने के भय से ऐसी अनकहनी बातें भी कर चले, कि—जिससे ऐसे विषयों में कुछ कहने का उत्साह ही जाता रहा, और अन्त को फिर उसी भारत के भाग्यपर पश्चाताप करना पड़ता है। निदान इस विषय के वादानुवाद के लेख देखकर अपनी भाषा के पत्र और लेखकों की दशा पर विचार कर चित्त में कुछ अपूर्व भाव उत्पन्न होते हैं कि जो कहने में नहीं आते।

दूसरा विषय है, 'भारत धर्म्म महा मण्डल।' इस नाम की महा सभा लगभग बीस वर्ष हुए कि यहाँ स्थापित हुई, धर्म्म प्रेमी आर्य्यों के हृदय में धर्म्मोन्नति की बहुत कुछ आशा हुई थी, परन्तु अब तक लोग देखते ही रहे कि कोई सदनुष्ठान होता है कि नहीं परन्तु दो तीन अधिवेशनों को छोड़ और कहीं कुछ न सुनाई पड़ा। सभा के रजिस्टरी कराने के लिये भी तभी से चिल्लाहट मची थी, परन्तु न हो सकी। और जबी जब कोई सुव्यवस्था की बात चली, कि खरमण्डल मचा। तब विशेषतः इसका नाम भी किसी पत्र में नहीं सुनाई पड़ता था, और न किसी कार्यवाही की चर्चा ही होती, आन्दोलन का भी विषय कोई न था, लोग दस पन्द्रह वर्ष तक मण्डल की रजिस्टरी कराने और सुव्यवस्था पूर्वक कार्य्य करने के लिये चिल्लाते ही रहे, परन्तु कौन सुनता था। अब जो उसकी रजिस्टरी हुई और कुछ व्यवस्था भी हो चली तो लोग इसी पर लक्ष्य कर उपहास और व्यङ्ग की बौछार छोड़ चले। हम यह नहीं कहते कि लोग सर्वथा उसके दोषों पर दृष्टि दें और उसके विरुद्धाचरण पर भी चुप रहें। वरञ्च अवश्य ही सच्चे दोष दिखलायें, उस पर आक्षेप करें, परन्तु गुण को भी उसी के साथ न समेटें। मधु-सूदन संहिता पर अवश्य तीव्र समालोचना करें, उसके निकृष्टांश की जो सतशास्त्र के विरुद्ध हो अवश्य निन्दा करें, परन्तु रजिस्टर्ड महामण्डल और सुव्यवस्थित मण्डल पर कटाक्ष कर उसे त्याज्य और उपेक्ष्य ठहराते उसके समूल नष्ट करने की कृपा न दिखायें और उसके किसी अधिकारी या कार्य्यकर्ता के स्वार्थ साधन अनुष्ठान और विधि विरुद्ध वा मण्डल के हानि प्रद कार्य्य को अवश्य रोकें, परन्तु किसी की व्यक्तिगत निन्दा और न्यूनता का जिससे मण्डल वा सर्व सामान्य आर्य्य जाति का कोई हानि वा लाभ का सम्बन्ध नहीं है आख्यान कर उसकी अंतर्आत्मा को कष्ट न पहुँचायें। और उसके उस

सदनुष्ठान को भी जिससे देश जाति वा धर्म्म का हित हो रहा है, निर्मूल कर धूल में न मिलायें। आज तो लोग उत्साहित होकर देश, जाति वा धर्म्म की सेवा कर रहे हैं, उन्हें अनुत्साहित हो छोड़ बैठने पर वाध्य न कर दें। एवम् इस प्रकार देश के सब से अधिक उपयोगी और मङ्गलप्रद कार्य्य सदैव के लिये बन्द कर देने की चेष्टा न करें।

जहाँ तक हम समझते हैं इस समय जो मण्डल के विरोधी हैं वे इसके पूर्व कार्य्यकर्ताओं के समर्थक वा प्रशंसक हैं। हम भी उन पूर्व कार्य्यकर्ताओं के इस समय मण्डल से अलग होने से प्रसन्न नहीं, और न कोई मण्डल का शुभ चिन्तक वा उदासीन व्यक्ति इसको उचित लाभदायक मानेगा, परन्तु जहाँ तक हमको इसके समाचार अवगत हैं हम जानते हैं, कि उन्हें किसी ने इससे अलग करना भी नहीं चाहा था, वरञ्च स्वयम् ही उन लोगों ने इससे अपना सम्बन्ध त्याग किया है। तब कहिये कि इसमें अब दोष किसका है? उनके अलग होने का कारण जब अनुमान किया जाता है तो केवल यही समझ में आता कि वे कदाचित् किसी नियम के प्रतिबद्ध नहीं होना चाहते और अपनी मनमानी कार्य्यवाही किया चाहते हैं। अब सोचिये कि इसे कब कोई देश हितैषी और धर्म्म प्रेमी उचित समझ कर स्वीकार करेगा? और कब ऐसा श्रेयस्कर हो सकता है? जब स्वतन्त्र राजे वरञ्च चक्रवर्ती सम्राट् भी व्यवस्था के प्रतिबद्ध होते, तब भारत धर्म्म महामण्डल जो अनेक सम्प्रदाय सम्बन्धी एक वृहत् जाति की महासभा है, उसका भार व्यवस्था विहीन एक वा कुछ लोगों ही के माथे कैसे रह सकता है? क्या मिस्टर ह्यूम सरीखे भी स्वार्थ त्यागी, परोपकारी, सच्चे और अनन्य देश हितैषी ही के ऊपर समस्त इण्डियन नेशनल काँग्रेस का भार और आयव्यय का अधिकार छोड़ा जा सकता है? यदि सुव्यवस्था के होने से उनके अनुचित स्वार्थ की कुछ हानि न थी, तो उन्हें इससे पृथक होने की आवश्यकता भी न थी। और ऐसी अवस्था में चाहे कोई ब्रह्मा ही सा पूज्य क्यों न हो, परन्तु जो इसे प्रच्छन्न भाव से केवल अपने स्वार्थ साधन की एक सामग्री मात्र मान कर धर्म्म रूपी धोखे की टट्टी में अनाचार की चोट चलाना चाहता है, कदापि कुछ भी श्रद्धा का पात्र नहीं है। किन्तु जो देश वा धर्म्म की यथा नियम सच्ची सेवा कर रहा है, तो चाहे वह नितान्त नीचातिनीच अथवा परम तुच्छ व्यक्ति ही क्यों न हो, अवश्य आदरणीय है। और कदाचित् उसका कुछ स्वार्थ भी सह्य हो सकता है। किन्तु उतनाही, जितना "दाल में नोन" पड़

सकता है और जो इतने बडे परिश्रम का वेतन वा पुरस्कार स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। हमने न तो पूर्वाधिकारियों को देखा न वर्तमान से वार्तालाप की। न इन दोनों मे से किसी से कुछ भी सम्बन्ध रखते, और न इनमे से किसी के जय-पराजय या कीर्ति-अपकीर्ति से कुछ भी सहानुभूति। हमारा मान्य और श्रद्धा पात्र केवल वही है, जो स्वार्थ त्याग पूर्वक केवल सच्चे चित्त से धर्म्म और जाति की सेवा करता है। नवीन अधिकारियों के भी नितान्त स्वार्थलोलुपता और अनुचित आचरण के यथावत प्रमाणित होते ही उन्हे मण्डल से अलग कर देने मे हम सब से पूर्व सम्मति दाता होंगे। वरञ्च उनसे अच्छे सहायक पाने पर यों भी उन्हे छोड़ देने मे हम कोई आग्रह नही रखते। परन्तु स्वार्थ सारथी युक्त या बिना सारथी के रथ रखना नहीं चाहते।

यदि नियम के प्रतिबद्ध होकर प्राचीन अधिकारी कार्य्य न किया चाहे तो चाहे इतना बडा सदनुष्ठान मिट्टी ही मे क्यों न मिल जाय, तो भी क्या कोई अन्य कार्य्य कर्ता नहीं नियुक्त करना चाहिए? वरञ्च पूर्ववत नियम रहित और व्यवस्था विहीन दशा ही मे उन्हीं को कार्य्य करने की अनुमति दे देनी उचित है? एवम् केवल नाममात्र के मण्डल को किसी एक व्यक्ति के लाभ वा प्रसन्नता के लिए वैसे ही पडा रहने देना चाहिए? और यदि नवीन कार्य्य करता नियुक्त हुए तो क्या उनसे यह आशा की जा सकती है, कि जितने कार्य्य वे करैं, किसी मे कुछ भी भूल वा दोष न हो, और कदापि कुछ सशोधन की आवश्यकता हीं न पडे? यह सर्वथा असम्भव है। जिस जिस कार्य्य को अगले पन्द्रह वा बीस वर्ष तक करके भी ठीक न कर सके, नयों को उसके लिये कुछ अवकाश भी देना चाहिये। अभी वे सर्वथा आरभ में हैं। सुतराम् जब तक जो जो कार्य्यकर्ता उस अधिकार पर नियुक्त हैं, उन्हे अपना प्रतिनिधि समभ कर केवल अनुचित आचरण के अतिरिक्त अन्य प्राय. सभी अवस्थाओं में हमें उनकी सम्यक् सम्मान सहित सब रीति से पूरी सहायता करनी, उन्हे उचित शिक्षा देनी, और अनिष्ट मार्ग से बचाते हुये ठीक पथ पर ले चलना चाहिये। अभी से बात बात में उनकी अकृत कार्य्यता पर जो वास्तव मे हमारी जाति मात्र की अकृत कार्य्यता है, हँसने, और छोटी छोटी त्रुटियों पर भी बडे बडे आपेक्ष और निन्दा करने से हम उनसे अधिक अपनी अथवा अपने देश की हानि करेंगे। क्योंकि मण्डल के कृतकार्य्य होने पर अवश्य ही सदैव यह अधिकारी न रहेंगे। परन्तु मण्डल

की निन्दा सुनते सुनते जब लोगों की उससे अश्रद्धा हो जायगी तब फिर वही वाक्य चरितार्थ होगा कि "छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा।"

इसी से हम अति विनम्र भाव से अपने आदरणीय सहयोगियों से पूछते हैं, कि जिस प्रकार आज कल आप लोग मण्डल वा उसके नवीन कार्य्यों पर अपनी अति तीव्र अनुमति प्रकाश कर रहे हैं; छोटे से छोटे दोषों पर भी बड़े से बड़ा विरोध कर रहे हैं और बड़े बड़े आवश्यक विषयों पर भी उदासीनता दिखला रहे हैं, उससे मण्डल को कितने लाभ वा हानि की आशा है? इसे स्वयम् विचार कर अब उस बिचारे पर दया दृष्टि फेरिये। इस नये पनपते पौधे को प्रेम पानीय प्रदान पूर्वक परिपुष्टावस्था को पहुँचाइये। इसके वर्तमान नवीन वा कुछ अकुशल कार्य्यकर्त्ताओं की सामान्य असावधानी और भूलों को क्षमा कीजिये। महामण्डल को निज की सम्पत्ति समझ कर शीघ्र सुसम्पन्न करने पर लक्ष्य रख यथा शक्ति उसकी सहायता कीजिये, न तु विरोध और उपहास।

क्योंकि आज कल जितनी निर्दयता से आप लोग उस पर आक्रमण कर रहे हैं, उससे अधिक कदाचित् आर्य्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी वा अनेक अन्य नवीन पथानुगामी, वा विधर्म्मी लोग भी नहीं कर सकते। आप लोगों के उपहास और विरोध को देख कर क्या आप के पत्र पाठकों को महामण्डल से कुछ भी श्रद्धा वा सहानुभूति रह सकती है? निश्चय आप उस कल्याणधार एकमात्र छप्पर को जिसके नीचे असंख्य आर्य्यसन्तानों को सुख-छाया की आशा है, सहायता कर उठाने के स्थान पर उठानेवालों को वारण कर रहे हैं। फिर बतलाइये कि अब वह बिचारा किससे अपनी सहायता और कृतकार्यता की आशा रख सकता है? आप जब उसका विरोध करते हैं, तो भला और विरोधियों के दल से लड़ना तो दूर रहे, आप ही को उत्तर देने के लिये वह कहाँ से सहायता पत्र पाये? अब कहिये कि भारत के भाग्य को छोड़ फिर किसका दोष दिया जाय।

क्योंकि जब तक मण्डल अचेत पड़ा सोता था, किसी देश हितैषी वा धर्म्म प्रेमी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगे। वे सब भी वैसे ही अचेत पड़े सोते रहे। परन्तु अब जो वह कुछ-कुछ चैतन्य और सचेष्ट होता हुआ लखाई पड़ चला, तो भारत दुर्भाग्य के सदा के सहायक बैर और फूट का प्रभाव भी फैल चला। चारों ओर से लोग उसकी टंगड़ियों तोड़ने पर उद्यत हो उठे।

स्थान-स्थान से एक-एक नवीन शब्द प्रयुक्त अनेक भारत धर्म्म महामण्डल और उनके संस्थापक, अधिष्ठाता और आचार्यों सहायक और शुभचिन्तकों के नाम भी सुनाई पड़ने लगे। सब के मनसूबे और मनोरथों के बवण्डर आकाश पाताल एक करते हुये उड़ चले, कि जिनकी गति देख कर त्रस्त होना पड़ता है। भला क्या कोई सामान्य बुद्धि का भी उदासीन व्यक्ति इसे स्वीकार कर सकता है, कि—इतने मण्डलों के होने से कभी कोई शुभ फल भी फलेगा? अथवा इनमें से कोई भी महामण्डल के वास्तविक उद्देश को पूर्ण कर सकेंगे? वा स्वयम् कृतकार्य होंगे? केवल इसके अतिरिक्त इनका और क्या फल होता है, कि वे सब स्वयम् कुछ-कुछ चिल्ला चिल्लाकर चुप हो जाँय, या कुछ अंश को इसके छीन इसे छिन्न-भिन्न कर आप भी अपनी असमर्थावस्था ही में विलीन हो जायँ।

मनुष्यों में मत विरोध का होना कुछ विचित्र नहीं है। एक समुदाय वा व्यक्ति विशेष की यदि दूसरे से नहीं पटती तो अवश्य ही वह उसी कार्य को दूसरी रीति से अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है। परन्तु न इस रीति से कि मूलउद्दिष्ट ही का नाश हो जाय। इङ्गलैंड आदि देशों की पार्लियामेण्ट आदि महासभाओं में भी कई दल रहते, जो निरन्तर एक दूसरे का विरोध ही करते रहते हैं। समय-समय पर एक दूसरे से प्रास्त भी हों जाते, तौभी विरुद्धांश के अतिरिक्त अन्य सबी कार्यों में वे जिन कार्यकर्त्ताओं के सहायक रहते, और मूल कार्य में कहीं से कुछ भी हानि नहीं होने देते। अब यदि हमारे बिखरे धर्म्म प्रेमियों में भी केवल मत मात्र का विरोध और वस्तुतः सच्चा धर्म्म का अनुराग होता, तो वे सुगमता से मण्डल में रह कर भी अपनी कार्य्यकुशलता और उद्योग सफलता का उदाहरण दिखला सकते थे। अलग भी उसकी शाखा वा सामान्य धर्म्म सभा के द्वारा उत्कृष्ट धर्म्म सेवा कर उसके सर्वोपरि सहायक बन सकते थे; नतु प्रतिपक्षता की पताका उड़ाते उसकी रोकने पर बद्धपरिकर होते।

अत्यन्त पारिताप का विषय तो यह है कि सदा से यहाँ ब्राह्मण ही लोग, जो धर्म्म ही के लिये बनाये गये थे, धर्म्म ही जिनके जीवन का उद्देश्य था, और जिन्हीं के आधार पर धर्म्म की स्थिति थी धर्म्म के उपदेष्टा, अधिष्ठाता और रक्षक थे आज समय के फेर से बहुतेरे उन्हीं में से इसके प्रतिकूल आचरण कर रहे हैं अनेक लोगों के इस आक्षेप के, कि—"ब्राह्मण ही लोगों ने धर्म्म का नाश किया, देश का नाश किया, आर्य्य जाति को धूलि में मिला दिया।"

उदाहरण स्वरूप अपने आपको स्वयम् प्रमाणित कर रहे हैं। वास्तव में सर्वथा अपने स्वरूप को भूल कर अपने परम दुर्लभ मान मर्यादा को खो रहे हैं! वह आज क्या कहते हैं, कल क्या लिख देते हैं, और फिर परसों क्या कर बैठते हैं, इसे वे स्वयम् नहीं समझते। वे अपने कुत्सित कार्यों से न केवल अपने ही को कलुषित करते वरञ्च अपने संग अच्छों को भी निकृष्ट प्रमाणित करते, और जाति मात्र को कलंकित किये देते हैं। काशी के सामयिक अनेक पत्र, पुस्तक, व्यवस्था और विज्ञप्तियाँ जिनके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। परन्तु हाय! तौ भी इन्हें कुछ भी शोक और लज्जा का आघात नहीं पहुँचता। कदाचित ये सर्वतोभावेन तिरस्कृत होकर भी न सोचैंगे। वास्तव में ये दुर्भाग्य के उन्माद में पड़ कर ज्ञान शून्य हो गये हैं। ये स्वयम् अपने स्वरूप और वाक्य का कुछ मान नहीं रखते। चाहे फल कुछ ही क्यों न हो, वा कुछ भी न हो, परन्तु कह देने वा कर देने में इन्हें किसी बात का विचार नहीं है। मण्डल के कृतकार्य होने से मुख्य लाभ यदि होगा, तो ब्राह्मण ही जाति का होगा। परन्तु हाय! उसके मूल्य में भी कुठाराघात यही महापुरुष लोग कर रहे हैं। इसमें भी अनुचित लाभ लोभ के वशीभूत हो वे भाँति भाँति के अपूर्व आडम्बर खड़े कर रहे हैं। धन्य स्वार्थान्धता और!! धन्य भारत के भाग्य!!!

अब जिन्हें कर्तव्याकर्तव्य का विचार नहीं है। उचितानुचित का विवेक नहीं है। अथवा जो अपने लाभ के लिये समस्त देश की अति उत्कट हानि कर देने में भी किञ्चित संकुचित नहीं होते, उनसे कोई क्या कह सकता है? अतः उनको यथार्थ पथ पर लाने का उद्योग भी करना व्यर्थ है, क्योंकि वे ब्रह्मा के कहने को भी नहीं मान सकते। तब केवल उसकी उपेक्षा करके उनके छल छद्म और कपट जाल से बचना और अपने इष्ट उद्देश्य को उनके घोर और भयंकर आघातों से बचाना मात्र हमारा कर्तव्य है। सुतराम यही एक कार्य हमारे सहयोगियों और देश के प्रधान अग्रसर सज्जनों का है। वह लोग इस चारों ओर से मची चिल्लाहट पर विचार कर सत्य का निर्णय करें। वास्तव में जो दोष मण्डल में विद्यमान हों उनके शीघ्र दूर करने का उचित रीति से प्रयत्न करें। ईर्षा द्वेष और लोभ के बसीभूत हो जो मण्डल के विरोधी हैं उनकी बातों के सुनने सुनाने को छोड़, एक भारत धर्म्म महामंडल की सहायता और उसके शीघ्र कृतकार्य्यता के अर्थ उचित और यथेष्ट उद्योग करें। चपड़ों की चालों को मिथ्या और तिरस्करणीय प्रमाणित कर जन साधारण के भ्रम को मिटायें। और स्वयम् उस ओर से उदासीन हो स्वधर्म्म

और निज कर्तव्य की रक्षा करें। क्योंकि—आज कल इस विषय के जो लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित होते हैं उनके पढ़ने से सत्य और मिथ्या का निर्णय सर्वथा दुःसाध्य होगया है। बहुतेरों की लेख-शैली पक्षपात और आग्रह से भरी लखाई पड़ती है। वह एक उदासीन न्यायकर्ता वा देश शुभ-चिन्तक की सी उक्ति नहीं प्रतीत होती, वरञ्च आग्रही वा द्वेषी की। और ऐसा होना देश जाति और धर्म्म के हानि का हेतु और भाषा तथा पत्र के अप्रतिष्ठा का कारण है।

हम यह नहीं कहते कि महामण्डल वा उनके नवीन कार्यकर्ता गण सर्वथा दोष हीन हैं, वा उनके कृत्य में कुछ भी संशोधन की आवश्यकता नहीं है, वा उसके विषय में हम लोगों को कुछ भी वक्तव्य वा कर्तव्य नहीं है। संशोधनार्थ यथावत् आन्दोलन के भी हम विरुद्ध नहीं हैं। हमारा निवेदन केवल इतना ही है, कि—जो कुछ उचित आक्षेप और सम्मति हो वह इस रीति से कि जैसे कोई हितैषी मित्र अपने मित्र को शिक्षा वा सम्मति देता है। न इस प्रकार कि जैसे—कोई छिद्रान्वेषी द्वेषी। हम यह भी मानते हैं कि हमारे सहयोगियों के कई उचित आन्दोलन का कुछ अच्छा फल भी हुआ है, जिसके लिये देश उनका उपकृत है, और हम भी उनको उसके लिये धन्यवाद देंगे। परन्तु उनके निरन्तर अनेक व्यर्थ और अनुचित आक्षेप और आक्रमण ने मानों उनके निर्मल यश तन्दुल से कहीं अधिक विरोध और द्वेष की भूसी मिला कर उसका मूल घटा दिया। और उनका उचित विरोध भी स्वभाव सिद्ध सा प्रतीत हो उक्त शुभफल के कारण में भी भ्रम उत्पन्न करने लगा। उनके पत्र सनातन धर्म्म वा महामंडल के सहायक, रक्षक, शुभचिन्तक वा समर्थक से नहीं प्रतीत होते, और न उदासीन, वरञ्च इसके सर्वथा विरुद्ध।

हम न तो ऐसे झगड़ालू विषय को कभी लिखना चाहते, और न यह हमारा कार्य है। परन्तु जब हम देखते हैं कि—यह प्रबल विरोध वायु प्रवाह मंडल की बाल मञ्जुललता को छिन्न भिन्न कर देना चाहता है, तो हठात् चित्त चंचल हो अपनी लघुमति के अनुसार हमें अपने प्रिय सहयोगियों की सेवा में अति विनीति भाव से उचित अनुमति देने पर बाध्य करता है। सुतराम् यदि हमारे सुयोग्य सहयोगी जन इस प्रार्थना को उचित समझ कर अब मण्डल की तुच्छ त्रुटियों पर दृष्टिपात न कर उसकी समयोचित सहायता करेंगे, तो देश और जाति की अमूल्य सेवा कर उसे अनुग्रहीत बनायेंगे।

क्योंकि वे सब प्रायः सनातन धर्म्मावलम्बी पत्र सम्पादक हैं। इसी से उनसे हमारा और उसका कहने का स्वत्व है। अन्यथा वे कृपाकर इस ढिठाई और हित के अर्थ कहे गये कटु वाक्यों के अर्थ हमें क्षमा करें। क्योंकि महाकवि भारवि के कथनानुसार—"हितम् मनोहारि च दुर्लभम्वचः।" हमारा कुछ निवेदन उन सहयोगियों से भी है कि जो साम्प्रतिक महामण्डल वा उनके वर्तमान अधिकारी और कार्य्यकर्ताओं के पक्ष में हैं, कि—आप लोग भी केवल न्यायपूर्वक सत्यांश के पक्षपाती हों, अनुचित आग्रह और आक्रमण अथवा कटु वा उपहासात्मक शैली को छोड़ शान्त और सरस भाव से खंण्डन मंडन और वाद-विवाद करें। यदि उचित के समर्थन में कोई गाली भी दे तो सहन करें, चुप रहें, परन्तु जैसे का तैसा उत्तर न दें। क्योंकि उत्तर उसी का देना योग्य है कि जिसमें आवश्यकता हो। अनुचित और अन्याय पूर्वक प्रश्न का उत्तर मौनावलम्बन मात्र है।

उपसंहार में हमें उभयपक्ष के सहयोगियों से यही प्रार्थनीय है कि जिस प्रकार आज कल विवाद की प्रणाली चल रही है, वा जैसे जैसे विचित्र चित्र परिहास वा पद्य, सम्पादकीय प्रबन्ध वा प्रेरित पत्र आदि साम्प्रतिक पत्रों में प्रकाशित होने की चाल चल रही है, वह न केवल नितान्त दूषणीय और निन्दनीय वरञ्च बहुत ही विशेष हानि प्रद है। अत: अवश्यमेव त्याज्य और संशोधनीय है। हम नित्य प्रति देखते हैं, कि आज कल सामान्य से सामान्य विषय के लिखने में भी अति असामान्य रीति पर प्रतिवादी के चित्त में चुभने वाले भाव लाने का प्रयत्न किया जाता, और सीधी बात भी टेढ़ी करके कहने की परिपाटी चल रही है। चुटकियाँ ऐसी ली जाती हैं कि जो कदाचित् चोखी छुरी से भी अधिक कतर ब्योंत कर जाती, और सचमुच "हास्येपित द्ददतियत्कल हेप्यवाच्यम्।" का स्मरण कराती हैं। पर पक्ष खंडन और निज के समर्थन में लोग अपने आपही को भूल जाते हैं। एक सामान्य ग्रन्थ के निकृष्टांश को विहित बताने में अपने उन धर्म्म ग्रन्थों को कि जिन पर आज बीसों कोटि आर्य्यों का पवित्र विश्वास है और जिनके गूढ़ रहस्य के समझने में आज अनेक आधुनिक विद्वान कान पर हाथ रख बत्तीसी दिखलाते, चटपट उनके कुछ अटपटे उदाहरण दिखला कर लोग निन्दनीय और दूषित बतला चलते। हमारे इतिहास के वे काले पृष्ठ जिन्हें हमारे विरोधी बड़े बड़े प्रयत्न से विचित्र कर गये हैं, उलट उलट कर हमें दिखाते हैं। जैनी, यवन, और कृस्तानों की दी गालियाँ हमें सुनाते और चिढ़ाते हैं। अवश्य ही अनार्य्य

उसे कह सकते, और हम भी उनके मूँ से सुन अपने को सँभाल सकते हैं। परन्तु क्या जिसे आर्य्य सन्तान होने का अभिमान हो वह भी ऐसा कह सकता है ? अथवा अपने पत्र में प्रकाशित कर सकता है ? और क्या समाज उसको क्षमा कर सकता है ? आश्चर्य्य ! आश्चर्य्य ! धन्य भारत ! और धन्य तेरे भाग्य और सामयिक सन्तान !

नागरी समाचार पत्र और उनके सम्पादकों का समाज

सम्प्रति नागरी समाचार पत्रों के सम्पादकों के समाज संगठन की फिर चर्चा चल रही है। यद्यपि यह प्रस्ताव आरम्भ में उठते ही कुँभलाया सा लखाता, क्योंकि जिन सम्पादकों ने इसका समर्थन भी किया है, वह भी ऐसी बेदिली और अनुत्साहित रीति से, जिससे आशा नहीं कि इसके संगठन में लोग कुछ अधिक उत्सुक हों, वह यह प्रस्ताव शीघ्र कृतकार्य्यता को पहुँचे; तो भी इस आवश्यक विषय की उपेक्षा करनी उचित न समझ कर इस पर कुछ विचार करने की आवश्यकता बोध होती है; चाहे उसका कुछ फल हो अथवा न हो।

हम देखते हैं कि प्रायः हिन्दी समाचार पत्रों में अच्छे से अच्छे प्रकार पर तर्क पूर्वक यथावत निर्णीत और प्रतिष्ठित पुरुषों से किये गये किसी कैसे ही प्रयोजनीय प्रस्ताव पर भी दूसरे लोग कुछ ध्यान नहीं देते। यद्यपि राज नैतिक वा धार्म्मिक आदि प्रचरित विषयों पर लोग निरन्तर कुछ न कुछ लिखा करते, किन्तु उसमें भी दूसरों के कैसे ही मूल्यवान स्वतन्त्र मत को कदापि अपने पत्र में स्थान नहीं देते। नित्य नवीनों को छोड़ प्राचीन और प्रचरित पत्र पत्रिकाओं की भी समालोचना करते, किन्तु केवल कटाक्ष और दोष उद्घाटन ही के लिये, कभी किसी के अच्छे लेख के विषय में तो चार अक्षर भी नहीं लिखते और किसी अच्छे प्रबन्ध को अपने पत्र में स्थान दान तो पाप समझते। कदाचित् वे इसमें अपनी मान हानि मानते और यह जानते कि उनके ग्राहक गण कहीं यह न समझ लें कि सम्पादक महाशय स्वयम् ऐसा लेख नहीं लिख सकते, इसी से औरों के लेख से पत्र भरते हैं, अथवा दूसरों को कदाचित् कुछ लाभ पहुँच जाने से डरते हैं कि ऐसा न हो कि कुछ लोग इस लेख को देख उसके नवीन ग्राहक बन जायँ। नहीं तो क्या कारण है कि नागरी के किसी पत्र व पत्रिका में संग्रह स्तम्भ नहीं देखने में आता, जिससे किसी एक पत्र के पाठकों को अनेक पत्रों के अच्छे लेख के देखने का अवसर

मिले। मानों उनमें परस्पर ऐसा वैर है कि जब तक किसी को कुछ टेढ़ी सीधी बातें सुनानी इष्ट न हो, कोई एक दूसरे का नाम भी लेना नहीं चाहता और पराई प्रतिष्ठा करना तो मानो वे जानते ही नहीं। ऐसी दशा में जबकि सहज सहानुभूति दुर्लभ है तो परस्पर एक दूसरे की उन्नति साधन की चेष्टा की क्या आशा हो सकती है?

जब कभी इनमें किसी बात के विषय में परस्पर मतभेद के कारण विवाद उपस्थित होता, तब उनकी लीला ही कुछ विलक्षण हो जाती है। हम कभी आगे लिख चुके हैं कि—हमारी भाषा के पत्रों की लेखशैली विशेषता विवाद प्रणाली बहुत ही बिगड़ती चली जा रही है; अभी श्री वेङ्कटेश्वर समाचार ने भी अपने एक पत्र प्रेरक के पत्र को प्रकाशित करते उसके विषय में अपनी यों सम्मति प्रकाशित की है कि "खेद की बात है हमारे हिन्दी के लेखक किसी विषय का प्रतिवाद भद्दी कड़ी बात बिना कहे नहीं कर सकते हैं"। उक्त पत्र भी उसी कड़ाई का दुःखदाई नमूना है। प्रतिवाद करते समय हम पत्र सम्पादक लोग भी प्रायः ऐसा ही नमूना दिखा देते हैं। उस समय अपने समान किसी हिन्दी लेखक को भी उसके चरित्र सम्बन्धी अवान्तर बात कह कर हम अपने पाठकों की रुचि को बिगाड़ने के साथ साथ समझा देते हैं कि हम एक दूसरे का सम्मान करना नहीं जानते हैं। जब तक इस कलङ्क से पार हम नहीं पा जायँगे तब तक हमारे चरित्र में पूरा पूरा बल नहीं आवेगा।"

सरस्वती सम्पादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी और भारत मित्र सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त का अति उत्कट विवाद जो व्याकरण विषय पर उठ खड़ा हुआ था और कदाचित् वह अब शान्त भी हो गया सा लखाता, हमारी भाषा के वर्तमान पत्र पत्रिका और उसके सम्पादकों तथा हिन्दी के साम्प्रतिक सेवक और सुलेखकों की लेख शैली वा विवाद प्रणाली के देखने का अच्छा उदाहरण हैं जिसमें एक पक्ष के लोग दूसरे का अपमान करने वा उनको मनस्ताप देने के अर्थ यथा शक्य कोई उद्योग शेष छोड़ते नहीं दिखलाते। जब वे जली कटी बातों के कहने से नहीं अघाते तो गालियों के भी ओले बरसाते लखाते हैं।

पंडित महावीर द्विवेदी ने सरस्वती में जो व्याकरण विषयक प्रथम लेख लिखा था, उसमें चाहे उनके मत से किसी किसी को किसी वा कई स्थानों पर विरोध क्यों न हो; अथवा उसमें अशुद्धियों के वे उदाहरण जो उन्होंने ऐसे

सम्मानित लोगों के लेखों से संग्रह किये हैं जिन्हें लोग प्रचरित नागरी भाषा के परमाचार्य्य मानते और जो बहुतों को दुखदाई होने के कारण अनुचित कहने के योग्य क्यों न हो अथवा उनकी लेखनी ने दूसरों की समझ में जो और प्रमाद किया हो, वा जहाँ कहीं उस लेख में शब्द अशुद्ध, वा पद बेकैंड़े और सुविज्ञ अनुमोदित शैली से फिसलते क्यों न हों, जिसे उन्होंने अपनी समझ, रुचि और योग्यतानुसार लिखकर सर्वसाधारण के समक्ष निर्णयार्थ उपस्थित किया; उस पर न केवल मिस्टर आत्माराम अथवा बाबूबालमुकुन्द गुप्त वरञ्च सबी को सर्वथा अपनी स्वच्छन्द सम्मति प्रकाशित करने, दूषण देने, खण्डन वा संशोधन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है; किन्तु हाँ, केवल वहीं तक जितने अंश पर विवाद है, अथवा जो अशुद्ध, दूषणीय वा आक्षेप के योग्य है। जहाँ जिसकी समझ में जो अंश अनुचित हो, वह उसका तिरस्कार कर सकता है, अशुद्धियां जता सकता, संशोधन वा खण्डन कर सकता है, किन्तु उचित और सभ्य रीति से। व्यंगोक्ति वरञ्च सुहाता उपहास भी बिना किसी रोक टोक के कर सकता है, परन्तु वैसा और उतना ही जितना परस्पर सभ्यों में होता और शिष्टता की सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता और न कहीं से उसमें आन्तरिक पारस्परिक द्वेष की दुर्गन्धि आती हो। यों ही जो लोग स्वर्गीय निज भाषा के बड़े बड़े आचार्य्यों के भी, जो वर्तमान हिन्दी के सुलेखकों के उस्ताद कहे जा सकते, क्योंकि आज वे उन्हीं का अनुकरण करते और उन्हीं की प्रदर्शित प्रणाली पर चल रहे हैं, दोषों को दिखलाते और लोगों से स्वीकार कराना चाहते,अपनी भद्दी से भद्दी भूलों को स्वयम् स्वीकार करना तो दूर, सुनना भी नहीं सहन कर सकते और व्यर्थ का वितण्डावाद करते; अथवा यदि कोई उनसे अपने आन्तरिक द्वेष का दाव ले रहा है जो उसके संग भी तूर मैं मैं करने पर बद्धपरिकर होते। वे यदि उचित उत्तर ढूंढ़ कर भी नहीं पाते, तो वलात बनाते, यदि आप थक जाते, दूसरे सहायक बोलाते, परन्तु यदि किसी ने एक पृष्ट में कुछ लिख दिया है तो आठ पृष्ठ काला किये बिना नहीं रहते, और आपस में एक दूसरे को कुछ भी कह देते नहीं रुकते। यदि किसी की ओर से कहीं सभ्य व्यंग की बौछार आती, तो दूसरी ओर से प्रयत्क्ष धिक्कार और तू तुकार की मूसलधार वृष्टि होती। यदि एक की ओर से कुछ काटछाँट और कतर ब्योंत की चुटकियाँ ली जाती, तो दूसरी ओर से सीधा चीड़ फाड़ आरम्भ हो जाता और फिर घृणित दुर्वाक्यों के बम के गोले चलने लगते; "आप साक्षात मूर्ख हैं, आप को चार पंक्ति भी

शुद्ध लिखना नहीं आता, आप ग्रामीण हैं, आप उजड्ड हैं, निर्लज्ज हैं और क्या नहीं हैं। अभी कुछ दिन कहीं जाकर आमुखता सुनाइये, तब फिर आकर बातें बनाइये। इत्यादि" में कहीं बढ़ बढ़ कर उक्तियों का तो मानों उन्होंने पाठही कण्ठ कर लिया है। इसके अतिरिक्त भाँति भाँति की अप्रतिष्ठा सूचक वाक्यावालियों जो गालियों से न्यून नहीं, आलोचना और आलोचना की समीक्षा प्रश्नोत्तर पञ्च, परिहासादि के रूप में कई महीने निरन्तर सुनाई पड़ती रही। कोई यदि किसी को मूर्ख और गँवार बतलाता, तो वह उसे मसखरा और भाँड़ बनाता। फिर कहिये इससे अधिक आश्चर्य्य और आक्षेप का विषय और क्या है? यदि ये बातें अनभिज्ञ और नवसिखुये लेखकों की ओर से होती, कुछ विशेष विचित्र न जँचती, किन्तु उक्त दोनों महाशय सम्प्रति इस भाषा के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित सुलेखक स्वीकार किये जाते, दोनों विख्यात और सन्मानित पत्रों के सम्पादक हैं।

अस्तु, यदि ये दोनों महाशय केवल अपने ही पत्रों में इस विवाद को स्थान देते, तौ भी विशेष हानि न थी, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि इनके प्रभाव में समस्त पत्र इसी दोष में दूषित हो गये। दलपतियों को छोड़ कर इनके सहायक और विपक्षियों ने अति अच्छा अवसर पाकर अपने-अपने मन की कसक निकालनी आरम्भ की और सबों ने मिलकर एक अनोखी उत्पात आरम्भ कर दिया, कि जिसका मुख्य सिद्धान्त पराई निन्दा और इसी के ब्याज से दूसरे को चार गाली दे देना मात्र था। फिर आनन्द तो यह कि सब पत्र सम्पादक लोग अपनी अपनी टिप्पनियों में इस पर शोक सूचित करते, इस झगड़े को मिटाने के अर्थ अति उत्कण्ठित दिखलाते और साथ ही एक अच्छा गाली-सहस्र नाम भी प्रकाशित कर देते। वह अपने निज पत्र को भी इस दोष से रहित न करते, जो सबसे आश्चर्य्य और आक्षेप का विषय था। हम स्वीकार करेंगे कि समाचार पत्र एक प्रकार सर्वसामान्य की सम्मति हैं, उसमें सबी का अधिकार है कि जनसाधारण के हित सम्बन्धी चाहे किसी विषय पर अपनी स्वतंत्र सम्मति प्रकाशित करें, परन्तु क्या उसके विरुद्ध गाली? अथवा किसी जन विशेष को मनस्ताप देने ही के अर्थ व्यर्थ वागाडम्बर?

कहा जाता है, कि "विवाद के इस विरूपता का कारण परस्पर प्राचीन मानोमालिन्य है, क्योंकि बिना आन्तरिक द्वेष के ऐसा उत्कट कलह असम्भव है।" कदाचित् यह किसी सीमा तक सत्य हो, क्योंकि इसके पूर्व

से भी इन पूर्व प्रशंसित महाशयों में कुछ छेड़ छाड़ चली आती थी। किन्तु पूर्व विवाद का भी मूल कारण अवश्य ही केवल विद्या विषयक मतभेद अथवा परस्पर विजिगीषा के अतिरिक्त कोई और होना असम्भव प्रतीत होता है। एवम् परस्पर दो समकालीन तुल्य विद्वान, कवि, सुलेखक अथवा सम्पादकों में विवाद उपस्थित हो जाना सहज स्वाभाविक है और सदा से होता देखा गया है; अतएव पूर्व विवाद की खोज व्यर्थ है, क्योंकि कारण दोनों का केवल अर्धोक्त ही होना निश्चित है। अब यदि दो वीर मल्ल साहित्य के अखाड़े में भिड़ गये थे, तो केवल उन्हें अपने अपने दाव पेंच दिखलाने और एक दूसरे के पछाड़ने के प्रयत्न का देखना ही उदासीन सज्जनों का कार्य्य था, अथवा उस विवाद पर सावधानी और सभ्यता पूर्वक केवल अपनी पक्षपात-शून्य-सम्मति मात्र, जैसा किसी किसी न प्रकाशित भी की थी, दे देनी ही यथेष्ट थी। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि इसमें तो लोगों ने दुर्लभ अवसर सा पाकर अपने अपने मन की कसक निकालते बारहमासी फाग खेलते रहे। जिसका कारण कदाचित् यही है, कि प्रशंसित दोनों सम्पादक महाशय बड़े तीव्र समालोचक जिनके कलम के कटार के घायलों की संख्या कदाचित् न्यून न थी; जिनमें न केवल सामान्य नागरी सेवी, सुलेख और ग्रन्थकार मात्र, वरंच अनेक समाचार-पत्र सम्पादक भी थे जिनके हृदय किसी से न्यून चुटीली न थे, इस महासंग्राम में विपक्षी दल पर यथा शक्य आक्रमण और उसे सर्वथा विध्वस्त करने में अपने साहस से पूरा पूरा कार्य्य लेने में कुछ भी पीछे न हटे।

विवाद का मुख्य विषय व्याकरण था, किन्तु उक्त व्याकरण से इस विवाद का बहुत ही न्यून सम्बन्ध रहा। हाँ, परस्पर एक दूसरे के लेखों की अशुद्धियाँ निकालने और उन्हें स्वयम् व्याकरण से अनभिज्ञ प्रमाणित करने पर अधिक प्रयास किया गया, और उससे भी अधिक दुर्वाच्यों और कटु भाषण में। निःसन्देह कैसा ही बड़ा कोई विद्वान क्यों न हो और कितनी ही सावधानी से वह क्यों न लिखे, परन्तु उसमें कहीं से कुछ भी अशुद्धि न आ जाय, यह एक प्रकार असम्भव है; तब परस्पर इस सुलेखकों का एक दूसरे के लेखों में ढूँढ़ ढूँढ़ कर अशुद्धियां दिखलानी एक प्रकार व्यर्थ ही व्यापार था; क्योंकि भ्रम अथवा असावधानी से हुये कुछ दोष दिखला देने में उनका सर्वथा अयोग्य प्रमाणित हो जाना असम्भव है। इससे भी अधिक मृत मनुष्यों के अकारण दोष ढूंढ़ना वा उनकी

अशुद्धियाँ दिखलाना वा उनसे उत्तर चाहता है। जीते लोग तो उसके विरुद्ध उत्तर भी दे सकते हैं, किन्तु मरे तो न उत्तर देने आ सकते हैं, न उनको किसी प्रकार की शिक्षा मिल सकती, वा ग्लानि हो सकती।

अस्तु, हम समझते हैं कि इस झगड़े के इतने बढ़ने का कारण भी यही अशुद्धि प्रदर्शन है। सम्भव है कि अपने सजातीय निज भाषाचार्य्य स्वरूप भारतेन्दु और उनके गुरू की अशुद्धियां देख उत्तेजित हो भारत मित्र सम्पादक के सरस्वती दोष दिखलाने पर विवश हुए हों, योंही सरस्वती सम्पादक और उनके अनुयायी वा उनमें सहानुभूति रखने वाले लोग भी दूसरे ओर की धूल उड़ानी आरम्भ की। इसी से यह मान लेना पड़ता है कि इस विवाद में शुद्ध चित से केवल विवाद-ग्रस्त विषय के निर्णय के अर्थ उत्तर प्रत्युत्तर न होकर सर्वथा विपक्षी के परास्त करने और उसे अपमानित करने ही का प्रयास किया गया, सुतराम् लोग दूसरों के आक्षेपों के उत्तर में केवल गाली दे, वा उपहास कर के प्रसन्न होते रहे।

द्विवेदी जी का दोष यदि भारतेन्दु के दोषों को विशेष कर दूसरी वार का दिखलाना माना जाय, तो भारत-मित्र की उपहासात्मक समालोचना शैली भी दूषणीय कही जायगी, कि जो उसकी प्रयःस्वभाव सिद्ध है। योंही उभय पक्ष का अप्रत्यक्ष रूप से खण्डन मन्डन करना भी न्यून अनुचित न था।

अस्तु इस झगड़े में भारत-मित्र अथवा सरस्वती के सम्पादक महाशयों से तो हम को उतना उपालम्भ नहीं कि जितना उनके सहायकों में जिनकी दशा पर यह कहावत याद आती है कि "थोर तो लिखे न तुलसीदास, अधिक गाये भगतवन।" तो भी उसमें जो ऊपर कहे गये कई ऐसे कारण भी हो सकते हैं, कि जिनमें मनुष्य विशेष उत्तेजित होकर कदाचित् कुछ विवेक च्युत भी हो सकता है फिर किसी विशेष से उत्पन्न आकस्मिक कार्य्य से कुछ स्थायी हानि वा लाभ नहीं हो सकता है। परन्तु यहां तो हम देखते हैं, कि हमारी भाषा के लेखक स्वभावतः "हास्येपितद वदत यत्कल हेप्यवाच्यम्।" भारत धर्म्म महामण्डल के सम्बन्ध में विशेषतः जब से कि उसका अधिकार कुछ नवीन व्यक्तियों के हाथ में आया है प्रायः ऐसे ही लेख देखने में आते हैं अभी विगत होलो और उसके पीछे एप्रिल फूल

के व्याज से अनेक सज्जनों से कई पत्रों के द्वारा ऐसे ऐसे उपहास किये गये, कि जो कदाचित् बिनोद और मन वहलाव अथवा परिहास की सीमा से कहीं दूर थे, जिसे सुन हंसी के स्थान पर रोना आ सकता है।

होली में पारिहासिक नम्बर निकालने की प्रथा इधर नागरी नीरद ने निकाली थी, जिसके पीछे अनेक हिन्दी के पत्र उसका अनुकरण कर चले, जो एक बहुत उत्तम चाल है; नहीं तो कलकतिये हिन्दी पत्र दुर्गा पूजा ही से प्रायः परिहास पूर्ण पत्र प्रकाशित करते रहे। किन्तु अब लोग जिस प्रकार होली मनाने लगे हैं, वह कदाचित विनोद के आनन्द को बिगाड़ देता है, जो त्याज्य है। लोगों ने देखा होगा कि एप्रिल फूल में एक चित्र माननीय पंडित मदनमोहन मालवीय का प्रयागी राघवेन्द्र ने छापा था जो कदाचित् उचित नहीं कहा जा सकता, तौ भी उस पर जो आलोचना हिन्दी प्रदीप ने की वह यद्यपि कुछ कड़ी कही जा सकती है किन्तु उसका उत्तर जो राघवेन्द्र ने दिया कहाँ तक वह पश्चाताप के योग्य है न्यायवान जन सहज ही अनुमान कर सकते हैं। योंही कुछ दिन पूर्व जयपुरी समालोचक में एक खुली चिट्ठी प्रकाशित हुई थी उसमें भी पडित मदनमोहन मालवीय के विषय में कुछ ऐसे शब्द व्यवहृत किये गये थे, की जो परम असभ्यों में भी परस्पर कहने पर कलह के हेतु होते हैं। यह दोनों पत्र दो सम्भावित सज्जनों के द्वारा प्रकाशित होते और नये होने पर भी प्रतिष्ठित माने जाते हैं; फिर यदि उनमें ऐसे लोगों के भी अर्थ अवाच्य प्रयोग होते जो देश के अनन्य और अनुपम अग्रसर और आर्य्य जाति के अभिमान के हेतु हैं, तो हम नहीं समझ सकते कि फिर उनको सामान्य सज्जनों की प्रतिष्ठा का कब और कितना ध्यान रह सकता है। क्या कहा जाय ? क्या देश के सच्चे सेवकों को देश के शिक्षितों से ऐसा ही पुरस्कार पाकर देशहित व्रत से विरत होना होगा ? पिछली होलियों में भी हमने राजा रामपाल सिंहादि के विषय में ऐसे ही अनुचित उपहास देखे थे। अत्रभगवान् के धार्म्मिक विश्वास के विषय में चाहे किसी को कुछ वक्तव्य क्यों न हो, परन्तु उनकी निज भाषा सेवा की न्यायतः, हम लोग कब अवहेलना करके उनकी प्रतिष्ठा पर आघात करने का साहस कर सकते हैं।

अब हम इस प्रथा के प्रचार के विषय में सोचते हैं तो उर्दू भाषा के पत्र आपस के झगड़ों में तो प्रायः ऐसी बेढंगी बोलियां बोलते थे, किन्तु आरम्भ में हमारी भाषा में कुछ कुछ ऐसे कठिन शाब्दों में उत्तर प्रत्युत्तर की प्रणाली स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ही ने चलाई और पीछे उनके अनुगामियों ने

तो मानों उनके और उपदेशों के संग इसे अपना परम कर्तव्य ही मान लिया। उनके पत्र सदा सनातन धर्म्मियों को प्रायः ऐसे ही ऐसे असह्य वाक्यों से सम्बोधन करते रहे, जिसमें वे उसी को सुन सन्तुष्ट हो जाँय आगे और कुछ कहने का साहस न करें। इधर के मूफड़ लोग भी कुछ कुछ वैसे ही उत्तर देने लगे। यों क्रमशः मानों यह एक नई निन्द्य शैली निकल पड़ी, जो अवश्य ही संशोधन के योग्य है। क्योंकि इसके द्वारा मुख्य विवाद ग्रस्त विषय छूट कर व्यर्थ घृणित वाक्कलह उत्पन्न हो जाता, जो अन्त को आन्तरिक द्वेष के रूप में परिणत हो सदैव विपक्षी के उचित प्रस्तावों का भी विरोध और उससे अनुष्ठित कैसे ही उत्तम सर्व-जन-हित-कार्य में भी केवल दोष दर्शन पर तत्पर कराता, वैर और फूट जिसकी योंही यहाँ बहुतायत है और भी विशेष वृद्धि करता है।

हमारी भाषा के समाचार पत्र के कई सम्प्रदाय होने पर भी प्रधान दो हैं, अर्थात् सनातन धर्म्मी और दयानन्दीय आर्य्य जिनमें एक प्रकार नित्य ही विवाद उपस्थित रहता। इसी प्रकार अब सनातन धर्म्मियों के भी दो भाग, अर्थात् भारत धर्म्म महामण्डल के नये और पुराने पक्षवालों के भी समझिये जिनमें आज कल प्रायः बहुत ही भद्दे रूप में विवाद हुआ करता है, जैसा कि सम्प्रति भारत मित्र और वेङ्कटेश्वर समाचार में चल रहा है, जो कुछ दिन पर्य्यन्त अति उत्कट रूप धर कर लोगों को घृणा उत्पन्न करके अथवा कदाचित् राजकार तक जाकर तब शान्त होता दिखाता है। इसी प्रकार अन्य कारणों से भी जो परस्पर पत्र सम्पादकों में मनोमालिन्य उत्पन्न हो जाता, उससे प्रायः ऐसे प्रस्तावों के भी आन्दोलन और अनुमोदन में जिससे सर्व सामान्य के हिताहित का घनिष्ट सम्बन्ध रहता, सर्वथा बाधा पड़ती है।

पाठक वर्ग! अब टुक विचारिये कि यदि हमारी भाषा से सामयिक समाचार पत्रों की यह दशा है जो इस देश की प्रजा के मुख-स्वरूप हैं, जिनकी उन्नति और अवनति के साथ देश और उसकी प्रजा की उन्नति वा अवनति का अटल सम्बन्ध है, अथवा जो हमारी दशा के प्रमाणभूत हैं; तो यह कहाँ तक शोक और परिताप का विषय है। अतएव बिना विलम्ब के सर्वप्रथम इस बढ़ती हुई अनिष्टप्रद प्रचरित प्रथा को रोकना सर्वसज्जन सहृदय विशेषतः सब पत्र सम्पादकों का परम धर्म्म है। सबी विषय का प्रतिवाद और खण्डन मण्डन उपरोक्त दोष रहित रीति से भी हो सकता है। सुतराम् आगामि में इसी शैली का अनुसरण करना चाहिए एवम् सदैव

पारस्परिक स्नेह वृद्धि का यत्न करना और एक दूसरे के लाभ और प्रतिष्ठा के बढ़ाने में यत्नवान होते, अपनी छिन्नभिन्न शक्ति को दृढ़ करने का उपाय करना चाहिए। क्योंकि जब तक हमारे समूह की शक्ति सम्मिलित न होगी, हमारे सबी प्रयास निष्फल होंगे और किसी कैसे ही आवश्यक प्रस्ताव का यथार्थ आन्दोलन और उसका कार्य्य में परिणत होना परम दुःसाध्य होगा जो लोग जगत् को उपदेश देने के गुरूतर कार्य्य के भार को अपने सिर पर लेना चाहते हैं उन्हें प्रथम अपने दोषों को दूर करना चाहिये। निदान अब इसके शमन के अर्थ कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिसमें पूर्व द्वेष दूर होकर नवीन स्नेह उत्पन्न हो और वह कदाचित परस्पर मिलने में बहुत सुलभ हो सकता है। ऐसी अवस्था में इस भाषा के समाचार पत्रों के सम्पादकों का समाज स्थान अन्य और भाषाओं के पत्र सम्पादकों के समाज से अधिकतर आवश्यक और उपयोगी है।

यों भी जब कि हमें अपनी भाषा देश या जाति की यथार्थ उन्नति के अर्थ समयानुसार उचित आन्दोलन और संशोधन करना इष्ट हो, तो प्रथम परस्पर निज सुयोग्य सहयोगियों की सम्मति से स्थिर करके अनुसरण करना कहाँ तक श्रेयस्कार होगा सहज ही समझा जा सकता है। किसी एक स्थिर विषय पर एक साथ सब समाचार पत्रों के आन्दोलन का प्रभाव अवश्य ही बहुत अधिक होता है। परस्पर एक दूसरे से मिलकर लोग भाँति भाँति के लाभ से न केवल स्वयम् लाभवान हो सकते वरञ्च देश का बहुत कुछ कल्याण कर सकते हैं। अस्तु यह तो इतना बड़ा विषय है कि जिसके लाभों का गिना देना एक प्रकार कठिन है। सारांश हमारी भाषा के पत्रों के सुधार तथा इसके साहित्य की उन्नति के अर्थ सम्पादक समाज जिसके साथ एक साहित्य समिति भी सम्मिलित रहे, होना परमावश्यक है। योंही उसका समय और स्थान सदैव इण्डियन नेशनल काँग्रेस के साथ ही स्थिर करना उचित और सुगम समझ पड़ता है। सुतराम् जो कि आगामी काँग्रेस कलकत्ते में होगी और राजधानी होने के अतिरिक्त वहाँ से हमारी भाषा के अनेक शक्तिशाली पत्र भी प्रकाशित होते हैं, अतएव वही अबके इसका प्रथम अधिवेशन भी होना चाहिये और वहीं के किसी बड़े पत्र के सम्पादक वा स्वामी को इसके प्रबन्धादि का भार भी लेना उचित है। आशा है कि अन्य सहयोगी इस पर अपनी सम्मति प्रकाशित कर ऐसी चेष्टा करेंगे कि अब के इसका अधिवेशन अवश्य हो।

इसी से उसके पूर्व इस प्रश्न पर पूर्ण विचार और वादानुवाद होकर सब विषय स्थिर हो जाना चाहिये। किन्तु जब लोग परस्पर का ईर्षा द्वेष छोड़कर स्थिर रूप से प्रति वर्ष एक स्थान पर मित्र भाव से एकत्रित होना चाहें और यथा शक्य उन सब नियम और मन्तव्यों के पालन में दृढ़ रहना चाहें कि जो उक्त होने वाले समाज में निर्णित हों। क्योंकि आगे एक बार हिन्दी पत्र सम्पादकों के समाज की रचना हो चुकी है, परन्तु कदाचित् एक वर्ष से अधिक उसका नाम भी नहीं सुना गया और न उसके द्वारा कोई सुकार्य्य वा सदनुष्ठान ही हो सका।

उपसंहार में हम अपने उन सब माननीय प्रिय सहयोगियों से जिनके हमने शुद्ध भाव से कुछ कुछ दोष दिखाये हैं, अति विनम्रता पूर्वक क्षमा माँगते हैं, इसलिये कि हम उनके दोषों को अपना सा दुःख होता था। अन्य निज दोष समझते और उनकी स्वरूप हानि से हमें निज स्वरुप हानि का हम यह कदापि नहीं चाहते कि हम लोगों में किसी प्रकार का मनस्ताप वा ग्लानि पहुँचै; —

"अतोर्हसी क्षन्तुमसाधु साधुवा हितम्मनोहारि च दुर्लभम वचः।

श्रावण १९६३ वैक्रमीय आ० का०

नेशनल कॉँग्रेस की दुर्दशा

हम विगत मेघ में अपनी यह आशङ्का प्रकाशित कर चुके थे कि सूरत में पहुँच कर कहीं काँग्रेस की दूसरी ही सूरत न हो। सो वास्तव में वहाँ पहुँच न केवल उसकी दूसरी सूरत हुई, वरंच सचमुच अवस्था ही दूसरी हो गई। जिस कारण हमारे विपक्षी अब यह कह कह कर प्रसन्नता से विक्षिप्त हो चले हैं, कि "काँग्रेस टूट गई; भारत राष्ट्रीय महापरिषद् की इतिश्री हो गई।" अवश्य ही इस कर्णकटु वाक्यों का सुनना सर्वथा असह्य है। परन्तु क्या किया जाय कि भारत के दुर्भाग्य से हमें सबी कुछ सुनना और देखना सुलभ है। हम लोग यही समझते थे कि यदि कदाचित् आदि में कुछ नीरसता भी हो जायगी, तो लोग अन्त कदापि भ्रष्ट न होने देंगे और किसी कवि के कथनानुसार—

"जब व आगया मेरे सामने, न तो रञ्ज था न मलाल था।"

एक स्थान पर एकत्रित होते ही दोनों दल भ्रातृ-स्नेह के उद्गार और देशोद्धार उत्कंठा के वशवर्ती हो पारस्परिक द्रोह दुराग्रह को भूल अवश्य ही दूध चीनी से मिलकर सामाजिक एकता के स्वाद को बढ़ायेंगे। किन्तु शोक से यही कहना पड़ता है कि उन्होंने प्रेम की चीनी के स्थान पर प्रमाद का नींबू निचोड़ उस ऐक्य दुग्ध को फाड़कर काँजी बना डाला!!!

गत मेघ में हमने यह भी लिखा था कि—"आशा है कि सूरत की काँग्रेस में गर्म्म दल भी नर्म्मी का परिचय देगा, क्योंकि नागपुर की गर्म्मी ने काँग्रेस की सुन्दर सूरत में बहुत कुछ कलङ्क लगा दिया है। गर्म्म दल को विशेष अवसर पर नर्म्म होना ही उचित था। गर्म्मी का आधिक्य कभी उचित नहीं क्योंकि—

"जो खाल तिल से जियादा हुआ वह मसा हुआ।"

सो इस बार सूरत में उन्होंने अपनी गर्म्मी की इतिश्री कर दी। गर्म्म दल में गर्म्मी का होना, तो स्वभाविक है, किन्तु परिताप का विषय तो यह है कि नर्म्म दल ने भी अपने धर्म्म के विरुद्ध कड़ाई और ढिठाई का परिचय दे

---

१ इकस्ट्रीमिस्ट पार्टी; २ माडरेट पार्टी

विलक्षण विरुद्ध विधि मिला, समग्र देश के २२ वर्ष परिश्रम, व्यय और सुयश को बात की बात में बर्बाद और नष्ट कर डाला। जो काँग्रेस बड़े-बड़े विघ्नों को झेलकर भी अद्यावधि निर्विघ्न रह कर बालक से युवा हुई थी; जिसका आतङ्क हमारे बैरियों को कम्पित कर चला था; उसे इस दोनों दलों की दलादली ने दलमल कर समाप्त कर डाला।

परसाल कलकत्ते की काँग्रेस की व्यवस्था में उसके नवजात दोनों दलों के परस्पर मतभेद के विषय में हमारी लेखनी ने न जाने किस दुष्ट मुहूर्त में यह लिख दिया था, कि—इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कलियुग के भीष्म पितामह सदृश केवल दादा भाई ही का कार्य था, जिन्होंने कौरव पाण्डव सदृश नवीन और प्राचीन उभय दल को रोक कर मानो भावी महाभारत युद्ध को बन्द किया। नहीं, इसके शत्रुओं को तो यह निश्चय हो गया था कि बस, काँग्रेस आज ही से समाप्त हुई, क्योंकि यदि कौरव दल के महारथियों में द्रोण तुल्य—इत्यादि। सो उस बार कलकत्ते में तो बच गया, किन्तु सूरत में अबकी बार प्रत्यक्ष महाभारत होई गया, जिसमें कदाचित् ही ऐसा कोई प्रतिनिधि बच गया होगा, कि जिस पर उस लज्जास्पद मूढ़ता के संग्राम का कुछ न कुछ आघात न आया हो, जैसे उसमें भारत मात्र के चुने-चुने सब बीर और महारथी विद्यमान थे, वैसे ही इस समय के समस्त भारत के राजनैतिक महारथीगण इसमें भी सामिल थे, जैसे उसमें अनुचित लाभ, लोभ, द्वेष और दुराग्रह के कारण ही कलह बढ़ कर समग्र भारत की ऐसी हानि हुई कि जिसकी पूर्ति फिर न हो सकी। ईश्वर करे इस बार भी क्षति कुछ न्यून होती नहीं लखाती है। जैसे उस बार दूसरे को अधिकार असह्य था और दोनों कि संघर्षण अभिलाषा बलवती थी वैसे ही इस बार भी हाँ, उस बार बहुत दिनों तक युद्ध बचाने की चेष्टा की गई थी किन्तु इस बार न्यारा कर देने की ठहरी। शोक कि जिसे हमने गत वर्ष द्रोण और कृपाचार्य्य से समता दी थी, सूरत में इस बार वे दुःशासन और शकुनी बन गये। जिन्हें हमने धर्म्मराज और अर्जुन कह कर पुकारा था इस बार धृष्टद्युम्न वा शिखण्डी होते लखाई पड़े—

योंही जिसे कि शकुनी समझा था वह श्रीकृष्ण का अनुकरणकारी हुआ। जैसे उस बार एक ही घर के दो दल थे कि जिनकी रीतिनीति में परस्पर भेद था वैसे ही इस बार भी एक ही काँग्रेस के सभिकों के दो दल थे और जैसे उसमें एक दल उग्र और दूसरा शान्त था, इसमें भी ठीक वैसे ही

अर्थात्-पुराना वा नर्म्म शान्त और नवीन व गर्म्म उग्र इसमें परस्पर मतभेद का होना स्वाभाविक है, क्योंकि यदि एक छकड़े वा रथ की गति से जाने वाला तो दूसरा पैर-गाड़ी (बाईसिकिल) वा हवा गाड़ी (मोटर) के वेग से। अथवा यदि शान्ति का यह सिद्धान्त कि—

धीरे धीरे सब सुधरेगा, क्यों नाहक घबरावो।
जल्दी ऐसी क्या जिससे, मिहनत कर मर जावो॥

अथवा—घरके बाहर पैर निकाला, कोई पकड़ न लेये।
तुम्हें गरीब जान कर, कोई चार धौल कस देये॥

तो दूसरे उग्र पक्ष का सिद्धान्त, कि—

झूठा डर उकवा का छोड़ो कैसा खुदा पयम्बर।
जिससे राहत हो दुनियाँ में, उसी काम को तू कर॥[1]

अथवा—मार खाव तो बदन झाड़कर, फिर भी अकड़ दिखाओ।
बातैं ऐसी करो कि जैसे। तुमी मार कर आओ॥
गारद करो हिन्द को चट पट इसमें देर मत लगाओ।"

किन्तु अत्यन्त शोक से कहना पड़ता है कि अब की बार कुछ ऐसा विभेद न था कि जिसमें ऐसी दुर्दशा पहुँचती और निश्चय यदि इस बार की काँग्रेस में परसाल के दादा भाई के समान कोई भी ऐसा धीर पुरुष कि जिसका दोनों दलों पर समान प्रभाव पड़ता, होता; जैसे कि उनके विषय में हमारी मङ्गलाशा[2] नामी कविता में कहा गया है, कि—

"धनि पारस के पारसीन
को कुल जित पारस।
प्रगट रूप सों प्रगट
भयो प्रगटावन को जस॥

---

[1]भारत सौभाग्य नाटक को जो इसी काँग्रेस के चिरकालीन दशा को कथा के प्रबन्ध पर चतुर्थ काँग्रेस के प्रतिनिधियों को दिखाने के अर्थ लिखा गया था, नायिका मलिका जेहालत की सहचरी पिशाचिनियों का हिली (१) कमहिम्मती (२) लामज़हवी (३) और बेहयाई (४) के उपदेश।

[2]दादा भाई के ब्रिटिश--पार्लियामेण्ट के सदस्य होने के हर्ष में लिखित और उन्हें समर्पित।

जो भारत को साँचो
आज सुपूत कहावत।
सब भारत वासी जापैं
अभिमान जनावत ॥"

जो कुछ धैर्य्य धारण कर उभय पक्ष के विवाद को दूर कर देता, सो निःसन्देह यदि अधिक नहीं तो इस वर्ष काँग्रेस की ऐसी दुर्दशा न होती। क्योंकि जो बड़े बड़े प्रभावशाली महानुभाव इस वर्ष वहाँ पधारे थे, वे प्रायः बादी प्रतिबादी बन गये थे और कोई उदासीन पुरुष ऐसा प्रबल न था कि जो दोनों दल को दबा, भड़की द्वेषाग्नि को बुझा सकता। क्योंकि जो दशा आज हुई है वह परसाल हो गई होती, किन्तु दादाभाई ने उस बाढ़ से उमड़े हुये दोनों दल रूपी महानदी को मिला एक धारा में ऐसा प्रवाहित किया कि दोनों मर्य्यादा के भीतर ही रह कर वर्षान्त सिन्धु तट पर्य्यन्त पहुँच सके और वह नीति केवल नवीन दल के हठ का किञ्चत स्वीकार मात्र थी।

सच पूछिये तो काशी ही की काँग्रेस से उनका आग्रह स्वीकार करना उचित अनुमित हुआ था, जैसा कि कलकत्ते में। यों क्रमशः उग्रों की उग्रता बढ़ती गई और शान्त दल उसे स्वीकार करता ही गया, किन्तु अब की बार नर्म्म दल कदाचित् धैर्य्य खो चुका था, क्योंकि उसे काँग्रेस का कार्य्य चलाना भी कठिन हो गया। इधर उग्रों को उग्रता की टेव सी पड़ गई और उन्होंने उचितानुचित का विचार छोड़ साहस की सीमा को उल्लङ्घन करना आरम्भ किया, क्योंकि कदाचित् उनका यही एक सिद्धान्त रहा कि या तो काँग्रेस में केवल हमारा ही अधिकार रहे, नहीं तो वह होने ही न पाये, नर्मों ने भी सम्भवतः यही सोच रक्खा था कि बस अब हद्द हो चुकी, म्यान में दो तलवार कैसे रह सकती हैं।

काँग्रेस में दो दलों का प्रादुर्भाव काशी ही के अधिवेशन में हुआ था। यद्यपि काशी मुक्ति क्षेत्र है वहाँ उसे अपने बीस जन्म के भ्रम पाप से मुक्त होना एवम् परमार्थ सिद्धि के अर्थ यथार्थ ज्ञान सम्पन्न होना उचित ही था तथापि यों समझिये कि बाल्यावस्था के व्यतीत होने से ज्ञान और शारीरिक बल बढ़ने पर भय और दुर्बलता को दूर कर अपने नवीन शक्ति संचार का उद्गार प्रदर्शित करने का शुभ अवसर उसे वहीं प्राप्त हुआ। क्योंकि बीस

वर्ष तक बारम्बार यथा विधि प्रार्थना करने पर यथा हमारे हार्दिक हर्षादर्श [१]काव्य के नवम् सर्ग में—

यद्यपि तिहारो राज गये, भारत अति उन्नत।
आगे सों अब सब कोऊ, सब विधि सुख पावत॥
पै दुख अति भारी इक, यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पति की, दिन दिन होत छीनता॥
महँगी बढ़तहि जात, घटत है अन्न भाव नित।
जातैं कोऊ सुख सामग्री, नहिं सुहात चित॥
बढ़त प्रजा नित यहाँ, घटत पै उद्यम सारे।
बिन धन मिलै न, बिन धन मनुज बेचारे॥
सुख सुकाल हू जिन्हैं, अकालहि के सम भासत।
कई कोटि जन सहत, सदा भोजन की साँसत॥
एकहि समय आधही, पेट लहत जिय भोजन।

देती बधाई ब्याज सों; करिके सगाई आप सों।
सन्मान जग दुर्लभ लहन, हित बिनहिं श्रम सन्ताप सों॥
धरि आस दृढ़ विस्वास छूटन, सेस निज दुख पाप सों।
चाहति सनेह बिसेस तुव, सब ही सजाति कलाप सों॥

+ + +

चहत न हम कछु और, दया चाहत इतनी बस।
छूटैं दुःख हमरे, बाढ़ै, जासों तुमरो जस॥
भारत के अन्न, और उद्यम ब्यापारहिँ।
रच्छहु वृद्धि करहु, साँचे उन्नति आधारहिँ॥
वरन भेद, मतभेद, न्याय के भेद मिटावहु।
पच्छपात, अन्याय बचे जे, तिनहिं निवारहु॥

उसका कुछ भी फल न देख, यहाँ की ऊबी प्रजा को, उलटे लार्ड कर्जन की कुटिल नीति और उनका प्रत्यक्ष भारतीय प्रजा के अनिष्ट साधनार्थ यत्नवान होना, मानो मिथ्या विश्वास निद्रा को छोड़ कर स्वावलम्बन पर तत्पर होने के अर्थ चुटकियाँ ले ले और गालियाँ दे दे चैतन्य कर जगा देना

---

[१] जो भारतेश्वरी विक्टोरिया देवी की हीरक जुबिली के अवसर पर लिखा और समर्पित किया गया था।

था जिस जागृति का कुछ अभासा हमारे "आनन्द अरुणोदय" नामक कविता में आया है। यथा—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज
आरत दशा निशा का।
समझ अन्त, अतिशय प्रमुदित हो
तनिक तब उसने ताका॥
अरुणोदय एकता दिवाकर
प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम
पावन प्रकाश फैलाती॥
की उन्नति निज देश, जाति,
भाषा, सभ्यता, सुखों की।
तुम सबने सीखी वह बान
रही जो खान दुखों की॥"

निदान वहाँ बङ्ग-भङ्गादि से भग्न हृदय बङ्गवासी और उनसे सहानुभूति रखनेवाली बहुतेरी क्षुब्ध भारतीय प्रजा के संयोग से उत्तेजित जातीय अमर्षाग्नि ने भड़क कर मानो आगामि में फिर प्रार्थना से फलप्राप्ति की आशा-शष्य-संकुल को भस्म कर देश में एक नवीन राजनैतिक दल की सृष्टि की, जो अब 'एक्सट्रीमिस्ट,' गर्म्म वा उग्रनीति वालों के नाम से प्रख्यात हुआ है।

सारांश सामान्यतः अँगरेजी राज्यारम्भ ही और विशेषतः सन् १८५८ ई० की राज घोषणा से यहाँ की प्रजा को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि वास्तव में अँग्रेजी शासन का अभिप्राय निःस्वार्थ भाव से केवल भारतोन्नति मात्र है। परन्तु बहुत दिन आशा लगाकर भी जब देख पड़ा कि वे मनोहर बातें केवल कहने ही भर को थीं, कार्य्य में आने वाली नहीं, वरञ्च उसके विरुद्ध अब प्रत्यक्ष देश के अर्थ निपट हानिकारक अनेक कार्य्य होते ही चले जाते और सामान्यतः प्रजामत के विरोध से कोई फल नहीं होता, तब उसके प्रतीकार वा देशोद्धार के अर्थ इस नेशनल काँग्रेस की सृष्टि की, जो स्वदेश-दुर्दशा देखकर असन्तुष्ट देश के शिक्षित समुदाय की महासभा की, जिसके द्वारा बीस वर्ष चिल्लाकर साम्राज्य से न तो, कुछ सच्चा

फल और न प्रतिष्ठा ही पाकर, हताश अनेक बाधाओं को झेलता, अपनी जान पर खेलता, देश में यह नवीन दल, जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करता ही चला जाता, जिसने तीन ही वर्ष में देश की दशा ही पलट दी, उत्पन्न हुआ, अर्थात् जिस प्रकार आरम्भ में भारतीय प्रजा के दो दल अज्ञानी और अकर्म्मण्यों तथा विज्ञ एवम् कार्य्यकर लोगों के थे, योंही जैसे उन विज्ञ और कार्य्यकर दल के भी दो भाग हो गये थे, अर्थात् एक काँग्रेस में बैठ कर देश के स्वत्व प्राप्त्यर्थ पुकार मचाने वालों और दूसरा ख़ुशामदी टट्टुओं का जो कि सच्चे स्वदेश हितैषी काँग्रेस करने वालों को बाग़ी और बावले कहने वाले थे, वैसे ही बीस वर्ष की निराशा और असन्तोष ने उन काँग्रेस करने वालों के भी अब दो दल नर्म्म और गर्म्म बना डाले। एवम् जैसे कुछ दिनों के पीछे काँग्रेस का विरोध दल केवल नाममात्र को रह गया और सब शिक्षित और निःस्वार्थ समुदाय प्रायः काँग्रेस का पक्षपाती हो गया तद्रूप अधिकांश सुशिक्षित जन और प्रायः समग्र नवशिक्षित समुदाय गवर्नमेण्ट की उपेक्षा से अब क्रमशः नवीन गर्म ही दल का पक्षपाती होता चला जा रहा है। इसी प्रकार जैसे काँग्रेस की गति रोकने में पिछला ख़ुशामदी दल अकृतकार्य्य रहा, वैसे ही नर्म्म दल की शक्ति से भी अब गर्म्म दल का दबना असम्भव है। जिसके अर्थ कि उसका बहुत कुछ प्रयत्न प्रायः निष्फल भी हो चुका है। तथापि वह अपनी सी करता ही चला जा रहा है। किन्तु इसमें कदापि उसको कृतकार्य्यता न होगी, क्योंकि नया कुछ सच्चा फलप्रद कार्य्य करता और पुराना केवल प्रार्थना कि जिसका न तो अब तक कुछ फल मिला और न आगे के लिये आशा है। निदान जैसे कि आदि के असन्तोष ने लार्ड लिटन की गवर्नमेण्ट से आरम्भ हो लार्ड डफ़रिन के राज्य में पूर्णता को पहुँच कर काँग्रेस की सृष्टि की थी, वैसे ही द्वितीय ने लार्ड कर्ज़न के समय से उभड़, लार्ड मिण्टो की गवर्नमेण्ट में पूर्ण होकर इस नवीन 'एक्सट्रीमिस्ट' दल की सृष्टि की है। अथवा यों कहिये कि यदि प्रथम दिल्ली दर्बार से वह बच्ची हुई थी, तो यह द्वितीय का बच्चा निकल पड़ा है, जिसके जन्म के साथ यह आशङ्का बलवती हो उठी थी कि सामयिक प्रजा असन्तोष कहीं काँग्रेस में विशेष उग्र रूप न धारण कर ले; जिसका आभास हमारे *"शुभसम्मिलन"* नामक उस कविता में आया है, जिसे हमने काशी कांग्रेस के प्रतिनिधियों की सेवा में समर्पित की थी। यथा—

"शुभसम्मिलन को सोचहू
अतिसय सुअवसर यह अहै ।
सब सुजन सोचि विचारि
करतब करिय तब रस ज्यों रहै ॥
बचि हानि सो निज देस लाभ
विशेष लहि दुख दल दहै ।
उत्साह नवल प्रवाह यह
जैसो उठ्यो प्रति दिन बहै ॥

+ + +

वयो बीज उद्योग जो, सरद सयोग विचारि ।
शुभ आसा अङ्कुर उग्यो, जासु हरित दुति धारि ॥

तिहि चरिबे हित दुष्ट पशु, धाये बार अनेक ।
रच्छया रच्छक वृद्ध तुव, जा कहँ सहित विवेक ॥
सीच्यों जिहि मिलि आप, . . . जल दिन वत्सर बीस ।
जिहि प्रभाय दल अवलि भरि, साख परति बहु दीस ॥

+ + + +

भई वृद्धि बँचि घोरतर, कुटिल नीति हेमन्त ।
कियो कृपा करि कोउ विधि, जौ विधि वाको अन्त ॥
प्रविस्यो साहस को सिसिर, फैलावत आतङ्क ।
कम्पित करि निज दर्प सों, विद्वेषी जन रङ्क ॥
विरति विदेशी वस्तु सन, मीत भीत अधिकाय ।
सुभ सुदेस अनुराग मय, कुसुम समूह सुहाय ॥
कियो प्रफुल्लित सस्य सों, सिल्प सुगन्ध बढाय ।
स्रम जीवी मधु मच्छिकन, को जनु प्रान बचाय ॥

आनन्द को अति यह विषय,
संसय कछू जामैं नहीं ।
पर भयङ्कर हेसन्त सो यह
सिसिर सोचहु सहजहीं ॥
कृषि हानिप्रद उत्पात याको
धरम, जाहि कहीं कहीं ।

तुम लखहु, ताके सयन हित
करियै जतन अति वेगहीं ॥
निज प्रमाद पाला परयो, जहँ तहँ धीरज धारि ।
छमा वारि सींचिय तुरत, आगत दोष निवारि ॥
राज कोप के उपल सों, सावधान अति होय ।
रहियै रक्षक बीच जो, सकत नाश करि सोय ॥,,

काशी की काँग्रेस में उस भविष्य गर्म्म दल के संग जो सब ने स्वाभाविक सहानुभूति दिखलाई और उनके अमर्ष-जनित हठपूर्ण स्वदेशी व्रत और तिरस्कार प्रदर्शनात्मक वहिष्कार के प्रस्ताव को प्रच्छन्न भाव से स्वीकार किया तो गर्म्म दल अपनी विजय दुन्दभी बजाता अधिक उत्साहित होकर कठिन दुःख दुर्ग को तोड़ता, सहसा काँग्रेस के सिंहासन पर स्वयम् अकेला जा बैठने का प्रयासी हो कलकत्ते की काँग्रेस में आड़े आ पड़ा और लड़-झगड़ रगड़ कर उसके अर्ध मार्ग पर आसीन होई तो गया। अर्थात् यहाँ उसने विधिपूर्वक एक द्वितीय दल के आकार में परिणत हो निज प्राबल्य की घोषणा कर अपने उद्दिष्टत कार्य्यों की धूम सी मचा दी। जिससे उस काँग्रेस का जो वर्ष भर पड़ी सोया करती थी, मानो एक अविराम चक्र सा चलने लगा।

यद्यपि अनेक राज्याधिकारियों की आँखों में काँटे से खटकने वालों, उनके कोपानल में जल कर भी ऐंठन न छोड़ने वालों की दशा पुराने अथवा अवशिष्ट नर्म दल वालों के आतङ्क का कारण हुई। किन्तु, उन्हें यह भी आशङ्का हो चली कि अकेली गर्म्म ही दल की काँग्रेस होकर कहीं नवजात सभाबन्दी के विधान की ग्रास न बन जाय कि जैसा व्यवहार आज सहज सुलभ हो रहा है। इधर राज्याधिकारियों के अनेक उत्कट अन्यायाचार से कुपित नवीन दल का अमर्ष और उत्साह लग्गियों ऊपर जा चढ़ा और वे उत्तरोत्तर और उग्र होते चले गये। इसी प्रकार राजनैतिक द्विधामयी स्थिति में काँग्रेस नागपुर में एकत्रित होने वाली हुई, जिसे कि उभय दल की वर्तमान खींचतान की लड़ाई का अखाड़ा कहना चाहिये और जहाँ सूरत के महाभारत की रंग-भूमि के भयङ्कर दृश्य प्रथम ही से लखाई पड़ चले, कि जिसे देख देश के उदासीन शुभचिन्तक चकित और सशङ्कित हो चुके थे, तथा जहाँ से परास्त होकर अपने लिये निर्विघ्न स्थान अनुमान कर नर्म्म दल ने सूरत में जा निज बल की परीक्षा आरम्भ की। परन्तु उसे

इसका कुछ भी विचार न हुआ कि नये से पुराना सदैव हारता ही है। क्योंकि नवीन का उत्साह और बल नवीन और पुराने का पुराना होता है। यद्यपि नयों में उन्माद और अत्याचार का होना स्वाभाविक है; किन्तु इस वार तो जो साहस और अनाचार की पराकाष्ठा उनकी ओर से दिखलाई गई, वह नितान्त लज्जास्पद और शोकजनक है। उसी प्रकार नर्म दल ने अपनी योग्यता और आत्म संयम को न दिखला कर उसे अधिक उच्छृङ्खल होने का अवसर दिया, यह भी कुछ न्यून परिताप का विषय नहीं।

नर्म्म दल की कठिनता और आशंकायें सर्वथा उपेक्षा के योग्य नहीं, क्योंकि देश की वर्तमान राजनीतिक दशा और उसकी भयावनी स्थिति अवश्य ही उसे बाध्य करती है कि वह यथा शक्ति कांग्रेस को नवीनदल के अति उग्र सिद्धान्तों का समर्थक होने से बचाये और उसे सर्वथा गर्म्म दल मुक्त हो जाने से रोके। किन्तु यह उसकी शक्ति से अब परे है, क्योंकि कठिन दण्ड विधान और भय प्रदर्शन कर जिसे गवर्नमेंट नहीं दबा सकती है, तो नर्म्म दल जो वास्तव में सब प्रकार से नर्म्म है, उसे कैसे दबा सकता है। अवश्य ही प्रधान साम्राज्याधिकारी इस समय वास्तविक उदार नीति के सहारे उसे सहज ही निर्मूल कर सकते हैं, परन्तु उन्हें तो अभी सावन की हरियाली ही लखाई पड़ रही है; जो देश और राज्य दोनों के दुर्निवार्य्य दुर्भाग्य का कारण है। क्योंकि यदि उनकी ऐसी ही संकुचित नीति बनी रही, तो दो ही चार वर्ष में न केवल कांग्रेस वाले ही, वरञ्च अधिकांश भारतीय प्रजा गर्म्म ही दल की सिद्धान्तावलम्बी लखाई पड़ेगी और केवल प्रभात नक्षत्रों की भाँति कहीं कोई नर्म्म नीति वाला ढूढ़ने से मिले तो मिले, क्योंकि वह शिशिर शीत की रीति क्षीणोन्मुख और गर्म्म वृद्धिङ्गत है। तब नर्म्म दल का अब केवल एक यही कर्तव्य शेष समझ पड़ता है कि वह गर्म्मों से मिला हुआ यथा शक्ति उसकी उग्र गति को कुछ धीमी किये रहे और देश की बढ़ती हुई विरुद्ध सम्मति के पारे की गर्मी की सूचना गवर्नमेंट को देती उसके शमनोपाय की प्रार्थना करती रहे। वह अपने उद्दण्ड छोटे भाई को समझा कर कुछ कष्ट सहकर भी मिलाये रखने का यत्न करे, न अलग कर सम्बन्ध ही तोड़ देने का, क्योंकि अलग अलग होने से तो उभय पक्ष में किसी के भी मङ्गल की आशा नहीं है।

जो लोग बहुत दिनों से बिना प्रतिद्वन्दी के अपने निश्चित सिद्धान्तानुसार शान्त और स्वतन्त्र रीति से कार्य्य करते चले आये हैं उन्हें अपने

सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरे। ऐसे उतावले दल का साझा—अवश्य ही असह्य होता है जो उसकी शक्ति और साहस से अधिक कार्य्य लेने का प्रयासी हो। किन्तु जब ऐसा साझी उत्पन्न हो गया तब विवश हो उसके सग मिलकर कुछ आगे बढने ही से काम चलता है, न कि सर्वथा उपेक्षा वा उसको बलात् दबाने की चेष्टा अथवा सर्वथा उसके विरुद्धाचरण से। गत वर्ष नर्म्म दल वाले प्राय· विविध स्थानों पर न केवल विपक्षी दल के नेताओं को उचित सम्मान और सहायता देने में उदासीन रहे, वा सामान्य सभाओं में गर्म्म दल के बहुसख्यक मत का तिरस्कार ही करते रहे हैं, वरञ्च कहीं-कहीं उसके अस्तित्व को भी अस्वीकार कर दिया करते थे, जो बहुत ही अनुचित है। प्रयाग की एक सर्व सामान्य सभा मे हम लोगों को स्वयम् इसके देखने का अवसर मिला था कि उपस्थित सभ्यों मे उग्र नीति वालों की अधिक सख्या होने पर भी शान्त दल वालों की ओर से उनके मत का तिरस्कार किया गया था। अवश्य ही उसमे शक्तिशाली और सम्भ्रान्त भाग प्रायः शान्त नीति वालों ही का अधिक था, किन्तु अधिक सख्यक उग्र नीति वाले भी मूर्ख और अप्रतिष्ठित न थे तब सभा को या तो सामान्य रूप न देकर विशेष देना था, नहीं तो उपस्थित अधिक लोग मत को स्वीकार करना ही उचित था। ऐसी ही कार्य्यवाही प्रायः और ऐसे ऐसे अवसरों पर सुनी गईं, जहाँ कि सभा के कार्य्य में विघ्न पड़ा है। फिर जब सभ्य समाज में ऐसी अन्धाधुन्ध की जायगी तब उसका परिणाम अन्यथाचार के अतिरिक्त और क्या होना है? तिरस्कार और अन्यथाचार का परिणाम केवल तिरस्कार और अन्यथाचार को छोड़ और क्या हो।

किन्तु शोक का विषय है कि गर्म्म दल की उग्रता और अधैर्य्य से नर्म्मों को अपना कार्य्य चलाना भी असम्भव प्रतीत होने लगा और इसमें सन्देह नहीं कि जिस क्षमा और सन्तोष को अवलम्बन कर काग्रेस अर्थात् नर्म्म दल अपने विपक्षियों के विघ्नों को हटाता, अब अपने अधिकार को यथावत् स्थापित कर सका है। उग्र नीति वालों ने दो चार वर्ष भी उस धैर्य्य, क्षमा व सन्तोष से कार्य्य न लेकर अपने निपट उतावलेपन से उसी अपने आधार को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ किया कि जिस पर उनकी स्थिति है। वे उस कार्य्य के आरम्भार्थ आज तत्पर हो गये कि जिसकी उन्हें कुछ दिनों तक और प्रतीक्षा करनी थी। अर्थात् जब तक उनका दल

यथार्थ प्रबल न हो जाता और देश उनके उद्देश्य के साधनार्थ उद्यत न हो जाता उन्हें नर्म्म दल से बिगड़ कर अकेले अपने आधार पर देशोद्धार का अहंकार कर काँग्रेस को भङ्ग नहीं करना था। चिरदिन से संगठित इस जातीय ऐक्य को व्यर्थ ही मिटाने का प्रयत्न कैसा कुछ उनका भयङ्कर प्रमाद प्रमाणित करता है। प्रमाद भी कैसा कि जिसमें जूती पैज़ार तक की नौबत आये; जिस कारण विवश होकर शान्त दल को प्रायः सरकारी पुलीस की शरण लेनी पड़े, जो मानों काँग्रेस के गौरव के नाश का कारण है। शान्तों को दूसरी गति न थी। अतः इसके उत्तरदाता भी वे नहीं, वरञ्च गर्म ही दल है। जिसके विषय में सुना जाता है कि वे अधिक कुपित होकर अपनी शक्ति बढ़ाने और गड़बड़ मचाने के अभिप्राय से कुछ उपद्रवी और लठैत गुन्डों की सेना संग्रहीत कर, अपने विपक्ष दल को भी, केवल स्वयम्सेवकों ही पर सन्तोष न कर वरञ्च उनसे संदिग्ध भी होकर ऐसे अन्य प्रबन्धों से अपनी रक्षा करने के अर्थ बाधित किया। यों मानों उस छुद्र भद्रलोक सम्मिलन को उपद्रवियों का खाँड़ा बना लोगों ने देशहित के पनपते पौधे के समूल नाश करने का उपक्रम आरम्भ किया था। अब कहिये? यदि यह दोषारोपण सर्वथा मिथ्या नहीं है, तो कितने बड़े परिताप का हेतु है।

सम्प्रति दो वर्षों से, जब से कि काँग्रेस में दो दल हुये हैं, केवल दो बातों के अर्थ झगड़ा होने लगा है, एक तो काँग्रेस के सभापति निर्वाचन के लिये और दूसरे स्वदेशी आदि कुछ नवीन प्रस्तावों के अर्थ, जो नवीन दल के जन्म के साथ ही उत्पन्न हुये हैं और जिनमें कई तो काँग्रेस में न पास हो कर भी काम में लाये जा सकते हैं; यद्यपि काँग्रेस में पास होने से अवश्य ही उनका महत्व कुछ अधिक बढ़ जाता है। अस्तु कलकत्ते की काँग्रेस में तो शान्त दल ने एक ऐसे महापुरुष को सभापति चुनकर अपना पीछा छुड़ाया कि जो दोनों दलों का तुल्य मान्य था, और जो वह विचक्षण सभापति उन विवादग्रस्त प्रस्तावों को भी स्वीकार, वरञ्च उसमें और भी अधिक महत्व देकर अपना कार्य्य बड़ी सफलता से समाप्त कर सुयश का भागी हुआ। इस वर्ष भी यद्यपि इन सब झगड़ों के प्रधान कारण वे ही थे, परन्तु कुछ उसके साथ व्यक्तिगत ईर्षा, द्वेष, दुराग्रह और स्वार्थ भी मिल कर बड़े भयङ्कर परिमाण को उत्पन्न कर देने के हेतु हुये।

सामान्य झगड़ों को छोड़ कर जिससे विवाद और विद्वेष बढ़ा, सभापति का निर्वाचन था। जिसके लिये शान्त दल की ओर से अन्त को डाक्टर

रास बिहारी घोष और उग्रों की ओर से पंडित बाल गङ्गाधर तिलक के लिये आग्रह था। दोनों महाशयों की योग्यता, विद्वत्ता और देश हितैषिता के विषय में किसी को कुछ वक्तव्य न था तिलक महाशय जो इस समग्र विवाद के मूल कारण हैं न केवल उग्रों के प्रधान नेता, वरञ्च वास्तव में बहुत उग्र उद्धत, निर्भय और ओजस्वी स्वभाव के मनुष्य हैं। जो प्रायः अधिकांश श्वेताङ्ग राज्याधिकारियों की आँखों में काँटे से कसकने वाले हैं। जिनका सभापति के आसन पर बैठना ही मानो काँग्रेस उग्र दल की हो जानी थी। अतएव शान्त दल डरकर उनके सभापति होने का इसलिये विरोध करता था कि फिर हम लोगों की एक भी न चलेगी और निश्चय यह राष्ट्रीय सभा राज्याधिकारियों की कोप की तोप का लक्ष्य हो जायगी। सुतराम् अभी दो एक वर्ष गवर्नमेण्ट को कुछ कृपा दिखाने का और भी अवसर दिया जाय। यही कारण उग्र दल के निर्वाचित वा मनोनीत द्वितीय सभापति भारतभूषण पञ्जाब केशरी लाला लाजपत राय के भी विषय में शान्त दल के नेताओं के हिचकने का था, न कि उन लोगों की योग्यता में किसी प्रकार की न्यूनता, वा ईर्ष्या अथवा द्वेष से। अतः वे इस विषय में यद्यपि सर्वथा निर्दोष हैं, तथापि काँग्रेस में विघ्न पड़ते देख उन्हें इतना स्वीकार कर लेने के अर्थ भी तत्पर हो जाना अनुचित न था। योंही नागपुर में जब केवल तिलक महाशय के सभापति चुने जाने ही के अर्थ विरोध का दावानल भड़क उठा था, तो लाला लाजपत राय की भाँति ऐक्य बनाये रखने और देश के कल्याण के अभिप्राय से तिलक महाशय को भी इस वर्ष स्वयम् सभापति होना अस्वीकार कर उस बड़े विवाद को घटा देना था। यद्यपि वह सब प्रकार निःसन्देह इसके अधिकारी थे, तौभी जिस उदारता को दिखला लाला लाजपत राय देश के अनन्त धन्यवाद को पाकर उस प्रतिष्ठा से भी कहीं अधिक प्रतिष्ठित हुये कि जो वह सभापति होकर होते, उसी उदारता को दिखला कर मिस्टर तिलक भी देश के कहीं अधिक पूज्य हो सकते थे। क्योंकि लाला साहिब का स्वत्त्व मिस्टर तिलक से भी बढ़ा चढ़ा था और केवल पूर्वोक्त आशङ्का के और कोई कारण न था कि लोग उनके इस पदप्राप्ति में चूं भी करते। शान्त दल का यही सिद्धान्त था कि ऐसा करना मानो साम्राज्य का मुँह चिढ़ाना है। योंही उनके देश-निर्वासनात्मक अन्याय के आख्यान, वा राज्याधिकारियों के द्वेषारोप के महत्त्व के कुछ घट जाने की भी उनकी आशङ्का सर्वथा अनुचित न थी। तब एक प्रकार सभापति

के झगड़े में केवल पक्षपात वा आग्रह को छोड़ और कुछ विशेष तत्व न था; जिस कारण अन्त को उग्रों को उसे समझ बूझ कर छोड़ देने पर भी तत्पर होना पड़ा था।

रही चारों प्रस्तावों की बात, १—अर्थात्-स्वदेशी स्वीकार, २—विदेशी बहिष्कार, ३—राष्ट्रीय शिक्षा और ४—स्वराज्य; सो वह सब कलकत्ते की काँग्रेस में स्वीकार कर लिये गये थे और इस बार भी अवश्य ही स्वीकृत होते, वरञ्च अन्त को शान्त दल के 'कनवेनशन' द्वारा स्वीकृत भी हुये हैं। कुछ शब्दों के संशोधन मात्र का विवाद था कि जो उचित अवसर पर भी हो सकता था। जिसका अवसर उग्रों की उग्रता, अधैर्य्य वा दुराग्रह से न आने पाया कि जो बहुत ही परिताप और लज्जा का विषय है। सारांश यदि सूक्ष्म विचार से देखें, तो विवाद का कोई विशेष कारण नहीं लक्षित होता, केवल संशय के अन्धकार और प्रमाद में पड़े, ईर्ष्या, द्वेष से विवेक शून्य लोगों से दुर्भाग्य ने ऐसे अनिष्ट उपद्रव करा दिये कि जो न केवल देश के तटस्थ शुभचिन्तकों, वरञ्च उभय दल के प्रधान-प्रधान अग्रगण्यों के भी परम परिताप के हेतु हुये हैं। निःसन्देह जिन लोगों ने बहुतेरे कार्य्यों को केवल विपक्षियों के सन्तोष और क्षमा पर विश्वास कर, वा कुछ वाद-विवाद के बाद पूर्ववत् चला ले जाने की आशा से सहज खिलवाड़ समझा था, अन्त को वे उसके विषमय फल को पा पछता-पछता कर अब एक दूसरे को दोषी सिद्ध कर इस कलङ्क से बचने के प्रयासी होते देखे जाते हैं।

सच बात तो यह है कि दोनों दल परस्पर दोनों का विश्वास खो चुके थे, दोनों को एक दूसरे के दबा देने में न समर्थ होने पर अलग हो जाने का सँकल्प-दृढ़ था। शान्त दल जब विवश हो काँग्रेस को सूरत में ले गया, तो उग्रों ने अपनी अलग महासभा नागपुर में ही करनी चाही थी। तब हमें मान लेना पड़ता है कि मानों मेल की आशा न रख दोनों पृथक-पृथक हो जाने पर तुले बैठे थे। अवश्य ही मेल की कुछ बातें उग्र दल की ओर से सूरत में छिड़ीं, किन्तु जब अवस्था प्रायः असाध्य हो चुकी थी और परस्पर विश्वास का सर्वथा नाश हो चुका था, तौ भी शान्त दल की ओर से मेल के विषय में आनाकानी करनी उनका ऐसा दोष और प्रमाद सिद्ध करता है कि जिसका कोई उचित उत्तर उनके पास नहीं है। वास्तव में जब तक कि दोनों दलों के नेताओं को यह निश्चय न हो लेता कि अब सब झगड़े की बातें परस्पर निपट गईं, कभी काँग्रेस पिण्डाल में प्रकाश्य सभा नहीं करनी चाहिये थी।

न्यूनातिन्यून महासभा के अधिवेशन के पूर्व उभय दल के नेताओं की कोई सभा तो अवश्य ही होनी चाहिये थी, जब कि यह निश्चय था कि महासभा में अबकी बार कुछ बखेड़ा अवश्य होगा। लोग नागपुर की दशा देख चुके थे। उग्रों का उत्साह और उत्कट समारम्भ सूरत में भी देख रहे थे। कलकत्ते का बिपुल विभ्राट और उसकी शान्ति के उपाय तथा महामान्य दादाभाई के क्रियाक्रम को भी जानते थे, तब क्या समझ कर प्रकाश्य रीत्या राष्ट्रीय महासभा करने पर उद्यत होकर उन्होंने उसका भरमाला खोल देश को उपहासास्पद बनाया? फिर इस अनर्थ और प्रमाद का तो कहाँ ठिकाना है कि प्रथम दिन सभापति के निर्वाचन की दुर्दशा देखकर भी लोगों की आँखें न खुलीं। शान्त दल केवल विपक्षियों की उदारता के भरोसे पर दूसरे दिन फिर मण्डप में जा बैठा और उपद्रव के शमनोपाय के अर्थ कुछ भी उचित यत्न न कर सका—यद्यपि कि उग्रों ने अपनी सभा में यह मन्तव्य भी स्थिर कर लिया था कि यदि उक्त चारों प्रस्ताव न स्वीकृत होंगे, तो हम लोग सभापति निर्वाचन ही से विरोध आरम्भ करेंगे। रही उग्रों की उग्रता, उसकी निन्दा की तो आवश्यकता ही नहीं कि जो देश के दुर्भाग्य का कारण है। उन्होंने अपना अभीष्ट पूर्वोक्त अन्य उपाय से न सिद्ध कर, अनायास केवल शान्तों के अहंकार और उनके सर्वथा स्वतन्त्र अधिकार के संहार के साथ ही राष्ट्रीय सभा का विध्वंश कर अपनी अत्यन्त गर्हित नृशंसता का परिचय दिया। उन्होंने न केवल स्वदेश वरञ्च समस्त संसार को दिखा दिया कि वे परम मान्य देश सेवकों की भी कैसी कुछ उलटी पूजा करनी जानते हैं। देश के गौरव के आधार स्वरूप अपने महामहिम नेताओं की भी अति निन्दनीय रीति से प्रतिष्ठा भंग करके वे अपने को कृतकार्य्य मानते हैं। ग्लानियुक्त होने वा पश्चात्ताप करने के स्थान पर वे इसे अपना विजय मानते हैं। वास्तव में उसने अपने दो ही वर्ष के समूह संगठन से एक उस जातीय महासभा को भङ्ग कर देने की वीरता दिखाई है कि जिसके कारण उसकी सृष्टि हुई है। हम यह मानते हैं कि उसके विपक्षी दल के कुछ लोगों ने उसकी सम्मति का किञ्चित तिरस्कार अवश्य किया, तौ भी क्या किसी एक वा कई व्यक्तियों के कृत्य से रुष्ट हो समस्त समाज वरञ्च सारे देश को हानि पहुंचाना कभी युक्तियुक्त है? क्या एक वा दो वर्ष पर्य्यन्त यदि मिस्टर तिलक या कोई और गर्म्म दल का सभापति न चुना जाता अथवा कांग्रेस में नर्म्म ही दल का कुछ अधिक अधिकार रह जाता तो गर्म्म दल का मान भङ्ग वा सर्वनाश हो जाता?

यद्यपि सामान्यतः दोनों दलों के दोष और अत्याचारों की आलोचना आज हो रही है, किन्तु सच पूँछिये तो उनके दलपतियों ही के दोषों से समग्र दल पर दोष लगा है, क्योंकि मुख्यतः दोनों ओर के दोई एक दलपतियों की भूल और प्रमाद से ऐसी दुर्दशा हुई है। शान्त दल वालों में से सब से अधिक उपालम्भ के भागी सर फ़ीरोज़शाह मेहता हैं जो सब से विशेष अनुभवी हैं। उन्हें केवल "यशस्तुरद्यं परतो यशोधनैः" की नीति का अवलम्बन न कर मिस्टर ह्यूम की शिक्षानुसार यथासाध्य काँग्रेस को इस प्रकार भग्न होने से बचाने की चेष्टा करनी चाहिये थी। हम यह मानते हैं कि उग्रों की उग्रता सीमा उलङ्घन करती जाती थी। किन्तु उन्हें मनाकर ही काँग्रेस का प्रकाश्य अधिवेशन करना था अथवा सभापति का निर्वाचन उपस्थित सम्मति संख्या ही पर रख कर विवाद को उचित मार्ग देकर निबटारा करना चाहिये था। दूसरे मि० गोखले को पूर्वोक्त कृत्यों के अतिरिक्त प्रस्तावों के संशोधन के विषय में अपनी सम्मति को पुनः उचित स्थान पर समावेशित करने का यत्न कर उपस्थित विघ्न को निवारण करने की चेष्टा करनी उचित थी। अब इनसे अधिक दोषारोपण डाक्टर रास बिहारी घोष महाशय और मि० मालवीय पर यों आता है कि उन लोगों ने तिलक महाशय की उपसूचना और आपत्ति के निपटारे का भार उपस्थित सभासदों पर न छोड़ कर अपनी संकीर्णता का परिचय दिया। अवश्य ही उग्रों को यदि किसी अन्तरङ्ग सभा द्वारा शांत दल शांत नहीं कर सकता था तो उनकी आपत्ति को सर्व सामान्य सभासद समूह के समक्ष उपस्थित कर उसे उनकी संख्या और शक्ति की परीक्षा कर लेनी अवश्य ही उचित थी।

इस बार सुयश के भागी एक लाला लाजपति राय, तथा उत्कट और अमिट अपकीर्ति के भाजन वास्तव में सच्चे स्वदेश भक्त होते हुये भी दैव कोप से परम निन्दनीय दुराग्रह और असन्तोष के प्रभाव से सम्मोह को प्राप्त हो पंडित बाल गङ्गाधर तिलक हुये। उन्होंने ऐसा कुत्सित कर्म्म कर डाला जो कदापि ऐसे महापुरुष के हाथ से होना उचित न था। जिनके अर्थ उन्हें पीछे पश्चाताप भी हुआ और कदाचित् आजन्म रहेगा, किन्तु हाथ से तीर निकल जाने पर क्या कुछ उपाय चलता है। इसी से मान लेना पड़ता है कि यह सब भारत के दुर्भाग्य का खेल है। अन्यथा 'मुनीनांच मतिभ्रमः' कैसे चरितार्थ हो सकता है? सभापति के चुने जाने पर चाहे वह चुनाव कुछ विधि विरुद्ध वा अनुचित रीति ही से हुआ होता अवश्य ही उनको

उस समय क्षमा कर उचित अवसर पर पुनः उन सब अन्यायों का आख्यान कर आगे के अर्थ तीव्र प्रतिवाद और अपने उद्देश्य के साधनार्थ यत्न करना उचित था । अन्तरङ्ग सभा में अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने दल की वृद्धि की चेष्टा करनी चाहिये थी। महासभा में साधारण प्रतिनिधियों से जो आगे अपील करनी थी, उसे वे पीछे से भी कर सकते थे। किन्तु काँग्रेस को बन्द करके उन्होंने क्या लाभ उठाया ? अपनी अलग सभा कर वे अपने ऐसे प्रस्तावों को महासभा में परास्त हो कर भी पास कर सकते थे, जो उन्हें विशेष इष्ट होते । उन्हें अभी दो एक वर्ष और भी धैर्य्य धारण करके विपक्ष का अन्याय दिखाना था। यदि यह असह्य था, तो महासभा के अन्त में अपने पार्थक्य की सूचना कर आगामि से मनमाना प्रबन्ध करना था; किन्तु इस प्रकार अपने अधैर्य्य और अविवेक, ईर्ष्या वा द्रोह का परिचय कदापि नहीं देना था । सारांश काँग्रेस की हत्या मि० तिलक के हाथों से कदापि नहीं होनी चाहिये, जिसको सभापति बनाने के अर्थ देश का एक बृहत्समुदाय सम्मति दे रहा था। कितने ही लोग इसी पद के न प्राप्त होने से इस इर्षाग्नि और दुराग्रह का प्रादुर्भाव बतलाते है, कि यदि हम न हुये तो लाला लाजपति राय हों अथवा कोई दूसरा, परन्तु माडरेटों के चुने डाक्टर घोष कैसे हों । जो हो, किन्तु हम इसको स्वीकार न कर इसे केवल भारत के दुर्भाग्य ही का फल मानते हैं।

क्योंकि हमारे भारत सौभाग्य नाटक में ईब्लीसुलमलऊन बदइकबाले हिंद के जो अन्तिम आक्रमण की कथा वर्णित है, कदाचित् सूरत में उसी की सूरत दिखलाई पड़ी है। जिस फूट का उसने बेसहारे फिरना कहा है सूरत में न केवल उसे पूरा सहारा मिला वरञ्च उसका राज्याभिषेक सा हुआ है । यथा—

बद०—क्या कहूँ ? कि कैसी कुछ आफत आन पड़ी है ।
और इसमें शक नहीं कि, यह मुहिम सब से बड़ी है॥
काम आकर तमाम हो गये, सब सिपाह व सर्दार ।
अब तो बच रहे हैं, सिर्फ वही *रेजीडेण्ट चार ॥
जिनमें सब से जियादसब, एक अज़ीज़ मिस्ले पिसर ।
लिखता है अपने खत में, मुझे यों कि जल्दतर ॥

* चारों प्रान्तों के मुख्य मुख्य ऐङ्गलो इन्डियन समाचार पत्र ।

बन्दोबस्त पुरतः करें कोई, अब ऐसा बन्द गाने हुजूर।
जोकि हो जाय किसी तरह, अभी से यह शकः दूर॥
नहीं पीछे हाथ मल मल, कर पछताना होगा।
और मुफ़्त में बहुत कुछ, रञ्जन भी उठाना होगा॥
पस, क्या करूँ? अब, कुछ नहीं कहा जाता है।
और बेशक आसार, बुरा ही नज़र आता है॥
काम आ गये थे कब के, लूट-लाट और तोड़-ताड़।
योंही मर गये थे मार-काट, और नीज़ फूँक-फाड़॥
खत्म हुई मलिकः जेहालत, भी जाकर वहीं।
नव्वाब ग़दउद्दैला भी अब, दुनियाँ पर बाकी नहीं॥
बेपरवाई उर्फ़ ईज़ का भो, हुआ सख्त बुरा हाल।
काहिली उर्फ़ आदर आईडिल्नेस्, ने तो किया इन्तेकाल॥
अय्याशी उर्फ़ लक्षरी भी, अब तो मरा चाहती।
कमहिम्मती उर्फ़ कावर्डिस्, भी है भगा चाहती॥
मजबूरी भी मजबूर होकर, रह सकती है कहाँ।
बेकारी की भी अब कुछ, नहीं चल सकती है वहाँ॥
बिचारे बैर और कलह भीं, गये जान से मारे।
अफ़सोस कि अब फूट, भी फिर रहा है बे सहारे॥
बे अख्तियार भी बस, हो गया बिल्कुल बे अख्तियार।
आते ही हैं वह सब भी, होकर तंग व लाचार॥
क़वी होता जाता है, यह ज़लील हिन्दोस्तान।
बल्कि जमा भी कर ली, एक फ़ौजे अलीशान॥
पस जलदी हो अब, सामाने जङ्ग की तय्यारी।
क्योंकि अब अपनी ही, चढ़ाई की भी है बारी॥
अँगरेजी हुकूमत में तो, योंही न जमता था रंग।
तिसपर एक खबर और भी, सुनी है बहुत ही बेढंग॥
कि—हो रहा है नेश्नल, काँग्रेस मदरास में आजकल।
पस चल के अब डालें, कोई ऐसा रखना और खलल्॥
जिसमें खतम हो जाये यहीं से इस दास्तान का बयान।
और जहन्नुम रसीद हो, फ़ौरन यह हिन्दोस्तान॥
हालां कि मेरा एकलौता, लड़का भी आगे ही गया है।

और फौजे दुश्मन में फोड़फाड़, भी खूब लगा रहा है ॥
मगर अब मुझे भी बहुत ही, जल्द वहाँ चलना चाहिये ।
और सब काम सोच, समझ कर करना चाहिये ॥

निदान काँग्रेस टूट गई, इसके लिखते लेखनी कम्पित होती है। सुनने के अर्थ श्रवण सन्नद्ध नहीं होते सुन कर, वरञ्च वास्तव में टूट जाने पर भी जिसे चित्त विश्वास करने पर तत्पर नहीं होता। किन्तु हाय भारत के भाग्यहीन सन्तानों ने इस परम अनिष्ट कृत्य को करी डाला। जिस कारण आज समस्त भारत लज्जित और शोकमूर्छित हुआ है। और उसके बैरी आनन्द उदधि उलिचते उसका उपहास करते, भाँति भाँति के व्यंग की बौछार छोड़ते हँस-हँस कर कहने लगे हैं कि—"जो लोग अपनी जातीय सभा में शान्ति पूर्वक दो दलों के परस्पर मतभेद को नहीं मिटा सकते अथवा जो दो भाइयों में भी एकता को नहीं स्थिर रख सकते, वे इतने बड़े देश के जिसमें भाँति भाँति के भिन्न धर्म्मी तथा सैकड़ों जाति के मनुष्य बसते हैं, स्वराज्य सञ्चालन के योग्य अपने को कहते क्या कुछ भी लज्जित नहीं होते? भारत सचिव मिस्टर मार्ली महाशय आदि का यह कहना कि—यदि हम अँगरेज आज भारत का शासन छोड़ दें, तो कदाचित् वहाँ एक सप्ताह पर्य्यन्त भी शान्ति न रह सकेगी—क्या मिथ्या है? तथापि कुछ लोगों की सम्मति इसके सर्वथा विपरीत है।" उनका कथन है कि-"मत की विभिन्नता तो प्रायः स्वभाविक है, किसी सभ्य देश में देखियेगा तो राजनैतिक विषय में केवल एक ही मत के सब लोग न होंगे, वरञ्च भिन्न भिन्न मत के कई दल देखे जायँगे। औरों की बातें जाने दीजिये, बृटिश पार्लियामेण्ट ही में कई दल हैं; जिनमें ऐसे झगड़ों में प्रायः ऐसे ही दृश्य देखे जाते हैं। बिना विरोधी दल के कोई प्रजा समूह वा देश उन्नति नहीं कर सकता। सुतराम् यह तो हमारे देश की जाग्रति का लक्षण वा उसमें प्रजातन्त्र के भाव का प्रमाण है। अब परस्पर की विजिगीषा के कारण दोनों दल जीतोड़ परिश्रम करेंगे और देश की शीघ्र सौभाग्य वृद्धि होगी। जब दोनों दलों के उद्देश्य एक हैं तो उनके साधन क्रम में कुछ कुछ मतान्तर होने से विशेष चिन्ता की बात नहीं है। जहाँ चार घड़े रक्खे जाते हैं तहाँ कुछ न कुछ खटपट तो होती ही है। आज यदि लोग अलग हो गये हैं, तो कल फिर मिलकर एक हो जायँगे।"

राजनैतिक विषय को बहुत बड़े बड़े लोगों ने "निसर्ग दुर्बोध" कहा है। योंही किस कार्य्य के गर्भ से विधाता को कैसा फल फैलाना इष्ट है। काँग्रेस के अधिवेशन में प्रत्यक्ष देखने में आया कि—जिसे नष्ट करने के अर्थ इस विपुल भारत साम्राज्य के धुरन्धर राज्याधिकारी और उनके सहायक बड़े बड़े यत्न करके भी विफल मनोरथ रहे, फूट और बैर के प्रभाव से उस काँग्रेस का विध्वंस उसी के सहायकों के द्वारा सहजही संगठित हुआ है। जो देश सेवकों के अग्रगण्य होने की कीर्ति के भागी थे, अकस्मात् देश द्रोही प्रमाणित हो गये हैं फिर क्या यह विधि की विडम्बना नहीं है! किसने यह आशा की थी कि अब के सूरत में पहुँच कर काँग्रेस की ऐसी लज्जास्पद दुर्दशा होगी। ईश्वरीय लीला अवश्य ही विचित्र है, जो बिना प्रयास ही असम्भव को सम्भव कर सकती है। परन्तु सामान्य विचार से फूट का फल सदा अनिष्ट ही देखने में आया है, जैसा किसी कवि का कथन है कि--"फूट के भये तें कहो कौन को भलो भयो!" भारत का फूट ही ने सर्वनाश किया है। आगे भी जो कुछ हमारे उद्धार की आशा हो सकती है, वह केवल एकता ही के द्वारा सम्भव है और जो कुछ इस समय उसका भाव समझा जाता था, उसका प्रमाण स्वरूप यही नेशनल काँग्रेस थी, फिर उसकी ऐसी दुर्दशा देख कर शुभ लक्षण की क्या आशा हो सकती है।

किन्तु इससे भी सन्देह नहीं है कि देश में राजनैतिक जाग्रति का यह एक प्रबल प्रमाण है कि काँग्रेस में वास्तविक शक्ति की उत्पत्ति का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है अथवा उसके यौवन विकास का यह प्रथम उच्छ्वास है सुतराम् ये उसके अल्लढ़पन की कुलेलैं भी कुछ विचित्र नहीं। महाकवि विहारी लाल के कथनानुसार—' किते न औगुन जग करत बय नय चढ़ती बार" उक्त समस्त उत्तेजित अत्याचार का व्यवहार वा अटपटे उद्गार का प्रचार उसके पराक्रम और उच्च अभिलाषा के सूचक हैं, और जब देश में यह नवीन जाग्रति उत्पन्न हो गई, अथवा काँग्रेस रूपी नायिका जब मुग्धावस्था को छोड़ मध्यावस्था को प्राप्त हुई, तब उसके हाव भाव कटाक्षों से यदि उसके रसिक प्रेमियों के चित्त पर हर्षदायक वा आनन्दवर्धक प्रभाव का पड़ना सहज सुलभ है, तो प्रेम की पीर और चटपटी चोट पहुँचनी भी कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं। योंही उसकी रहन-सहन, वेषविन्यास, प्रकृति

और चाल चलन में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है। जैसा कि उक्त महाकवि का कथन है—

"नव नागरि तन मुलकलहि, जोबन आमिल जोर।
घटि बढ़िते बढ़ि घटि रकम, करी और की और॥
ज्यों ज्यों जोबन जेठ दिन, कुच मित अति अधिकात।
त्यों त्यों छन छन कटि छपा, छीन परति नित जात॥

अस्तु, यदि कोई अब भी उसमें उसी मुग्धत्व का भाव स्थिर रखना चाहता है, तो मानों वह अपनी अज्ञानता वा कृपणता से उसे बाल्यावस्था के परिच्छद पहनाने का अनहोना परिश्रम कर हास्यास्पद बनता है। सुतराम् अब बिना नवीन संशोधन के उस पुराने नियमोपनियम से उसका कार्य्य नहीं चल सकता। इसी से उसके प्रधान कार्य्यकर्त्ताओं का उस पर सम्यक् विचार कर उचित परिवर्तन करना ही एक मात्र कर्तव्य है, जिसे वे यदि आज नहीं तो कल अवश्य ही करने पर बाध्य होंगे। यद्यपि अभी वर्ष दो वर्ष पर्य्यन्त किसी भाँति इस प्रकार से भी कार्य्य चल सकता था, किन्तु जब उसकी आवश्यकता आ गई, जब उसका संशोधन हो ही जाना उचित है। वह संशोधन केवल इस समय के अनुकूल—विशेषतः नवीन उग्र दल के उत्पन्न होने से जो आवश्यकता बढ़ी, उसके अर्थ उपयुक्त सुविधा और प्रबन्ध है। क्योंकि अब एक वस्तु के दो समान अधिकारी हुये हैं। अच्छा होता कि यदि ऐसी दुर्दशा होने के पूर्व ही वह हो गया होता, किन्तु "भाविच्छेन्नतदन्यथा।" विधि ने वह विधि मिलाई कि बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान और चतुरों की--"किताब अक्ल की ताक़ पर जो धरी रही सो धरी रही" और जिस परिणाम का किसी को स्वप्न में भी मान न था, वह आन की आन में हो गया। उग्रों का अनुमान है कि "देश की अचाञ्चक चैतन्यता वा उग्रों की उग्रता की अत्यन्त तीव्र गति ने राज्याधिकारियों के उद्वेग की गति को भी अपने ही तुल्य, वरञ्च उससे भी कहीं अधिक बढ़ा दी, कि जिस कारण उन्हें उसकी शान्ति के सहज उपाय में केवल भेद नीति के अतिरिक्त और कोई अन्य युक्ति न लखाई पड़ी। अतः वे उसी का अनुष्ठान कर चले। हिन्दू मुसल्मानों की भेदनीति यद्यपि बहुत पुरानी थी तौ भी उसमें फिर से नवीन कृपा और उपेक्षा की मात्रा अधिक बढ़ाकर उसकी सम्यक पुष्टि की गई। इधर कठिन दण्ड विभाग के अतिरिक्त उग्र दल के दमन का दायित्व शान्तों के सिर मढ़ना भी उचित अनुमित हुआ और कुछ तीखी तीती बातें इस ढब

की भी हो चलीं कि जिसे सुन शांत के नेता दहल कर उग्रों से अलग होने वा राष्ट्रीय सभा के उग्र विचारों को शिथिल करने पर विवश हुये।" कदाचित् शांत दल के नेताओं पर कुछ उसका प्रभाव पड़ा हो, नहीं तो स्वभाव ही से शांत दल वाले प्रायः सबी कार्य्य शांतिपूर्वक करना चाहते, यों ही यावत्सम्भव राज्याधिकारियों की कृपा के अभिलाषी रहते तथा व्यर्थ के उत्तेजना के विरोधी हैं; तथापि जो कि उनमें प्रायः सम्भ्रांत और विशेपतः राज सम्मान प्राप्त पुरुषों की संख्या अधिक है, अतः वे उग्रों की इस आशंका के लक्ष्य हुये ही, चाहें कि यह सब लोग राज्याधिकारियों के त्रास और आदेश ही से राष्ट्रीय सभा को पीछे हटाने पर उद्यत हैं। अवश्य ही कुछ राज सम्मान प्रात पुरुष व्यर्थ उस सम्मान को नष्ट करना तो न चाहेंगे, किन्तु हम इसे स्वीकार करने पर तत्पर नहीं हैं कि वे राज्याधिकारियों के प्रलोभन से देश के अमङ्गल साधन में प्रवृत्त होंगे यह केवल मत का विरोध मात्र है जो स्वभाव सिद्ध है तथापि यदि उग्रों के कथनानुसार राज्याधिकारियों की इच्छा वा इङ्गित के अनुसार ही उग्रों के दबाने वा राष्ट्रीय सभा के पीछे हटाने में शांत दल निष्फल प्रयत्न हुआ, तो मानो वह साम्राज्य की राज भक्ति वा राज्याधिकारियों के आज्ञा पालन की पराकाष्ठा दिखलाकर उऋण भी होचुका, अब देखना है कि इस भयङ्कर राजभक्ति की परीक्षा देकर वे साम्राज्य से कौनसा अलभ्य लाभ पाकर कृतार्थ होते हैं। अन्यथा स्वयम् हताश हो वे उग्रों के अनुगामी होंगे। जो हो, सब अवस्थाओं में दोनों का एक ही सिद्धान्त एक ही अनुष्ठान और एक ही समूह रहना चाहिये, पार्थक्य किसी प्रकार का होना कदापि उचित नहीं है।

अतः अब दोनों को मिलकर देश की सच्ची सेवा में प्रवृत्त होना चाहिये। उग्रों को व्यर्थ का प्रमाद त्याग कर उचित कृत्य मात्र पर लक्ष्य रख, शान्तों से मिलकर एकता को दृढ़ रखना चाहिये और शान्तों को भी उनका साथ कदापि न छोड़ना चाहिये और विगत निन्दनीय परस्पर के दुराग्रह को शोचनीय फल से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, क्योंकि "विषादप्य मृतम् ग्राह्यम्।" सुतराम्—"बीती ताहि बिसारि कै आगे की सुधि लेहु, जो बनि आवै सहज मैं ताही मैं चित देहु॥"

यद्यपि "शत्रोरपिगुणावाच्या दोषावाच्या गुरोरपि।" की नीति के अनुसार कर्तव्य परबस हो किसी विशेष दल के दोष दर्शन में प्रवृत हो के दोषी न भी हों, तथापि उपसंहार में हम उभय दल के नेताओं से अपनी पक्षपात शून्य

समालोचना में आई कहनी अनकहनी कहने की क्षमा माँगते हुये ईश्वर से इस जातीय महासभा के सब विघ्नों को दूर कर आगामि से इसको पूर्ण उन्नत और सफल मनोरथ करने की प्रार्थना करते हैं।

अपरञ्च—

होय सत्य जो प्रेमघन देत आज आसीस।
दया बारि बरसत रहै भारत पैं जगदीश॥

माघ १९६४ वैक्रमीय

कजली कुतूहल

कजली के मेले

जानना चाहिये कि कजली का त्योहार, उसके सम्बन्धी कृत्य और खेल तो बहुत पुराने हैं। कजरहिया* तालाब का मेला भी उसके बनने के साथ ही से लगने लगा। इसके पहिले वह भँटवा की पोखरी पर होता था। तलैया का मेला, बाद के मेले का साथी है। यह सब मेले सौ बरस से आरम्भ हुये हैं।

कजरहिया का मेला

नागपञ्चमी के अपराह्न को सामान्य स्त्रियां कजरहिया तालाब पर गाती बजाती जातीं और वहाँ से मिट्टी लाकर उसमें जयी बोतीं, नित्य पानी से उसे सींचती और रात को कजली गातीं, कुछ ढुनमुनियाँ भी खेलतीं है। यों भाद्र कृष्ण २ को रात भर विशेष धूमधाम से गातीं, बजातीं, ढुनमुनियां खेलतीं और रतजगे का उत्सव मनातीं हैं। रतजगे के भोर, अर्थात् भाद्र कृष्ण ३ को जिसे कजली तीज कहते, स्त्रियाँ अपनी जयी लेकर कजली गाती हुई उसी कजरहिया पोखरे पर जातीं, नहातीं और जयी सेरवातीं, अर्थात् पानी में छोड़ देती हैं। कुछ नीच जाति की स्त्रियाँ वहाँ ढुनमुनियाँ भी खेलतीं हैं। पुरुष भी यह मेला देखने जाते हैं।

ढुनमुनियाँ का मेला

नागपञ्चमी से सामान्य और प्रायः नीच जाति की स्त्रियाँ रात को सड़कों में ढुनमुनियाँ खेलकर गातीं, वैसे ही प्रायः सामान्य जन उसे वहीं खड़े होकर देखते हैं। आरम्भ से आज तक यह उसी प्रकार होता और वैसे ही लोग इसे देखते भी हैं।

---

*कजली का आरम्भ और उसकी समाप्ति भी वहाँ पर होती, अतः उसी के नाम से यह भी पुकारा जाता है।

*कजली का त्योहार, इसका मेला, इनके गीतों की उत्पत्ति, तत्व भेद-विभेद का विवेचन का प्रबन्ध।

रात का मेला।

अच्छे लोगों को जब इस उत्सव में कजली सुनने की श्रद्धा हुई, तो वे अपने-अपने घर पर रण्डियों को बुलाकर नाच और गाना सुनना आरम्भ किया, परन्तु सर्व सामान्य को इसका आनन्द नहीं मिलता था। अतः चिरकुट पांड़े जो एक बहुत भारी रुई के दल्लाल थे और सहस्त्रों रुपया महीने कमाते, बड़े अमीर मिजाज़ और प्रतिष्ठित गिने जाते थे, पसरहट्टे की सड़क पर, जो उनके घर के सामने की सड़क है, कहते हैं कि यह मेला लगाया। उन्होंने रण्डियों को पहिले पूरा-पूरा इनाम अपने पास से देने को कहकर नाचने को कहा, कि जिसमें घर बैठे ही मेला देखने को मिले। उन्हें यह भी आज्ञा दे दी थी कि जो अन्यदर्शक जन उन्हें कुछ रुपया दें, उसे भी वे ले लें। यों जब उन्हें रुपया मेले में मिलने लगा, तो पांडेजी सामान्य ही रुपये देने लगे। क्रमशः इसकी उन्नति हो चली। कुछ लोग कहते कि रंडियों के घरों पर बिमनियों की इतनी भीड़ होने लगी कि स्थान के संकोच से उन्हें अपने-अपने घरों से नीचे नाचना पड़ा कि जिसमें ऊपर यारी के खार में लड़ाई भी न हो और लोग सड़क पर खड़े होकर सुनें और चलते हों। कुछ कहते कि गृहस्थिनों की भाँति इन्होंने भी अपने-अपने घर के नीचे स्वयम् नाचना आरम्भ किया था।

जो हो, श्रावण शुक्ल ११ से भाद्र कृष्ण २ तक रात को १० बजे से यह मेला होने लगा और बढ़ते-बढ़ते सुन्दर घाट से लेकर नारघाट तक फैल चला। सर्व सामान्य और विशेष जनों ने भी इसे देखना आरम्भ किया। मण्डी उस समय पूर्ण उन्नति पर थी, कलकत्ते के नीचे मिरजापुर ही का दर्जा था यही व्यापार का केन्द्र था, एक-एक बया दल्लाल भी सौ-सौ दो-दो सौ इसमें फूंक तापते थे। यारों की परस्पर लाग डाँट और छूट* में तोड़े† के तोड़े ख़ाली हो जाते और रुपयों के भार से सफ़र्दाइयों की सारंगियाँ फटतीं थीं, क्योंकि रंडियाँ बिसनियों से रुपया लेकर सारंगी ही में डाल देतीं हैं। कजली क्या आती, दीन तमाशबीनों की मानों शामत आती और सम्पन्नों के दिवाले निकलने का कारण होती थी। रंडियाँ मालामाल हो जातीं, कितनी उन्हीं दिनों की आमदनी से साल भर बैठी खाती थीं। शुहरत हो

---

*परस्पर दो दर्शकों की लाग डाँट में एक दूसरे से अधिक रुपया देने की होड़।

†हज़ार हजार पाँच पाँच सौ वा अधिक रुपयों को टाट की थैली।

चली। दूर-दूर से वेश्यायें आने लगीं और देश विदेश के व्यसनी और नृत्य-गान के प्रेमी भी इस अवसर पर यहाँ आ उपस्थित होने लगे, काशी और प्रयाग तो मानो फट ही पड़ता था। काशिराज महराज भी अगले दिनों रात के मेले में रतजगे को पधारते थे। साथ में एक हाथी पर पार के बंगलेवाले और खमरिया के साहिब लोग भी होते,—जो यहाँ के बड़े-बड़े भारी सौदागर थे, महाराज की ओर से प्रत्येक नर्तकियों को पाँच-पाँच रुपये मिलते, तो साहिब बहादुर भी चार-चार रुपये बाँटते थे। चिरकुट पाँड़े भी तामदान पर निकलते और वे भी सब को—मेला जग जाने और नर्तकियों की संख्या अधिक हो जाने पर—दो-दो चार-चार रुपये देते, और भी यहाँ के अनेक महाजन प्रत्येक को दो-दो एक-एक रुपये देते थे। राजमार्ग के दोनों ओर बाज़ार के बरामदों में सैकड़ों नर्तकियाँ नाचती और लोग नाच देखते थे। जो प्रतिष्ठित जन इस मेले में आते, अवश्य ही वेश्याओं को कुछ देते थे। सामान्य जन तो जिसका नाच देखते, उसी को कुछ देते और विशेष लोग दो-दो एक-एक प्रत्येक को बाँटते थे। किन्तु नगर के अवनति के साथ-साथ यह मेला अब समाप्त हो गया। दस बारह वर्ष से बिल्कुल ही नहीं होता।

अमीरों के निज के जलसे।

ऊपर का कुछ प्राचीन वृत्तान्त तो सुना सुनाया है। परन्तु इसकी उन्नत अवस्था मैंने भी देखी है। पसरहट्टे का रात का मेला भी कई बार देखा है। तब तक भी दशा मेले की प्रायः पूर्ववत् थी। शहर में दस पाँच महाजन और रईसों के यहाँ कजली में नाच की महफ़िलें भी होती थीं। इष्ट-मित्रों को लोग निमन्त्रण देते थे। मैं भी कईयों में बुलावे में गया हूँ। मेरे एक चचेरे चचा, बाबू उमादत्त जी को भी इसका शौक़ था। होली और कजली के दिनों में उनके यहाँ भी बराबर सात आठ दिन तक प्रायः चार चार छ छ रण्डियों का नाच होता और दो चार हजार इस खाते में भी जाता था किन्तु अब कहीं कुछ भी नहीं होता।

महन्त जी का मेला।

इस नगर के शोभास्वरूप श्रीमान् महन्त जयराम गिरि जी—जो यहाँ के बहुत बड़े प्रसिद्ध रईस और महाजन तथा बेनज़ीर अमीर थे—के यहाँ अलावा सामान्य जलसों के निज का एक बड़ा मेला श्रावणी पूर्णिमा के दिन शाम को उनके शिवाले वाले बाग़ में होता था। जिसने वह मेला देखा है, वह

आज तक याद करता होगा। जहाँ सैकड़ों वा अशेष वेश्याओं का हुजूम होता और हजारों रुपये खर्च होते थे।

बाग में चार जगह नाच होता था। कोठी के ऊपर के दो मंजिले दीवानखाने में—जिसमें विशेष प्रतिष्ठितों के संग वे स्वयम् तमाशा देखते,—प्रथम श्रेणी की वेश्यायें नृत्य करती थीं। बाहर के नाचघर में जहाँ सब महाजनों के साथ उनके चेले और भाई बैठते, दूसरे दर्जे की, तीसरे शाहमियाने में जहाँ मुनीब जी मय गुमाश्तों, वल्लालाँ और व्यापारियों के संग बैठते, तीसरे; और चौथे चबूतरे पर सर्व सामान्य दर्शक और नर्तकियों का जमघट जमता था और सारे बाग में स्वर का समुद्र लहरैं मारता होता था, जो बहुत दिन हुये कि बन्द हो गया।

तलैया का मेला

भाद्र शुक्ल ६ की सन्ध्या को समस्त रण्डियाँ ४ बजे से महंत जी के बाग से लेकर पश्चिम की ओर अन्य अनेक बाटिकाओं के चबूतरों पर नाचतीं और लोग इस कजली के समाप्ति के मेले को देखते थे, जिसमें समस्त रण्डियाँ एक स्थान पर जमा रहती थीं और काशी नरेश की सवारी निकल जाने पर मेला टूटता था।

अब वह मेला केवल नाममात्र को होता है, विशेषकर जब से काशिराज महाराज का आना बन्द हुआ टूट सा चला है। स्वर्गीय महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह बहादुर पीछे इसी संध्या के मेले को देखते और सब नर्तकियों को इनाम देते थे। अब भी दो एक रईस सब नाचने वाली रण्डियों को कुछ कुछ देते हैं इसी से कुछ मेले का अस्तित्व भी शेष है।

फुटकर मेले

यों तो यहाँ अनेक दिनों, अनेक स्थानों पर और भी छोटे मोटे अनेक मेले होते, जिन में सामान्य गृहस्थिनैं अथवा ढोलकी वाली नटिनैं कजलियाँ भी गातीं हैं, परन्तु वे कजली के मेले नहीं कहे जाते, उनमें ६ प्रधान हैं। अर्थात् ४ तृकोन के पहाड़ी मेले, जो प्रति श्रावण के मङ्गल के दिन अष्टभुजा में होते, एक लोंहदी महाबीर का तथा एक वामनद्वादशी का अन्तिम उऊलेवाला मेला।

कजली की कुछ व्याख्या

कजली वा कज्जली जिसे ग्राम्यजन कजरी कहते हैं, संस्कृत शब्द कज्जल से निकला है जो कई अर्थों का वाची है, किन्तु मुख्य अर्थ इस शब्दका कालिमा, कालौंछ वा कालिख है; जिसके सम्बन्ध से काजल, अञ्जन, आदि, (१) वर्षा की काली घटा, (२) कजली देवी अर्थात् विन्ध्याचल की काली देवी (३) कजली का त्योहार वा उत्सव (४) तथा कजली रागिनी वा गीत है (५) किन्तु यहां अभिप्राय केवल कजली रागिनी वा गीत, अथवा उस नाम के त्योहार से है, कि जो हरियाली* तीज और हरितालिका तीज के बीच में कजली[२] तीज के नाम से प्रसिद्ध है और जो मिती भाद्र कृष्ण तृतीया को इस प्रान्त में बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। यह भी हरितालिका तीज की भांति केवल स्त्रियों ही का त्योहार है, और पछांह वा राजपूताना की गनगौर (गणगौरि) के समान इस देश की स्त्रियों के विशेष उत्सव और उत्साह का कारण है, वरञ्च कई अंशों में यह उससे भी अधिक है। अथवा यों कहिये, कि—जैसे बृज और उसके चारो ओर, वा सामान्यतः भारत भर में और विशेषतः इस देश में पुरुषों के विशेष उत्साह का त्योहार होली है, ठीक उसी प्रकार से इस प्रान्त में स्त्रियों की कजली है। जैसा उसमें युवक पुरुष अनेक प्रकार के आमोद प्रमोद और क्रीड़ा कौतुक से मनोरञ्जन करते, एतद्देशीय युवतियाँ भी इस अवसर पर वैसा ही उत्सव मनाती हैं।

कारण यह कि हमारे इस मध्य देश में दो ऋतु विशेष सुखद होने से आनन्दमय मानी जाती हैं, अर्थात् एक तो वसन्त और दूसरी वर्षा। इन दोनों के भी दो महीने अनुकूल और उचित होने से प्रधान हैं,—अर्थात् फाल्गुण और श्रावण। उसके भी अन्तिम दिन मुख्य त्योहार रूप से माने गए हैं। सुतराम् जैसे वसन्तोत्सव मनाने के लिये यद्यपि सामान्यतः वसन्त पञ्चमी से लेकर चैत्र पूर्णिमा तक वासन्तिक उत्सव नाना रूप में मनाये जाते, परन्तु वसन्तोत्सव का मुख्य त्योहार जिसे होली कहते हैं फाल्गुण शु० ११ से

---

* तृतीया नभसः शुक्ला मधु श्रावणिकास्मृता।

[२] भाद्रस्य कज्जली कृष्णा शुक्ला च हरितालिका॥ निर्णयसिन्धु।

चैत्र कृष्ण १ पर्य्यन्त माना जाता; तद्रूप यद्यपि बरसाती उत्सव (ज्येष्ठ) दशहरा से लेकर भाद्र शुक्ला पूर्णिमा तक विविध अवसर और स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप और प्रकारों में होता, किन्तु मुख्य श्रावण शु० ११ से लेकर भाद्र कृष्ण ३ अर्थात् कजली तीज तक स्थिर है।

वास्तव में चार मास जाड़े से त्रस्त जगत जैसे वसंत की स्वाभाविक सुहावनी ऊष्णता पाकर नवीन रूप से विकसित होता, मनुष्यों के मुर्झाये मन भी प्रफुल्लित हो उठते और उनमें एक नवीन उत्साह उत्पन्न होता है। वे नगर और ग्राम के बाह्य प्रान्तों में घूम घूम कर धूम मचाते और गाते बजाते, हँसी ठठोली में समय बिताते आनन्द मनाते हुए प्रकृति की उस सुहावनी शोभा को देख देख सुध-बुध खोते मुग्ध होते, कि जिसे उन्होंने वर्ष भर पीछे देखी थी और उस सुखसामग्री से स्नेह करते, कि—जिसका नाम लेने से भी वे हेमंत से डरते थे। किन्तु जो कि इस ऋतु का अधिकांश आनन्द केवल बाह्य प्रान्तों में घूमनेवालों को मिलता, घर बैठनेवालों को बहुतही न्यून; इसी से विशेष कर पुरुषों ही के अर्थ यह उपयुक्त ठहरा और उन्हीं को इसमें विशेषता रही; अतएव वसन्तोत्सव का त्योहार भी प्रधान रूपसे पुरुषों ही का माना गया। इसी प्रकार चार महीने की गरमी झेले उसके अन्तिम भयंकर दिनों से व्याकुल जगत पानी पानी चिल्लाता, जब जगतजीवन की कृपा से जगत-जीवन हेतु जीवन (जल) बिन्दु की वर्षा होती; असह्य तीव्र ताप तिरोहित होने से मानो पुनरपि जीवन पाता सा लखाता और अचाञ्चक आई कलित काली बदलीसे संसार की बदली दशा देख आप से आप मानव मन आनन्द निमग्न हो मुग्ध होता है। सुतराम् इसका मुख्य मास सरस सुहावन सावन जिसमें घर बैठे ही सब सुख का सागर लहराता लखाता, वरञ्च प्रायः बाहर निकलना भी दुरूह हो जाता है; जैसा कि—

> भूमि हरी भई, गैल गई मिट, नीर प्रवाह बहाव महा है।
> कारो घटान अँधेरी कियो, दिन रैन मैं भेद कछू न रहा है॥
> 'ठाकुर' भौन सों दूसरे भौन लौं जात बनैन विचार महा है।
> कैसे कै आव कहा करैं बीर! विदेसी विचारन दोस कहा है?

इसी कारण जिसके पूर्व व्यापारी और प्रवासी जन अपने घर लौटते और जिसमें अधिकांश प्रायः वियोगी जन संयोगी बनते, रमणियों को विशेष अनुकूल और प्यारा है। इसके आनन्द अनुभव के अर्थ न प्रायः कहीं जाने

की आवश्यकता और न विशेष सामग्री ही सापेक्ष्य होती। रथ और गाड़ियों पर चढ़े समीर सेवन का सुखानुभव भी जब झूलों ही पर हो जाता और संसार का नवीन रूप खिड़कियों में भी बैठे वैसाही लखाता, जैसा कि योजनों जाने से। वास्तव में इन दिनों अति उदार हो प्रकृति घर बैठेही उत्सव अनुभव कराती है। अस्तु, जैसे वसन्तोत्सव के त्योहार का नाम होली वा होलिका दहन के कारण होली हुआ, ऐसेही सुप्रसिद्ध त्योहार कजली तीज के रहने से इस बरसाती उत्सव का नाम भी कजली कहलाया। एवम् जैसे होली के अवसर पर गायी जाने योग्य गीतों का नाम होली पड़ा, कजली में गाने योग्य गीत कजली के नाम से विख्यात हुई। जैसे वसन्त ऋतु में श्रीराग, वा वसन्त अथवा बहार के होते हुए भी एक विशेष गीत होली की आवश्यकता हुई और अति सर्वप्रिय हो उसने उपरोक्त अन्य प्रचरित प्राचीन रागों का राग न्यून किया और अब जैसे चैती अपना प्रेम पसार रही है, ठीक वैसेही मेघ आदि मलार, अथवा सावन वा सावनी गीतों के होते हुए जैसे झूले की एक विशेष गीत ठहराई गई, कजली का होना भी परमावश्यक प्रतीत हुआ होगा।

वास्तव में पावस की उमड़ी कलित कजली अर्थात् आकाश पर छाई काली मेघ माला को (जिसे उत्तर भारत में कजली कहते हैं, यथा,—देखो पच्छिम कैसी कजरी उठी है) जिसकी उत्प्रेक्षा रसिक चूड़ामणि हमारे देश के कवि कुल कलाधर कालिदास यों करते हैं, कि—

"नितान्तनी लोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नञ्जनराशिसन्निभै
कचित्सगर्भाप्रमदालन भैः समाचितव्योमधनैस्सएन्ततः ॥"

अर्थात्—कितने ही गहिरे नीले कमल के रङ्ग के, कितने काजल की राशि से और कितने ही गर्भवती कामिनियों के कुच के सदृश काले बादलों ने चारों ओर से आकाश को घेर लिया। देख क्या राव, क्या रंक, क्या रानी और क्या दीन घसियारनी सब के मन में समान ही उल्लास उत्पन्न होता। फिर उस कजली से विशेष काली की गई वास्तव में सावन भादवँ की अँधेरी रजनी जो कि कामी जनों को स्वभावतः परम प्रिय होती, यथा,—

"घनागमो कामिजनप्रियः प्रिये।" अथवा—

"घूमि घूमि घोर घन घटा लेती भूमि-चूमि,
झूमि झूमि लता उठैं झंझा पवन झारी मैं।
मोरन की सोर झिँगुरन को झँकोर जोर,

ठौर ठौर दादुर रटत निसि कारी मैं
'सिव कवि' ताही समय असित सिँगार साजि
चलो प्रान प्यारी मन दीने बनवारी में
चौरत चुरेल को अनीन को, बनीन बीच
जाति है फनीन की, मनौन की उँज्यारौ में।

उसका यदि कोई ऐसा अनोखा उत्सव न होता तो मानों आर्य्यों की रसज्ञता, अथवा बिनोद विवेक बुद्धि में न केवल बट्टा लग जाता वरञ्च सच पूछिये तो उनमें विचार शून्यता अथवा अकृतज्ञता का भी दोष दिखलाई देता। जिसकी शोभा लख स्वयम् प्रकृति विमोहित होती और दिन में भी उसी शोभा का संचार करती, वा यों कहिये कि दिन भी रजनी के रूप में निमग्न प्रेम विवश लालजी के कथनानुसार रात और दिन में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता। यथा,—

"पावस घन अँधियार में रह्यो भेद नहिं आन।
राति दिवस जाने परैं, लखि चकई चकवान॥"

न केवल स्याम घनाच्छादित हो आकाश हो अन्धकार का अधिकार विस्तार करता, वरञ्च श्यामायमान बेलि-विटप वृन्द विभूषित वनराजि भी उसको सहायता देती[२] और श्याम शस्य पूरित मेदिनी भी उसी का अनुकरण कर विचित्र विधि मिलाती; स्वयम् ईश्वर से भी जब अपने ही रङ्ग को अंगीकार करा उसे अपनी शोभा दिखाती, बुलाती वा अपने पर प्रगटाती, तो उसके सुत काले काम का राज्याभिषेक करा देना तो उसे क्या बड़ी बात है। जिस हेतु कजली की मनमोहनी शोभा सिमटकर न केवल कामिनियों की कुटिल काली कुन्तलावलि पर आ बसती, वरञ्च उनके नेत्रों में तो मानो अपना एकान्त मन्दिर ही बना बैठती। किन्तु कुरंग लोचनियों को इतने पर भी सन्तोष नहीं वे उसे देख स्वयम् इतनी रीझतीं, कि कज्जल की रेख दे दे मानो उसे अपने प्रेम-पास में बाँध कर बन्दी बनातीं और उसकी शोभा वृद्धि कर आकाश पर उमड़ी कजली (मेघ माला) को भी ईर्षा उत्पन्न करतीं; क्योंकि मन में उनके कृष्ण काम ने निज राजधानी बना, अब अपने ही वर्ण से उन्हें विशेष रुचि, अपने ही कुतूहल से काम एवम्

---

[२]मेघैर्मेदुरमम्बरम् वनभुवःश्यामास्तमाल द्रुमैः।

कजली के मिस पूर्व प्रेमान्धकार का अधिकार करा दया है। जैसा किसी उर्दू कवि ने कहा है, कि—

"की फरिश्तों की राह अब्र से बन्द। जो गुनः कीजिये सवाब है आज।"

निदान उस कजली की मनमोहनी शोभा संयुक्त कजली के सुहावने अवसर पर क्या रानी और सम्भ्रात कुल कामिनियाँ ठाकुर कवि के कथनानुसार

"सजि सूहे दुकूलनि विज्जु छटा सो अटानि चढ़ी घटा जोवती हैं।

रंग राती सुनै धुनि मोरन की मदमाती सँजोग सँजोवती हैं॥"

अथवा सामान्य कृषिकारिणी रमणी, जैसा नव्वाव अब्दुर्रहीम खानि खानां (रहीम कहते हैं' कि—

"नीकि जाति कुरमिनि की खुरपी हाथ।
आपन खेत निरावहिं पिय के साथ॥"

दोनों की आँखें आकाश की ओर देख समान रूप से आनन्द अनुभव कर नहीं अघातीं और न वे निज हर्ष को बिना प्रकाश किये रह सकती हैं, यथा—

सावन की अंधियारी निसा झुकि बादर मन्द फुही बरसावत।
राधिका आपनी ऊँची अटा पै चढ़ी रसरंग मलारहि गावत।
ता समय प्रीतम के दृग दूर तै आतुर रूप की भीख यों पावत।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनी दीप दिखावत।

यदि रानियाँ बीन सितार वा तमूरे पर प्रबाल शीखाशकल सी उँगलियों को फेरती उसकी स्तुति करतीं यों ग्राम वधूटियाँ धान के खेतों में विचरतीं नवजात तृणों को निर्मूल करतीं, उसी रस में निमग्न अपने सुरीले स्वर उसके गुणालाप से उन्हें ईर्षा उत्पन्न कराती हैं। विशेषतः ये क्यों न ऐसा करतीं, कि एक मात्र जगतजीवनाधार मेघमाला संसार को स्तुत्य होकर भी उनकी विशेषतर है। जैसे—

"छाया दानत्त्वणपरिचितः पुष्पलावी मुखानम्।"

अस्तु, उस कजली के स्वाभाविक उत्सवमय समय के आनन्दसय क्रीड़ा कुतूहलयुक्त बरसाती उत्सव को कजली-उत्सव अथवा त्यौहार कहते, एवम् उससे तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक वर्णनीय बिषयों के वर्णन से युक्त और कुछ स्थानिक तथा सामयिक बातों का भी बखान जिसमें होता;

उस समय और प्राय: उन्हीं क्रीड़ा कुतूहलों में एतद्देशीय बहुधा ग्राम्य नारियों से गाई जाने वाली एक विशेष गीत को कजली कहते हैं।

अब उस सुहावने अवसर के सहज स्नेह-रस से सिंचित अनूठी राग में सरसता होनी सर्वथा सम्भव है, क्योंकि प्रायः रसीली स्त्रियों की बनाई, उन्हीं के उस अवसर पर सूझे अनेक रसीले भोले-भाले भाव से भरी, उन्हीं की स्वाभाविक सीधी सादी रसीली भाषा से भूषित गीत हैं। जैसे होली के त्यौहार में अधिक आनन्द उद्‌गार के होने से विशेषकर ग्राम्यों ही में सर्वतोभाव से उसका आधार रहता,—राजा, महाराज वा महाजनों में तो केवल नृत्य, दर्शन, गान श्रवण, और कुछ रंग गुलाल मात्र से होली की पूर्ति हो जाती स्वयम् आनन्दोन्मत्त हो नाचना, गाना, बजाना, गाली और कबीर सुनाना वा होली जलाना, धूल उड़ाना और नाना प्रकार के खेल-कूद आदि समग्र आनन्द सामग्री, कि जो सचमुच वसन्तोत्सव, होली वा फाग का तत्व है, केवल ग्रामीणों ही के बाँटे पड़ा है;—उक्त नागरिक और महाजनों को तो केवल कविता में उसका वर्णन मात्र सुन सन्तोष करना पड़ता; तद्रूप इसमें भी,—सम्भ्रान्त कुल कामिनियों की मनोरञ्जन सामग्री तो केवल झूला झूलना और गाना बाजाना मात्र है; उसमें भी मल्लारादि अनेक राग रागिनियों का समावेश रहता, किन्तु कजली खेल के संग गाना बजाना वा अनेक क्रीड़ा कौतुक एवम् वार्षिक उत्सव सम्बन्धी अनेक कृत्य विशेष में तो प्राय: ग्राम्य सुहासिनियों ही का भाग है। इसी से प्रधानता इसमें ग्राम्य भाषा और भाव आदि की स्वाभाविक होने से अति आवश्यक है, अतः इसकी रचना में भी विशेषता प्रायः उन्हीं की है। नहीं तो मध्य कुल कामिनियों की विशुद्ध मधुरी भाषा की कविता में उससे विशेष वा विचित्र रस और क्या होता, कि—जो मीराबाई, राय प्रवीन वा अन्य अनेक सुकवि स्त्रियों की कविता में पाया जाता है;कि जिनमें और पुरुष कवियों के काव्य में कदाचित् ही कुछ अन्तर है। कारण जिसका केवल यही है, कि—वे भी प्राय: पुरुषों की भाँति पढ़ी लिखी, उन्हीं की तुल्य रुचि और योग्यता की होतीं, अतः वे कविता में भी पुरुष कवियों ही का अनुकरण करती हैं, एवम् अपने को भाषा—शैली, पिङ्गल, व्याकरण और साहित्य के अन्य बन्धनों से प्रतिबद्ध कर लेतीं।

सारांश इसकी कविता सर्वथा विलक्षण है और वास्तव में वह केवल उन्हीं ग्राम्य स्त्रियों ही के द्वारा बनाईजा सकती है, कवियों का प्रयत्न तो इसमें

एक प्रकार से सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि यदि सच पूछिये तो यह कविता नहीं और फिर भी ऐसी, कि जहाँ कवियों की कविता कामिनी चौकन्नी हो दातों में उँगली दाबे दूर खड़ी सोचती, कि—हमारी पैठ यहाँ कैसे हो ? क्योंकि यहाँ तो न कोई कविता का प्रतिबन्ध, न उसके गुण संचय की चिन्ता। केवल सीधे-सीधे सूझे भाव मात्र की कहनि है, परन्तु वह कहनि ऐसी है, कि जैसी कुछ ! हमारे रचयिता विचारे का ध्यान यहाँ क्यों आने लगा और उससे फिर ऐसा कहते ही क्यों बनने लगा ? वे कभी तो अपनी कृत्रिम भाषा को इस स्वाभाविक ग्राम्य स्त्री भाषा से अच्छा ठहरायेंगे और कभी इन सादे भावों को भोंडे और ग्राम्य कह कतरायेंगे; अपनी पोथियों के सहारे सौ सौ दोष बतलायेंगे, पर तौ भी चाहे कितना हू मस्तिष्क लड़ायेंगे भाँति भाँति से अपनी निपुणता और पाण्डित्य दिखायेंगे श्रोताओं से धन्य ! धन्य !! कहलायेंगे, किन्तु वह सहज स्वारस्य कहाँ पायेंगे, कि लायेंगे, जो इसमें स्वयम् समाई, सुन्दर सुहाती और स्वाभाविक है।

वह कजली कैसी होती, अथवा कैसी होनी चाहिये ? यह तो केवल उन्हीं अवसर विशेष पर यहाँ की सामान्य रमणियों अथवा पात्र विशेष के मुख से सुनने से समझ पड़ सकता है, क्योंकि गीत है, और गाने का तत्व सुनने से समझ में आता है, नतु पढ़ने से। योंही स्थानिक राग के अर्थ स्थानिक ही गायक होना भी परमावश्यक है। अस्तु, यदि केवल कविता मात्र अथवा अक्षरों में उसका स्वरूप दिखलाने को कुछ कजलियों के उदाहरण दिये जायँ तो यद्यपि केवल दो-चार चरण लिख देने से उसकी रचना का यथावत् पता तो न लगेगा, तथापि दिग्दर्शनार्थ कुछ यहाँ लिखते हैं,—

सामान्य आदर्श।

कवने रंग मुंगवा, कवन रंग मोतिया कवन रंग ननदी तोर बिरना ?
लाल रंग मुंगवा, सपेत रंग मोतिया, संवरे रंग ननदी तोर बिरना॥
फुटि जैहैं मुंगवा, चिटिकि जैहैं मोतिया, रिसाय रे जैहैं ननदी तोर बिरना
बिनि लेबै मुंगवा बटोरी लेबै मोतिया मनाइ रे लेबै ननदी तोर बिरना॥

कदाचित् इसमें व्याख्या की विशेष आवश्यकता नहीं है, सहृदय रसिक और सुविज्ञ कवि कोविद जन स्वयम् समझ सकते हैं कि—इसमें कैसी कुछ विचित्रता और मनोहरता है। अथवा—

मैय्या तोर निपट नदान छोटी ननदी ॥

शृङ्गार !

गुहि दे मोरे मथवा कै चोटिया रे बालम ॥
चोटिया गुहत मोहिं गरवाँ लगावै,
गलवा में काट थै चिकोटिया रे बालम ॥

सभ्य स्त्रियों की रचना ।

बरसै अदरा कै बुँदवा ठाढ़ी भीजै गुजरी ।

अथवा—

नाहीं लागै जियरा हमार बिन सैय्यां रे ॥
एक तो सवनवां कै राति अँधेरी, दुसरे झिँगुरवा झनकार, बिन सैय्यां रे ।

ग्राम्य रचना ।

कहथीं पड़ाइन पांड़े सुन: मोरी बतियां, /ज़ोन्हरी बोवाय: जिउ कै काल राति खेते में सियार बोलैं ना ।

विनोद ।

बीस रुपैया थानेदरवा के देबै, पाँच रुपैया जमादार के रे साँवलिया ।
ई दुनो जोबना सिपहिया के देबै, अँगुठा चटाय दफादार के रे साँवलिया ॥

हास्य ?

चाकी परै बभना मैं काकी लागौं तोर रे ।

क्रीड़ा कौतुक ।

धन जिरवा कैसे बोवथ्य, । इत्यादि ।

न ये कजलियाँ केवल प्रेम वा शृङ्गार, अथवा विनोद, वा सामान्य क्रीड़ा कौतुक ही विषयक होतीं, वरञ्च प्राय: सभी आवश्यक विषयों का इस में समावेश रहता है । कभी-कभी ये सूक्ष्म रूप से नीति और धर्म्म, आचार, विचार, हर्ष, शोकादि के ढँढोरे का काम देती हैं। कभी जो इसकी बनानेवालियाँ प्रतिष्ठित कवि और चित्रकार को खार देतीं, तो कभी सामान्य शिक्षक वा लेक्चरर बन ऐसी-ऐसी शिक्षा देतीं, वा भर्त्सना करतीं कि सुननेवालों का चित्त भर आता । कभी समाचार पत्र के सम्पादकों का चार्ज भी ले लेतीं और सामान्य चाल ढाल और कर्तव्याकर्तव्य की वह तीव्र समालोचना करतीं, कि सुनने वालों के छक्के छूट जाते और एक अद्भुत आतंक का प्रादुर्भाव

होता। ऐसी छिपी-छिपी कहानियाँ कह डालतीं कि प्रायः बड़े बड़े घरों के छिपे भेद सुन कर लोग चकित और चौकन्ने हो जाते! कभी-कभी किसी जन विशेष का उपहास कर ऐसा लज्जित कर देतीं, कि उन्हें डूब मरने को संसार में चुल्लू भर पानी मिलना मुश्किल हो जाता। इसी प्रकार कभी व्यतीत वर्ष से लेकर सौ वर्ष तक का भी इतिहास सुनातीं, मुवर्रिख बन जातीं; जो यहां प्रति वर्ष देखने में आता है, कि प्रायः विगत वर्ष की किसी विशेष वा प्रसिद्ध विषय की कजली अवश्य ही सुनने में आती। कभी जो बन्दी जन बन किसी की कीर्ति गातीं, तो कभी व्यास बन पुरानी प्रयोजनीय वृत्तान्तों की कथा कह सुनाती हैं। यथा,—

धर्म

सुमिरौ मैहर के भवानी तूं पति पानी राखः मोर।

अथवा

देवी झूलैलीं हिंडोरवा दुर्गा खेलैं कजरी। इत्यादि।

आचार

यठियन के ठैंयां भुंयाँ धरम तोहार लोय॥

ढुनमुनियां खेल के आरम्भ में इसको गाकर मानो वे पृथिवी देवी जिसपर खेल कूद होता उसकी वंदना करती और निज विनोद क्रीड़ा के अर्थ क्षमा प्रार्थना करतीं। योंही,—

खेलावै मोके हिंदुनी, मैं खेलै न जानौ हिंदुनी।

जान पड़ता है कि मुसल्मानी स्त्रियों के साथ खेलने के विषय पर इसकी रचना हुई है। कदाचित् स्वयम् अपने अपने पति के नाम बतलाने पर यवनियों ने हिन्दू स्त्रियों के साथ कजली खेलना स्वीकार किया था। यों हिन्दुनियों के धर्म्म का एक बड़ा कड़ा नियम तुड़वा कर तब मुसल्मानिनों ने उनके उत्सव में सम्मिलित होकर कजली खेला और अपना धार्म्मिक नियम भग किया; क्योंकि इसको गाकर नीच जाति की हिन्दू स्त्रियाँ अपने अपने पति का नाम लेतीं और कजली का खेल समाप्त करती हैं।

उपालम्भ

कबने चिकन मुहँवा से बियाह्यः भैय्या बिरनू।
भितराँ कैं हलियः न जान्यः भैय्या बिरनू॥

बहिन अपने अयोग्य विवाह का उलाहना देती, भाई से निज सुसराल की दुर्दशा बतलाती, कि—तुम लोग केवल ऊपर ही की तड़क-भड़क देखकर भूल गये, भीतर का हाल कुछ न जाना, कि चूहे नित्य ही व्रत करते हैं।

निन्दा

यहि रे मिरजापुरवा म कैसे बचै पानी। मारि कै देवाला सारे करैं बेइमानी॥

मिस्त्री

तोरो रमकलिया रमिगै रे राँघड़! केहू रमता के साथ।

उपहास

ह० २ भंगिनियाँ के संगवाँ भंगी भैल्यः रे हरी।

शोक

मिलल बलम सौकीन रे बुँदेलवा॥
अपना तो चाभै पूरी कचौरी, हमके चना नमकीन रे बुँदेलवा॥

विरद

दसमी राम नगर कै जाहिर, कजरी मिरजापुर सरनाम॥
राम नगर में कासी कै राजा, मिरजापुर जयराम॥

श्रीमान् महन्त श्री जयराम गिर जी महाराज कि जो इस नगर के एक बहुत ही बड़े अमीर मिज़ाज रईस और महाजन थे इस मेले को बहुत बड़ी रौनक़ दी थी। आज तक भी कजली का अन्तिम मेला इन्हीं के शिवाले वाले बाग़ के फाटक पर लगता है।

अथवा

कासीभोला कै पोखरवा बनिग बड़ा मजेदार॥

स्थानिक गुण्डों की वीरता

बूटी बैठा रगड़ैं डोलहा राम नरायन गुण्डा रामा
ह० २ नारघाट पर कै दिहेन नबबिया रे हरी।
बिन्ध्याचल में फारेस गुण्डा तेगा और गँड़ासा रा०
अष्टभुजा पर छोड़ेस कड़ाबिनिया रे हरी॥

अथवा

नबो गैल जहलखनवां कै कय तेलियागञ्ज उजार।

माशूकि ज़माना

दखिया अँखियां तोरि कटीली देखि कै फाटे छतिवा॥

केतने गुण्डे डामिल गयेन केतने पायेन फँसिया।
केतने तोरे कारन खोदैं जेहल जाइकै मटिया॥

एक परम सुन्दरी नाइन जो अति कुरूप नाई से ब्याही जाने से रुष्ठ हो वेश्या हो गयी थी और जिसके अनेक प्रेमी परस्पर लड़ भिड़कर इन दुर्दशाओं को प्राप्त हुए थे।

हर्ष

सब कै तो नैया जालीं कासी कलकतवाँ रामा।
हरि २—नागर नैय्या जालीं काले पनियाँ रे हरि॥

एक बड़े दुष्टाधिराज के दुष्कर्म्म के परिणाम का आख्यान।

करुणा

मोंहि छोड़ दे मिरजवा मैं तो नागर बमनी।
पनियाँ के धोखे मिरजा दरुवा पियाय
मोरी जतिया बिगारे; मैं तो नागर बमनी।

एक कुलीन कन्या को स्थानिक कोतवाल का छल-बल तथा अन्याय-पूर्वक निज पत्नी बनाने पर शोक।

रौद्र

जूड़ा वलिया ने घोड़ा फेंकि मारी बरछी।
जो रे होती मोरि मुलताना रे कमनियां तो चारि पहर तीरन्दाजी करती॥

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की अँगरेज़ों से लड़ाई।

ऐतिहासिक

कासी जी से आइल बाटैं चोरवा रे साँवलिया।
फिरत बाटैं गलियां की गलियां रे साँवलिया॥

अथवा

कैसे खेलों रे कजरिया होइग मिरजापुर बदनाम।
चापट साहेब घापट कीहेन, मनी साहेब बेकाम॥

१८५७ ई० का विद्रोह।

चारिउ ओरियाँ से बागी लड़ैं जूझैं टोपीवाल

वै० १९२९ का डैङ्गू फीवर।

सावन में बेगमी आई परीं चटपटिया॥

पहिले तो बोखार आवै पीछे धरै गठिया।
केहू कै तो लोथ उठै केहू क उठै खटिया।

सं० १९३२ का जाह्नवी कोप

रतियाँ देखल्यूँ रे सपनवां गंगा बाढ़ी बड़े जोर॥

अब कदाचित् स्थालीपुलकन्याय से सुविज्ञ सज्जन स्वयम् समझ सकते हैं, कि इन पंक्तियों में कैसी कुछ विलक्षणता लक्षित होती है। वास्तव में कजली की न केवल रागिनी वा धुनही मनोहारिणी है, वरञ्च उसकी रचना और भी अत्यन्त अद्भुत और अनोखी होती है। किन्तु यह भी इसके संगही समझ रखना उचित है कि उक्त गुण और स्वारस्य अधिकांश केवल स्त्रियों ही की रचित कजलियों में मिल सकता है, इतरों में अति न्यून और कदाचित्। परन्तु खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि अब उनकी संख्या ऐसी घट रही है, कि कदाचित् कुछ दिनों में निर्मूल हो जाय तो भी आश्चर्य्य नहीं; क्योंकि आगे तो पुरुष कवि आदि कदाचित् कोई कोई कजली बना लेते थे, किन्तु अब तो इधर के लोग प्रायः अपनी कविता रचना की योग्यता इसी में दिखाते और भाँति-भाँति की अपनी नई-नई मनमानी गढ़न्त गढ़ते चले जाते हैं। वरञ्च लावनी-बाज़ों ने जैसे कलगी तुर्रा भेद लगा और अलग अलग अखाड़े बाँध बाँध कर लावनी को खयाल मरहठी आदि नाम दे अपनी मनमानी रीति से बना बना कर उसे उर्दू की चच्ची वा अरबी की बच्ची कर उसकी वास्तविक सरसता को बिगाड़ दिया, तद्रूप यहां भी उनका अनुकरण कर इसके भी अखाड़े बाँध कर लोग कजली की मिट्टी खराब कर रहे हैं!

इन अखाड़ों में एक उस्ताद और कई शागिर्द कहलाते। उस्ताद और दो एक उनके चेले साथी मिलकर कजलियां जोड़ते, और खजरियां बजा बजा कर गाते और कभी ढुर ढुर कर स्त्रियों की भाँति ढुन्मुनियाँ भी खेलते हैं। इसके भी प्रतिबद्ध रहते कि अपने ही अखाड़े की कजलियां गायें, और दूसरों की कदापि नहीं। यों एक मण्डली दूसरे से उभरने और अपने को उससे विशेष योग्य प्रमाणित करने की चेष्टा करती। कभी कभी दङ्गल भी होता और कई मण्डलियां वा अखाड़े एकत्र हो जाते; जिसमें परस्पर एक दूसरे को अपनी कजलियाँ सुनाते और अपनी अपनी मनमानी नई कारीगरी दिखलाते, दूसरों को प्रचारते और अपने से कुछ अच्छी करतूत कर दिखलाने को ललकारते हैं। यों जोड़ तोड़ की कजलियाँ उड़तीं, खूब लाग डाट की ठहरती,

गाली गुफ्ते की तो कोई बातही क्या है, अच्छी खासी लड़ाई भी होती जाती, जूती पैजार और लाठी डण्डों तक नौबत आती है। कारण यह कि गाते गाते बोली ठोली को छोड़ उसकाने और भड़काने वाले मजमून की भी कजलियाँ बना रखते, जो प्रायः वादी की गाई किसी अच्छी वा अनूठी कजली के जोड़ की निज मण्डली निर्मित दूसरी कजली न गा सकने पर गाते जिसके प्रत्युत्तर में उससे भी अधिक गाली गलौज भरी दूसरी मण्डली गाती है। इन कजलियों को वे लोग 'फटका' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार कभी कभी कज्ली होली के भँड़ौए फाग का भी आनन्द देने लगती है।

अस्तु, यह कजली गीत कहाँ से (१) कब से (२) किस कारण (३) और किस प्रकार से (४) उत्पन्न हुई तथा (५) वास्तव में इसका रूप और लक्षण क्या है? आदि जटिल प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर यद्यपि कठिन है, तौ भी इस विषय में हम कुछ अपने विचार लिखते हैं,—

(१) जानना चाहिये कि इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं है कि उत्पत्ति स्थान इसका यहीं है। क्योंकि प्रथम तो जिस धूम-धाम से कजली यहाँ मनाई जाती है, किसी दूसरे स्थान पर ऐसी नहीं। दूसरे आज तक जितनी कजलियाँ सुनी गई हैं, सब यहीं की ग्राम्य भाषा वा बनारसी मिश्रित भाषा में कि जो इस नगर के केवल पाँच ही कोस पूर्वीय प्रान्त से प्रारम्भ होती है, अतः उसे भी हम यहीं अर्थात् कन्तित, मिरजापुर अथवा चुनार की भाषा मानते हैं। जो कदाचित् कोई कोई कजली सामान्य गीतों की भाषा में सुनी भी जातीं सो प्रथम तो वे अति विरल, और प्रायः नवीन रचित हैं; तौ भी उनमें किसी दूसरी ग्राम्य भाषा का मेल न होने से उस पूर्वोक्त अनुमान में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(२) 'कब से' के उत्तर में—हम यहां केवल यही कह सकते हैं कि कजली त्योहार के प्रचार के कुछ पीछे और कजली खेलके आरम्भ के संग इसकी भी सृष्टि हुई। कजली त्योहार सम्बन्धी कृत्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अर्थात् एक तो उसका धार्म्मिक अंश जो पूजनादि कृत्यों में स्त्रियों के द्वारा अनुष्ठित होता है। दूसरा उसके सम्बन्ध में क्रीड़ा कौतूहल और आमोद प्रमोदादि कार्य्य कि जो उसी धर्म्म वा सदाचार सम्बन्धी कृत्य वा उत्सव की सोभा बढ़ाने एवम् उस समय के अनुसार मन बहलाने के अर्थ आवश्यक माना जाकर स्वभावतः प्रचलित हुआ। पिछले दिनों वर्षा ऋतु में

व्यापारादि कार्य्यों के न्यून होने से भ्रमण का अभाव होता और उस ऋतु के मध्य श्रावणान्त में जठराग्नि के मन्द होने से स्वास्थ्य रक्षणार्थ तथा मन बहलाव के लिए कुछ भ्रमण, वा व्यायाम आवश्यक समझ—विशेषतः स्त्रियों के अर्थ जो प्रायः घरों में रहतीं—इस खेल का प्रचार यों भी विशेष उपयुक्त समझा गया होगा।

सदा से हम आर्य्यों के प्राय: सब कार्य्यों के आरम्भ में प्रथम धर्मकृत्य ही का अनुष्ठान होता है, उसमें भी प्रायः शक्ति लाभार्थ अनादि शक्ति ही अर्थात् महामाया अथवा उसके साकार भेद वा रूपान्तर की उपासना की जाती है। यदि सबी अवसरों के अर्थ एकही नाम, रूप वा रीति से पूजा की जाय, तो न तो उसके भक्ति भाव में विलक्षणता हो और न स्वाभाविक सरसता;अतः धर्म्मोपदेष्टा और सदाचार प्रवर्तकों के उपदेश और भक्तों की भक्ति भावनाओं के कारण समय समय पर प्रकारान्तर से उपासना की परिपाटी प्रचरित हुई। जैसे वासन्तिक उत्सव में श्री पंचमी, नववर्षारम्भ तथा सुहावनी शरद ऋतु के आदि में नवरात्र की शक्ति उपासना का प्रचार सर्वत्र समान रूप से है। बङ्गाल में तो प्राय: सभी अवसरों पर नाना प्रकार से देवी पूजा हुआ करती, योंही भिन्न भिन्न देशों में अन्य अनेक प्रकार से इसमें समय और कृत्यों की विभिन्नता पाई जाती है, वैसे ही हमारे देश में भी यद्यपि अन्य अनेक महीनों और अवसरों पर विविध प्रकार की देवी पूजायें प्रचरित हैं, किन्तु हमें वर्षा ऋतु सम्बन्धी उत्सव मुख्यतः कजली के त्योहार से प्रयोजन है, अतः उसी के सम्बन्ध की कुछ बातें लिखते हैं,—

वर्षा के दो महीने अर्थात् श्रावण और भाद्रपद की तीनों तीजों में तीन त्योहार वा देवी पूजा का प्रकार पुराणों में पाया जाता है—यथा हरियाली वा ठकुरानी तीज, अर्थात् श्रावण शुक्ला तृतीया को मधु श्रावणिका नामक व्रत, पूजा वा उत्सव होता, जो विशेषतः गुजरात आदि देशों में धूमधाम से मनाया जाता है। हमारे देश में उसी के समीप नागपञ्चमी का त्यौहार विशेष रूप से प्रचलित होने से उसका यहां अधिक मान्य नहीं है। नागपञ्चमी ही के दिन यहां कजली की जयी जमाने के लिए स्त्रियां गाती बजाती तालों वा सरोवरों से मिट्टी भी लाने जाती हैं। मानों उसी दिन से कजली अथवा 'हरियाली' की स्थापना होती,—जैसे कि एक एरण्डवृक्ष को गाड़कर बसन्त-पञ्चमी से होली की। इसी प्रकार भाद्र मास की दोनों तीज अर्थात् कजली और हरितालिका में भी दो व्रत अर्थात् हरिकाली और हरितालिका का पृथक्

पृथक् विधान भविष्योत्तर पुराण में देखा जाता है। यद्यपि जो पुस्तक हमने देखी उसमें न जाने क्यों दोनों का शुक्ल ही तृतीया में विधान पाया, परन्तु इसमें अवश्य ही कुछ भूल की आशंका होती है और जो शुक्ल और कृष्ण केवल एक ही शब्द के फेरफार से सहज सुलभ है। हरितालिका में तो भ्रम का स्थान नहीं है, क्योंकि उसका प्रचार विधान के अनुसार ही है। कजली त्योहार में कृत्यादि के विरुद्ध शुक्ला तृतीया का उल्लेख निःसन्देह हस्त दोष वा भ्रम का होना प्रमाणित करता है। क्योंकि प्रथम तो एक ही दिन दोनों व्रतों का होना असम्भव है, दूसरे उनका प्रचार कृष्णा तृतीया में पाया जाता और वही कजली वा काली नाम के कारण स्वाभाविक है।

भविष्य पुराण के उत्तर पर्व के २० वीं अध्याय में इस उत्सव और हरिकाली नामक व्रत का विस्तार से—जिसके अनुसार यह उत्सव प्रायः इस देश में मनाया भी जाता यों वर्णन मिलता है :—

"महाराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न के उत्तर में कि आर्द्र धान्य में स्थित जो हरिकाली नामा देवी स्त्रियों से पूजी जाती हैं, वह कौन हैं और उनके पूजा का क्या फल है? भगवान् श्री कृष्ण ने कहा,—एक समय देवताओं के सहित विष्णु भगवान् के समक्ष, नील कमल के तुल्य प्रभा वाली काली नामक देवी निज पत्नी को हास्य पूर्वक महादेव जी ने काजल सी काली कह पुकारा, जिससे अत्यन्त अपमानित और कुपित होकर उन्होंने अपनी श्याम द्युति को हरित शद्वल में छोड़ उस शरीर को आग में जला, पर्वतराज हिमालय के घर गौरी रूप से जन्म ले, शिव की अर्द्धाङ्गिनी होकर देवताओं से पूजित हुईं। इस प्रकार शस्य में स्थित उस हरिकाली देवी को पूजना चाहिये। अतः भाद्र तृतीया को धान्य से उगे हरितशस्य में गंध, पुष्प, फल और मिष्ठान्न आदि से गाते बजाते उनकी पूजा कर, रात को जागरण कर प्रातः काल रम्य जलाशय में उसे विसर्जन * करे। जो स्त्रियाँ प्रति वर्ष भक्ति से

---

*एवं सा हरि कालीति गौरी शस्ये व्यवस्थिता।
पूजनीया महादेवी मन्त्रेणानेन पाण्डव ॥
हरकर्म्म समुत्पन्ने हरिकाली हरिप्रिये।
मां त्राहि शस्य मूर्त्तिस्थे प्रणतास्तुनमोनमः ॥

२ कृष्णे (शुक्ले) भाद्रपदस्यैवं तृतीयायां समर्चयेत्।
सर्वधान्यैस्तां विरुढ़ां भूतां हरितशाद्वलाम् ॥

उन्हे पूजेंगी, वे सब पापों से छूटकर सुख सौभाग्य और पति पुत्र से समन्वित चिरजीविनी होगी।"

इसी भांति जयद्रथ तन्त्र मे यह कहा गया है कि भाद्रपद कृ० २ के सन्ध्या समय—जिस रात को यहां रतजगा होता है—तारा देवी का जन्म* हुआ था। कोई कहते कि इसका सम्बन्ध विन्ध्यवासिनी देवी के जन्म से है। जैसा कि काशी के परमपद प्राप्त पूजनीय महात्मा, असाधारण विद्वान् और कवि स्वामी देवतीर्थ 'काष्ठजिह्व' 'देव' का कथन है —

स्यामसुधा—मलार

"श्री जसुदा के गरभ आय गोकुल मे कन्या प्रकट भई।
अति प्रसन्न मुख स्याम अरन तन कचन दामिनि काति मई॥
'भादो बदी दुइज गुरु सतभिख सझा समय' सुकर्म जई।
कस बिवस करन को मानौ आदि सक्ति बिधि बेलि बई॥
सतयें दिन मथुरा मे आई पद गहि कस उठाय लई।
अगिन पलीता छुवत बान ज्यों चमकत ठनकत गगन गई॥

हरिकाली देवदेवीं गौरीं शङ्करवल्लभाम्।
गन्धै पुष्पै फलैर्धूपैर्नैवेद्यै मोदकादिभि॥
प्रीणयित्वा समाच्छाद्य पद्मरागेण वाससा।
घण्टावाद्यादिभिर्गीतैः शुभैर्दिव्य कथानुगैः॥
कृत्वा जागरण रात्रौ प्रभाते ह्युदगते रवौ।
सुवासिनीभि सानेया मध्येपुण्यजलाशये॥
तस्मिन् विसर्जयेत्पार्थ हरिकाली हरिप्रियाम्।
इत्थं सम्पूज्य ता देवी दत्वा विप्राय दक्षिणाम्।
ता च प्रातर्ज्जले रम्ये मन्त्रेणैव विसर्ज्जयेत॥
अर्चिताऽसिमयाभक्त्या गच्छदेवि सुरालयम्।
मम दौर्भाग्यनाशाय पुनरागमनाय च॥

* कल्पान्तरे महेशानि विषये नन्दगोकुले।
भाद्रकृष्णद्वितीयाया सायकाले महेश्वरी॥
प्रादुर्बभूव सा तारा राजराजेश्वरी कला।

* नन्दगोपकुले जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी॥
मार्कण्डेय पुराणे।

देवकाज बचनहिं से कीन्हों सुनतै कंसहि भई छई।
कांति कला सो रही विन्ध्य पर छाई कीरति नित्यनई ॥"

और भी—

"श्रीकान्तीमहरानी, विन्ध्याचल बासिनि ॥
खरग, पास, वर, अभय करन मे कन्या रूप निमानी।
पीत बसन चूड़ामनि झलकत स्याम बहिनि जग जानी ॥
तोहि द्वितीया तंत्र कहौ पै अद्वितीय ठहरानी।
राउर तीरथ कान्ति नाम को जाको पावन पानी ॥
'त्रिगुन रूप तिरकोन यन्त्र बनि मध्य विन्दु शिवदानी।'
सिद्ध पीठ यह विन्ध्य कियो तुम गंग नाद लहरानी ॥
'काली कजरी नाम कहाई सिद्धि अष्टभुज' जानी।
देव नाग नर सेवक तोरे लालि धजा फहरानी ॥"

स्यामरङ्ग—कजरी

"काजरि ऐसनि देवी कजरिया होना।
कुण्डल झलके लालि नजरिया होना ॥
भादौ बदी दुइज के गोकुल आई होना।
छट्ठी के निसि विन्ध्याचल पर छाई होना ॥
'खरग जवारा हाथन तन लिपटी मटिया' होना।
लाखन छोहरी संग मानहुँ चटिया होना ॥
जेहि थल कांति नहानी सोई बवलिया होना।
जहाँ बसे तीरथ देव अवलिया होना ॥"

इसी से स्वर्गीय महाप्राज्ञ काशिराज महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह बहादुर भी प्रति वर्ष उसी रतजगे की राति को श्री विन्ध्याचल धाम में आकर देवी जी का जन्मोत्सव मनाते थे।

जो हो, किन्तु इन प्रमाणों से यह तो सिद्ध ही है कि कजली त्योहार का देवी पूजा से घनिष्ट सम्बन्ध है और वह प्रायः देवी जी के जन्म से ही विशेष सम्पर्क रखता है। यों ही विन्ध्याचल की देवी ही काली, हरिकाली वा कजली हैं। प्रत्यक्ष में भी त्रिकोण की तीनों व पांचो देवियों की मूर्ति स्याम वर्ण ही देखी जाती, जिन में किसी को—अर्थात् चाहे अष्टभुजा वा महाकाली, अथवा प्रधान देवी जिनका प्रसिद्ध कोई विशेष नाम नहीं जैसे—देवी भागवत

स्कं० ७ अ० ३० में सती की देह विष्णु भगवान से छिन्न किये अंशों के गिरने से जो जो सिद्ध पृष्ठ* हुए उनमें विन्ध्याचल सर्वोत्तम कहा है। कोई उन्हें दुर्गा अर्थात् नन्दात्मजा, जैसा कि बृहदौशनस उपपुराण के विन्ध्य माहात्म्य में* कोई लक्ष्मी* और कोई योग माया* अथवा महामाया की मूर्ति मानते हैं। महाभारत के विराट पर्व्व में जो दुर्गा स्तोत्र है, उसमें भी,— "यशोदागर्भ सम्भूतां नारायणवरप्रियाम। नन्दगोप कुले ज़ाताम।" "कृष्ण च्छविसमाकृष्णा" "वासुदेवस्यभगिनी" "विन्ध्येचैवनगश्रेष्ठे तवस्थानं हि शाश्वतम्।"इत्यादि देखने से इन्हें नन्दकुमारी ही निश्चय करना पड़ेगा। इसी प्रकार शेष चार और मूर्तियों में, विशेषतः दोनों काली जी में से भी यदि किसी एक को विशेष रूप से कजली देवी मान ले तो भी कोई बाधा नहीं पड़ती है। सारांश कजली देवी (अर्थात् काली वा हरिकाली) विन्ध्याचली देवी ही हैं और उन्हीं के अनेक नामों में से एक हरिकाली वा कजली भी है— यद्यपि काली और कजला स्वतः समानार्थवाची शब्द हैं। इसी प्रकार इसमें भी सन्देह नहीं कि यह इन्हीं का जन्मोत्सव सम्बन्धी उत्सव है इसी से विशेष

---

[३] विन्ध्येविन्ध्याधिवासिनी वा विन्ध्याचल निवासिन्या स्थान सर्व्वोत्तमम्।

[४] निविश्य नन्दपत्न्यां तु यशोदायामनन्तकम्।
स्वयं प्रादुरवभूद्देवलोकानां हित काम्यया॥ अ० २६॥

[५] महात्रिकोण यंत्रस्था विन्ध्याचल निवासिनी
विधाविधाय स्वरूपं लोकानां हितकाम्यया॥३॥
महालक्ष्मी पूर्व भागे महाकाली च दक्षिणे।
महासरस्वती प्रत्यक् कोणे यन्त्रस्यसंस्थिता॥४॥
सादुर्गा दुर्गतिहरा दुर्गदैत्यविनाशिनी।
विन्ध्याद्रिनिलया देवी मधुकैटभ॰नाशिनी॥५॥
छिन्नमस्ता च सातारा सादेवी शोडशाक्षरी॥
विन्ध्यमहात्म्य अ० २४

[६] भगवानपि विश्वात्मा विदित्वाकंसजंभयम्।
यद्भांनिजनाथानां योगमायां समादिशत्॥६॥
अथाऽऽहमंशभामेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥६॥
श्रीमद्भागवत, स्कं० १० अ० २॥

रूप से यह त्योहार प्रायः इसी प्रान्त और उसके आसपास ही कुछ दूर में मनाया भी जाता है।

अवश्य ही उत्सव ने क्रमशः उन्नति लाभ किया होगा और पूजा से खेल होते होते बहुत दिन लगे होंगे, फिर कजली की गीतों की विशेष संज्ञा स्थिर होने में भी कुछ दिन लगे होंगे, तत्पश्चात् उसकी स्वतन्त्र उन्नति और उसका स्थिर स्वरूप हुआ होगा। सारांश त्योहार के प्रचार का समय तो भविष्य पुराण के निर्माण वा उसके कुछ पीछे का मानना चाहिये। आल्हा के कडखे में कजली खेल का प्रसंग सुने जाने से पृथ्वीराज के समय के कुछ आगे अर्थात् वै० ११०० से उसे भी प्रचरित अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार कजली गीत की सृष्टि भी उसी के संग वा उसके कुछ पीछे से भी प्रचरित माने तो उसका समय भी आठ नौ सौ वर्ष बतलाया जा सकता है। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो अवश्यही उस समय की कजलियाँ यह न होंगी कि जिन्हें आज हम सुनते हैं। क्योंकि यह प्रचरित कजलियां कदाचित् दो ढाई सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं प्रतीत होतीं। शोक है कि प्राचीन कजलियों के न मिलने से उसकी भाषा से कुछ भी सहायता नहीं मिलती कि जिससे कुछ विशेष पता चले। तौभी जहां तक हम अनुमान कर सकते हैं, सौ वर्ष के इधर से इसमें बहुत सुधार हुआ और पचीस वर्ष से यह विकृत हो चली कि जब से खँजरी-वालों ने अखाड़े बाँध बाँध कर अपनी खाःमखाही खैरख्वाही कर उसकी ख्वारी पर कमर बाँधी है।

(३) 'किस कारण से ?' के उत्तर में यद्यपि हम कुछ कह आये हैं, शेष आगे चलकर भी कहेंगे; तौभी यहाँ इतना और कह देना उचित है कि ग्राम्य नारियों के वर्षा विनोद उद्घाटनार्थ एवम् उस ऋतु में होनेवाले कार्य्य, क्रीड़ा और आचार व्यवहार के अवसर पर ग्राम्य गीतों के नियत रूप से गाये जाने से कजली का जन्म हुआ; जैसा कि होली, सावन, झूले वा झेलुये की गीत आदि का अलगाव या ठहराव हुआ होगा। सारांश सामान्यतः ढुनमुनियाँ खेल की गीत ही को कजली कहते हैं, जो अनेक प्रकार की होतीं तथा जिनमें पीछे से भी कई भेद हुए और होते ही जाते हैं।

(४) "क्योंकर वा किस प्रकार से इसकी उत्पत्ति हुई।" इस विषय में हमारा अनुमान यही है कि इसकी उत्पत्ति अनेक प्रकार की ग्राम्य गीतों ही से हुई है, क्योंकि सामान्यतः सबी ग्राम्य—विशेषतः स्त्रियों से गाई जाने

वाली —गीतों ही की सी बनावट की प्रायः सब असली और पुरानी कजलियाँ मिलती हैं, जैसे कि कजली की मुख्य लय की गीत—जिसे हमने सब से पुरानी चाल और सब का मूल समझ कर प्रधान प्रकार स्थिर किया है,—यद्यपि वह निरौनी आदि कई प्रकार की ग्राम्य गीतों से भी मिलती है, तौभी यदि उसकी उत्पत्ति 'सावन या सावनी' गीतों से ही मान लें, तौभी कोई बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि इन दोनों की बनावट में कुछ विशेष अन्तर नहीं! दोनों प्रकार से दोनों गायी भी जा सकती हैं। यथा—

सावनी—गड़ा रे हिंडोलवा जनकपुर, झूलहिं लछिमन राम।

कजली—बँसिया काहे के बजाय, हम तो आवतै रहे।

इसी प्रकार हम देखते हैं, तो झेलुये की गीत, सोहिल नकटा, विरहा, तितिरा, गाली और कहारों की कई प्रकार की गीतों से मिलती हुई वा ज्यों की त्यों प्रस्तार की अन्य शेष प्रकार की भी कजलियों की बनावट पाई जाती है; विस्तारभय से हम जिनका तारतम्य यहाँ करना उचित नहीं समझते। तौभी प्रधानतः ग्राम्य नारियों की निरौनी के अवसरवाली तथा झूले आदि की गीतों से निकलकर, कजली में ढुरने और क्रीड़ा के अनुकूल लय में खपती, कजली के धर्म सम्बन्धी कृत्य, उत्सव और खेल में गाई जानेवाली, उन्हीं खेल और कृत्यों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों तथा उसी सुहावने अवसर के वर्णन से युक्त गीतों का नाम कजली हुआ। अर्थात् जो उस अवसर पर विशेष सुहावनी और कजली खेल में अनुकूल समझी गईं तथा क्रमशः जो उन अनेक प्रकार की गीतों के गाने में विभेद पड़ा कजली ठहराई गईं। इसी प्रकार समय समय पर चतुर एवम् सङ्गीत निपुण स्त्रियों से इसकी भाषा, प्रबन्ध लय और गाने की रीति में भी सुधार होता रहा, जिसका प्रमाण आज भी यहाँ के कजली सुननेवालों को प्रत्यक्ष मिल सकता है। अर्थात् उसी एक कजली की (१) ग्राम्य स्त्रियाँ जिस प्रकार गाती हैं, नागरिक (२) नीच जाति की स्त्रियाँ ढुनमुनियाँ* खेलते उसे दूसरे ही प्रकार से; एवम् (३) उच्च जातिवालियों की ढोलकी और मजीरों के ताल में बँधकर वही तीसरा रूप धारण कर लेती है। यहीं तक कजली का यथार्थ रूप भी रहता और यहीं से मानो कजली की वर्तमान वास्तविक लय

* अनेक स्त्रियाँ [illegible] मिल जुल कमर झुका झुका कर चुटकियाँ बजाती हुईं गोलाकार घूमती [illegible] गाती हैं, तो उसको ढुनमुनियाँ और ढुरना भी कहते हैं।

का आरम्भ भी मानना चाहिये, जो फिर और कई श्रेणी के गानेवालों के भेद से कई प्रकार के सूक्ष्म लय की विभिन्नता धारण कर विशेष विलक्षणता को प्राप्त होती है। इसी से हमने निज कजली की पुस्तक में एकही लय की कजलियों को भी कई पृथक् पृथक् भेदों से विभाजित किया है॥

इसका क्रमशः परिवर्तन यों समझना चाहिये कि गृहस्थिनों के गाने से मधुरी लय (४) गवनहारिनों की होती, जिनके दो भेद हैं—एक तो मीरासिनों के स्थानापन्न वे नीम-बद-चलन अथवा बराय-नाम गृहस्थिनें जो गाने का पेशा करतीं और उत्सवादि पर प्रायः गृहस्थों के अन्तःपुर वा ज़नानखानों में गाने को बुलाई जातीं और जो यद्यपि ढोलकी मजीरे ही पर गातीं, तौभी वे औरों के अनुकरण से अपना गाना सामान्य गृहस्थिनों से विलक्षण कर डालती हैं। दूसरी वे गवनहारिनै कि जो एक प्रकार की निम्नश्रेणी की वेश्या वा (५) खानगी* जिन्हें पछाँह वाले डोमिनों के नाम से पुकारते हैं और जो इधर प्रायः बधावे आदि के अवसर पर राह चलते हुए दुक्कड़ और शहनाई पर गातीं, जिनकी लय उनसे भी विशेष विलक्षण होती है, क्योंकि शहनाई की अनुयायी होती। उन से भी अधिक ढोलक चिकारे पर नाचनेवाली (६) नटिनों की जो मध्य श्रेणी की वेश्या हैं—और कदाचित् इन्हीं के धुन तक कजली की यथार्थता भी रहती है। इसके आगे इसकी लय में विशेष विकार उत्पन्न होता, अर्थात् (७) रण्डियों के गाने की लय उन सब से विलक्षण होती है; क्योंकि उनके उस्ताद कथक, ढाढ़ी आदि उसे अपनी सारंगी के साँचे में ढाल, निज चातुरी और कारीगरी दिखलाने के लिए अनेक रागनियों के मेल, सुरों की काट छाँट और जोड़ तोड़, तान, ज़मज़मे वा मींड की मरोड़ से कुछ और का और ही कर डालते हैं। (८) गवैये—कलावंत, ढाढी, कथक, भाँड, भगतिये, और स्वतन्त्र व्यसनशील वा अताई उनसे भी बढ़ जाते हैं।

यद्यपि इनसे अनेक अंशों में प्रायः इसके लय का सुधार और संस्कार भी हुआ है, वरञ्च निःसन्देह कई प्रकार की कजलियों को तो उन्होंने सुधार और सँवार कर राग रागनियों की प्रतिष्ठा दे दी है, किन्तु कई तो उनमें से अब कदाचित् रागिनी ही हो गईं, जिनमें कजली की स्वाभाविक मनोहरता

---

*लखनऊवाले तो गुप्त पुंशचली गृहस्थिनों ही को खानगी कहते हैं, परन्तु इधर प्रत्यक्ष निम्न श्रेणी की निकृष्टतम वेश्याओं को।

बहुत कुछ जाती रही। कुछ से कजली का अब कुछ सम्बन्ध ही न रहा! हमने एक बिदेशी प्रसिद्ध वेश्या को तृतीय प्रकार अर्थात् "सँवलिया" की कजली को छुट्ट पीलू की धुन में और बनारस की एक नामी वेश्या को एक बड़ी महफ़िल में प्रधान प्रकार की एक कजली को शुद्ध भैरवी में गाते सुना कि जिसमें कजली के सुर का नाम भी न था और जो सुनने में बहुत ही असह्य हुई थी। कजली भी मानो ठुमरी वा दादरा ठहरा कि जिस राग में चाहा गा दिया।

न केवल ऐसे गानेवाले वा उनके सिखलानेवाले ही यों अपनी कारीगरी दिखलाने को इसकी जान लेते, वरञ्च बहुतेरे बनानेवाले भी अपनी कारगुज़ारी दिखलाने में उनसे कहीं आगे बढ़ते जाते हैं। जिसमें एक तो स्थानिक पहाड़ी खोह और झरनों के जल में बूटी छानकर प्रमत्त, हरे भरे पर्वत शृंगों पर विहार करते बेठिकाने गुण्डानी तान लड़ानेवाले, सामान्य यहाँ के (९) अक्खड़ और मस्ताना मिजाज़ लोग, जिनका किसी प्रस्तार या पद में दो चार शब्द अधिक मिला देना सहज और स्वाभाविक धर्म है। जैसे कि—

तोहके कीरा काटे हो बलमा हम तो जाबै तिरकोन*।

दूसरे उक्त अखाड़े वाले (१०) कजलीबाज़ लोग—जो अपनी बनाई कजलियों को खँजड़ी बजा बजा कर गाते और गोल बाँधकर कभी कभी निर्लज्जता से ढुनमुनिएँ का अनुकरण कर ढुरते भी हैं—निःसंकोच अपने कजली बनाने और गाने में मनमानी गढ़न्त गढ़ते चले जाते हैं, जिस कारण क्रमशः नित्यप्रति इसकी दशा बिगड़ती जाती है। विशेष कर अंतिम मण्डली से इसे बड़ी हानि पहुँच रही है, क्योंकि वे लोग बहुत ही बेठिकाने और बेसमाते जोड़ जोड़ते चले जाते हैं; वरञ्च सच तो यह है कि कजली को इन्होंने पचड़ा बना डाला, जिसके उदाहरण अनेक प्रकार के दिये जा सकते, परन्तु अनावश्यक हैं; तौभी आगे चलकर एकाध दिये जायँगे। कजली की दूसरी दूसरी धुन के पैवन्द लगा देना तो मानो इनका नित्य का अभ्यास है। अवश्य ही जो उनमें चतुर और रसीले चित्त होते, कभी कभी अच्छी कजलियाँ भी बना डालते; किन्तु अधिकांश अनेक भोंडे भाव तथा

---

* त्रिकोण अर्थात् सावन के प्रति मंगलवार का पहाड़ी मेला, जो विंध्याचल के तीन स्थानों की देवियों के दर्शन से सम्बन्ध रखता है।

अतिअश्लील शब्द और अर्थों के सन्निवेश से उसे घृणास्पद कर दिया करते हैं जैसे कि—

ऐसी नारि नटखट नाहीं देखा, उतौ लेखा मांगै अपने भतार से,
आवै जब बजार से ना ॥
कहथै भतार ऐसन मेहरि मरि जातै, छुटि जातै जियरा भबार से ।
हारे यहि छिनार से ना ।
कहई नारि पिया ! तूँ मरि जात्यः, जायकै मिलित कौनौं यार से ।
कटत बहार से ना ॥

तौभी ये लोग प्रायः स्वयम् अपनी मण्डली ही में गाते और कुछ स्थानिक ही लोगों को सुनाते हैं। किन्तु इनसे बढ़े चढ़े तीसरे वे लोग हैं, जो कवि कहलाने वा नाम पाने अथवा पैसा कमाने के लिए कजलियाँ बनाते वा बनवाते और छोटी छोटी किताबें छाप छाप कर बेंचते। ऐसी पुस्तकें यद्यपि कई इस नगर में भी प्रकाशित हुई हैं, किन्तु अधिकांश बनारस से—जो निपट उजड्ड और मूर्खों की बनाई हुई होतीं—छापाखाने वालों और पुस्तक विक्रेताओं द्वारा छपतीं और पैसे दो दो पैसे पर बहुतायत से बिकती हैं, जिनमें अधिकांश अश्लील और भद्दे ही भावों से भरी कजलियाँ संगृहीत होतीं कि जो पढ़ने वालों के चित्त पर कजली का रूप न केवल बहुत ही नीरस, निकृष्ट और निकम्मा प्रमाणित करतीं, वरञ्च उन्हें जो लोग कण्ठ कर गाते, प्रायः सहृदय सुननेवालों को भी लजाते और कजली के नाम से उन्हें अश्रद्धा उत्पन्न कराते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कजली एक ग्राम्य गीत है, इसी से उसकी गाथा, उसका भाव, विषय और प्रबन्ध अवश्य ही ग्राम्य होना ही स्वाभाविक है, किन्तु कदाचित् निपट नीरस, भोंडे अथवा अश्लील कदापि नहीं। असली कजलियों में जो कभी कभी कुछ बेढंगे पद आ भी जाते, तो वह किसी ऐसे आवश्यक स्थान पर आते, जो एक प्रकार का अपूर्व आनन्द लाते वा मजे को बढ़ाते हैं।

(५) "वास्तव में इसका रूप और लक्षण क्या है ?"—यह प्रश्न सबसे अधिक आवश्यक और जटिल है, इसी से इसमें बहुत विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता है, क्योंकि इस ग्रामीण गीत में प्रायः सबी अंशों में आशातीत उन्नति की है। यों ही गीत होने के कारण न केवल इसके (१) राग वा धुन अथवा (२) सुर और ताल आदि, वरञ्च (३) छन्द वा प्रस्तार

(४) भाषा (५) भाव और इसकी (६) रचना प्रणाली में भी विलक्षणता है। किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ संक्षेप ही में कुछ कहना इष्ट है।

१—राग रागिनियों से इसका कोई दृढ़ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह नवीन ग्राम्य गीत है। धुन इसकी ठुमरियों से भी अधिक बेठिकाने है, क्योंकि प्रायः एकही प्रकार की कजली में गानेवालों के विभेद से गाने का क्रम भिन्न भिन्न है। इसी से प्रमाणित लय प्रायः स्त्रियों, विशेषतः ग्राम्य नारियों हीं की मानी जा सकती है। यद्यपि जिस लय को सारंगी ने स्वीकार किया है, उसमें भी प्रायः विभिन्नता है, क्योंकि सारंगी बजानेवाले भी वास्तविक धुन से इधर उधर चलते फिरते हैं, तौभी जो मुख्य मुख्य भेद की कजलियाँ हैं, उनमें बहुधा मलार ही के मेल से कुछ घनिष्ट सम्बन्ध है; यद्यपि कैयों में कई अन्य रागिनियों यथा—गोंड़ मलार, देस, सिन्ध, जँगला, बरवा, पीलू, झिंझौटी, इमन, तिलक-कामोद, बिहारी और पहाड़ी आदि के भी स्वर लगते हैं।

जब कोई राग नहीं, तो ठीक ठीक स्वर का भी निरूपण कैसे हो? हाँ, भिन्न भिन्न लय और धुनों में भिन्न भिन्न रागों के सुरों के मेल का निरूपण करना सम्भव है, किन्तु यहाँ व्यर्थ बाहुल्य और निष्प्रयोजनीय हैं; क्योंकि यह गाने से सम्बन्ध रखता है और वह भी गानेवाले की योग्यता और उसकी इच्छा पर निर्भर है।

२—ताल का भी यही हाल है। कोई विशेष ताल इसके लिए नियत नहीं है। अधिकांश कजलियों में प्रायः तीन ताल बजता है, किन्तु कुछ में कहीं कहीं खेमटा आदि अन्य ताल भी बदलते हैं।

३—छन्द वा प्रस्तार के विषय में भी कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है। क्योंकि गीतों का प्रायः छन्दों के अनुसार प्रस्तार का क्रम स्वतः नहीं है, वे गाने में केवल ताल ही से तोल ली जातीं। सुतराम् अनेक प्रकार और भेदों की भिन्न भिन्न तालों के धुन में खपते कँडे वा उनके स्वतन्त्र सांचे के अनुसार बनानेवाले रचते और वही क्रम यथेष्ट है। कोई चाहे तो मात्रायें गिनकर भी, शुद्धि की जांच कर ले सकता है।

४—भाषा—इसकी प्रधानतः कन्तित, अर्थात् विन्ध्याचल वा मिरजापुरीय ग्राम्य स्त्रियों की बोल चाल ही की होनी चाहिये, क्योंकि वही स्वाभाविक और उपयुक्त है, जैसे कि होली की व्रजभाषा। किन्तु अब समय के फेर

और इसकी आदर वृद्धि के साथ साथ बनानेवालों की रुचि और योग्यता के अनुसार इसमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ता चला जाता है। लोगों ने यद्यपि संस्कृत, बङ्गला, उर्दू, पारसी, वरञ्च अँग्रेज़ी में भी कजलियाँ बना डाली हैं; किन्तु वे कजली नहीं कही जा सकतीं। हाँ, गीतों की सामान्य भाषा अथवा नागरी वा व्रजभाषा का सुहाता और उससे मिलता मेल, योंहीं कदाचित् कुछ पुट्ट उर्दू का भी दे देने तक इसकी शोभा नहीं बिगड़ती, किन्तु छुट्ट इन्हीं भाषाओं में इसकी रचना उसे विकृत और विरूप बना देती है।

५—भाव—भी ग्राम्य ही रहने में इसकी स्वाभाविकता रहती है। विषय केवल स्त्री जनोचित सुगम और सीधा, प्रायः उन्हीं से सम्बन्ध रखता हुआ होना अधिक उपयुक्त होता है। रस—इसमें प्रधानतः शृङ्गार और आवश्यकतानुसार सामान्यतः करुण, हास्य और वीर तथा कुछ कुछ शांत अर्थात् भक्ति दैन्य आदि का भी मेल अनुपयुक्त नहीं होता। किन्तु शृङ्गार के रसराज होने से उसके ल्याने में बहुत सावधानी सापेक्ष्य होती, अन्यथा रसाभास होने से आनन्द के स्थान पर जुगुप्सा का हेतु हो जाता है। अलंकार भी इसके सामान्य ही सुहाते हैं।

६—रचना प्रणाली—इसकी अति नियमित स्त्रियों के गाने योग्य ही होनी चाहिए। बहुत अट्टसट्ट की जोड़नी नितान्त भोंडी जँचती है। किन्तु जिस प्रकार इसके छन्द वा लय में अनेक भेद देखे जाते, रचना में भी इसके कई भेद हैं, अर्थात् ग्राम्य और नागरी, ज़नानी और मर्दानी, सादी, सुघरी और बिगड़ी। इसमें भी उत्तम मध्यमादि भेद से कई और विभाग किये जा सकते हैं, योंही कई और अंशों में कई। सुतराम् संक्षेप से समझाने के अर्थ यदि हम उनके कल्पित नाम रख दें, तो यों कह सकते हैं, अर्थात्—कजरी, कजली, उजली; योंही कजरा, कजला, उजला; लगनी, भद्दो, तुकबन्दी और स्वतन्त्र कविता वा प्रबन्ध।

(१) कजरी वही है, जो कि सामान्य ग्राम्य गीत आरम्भ में बनी और अभी तक उसी रूप में वर्तमान है। अथवा यों समझिये कि जो किसी वर्तमान लय का सब से प्राचीन रूप लभ्य होता और जो सब दोषों से अछूता अद्यापि वर्तमान है; जो ग्राम्य स्त्रियों के द्वारा रचित, उन्हीं के अनोखे मनोभावों से भरी, उन्हीं की छुट्ट भाषा और स्वाभाविक लय में वर्तमान और उन्हीं में अद्यावधि प्रचरित है; जो केवल गँवई गाँव की ढुनमुनियाँ खेल के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं सुनी जाती। यथा—

मोरे बाबा रे ! गौवां जोन्हरी बोआव । ओहि कुलबोरना से चिरई हँकाव ।
जियरा डाहेसि है । लरिकैयँवाँ हमार ।

सहृदय पाठक समझ सकते हैं कि यह कैसी कुछ अनोखी कविता है ! क्या सीधे, सच्चे और स्वाभाविक भाव के संग अर्थ गाम्भीर्य्य है कि जो कवियों को सर्वथा दुर्लभ है। कई कहते कि कजली में रस अलंकार वा नायिका भेद की कमी है। वे इसे देखें और समझें भाषा तथा भाव के ग्राम्य होने ही से क्या ? "अर्थ विशेष की काव्य संज्ञा है।" इसी से इसका अर्थ भी लिख देते हैं,—कोई नपुंसकपतिका अपने श्वसुर से कहती है कि "तेरा वंश डूबा ! यह तेरा लड़का और किसी काम का नहीं है, हाँ, गाँव में जोन्हरी (मकाई) आदि बोआ दे और इसको बैठा दे कि कदाचित् यह चिड़ियाँ को वारण कर उसकी रक्षा कर सके। लड़कपन में भाँति भाँति की सेवा शुश्रुषा पर भी यह ऐंठा रहता और तङ्ग किया करता था।

इसी लय से निकल और परिमार्जित हो यह दूसरी नवीन लय प्रथम प्रकार के तृतीय विभेद की निकली है,—

फुलवा झमरी कै हो डरिया ओनै ओनै जाय।

इस 'कजरी' के तीन भेद किये जा सकते हैं,—एक तो वह कि जो (अ) मूल गीत ही में रह गई और कजली में सर्वथा परिगणित नहीं हुई, वरञ्च कहीं कहीं कुछ गँवारी स्त्रियाँ ही उन्हें गाती और कजरी कहती हैं। जैसे कि—

बटियन दुबिया छिटिकि रे रहो, गैय्या चरै अनचीत, मुरली मन मोहि रे रहे ।

(इ) दूसरी वह—जो ढुनमुनियाँ खेल में स्वीकृत होकर निर्विवाद कजरी मानी गई और जिसका वही रूप अद्यापि स्थिर है। जैसे कि—

सात खटिअवा प सुखवन डारयों, प सतहू प जौंगी धान हो गोरी ।
कूटि काटि धनवाँ धरह्यु न पायों, बहरे खड़ा भैय्या मेहमान हो गोरी ॥

जिससे कि "दुइरंगी" की धुन निकली है।

(उ) तीसरी वह कि जो दूसरा रूप लेकर भी अभी कजरी बनी रह गई है। अर्थात् ढुनमुनियाँ में प्रचरित है और विशेष सुधर कर नागरिक सभ्य स्त्री और पुरुषों के गाने से भी सम्मानित हुई। जैसे कि प्रश्नोत्तर में—

सब केउ गैलें माछरि मारै तूँ काहे न गैल्यः हो ?
सब तो बाटें खाये पीये हम तो बाटौ ओइसै हो ॥

जो परिमार्जित होकर "साँवरि गोरिया" की धुन कहलाई यथा,—

ओझला पर लागल बा नहान साँवरि गोरिया ।

सारांश कजरी तो वही जो ढुनमुनियाँ ही में व्यवहृत और सारंगी तबले से अछूती बच रही है। जिसके कई उदाहरण कजली कादम्बिनी में भी ढुनमुनियाँ की कजली के नाम से दिये गये हैं।

(२) कजली—वह है कि जो यद्यपि ढुनमुनियाँ वा ग्राम्य स्त्रियों के सामान्य अवसरों के गाने में प्रचलित हो, तथापि उसी भाषा और भाव को धारण किए हुए, वा कुछ-कुछ परिमार्जित हो, सारङ्गी के स्वरों में ढलकर भी अधिकांशतः अपने पूर्वरूप और लय ही में स्थित हो। जैसे कि—

तोरे दँतवा कै बतिसिया जियरा मारै गोदना। अथवा
ताकः हमरौ ओरियाँ भरि नजरिया रे हरी॥

वा जैसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कृत,—

पिय बिन सूनी सेजिया साँपिन सों मोरा जियरा डँसि-डँसि लेत।

(३) उजली—वह है कि जो भाषा और लय में परिवर्तन पाकर भी कजली के अस्तित्व को रखती हो। जैसे कि—

झूमत चली नार मदमाती छाती अञ्चल मांहि छिपाय।
नाजुक नवल बाल सौ पतली बरबस कमर लचाय।
रीझि किसोरि कह्यो कब प्यारी लैहौं गरे लगाय॥
पं० किशोरी लाल गोस्वामी

वा जैसे स्थानिक कवि गोस्वामी वामना-चार्य गिरि कृत—

मुख मृगाङ्क महताबी राजै गोल कपोल गुलाबी रामा,
हरि-हरि भौं कमान जुग चढ़े वंक से बाँके रे हरी।

४—कजरा वह है,—जो यद्यपि ठीक ठीक स्थानिक ग्राम्य भाषा में रचित हो और प्रबन्धादि जिसके कुछ भी कजली के कैंडे से बाहर न हों, परन्तु भाव उससे भिन्न हो। मज़मून मर्दाना अथवा पसन्द वा चाल गुण्डानी हो। जिसके—अनेक उदाहरण कजली कादम्बिनी में भी गुण्डानी कजली के नाम से दिये गये हैं—अथवा जैसे—

जिनि करः बिहड़न से बहाना रे हरी॥
गाव लें मरदाना, जेकर लड़ै भिड़ै कै बाना रामा
ह० आगे तो जरीबाना, फेर जहलखाना रे हरी। अथवा—
देखःयेन गुंडवन कै तमासा रे हरी

बजे पर पचासा* तीन ठे रोटियै कै रहि गै आसा रामा ।
हरि-हरि तेह पर पठ्ठे झारैं छुरी गँड़ासा रे हरी ॥

सारांश जो पुरुषों के अतिरिक्त ग्राम्य स्त्रियों से भी गाई जा सके वा गाई जाती है ।

५—कजला वह है कि—जो प्रायः भाषा भाव और प्रबन्ध आदि में अधिकांश उसके विरुद्ध हो और जो कदाचित् कठिनता से सभ्य गृहस्थिनों और गवनहारिनों ही से गाई जा सके । तौभी, कजलो के किसी लय से अलग न हो और न उसके रस को बिगाड़ता हो । जैसे कि—

बयस सिरात, मेरे नाहीं बरसात, बइरी भई बरसात,
दुख दुहस महावा रे बालमुआ । शिवदास कवि ।

६—उजला वह है, कि जो सबी अंशों में उसके विरुद्ध हो और जो क़दाचित् कुछ अखाड़ेवाले वा और कोई सीख वा तालीम पाकर ही गा सकै, तथा जिसको सुनने में कजली के सामान्य लय में भ्रम हो, जो साखियों, भिन्न-भिन्न अटपटे छन्दों, वा अन्य प्रकार की कजलियों के मेल से विकृत हो, अथवा अन्य भाषाओं के बेबैठते शब्दों, भावों और प्रबन्ध से युक्त हो; जिसको आज कल यहाँ के अखाड़ेवाले बहुतायत से बनाते और गाते तथा जिसका अनुकरण अन्य भी करते हैं । जैसे कि, बाबा मनोहर दास दिलदार कृत,—

नित्य निरञ्जन अलख ब्रह्म सच्चिदानन्द करतार रे ॥
प्रथम किया सृष्टी को जिसने लक्ष रूप बिस्तार रे ।
कारण से कारज करि माया जीव हुये एक तार रे ॥
निज अनन्त शक्ति से जिसने प्रगट रचा संसार रे ।
अखण्ड जिसका कार रे । है जग का रखवार रे ॥ इत्यादि

अथवा—

ज़ुल्फ़ बने तिहारे मीम लाम रे साँवलिया ॥
बाजे संबुल औ रैहान, बाजे कहते हैं चौगान,
बाजे हवश कमंदे बाजे शाम रे साँवलिया ॥

७—लगनी वह है—जो उपहासार्थ किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य कर रहस्य भेद के लिये, उसके कुचरित्र का चित्र बनाया जाय । जैसे कि—

*जेलखाने के क़ैदियों के खाना खाने के सूचना का घड़ियाल का आह्वान ।

मैं तोसे पूछौं, सँवरी गोविंदिया ! काहे तोसे बिगड़ा रे बाभनवाँ ?

८—भद्दी तुकबन्दी, जैसे पूर्वोक्त फटका आदि, वा अन्य अश्लील शब्दों वा भावों से भरी रचना को कहते हैं। यथा स्थानिक पं० बेणी प्रसाद तिवारी की,—

गोरिया पटेबाज तूँ निकलिउ कुल में दाग लगौल्यू ना।

६—स्वतन्त्र कविता वह है कि—जो किसी विशेष विषय पर किसी कवि ने कजली के धुन में अपनी मनमानी कविता की हो; चाहे वह किसी भाषा वा भाव की क्यों न हो, तौभी उसके ज्ञाता सहृदयों की मनोहारिणी हो। जैसे हिन्दी प्रदीप सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट रचित—

टिक्कस लागा रे कस कसके छोड़ो अपना रोजगार।
टिक्कस लागल आये न बादल पागल सब संसार॥

अथवा जैसे माननीय प० मदनमोहन मालवीय कृत—

आवो गावो रे कजरिया बोलो साँचे-साँचे बोल।
लिबरल दल की विजय भई है मिटिगा डावाँ डोल।
शिमला छाँड़ि विलायत भागे लाट लिटिन बंबोल॥

अथवा जैसे साहित्याचार्य्य पं० अम्बिका दत्त व्यास—

प्यारे होकर हिन्दुस्तानी बाबू अँगरेज़ी मत बोल।
हाऊ डू यू डू, हाऊ डू यू डू कह क्यों होता है डाँवाडोल। इत्यादि॥

इसमें सन्देह नहीं कि कजली का गाना, बनाना, इसके यथार्थ भाव और उसकी बनावट की बारीकी अथवा उसमें सफलता और अकृतकार्य्यता का समझना समझाना कुछ इसी नगर वा प्रान्त के लोग जानते, दूसरे स्थान के मनुष्य बहुत श्रम और यत्न करने पर भी इसकी सीमा से कोसों ही दूर पड़े रह जाते हैं; जैसे कि ठुमरियाँ दूसरे-दूसरे नगर और प्रान्तों के लोग भी बनाते और गाते, तौभी जो अनूठापन लखनऊवाले लाते, वे उसे कब पाते हैं ? कारण यह है कि ठुमरी की भाषा और भाव को, जो दोनों सामान्य गीतों से सर्वथा विलक्षण हैं, वे नहीं जान सकते। उसकी कविता की शैली और कँडे, धुन की खपत एवम् उसमें कृतकार्य्यता को जैसा कि वे समझते हैं, दूसरे नहीं समझ सकते ; विशेष कर वह भाषा तो दूसरों को सर्वथा दुर्लभ है। सनद, मक़सूद, अख़तर, क़दर और चाँद वा बिन्दादीन आदि की ठुमरियाँ बड़ी प्यारी और रस भरी हैं। यद्यपि वहाँ के आधुनिक ठुमरी बनाने-

वाले उनका अनुकरण कर आज भी कुछ न कुछ आनन्द ला देते, तौभी जहाँ से वे उनकी शैली को छोड़ देते, कृतकार्य्यता से हाथ धो लेते हैं। विशेषतः जब वे समझते, कि बिना कुछ नवीनता के उसका प्रचार न होगा, क्योंकि जब गानेवाले कुछ विशेषता पायेंगे, तबी सीख कर गायेंगे। इस प्रकार वे व्यर्थ लालच से ठगे जाते हैं, क्योंकि नवीनता केवल भाव ही में आने से वह रुचिकर हो सकती है। महाकवि श्री सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास जी वा अन्य अष्टछापवाले अथवा नागरी दासादि सुकवियों के सबी पद एक से होकर भी अर्थ की विशेषता से आज तक बड़े सम्मान और श्रद्धा से गाये और सुने जाते हैं, जैसे कि अनेक उर्दू वा पारसी के अच्छे शाइरों की गज़लें। परन्तु ये केवल दूसरों के लुभाने के ध्यान में नीरस तुकबन्दी करते और उसमें सब से सहज वे उर्दू भाषा और शेरों का मेल देकर फ़ेल हुआ करते, अथवा पारसियों के नाटकों के गानों की नक्ल से अपनी ठुमरियों की शक्ल खराब कर देते हैं। इसी प्रकार यहाँ की स्थानिक भाषा और भाव ही मानो कजली की शोभा और जान है, किन्तु शोक कि अनेक अनजान हिन्दू और मुसलमान अब इसमें उर्दू भाषा के मिलान से मानो इसके नाम व निशान को भी मिटा देने का सामान कर रहे हैं। वे यह नहीं जानते कि भाषा से छन्द वा गीतों का सहज सम्बन्ध है। ध्रुपद, ख्याल, टप्पे और ठुमरियों की जैसे भिन्न-भिन्न भाषायें हैं, वैसे ही इस स्थानिक गीत कजली की भी यहाँ की स्थानिक ही भाषा होनी चाहिये, जैसे होली की भाषा बृज भाषा और चैती वा घांटो की पूर्वी वा बनारसी है। क्योंकि भाषा के संग उसके साथी विपरीत भाव और विषय भी ऐसे बदल जाते कि जो सुनने में आनन्द लाने के स्थान पर अत्यन्त विरुद्ध, और घिनौने, वरञ्च कभी-कभी भयावने भी प्रतीत होते हैं। जैसा किसी ने बनाया है,—

तेग़ गले पर चलाना रे साँवलिया॥
मेरे मर जाने के बाद, मिट्टी होये न बर्बाद।
अपने हाथों दफ़नाना, रे साँवलिया॥

इसे कजली क्यों, मरसिया कहना चाहिये! पाठक समझ सकते हैं कि कैसा नष्ट भाव और कैसी निकृष्ट इसकी बनावट है। न केवल सँवलिया की रदीफ़ ही इसमें बेजोड़ जँचती, वरञ्च उसके वास्तविक अर्थ के विपरीत भी पड़ती है। इसके अतिरिक्त बिना उर्दू पढ़े लोग ऐसी कजलियों में पारसी अरबी के शब्दों को अशुद्ध ही गाते, जिससे वह और भी विकृत हो जाती है। जब

नीमटर बनानेवाले शुद्ध बना भी नहीं सकते, तब गानेवालों की कौन कहे। प्रवीण रचयिता ऐसे ऐसे भावों को कोमल करते, परन्तु वह आही जाते हैं। जैसे कि मझौली के महाराज कुमार लाल खड्ग बहादुर मल्ल—

दिल पर लगा इश्क का खञ्जर अब तो जीना है मुशकिल ॥

अब देखिये, इसी के आसपास का भाव कजली की सच्ची भाषा और बनावट में कैसा सुहाता आता है—

तोरे दँतवा कै बतिसिया जियरा मारै गोदना।

अथवा—

झुलनियावाली हँसिकै जियरा लैगैली हमार।

इसीलिये अधिक चतुर लोग ऐसे भाव अपनी कविता में आने ही नहीं देते। जैसे यहाँ के प्रसिद्ध उर्दू भाषा के कवि मौलवी सर्फ़राज़ अली साहब जख्मी ने वियोगवर्षा में—

क़िस्मत देखिये हमारी हम से यार बेख़बर।

परिज्ञार्थ मैंने भी कई भाषाओं और उर्दू में भी कजलियाँ बनाईं, किन्तु मेरी समझ में उसमें सफलता न हुई। उसकी बनावट की सजावट वैसी ही हुई कि जैसी हमारी देशी कुस्तानियों पर मेमों की काली पोशाक की।

जो हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि ऐसी ही भूल में लावनीबाजों ने लावनी का जन्म नष्ट कर दिया पुरानी लावनियों में जो रस मिलता है, वह इन नये खयालबाजों के ख़याल वा ख्वाब वा ख़याल में नहीं आने का। वे केवल उर्दू भाषा की चाह के चाह में पड़ बिलकुल ही बेबस हो, बस, गुल, और बुल्बुल, वा लैली मजनू के मजनून बनकर गोर और कफ़न ढूँढ़ने लगे! उन्होंने इसे कुछ न समझा कि निज नागरी भाषा में रेख़ता वा उर्दू भाषा और उसके कुछ साधारण छन्दों के अनुकरणार्थ लोगों ने रेख़ता (भाषा गज़ल) की भाँति इसकी भी सृष्टि की थी, जिसकी भाषा कदाचित् शुद्ध उर्दू और उसमें भी आज कल की लखनव्वी उर्दू तो कदापि न होनी चाहिये। यदि ऐसी कविता इष्ट है, तो पारसी के छन्दों और भाव के संग गजल बनाने वा गाने में क्या पाप है? हम यहाँ पर कुछ पुरानी लावनियों के एकाध तुक दिखलाते हैं कि जिससे यह देख पड़ेगा कि आगे से उसका अब कैसा कुछ कायापलट हो गया है। यथा—

"कब ऐहै स्याम बंसीवाला ! हमरी ओरियां ॥
वही जसोदा कुँवर कन्हाई, वही नन्दलाला
पीताम्बर की कछनी काछे गरे मोहन माला।
वृन्दाबन में गाय चरावै ओढ़े कारी कामरिया।
हमरी ओरियां—
कालिन्दी के तीर खड़ा सब सखा लिये साथे।
कालीदह में कूद पड़ा है काला नाग नाथे।
काली नागिन अरज करत है, दीजै सिर की चादरिया।"
हमरी ओरियां—

कहिये, कैसी स्वाभाविक सुहावनी भाषा है ? सचमुच यही भाषा हमारी प्यारी नागरी, खरी हिन्दी वा खड़ी बोली की जड़ है। यही हमारी कविता की शैली है, न कि आज कल की मनमानी बन्दिश के ख्याल।

इसमें उर्दू और व्रजभाषा कम, हिन्दी अधिक है, सर्वथा पुरानी कविता की भाषा से मिलती हुई भी कुछ नयापन झलकाती है, यद्यपि इसमें कोई शब्द का अर्थ चित्र नहीं। पीछे क्रमशः जब हिन्दी भाषा पुष्ट हुई, तो उर्दू के अति प्रचलित और आम—फ़हम् शब्दों की मिलावट पाकर यह प्राचीन शैली से विलक्षण हुई। जैसे

है नयी सजावट नयी तर्हदारी है।
सच कहो आज कल किससे नयी यारी है॥

यहाँ तक हिन्दी में उर्दू शब्दों की गुञ्जाइश है। इसे हिन्दी और उर्दू दोनों कह सकते और इसे लावनी कहने में भी हर्ज नहीं। परन्तु इससे अधिक उर्दू मेल की लावनी, हिन्दी नहीं है और न लावनी, उसे उर्दू कहिये, या ख़्याल या ख़मसा पुकारिये। जैसे—

मिला हमें गुलज़ार व गुलरू अब गुलखाना न चाहिये।
मस्त वहदत में, मस्त हूँ मैं, मयखाना न चाहिये॥

जिसे न बिना उर्दू पढ़ा मनुष्य शुद्ध गा सकता और न समझ सकता है। इसके तुक के दोनों खकार हिन्दी में एक ही प्रकार में लिखे जाते, किन्तु उर्दू में दो भिन्न भिन्न अक्षरों से। तब फिर इसे हिन्दी कैसे कहें और लावनी कैसे मानें। कदाचित् कुछ लोग समझते हैं कि उर्दू शब्दों के आने ही से कविता अच्छी और हिन्दी आने ही से ख़राब होगी। परन्तु, देखिये,—

बिन काज आज महराज लाज गयी मेरी।
दुख हरो द्वारका नाथ सरन मैं तेरी॥

बताइये, कौन उर्दू का खयाल इसका मुकाबला कर सकता है? खेद, कि लोग अपनी थोड़ी योग्यता को अयोग्यों में दिखलाकर विशेषज्ञ बनना चाहते हैं, क्योंकि उर्दू दोनों के मुकाबिल में उसकी पूरी योग्यता होनी चाहिये; इतने में काम नहीं चलने का। निदान उर्दू की गजलों के मजमून लेकर नित नये नये खयाल बनते और अब खयालों की खाल खींच खींच कर कजलियाँ बनने लगी हैं।

पचड़े और बिरहे में भी उर्दू शेरों के बन्द सुने जाने लगे हैं। यों ही कजरी के अखाड़ों की तो वह भरमार हुई कि उनके होड़ की डर से औरतों ने कजरी गाना ही छोड़ दिया। काशी में व्यास गद्दी सी लगाकर मौलूद की कथा की भाँति इसकी भी कथा सी कही जाती है,—उस्ताद मियाँ ऊपर बैठते और शागिर्द घेरकर पुराने दास्तान कजली में गाते हैं। कदाचित् कुछ दिनों में इसी में हदीस और कुरआन का भी आख्यान हो। जो हो, कविता अपने लिये नहीं, वरञ्च दूसरों के लिये होती है। कविता के मुख्य अधिकारियों पर दृष्टि देकर रचना होनी चाहिये। कजरी स्त्रियों की सादी गीत है, इसमें बहुत दकीक वा कठिन भाषा और भावों का न आना ही स्वाभाविकता और सरसता का हेतु है। जैसे—

काले भँवरा रे तें तौ जुलुम किहे।

अथवा जैसे पं० श्रीधर पाठक कृत—

हरि सँग डारि डारि गर बहियाँ झूलत बरसाने की नारि।

हमारी समझ में स्थानिक स्त्री ग्राम्य भाषा में कजली की रचना और उसमें कुछ सरसता लाना कुछ सहज नहीं, वरञ्च बहुत कठिन है। उर्दू की रेखती से इसे कम न समझना चाहिये। सारांश ग्राम्यभाषा में भी अच्छी कविता करनी अधिक योग्यता का प्रमाण है। नव्वाब खानिखानाँ की ग्राम्य-भाषा की कविता किस आदर से पढ़ी जाती और उनकी भाषा-पाण्डित्य का प्रमाण मानी जाती है। इसी से कजली बनानेवालों को केवल यहाँ के ग्राम्यभाषा ही में अपनी रचनाचातुरी दिखलानी चाहिये। योंही जो लोग कजली के अवसर पर नई कजलियाँ बनावा बनवाकर छापते हैं, यदि वे पुरानी विशेषतः स्त्रियों की रची कजलियों का संग्रह छापें तो अधिक अच्छा और लाभदायक हो। एक विशेष प्रकार की कविता लोगों के दृष्टिगोचर हो।

तृतीय साहित्य सम्मेलन कलकत्ते के सभापति का भाषण

जयति सच्चिदानन्द घन जगपति मंगल मूल ।
दया बारि बरसत रहौ सदा होय अनुकूल ।।
जासु कृपा कन लेस लहि मो सम हू मतिमन्द ।
लहत महत सम्मान यह बुध जन सों सानन्द ।।

मान्यवर स्वागत कारिणी समिति के सभापति महाशय और समुपस्थित सहृदय सज्जन समूह ! परात्पर परमेश्वर की इस अतर्क्य और अप्रमेय सृष्टि में जहां अन्य असंख्य अघटित घटनायें संघटित होतीं, वैसे ही यह आज आप की कृपा भी कुछ विलक्षण ही वैचित्र्य का दृश्य दिखला रही है, कि आप आर्य्य मित्रों की इस सुप्रष्ठित महासभा का, जिस में एक से एक विद्वद्वर्य्य, साहित्य मर्मज्ञ तथा स्वमातृभाषाभक्त विराजमान हों, मुझसा एक अति सामान्य व्यक्ति जो विद्या बुद्धि और अन्य आवश्यक योग्यताओं से सर्वथा शून्य हो, सभापति बने। अवश्यही इससे अधिक सौभाग्य का विषय और दूसरा क्या हो सकता है कि जिस में कुछ भी योग्यता न हो, वह सुयोग्य सज्जनों से योग्य माना जाकर सम्मान का भागी हो। परन्तु यदि वह घुणाक्षर न्याय से किसी प्रकार अपने कर्त्तव्य कार्य्य को भी सुसम्पन्न कर उसकी रक्षा कर सके, जिसकी मुझे कुछ भी आशा नहीं है।

महाशयो ! सचमुच मेरे आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा, जब कि मुझे यह सूचित किया गया कि "कलकत्ते की स्वागतकारिणी सभा ने तुमको तृतीय साहित्य सम्मेलन का सभापति चुना है" मैंने उत्तर में तुरन्त ही लिखा कि—यह आप लोगों ने क्या किया। मैं सर्वथा इसके अयोग्य हूँ। सोच समझकर कोई उचित प्रबन्ध कीजिये। स्वागतकारिणी समिति के मन्त्री महाशय का भी पत्र प्राप्त हुआ। उन्हें भी मैंने इसी आशय का उत्तर दिया। पर मैं बहुत कुछ सोच विचार करके भी यह न समझ सका कि अन्य एकसे एक सुयोग्य विद्वान बुद्धिमान अनुभवी देश और भाषा भक्तों के होते हुए भी मुझ सरीखे

उक्त सर्वगुणों से विहीन व्यक्ति को ऐसे महत्पद के अर्थ लोगों ने क्यों चुना है ? क्या जो वास्तव में सम्मानित हुई हैं, उन्हें सम्मान प्रदान करने से क्या लाभ होगा। अतः किसी ऐसे ही को सम्मानित करना योग्य है, जो यथार्थ में हमारे ही सम्मान से सम्मानित हो; क्योंकि "व्याधितस्यौषधं पथ्यं निरुजस्य किमौषधैः" समझा गया है। अथवा एक तुच्छ व्यक्ति को बहु सम्मान संप्रदान कर सामान्यों को इस प्रलोभन से साहित्य सेवा में उत्साहित करने के अर्थ क्या इस नवीन उपाय की रचना की गई है ? मैं कुछ भी ठीक न ठहरा सका कि मेरा कर्त्तव्य क्या है ? इधर लोगों की बधाई और हर्ष की सूचनायें भी आने लगीं। विशेष कर कई सुयोग्य साहित्य सेवी और गण्य मान्य लोगों ने मुझे यह लिखकर निरुत्तर कर दिया कि "यदि तुम इस बार इस पद को स्वीकार न करोगे, तो सम्मेलन की सफलता में हानि होगी।" उधर मेरे पत्र के उत्तर में स्वागतकारिणी समिति के मंत्री महाशय ने फिर लिखा कि "समिति अति आग्रह से पुनः आप से इसे स्वीकार करने का अनुरोध करती है।" साथही कई इष्ट मित्र और हितैषी सज्जन तथा उदासीन सज्जनों की भी स्वीकार ही के पक्ष में सम्मति पाकर मैं इतने लोगों की आज्ञा उल्लंघन का साहस न कर सका। यद्यपि अपने में इसके अर्थ अपेक्षित योग्यता का सर्वशः अभाव ही पाता, तौभी महाकवि हाफिज के कथनानुसार कि—

"ब मय सज्जादा रंगीं कुन् गरत् पीरे मुगां गोयद।
कि सालिक बेखबर न बुवद जि राहो रस्मि मंजिल हा"

अर्थात् यदि धर्माचार्य्य। कहे तो बिना विचार के तू अपने नमाज पढ़ने के पवित्र बिछौनेको मदिरा में रङ्ग डाल। क्योंकि पथ-प्रदर्शक मार्ग के वृत्त और विधान से असावधान नहीं होता। मुझे लाचार हो इसे स्वीकार करनाही पड़ा।

अस्तु, महाशयो। यहां आप लोगों ने मेरा जैसा स्वागत और सत्कार किया है—जिसे इस जन्म में पाने की मुझे स्वप्न में भी कदापि आशा न थी उसने मेरी रही सही हिम्मत को भी हरा दिया है। मुझे में इतना भी साहस और सामर्थ्य नहीं कि मैं उचित रीति से आप की इन कृपाओं के अर्थ धन्यवाद भी दे सकूँ। मैं यह भी नहीं जानता कि कैसे और किन शब्दों में धन्यवाद देना उचित है। क्योंकि जब कोई सुयोग्य व्यक्ति किसी समाज अथवा सभा से सम्मान पाता है तब वह धन्यवाद देकर अपनी कृतज्ञता प्रगट करता है। परन्तु जो वास्तव में योग्य नहीं है, वह यदि लोगों से सुयोग्यों

की भांति सम्मानित हो, तो उसका क्या कर्त्तव्य है ? यदि मैं साहस कर आप महानुभावों की सेवा में केवल एतत्मात्र' निवेदन करूँ कि---मैं आप सब की इस अतुलनीय यत्परोनास्ति कृपा के अर्थ अन्तःकरण से असंख्य धन्यवाद देता हूँ, तो मेरी आत्मा कदापि संतुष्ट न होगी। अवश्यही आप लोगोंने मुझे एक उपलक्षण मानकर विद्या की अधिष्ठात्री देवी श्रीसरस्वतीजी ही की पूजा की है। जैसे जड़ प्रतिमा को लोग किसी चैतन्य देवता का प्रतिनिधि मानकर उस की अर्चा करते हैं, जिन की पूजा का लक्ष्य कदापि वह जड़ प्रतिमा नहीं है तो भी प्रतिमा का मान देव तुल्य ही होता है। यह मान कितना बड़ा है ! इसके अर्थ भी कितनी योग्यता सापेक्ष्य है ! मैं इसे सोच और समझ कर किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा हूँ।

मेरे माननीय मित्रों ने मेरी प्रशसा में अपनी वचन रचना चातुरी दिखा मुझे और भी लज्जित कर दिया है। मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन्होंने राई को पर्वत बना दिया है क्योंकि ऐसा कहने से उन पर व्यंग्योक्ति करने का आरोप, अथवा लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार अतिरञ्जन का दोष लगाने का दोषी हूँगा। यह सज्जनों का स्वाभाविक धर्म है कि उन्हें सब अच्छा ही अच्छा दिखलाई पड़ता है। सब में सद्गुण ही का भाव भासता और सब की प्रशंसा सौरभ ही जिनके मुखारविन्द से निरन्तर निसृत होता रहता है। परन्तु खेद कि यदि उनके कहने के शतांश भी योग्यता मुझ में होती, तौ भी मुझे इस प्रतिष्ठित आसन के आरोहण का उत्साह होता। मुझे इसका अत्यन्त आश्चर्य्य और खेद है कि अनेक सुविज्ञ और सुप्रतिष्ठित महानुभावों के होते भी मैं कैसे इस प्रतिष्ठा के योग्य समझा गया हूँ। अब सिवा इसके कि मैं कविवर आनन्दघन जी के उस वाक्य का आश्रय लूँ और दूसरा अवलम्ब नहीं पाता। अर्थात्—

"मोंसो सुनो तुम्हैं जान कृपानिधि ! नेह निबाहिबो यों छबि पावै।
ज्यों अपनी रुचि राचि कुबेर सुरंकहि लै निज अंक लगावै ॥

तौभी महाशयो ! आप लोगों ने जो यह मुझे सुमहत् सम्मान सम्प्रदान किया है, मेरे मानका उसका निर्वाह नहीं है। आपने जो मूल्यवान परिच्छद मुझे पहनाया है, वह इतना ढीला और घिसोहर है कि मैं उसे सँभाल भी नहीं सकता। आपने जिस मणिमय मुकुट को मेरे मस्तक पर रक्खा है, मैं उसके बोझे ही से दबा जा रहा हूँ। आपने एक गजराज का भार पिपिलिका पर लादा है। आप लोगों ने देशी दीपक से एलेकट्रिक लाइट की आशा की

है। पस, यदि मैं इस फ़ेल में फ़ेल हूँ, यदि अपने कर्त्तव्य में अकृतकार्य्य हूँ, तो मेरा क्या दोष है? अस्तु, अब मैं पुनः एक बार धन्यवाद देकर आपसे यह निवेदन करूँगा कि—जैसे भक्तों को सुलभ, उनके अति श्रद्धा और सम्मान से समर्पित, बिना गन्ध के भी वन्य सुमनाञ्जलि को देवता, राजा और गुरुजन सादर स्वीकार कर प्रसन्न होते, वैसे ही आप सब महानुभाव भी मेरी इन सारशून्य विशेषता विहीन कुछ वाक्यावलियों के सुनने का कष्ट सहन कर कृतार्थ करें। और उसकी न्यूनता और दोष मात्र को अपनी उदारता और मेरी अल्पज्ञता पर दृष्टि दे क्षमा कर विशेष अनुगृहीत करें।

———

भारतीय नागरी भाषा

जय जयति जगदाधार सिरजन करत जो संसार है।
छायी अविद्या रासि तैं चाह्यो करन उद्धार है॥
पावनि परम निज बेद बानी को करत संचार है।
जग मानवन मन माहिं कीन्यो ज्ञान को विस्तार है॥

कहते हैं कि आरम्भ में जब उस त्रिगुणातीत त्रिकालज्ञ परब्रह्म परमेश्वर ने इस जगत् की सृष्टि करनी[1] विचारी, तब प्रथम ही उसकी आदि शक्ति ने शब्द[2] की सृष्टि की। वह शब्द प्रणव था, जिसमें न केवल तीन मात्रा वा अक्षर, वरञ्च त्रिगुणमयी माया, त्रिदेव और त्रिशक्ति, योंहीं[3] त्रिलोक की सारी सामग्री बीज रूप से अन्तर्हित थी। उसी बीज से क्रमशः समस्त वर्ण, शब्द और तीनों[4] वेद उत्पन्न हुए। सुतराम् चेतन सृष्टि के उत्तमांश प्राणियों में भी उन तीन गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुसार स्वतः देवता, मनुष्य और असुर तीनों का विस्तार हुआ।

भाषा की भी वैसे ही दशा हुई। जैसे एक ही प्रकृति तीन भागों में विभक्त हो, न्यूनाधिक गुणों के कारण एक ही जाति के प्राणियों को ज्ञान कर्म्म और स्वभाव के अनुसार देवता, मानव और असुर बनाया, उसी प्रकार स्वभाव से उत्पन्न उस एक ही ब्राह्मी वा देववाणी अथवा वेद-भाषा को उन तीनों की प्रकृति और उच्चारण ने क्रमशः तीन रूप दिये। मानो मूल-भाषा त्रिपथगा की तीन धारा हो बही। अर्थात् (१) देववाणी जो देवता

---

१ एकोऽहं बहुस्याम्। श्रुति।

२ अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयं भुवा। महाभारत।

३ यथा पर्णं पलाशस्य शंकुनैकेन धार्य्यते।
तथा जगदिदं सर्वमोङ्कारेणैव धार्य्यते॥ याज्ञ वल्क्य।
प्रणवाद्या यतो वेदा प्रणवे पर्य्यवस्थिताः।
वाङ्मयः प्रणवः सर्व्वं तस्मात् प्रणवमभ्यसेत्॥योगी याज्ञ वल्क्य।

४ एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्व वाङ्मयः। श्रीमद्भागवत।

और विज्ञजनों में अपने यथार्थ रूप में स्थित रही (२) दूसरी जो सामान्य मनुष्यों से यथार्थ न उच्चारित होकर अशुद्ध रूप धारण कर चली (३) और तीसरी असुरों से विशेष विकृत और विपरीत होकर विस्तारित हुई। पहिली का नाम देववाणी वा वैदिक भाषा हुआ, जो क्रमशः विद्वानों द्वारा संस्कृत हो अन्त को संस्कृत कहलाई। दूसरी वैदिक अपभ्रंश अथवा मूल प्राकृत। यों ही तीसरी आसुरी, राक्षसी, वा पैशाची कि जिसकी अति अधिक वृद्धि हुई और जिसकी शाखायें आर्य्यावर्त्त की सीमाओं को लाँघकर दूर दूर तक पहुँच बहुत विकृत हो क्रमशः मूल से सर्वथा विलक्षण हो गईं। इस कारण आर्य्य जाति से पूर्वोक्त केवल दो ही भाषाओं से सम्बन्ध बच रहा। अर्थात् देववाणी और नरवाणी। अथवा वेद भाषा और उसके अपभ्रंश लोक भाषा से। वैदिक साहित्य में यथास्थान इन तीनों के मूल भाषाओं का अस्तित्व पाया जाता है, जैसे कि संस्कृत के नाटकों में प्राकृतों का।

जानना चाहिये कि सृष्टि वा कल्पारम्भ में मानव सृष्टि के साथ जब ईश्वरीय वाक्शक्ति अर्थात् वाणी वा सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ, तो स्वभाव ही से दिव्य प्रतिभावान् व्यक्तियों के उच्चारण से स्वयं ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई और दिव्य संस्कार सम्पन्न लोगों से अकस्मात् उसी अर्थ में समझी जाने लगी। यों क्रमशः कुछ वाक्य बीजों ही के द्वारा शब्द शस्य की वृद्धि हुई और वेद का प्रादुर्भाव मुख्य मुख्य महर्षियों द्वारा हो चला। मानो अनादि वेद और उसके ज्ञान का पुनः प्रकाश का क्रम चला। बहुतेरों के चित्त में यह आशङ्का होगी, कि भाषा की सृष्टि भी क्या अकस्मात् हो सकती है? और वेद क्या ईश्वर ने बनाये हैं? किन्तु ऐसी आशङ्काओं का अन्त नहीं है और न वे नई हैं। कितनों को सब के मूल जगत् की सृष्टि और स्रष्टाही में सन्देह है। हमारे यहाँ भी ब्रह्म, माया, जीव, जगत्, वेद और शब्द सब को अनादि मानकर भी इनका भाव और तिरोभाव* माना है। ईश्वर के विषय में भी आरम्भ से अद्यावधि असंख्यों को आशङ्का है। यह विषय ही अत्यन्त उच्च और गूढ़ातिगूढ़ है, जो बिना आध्यात्मिक शक्ति के समझाई नहीं देता और न हम से सामान्य जनों को इसमें जिह्वा संचालन का अधिकार ही है। अस्तु, आस्तिकों का अपने धर्म्मग्रन्थों के अनुसार यह विश्वास अन्यथा नहीं कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने वेदों के द्वारा मनुष्यों

---

*धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। श्रुति।

को ज्ञान और कर्तव्याकर्त्तव्य[1] का आदेश किया। कहीं उसे इन्द्र, ब्रह्मा वा कई देवताओं और ऋषियों के द्वारा आविर्भूत मानते। किन्तु कर्ता नहीं। आज भी बहुतेरे कारीगर चित्रकार और कवि अपने हाथ की कारीगरी करके भी उसे देख महर्षि वाल्मीकिजी की भांति[2] स्वयं विमोहित हो आश्चर्य्य करके मान लेते कि यह संयोगात् हमारे हाथों बन गई है, हममें इतनी योग्यता कदापि नहीं है। इसी से हमारे उच्च कोटि की कविताओं में भी सरस्वती देवी की कृपा मानते हैं। यों ही किसी गुप्त शक्ति की प्रेरणा अनेक स्थलों पर स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि जिह्वा रहते भी लोग नहीं बोल सकते। बोलने की शक्ति कुछ और ही है और कविता की कुछ और, तथा विशेष चमत्कृत रचना की और है। अस्तु, ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना में अधिक आश्चर्य्य दायक वेद की रचना नहीं है। और इसमें तो सन्देह किसी को भी नहीं है कि वेद से प्राचीन साहित्य आज लभ्य नहीं है।

अवश्य ही भारत पर नवीन युगका आरम्भ हुआ है। नये अन्वेषण और आविष्कार के दिन हैं? नित्य नये-नये सिद्धान्त स्थिर हो रहे हैं। सात समुद्र पार, सहस्रों कोस की दूरी पर बैठे, पश्चिमीय विद्वान् आज हमारे प्राचीन साहित्य की मनमानी समालोचना कर रहे हैं। वे ऐतिहासिक जांच की ओट में हमारी सभ्यता, आचार, विचार और धर्म पर भी चोट चलाते हैं। कहीं-कहीं अनुमान और अटकल के सहारे ऐसी-ऐसी अनोखी बातें बतला चलते कि जिनसे भारत का काया पलट अथवा आर्य्य गौरव सर्वस्व का वारा न्यारा होना सहज सुलभ है। जो यद्यपि सचमुच स्वाभाविक होते हुए भी कितनों ही को भ्रमोत्पन्नकारी है। अब यह कौन कह सकता है कि भारत के आप्त महामहिममहर्षि और परम प्रतिभावान् एकसे एक उत्कट प्राचीन पण्डितों द्वारा निश्चित हमारे शास्त्रों के परम्परा प्राप्त अर्थों और सिद्धान्तों के विरुद्ध उन विदेशियों के अनुमान और प्रमाण बावन तोले पाव रत्ती सटीक और सच्चे ही हैं? अथवा कहीं से कुछ भी उन में असावधानी वा आग्रह का लेश नहीं है? ग्रन्थ

---

१ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

२ सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

एकही है, जिससे हमारे देशी और विदेशी विद्वान् भिन्न-भिन्न अभिप्राय निकाल लेते हैं। एकही मुकद्दमे की मिसिल से दोनों पक्ष के वकील दो प्रकार का प्रमाण संग्रह करते और परिणाम निकालते हैं। जननी और विमाता दोनों लड़के को पालतीं, पर उन दोनों के पालन में भेद होता है।

जैसे इन दिनों जब तक कि रजिस्ट्री न हो जाय, सच्चे से सच्चा दस्तावेज़ भी प्रमाणिक नहीं माना जाता। वैसे ही जब तक कोई पश्चिमीय विद्वान स्वीकार न कर लें, कोई प्रमाण प्रमाणित नहीं कहा जाता। प्रमाणित न माना जाय, अदालत डिक्री न दे तौभी क्या वह सच्चा दस्तावेज़ वास्तव में झूठा है? एक दिन भारत ही से विद्या विज्ञान और सभ्यता सारे संसार में फैली थी। आज पश्चिम से ज्ञानसूर्य्य का प्रकाश हुआ है और निःसन्देह अब मानो पश्चिम उसका सब ऋण चुका चला है। आज वहीं की विद्या और विज्ञान से भारत की आँखें खुली हैं। हमारे देश के लोग अब तक अवश्य ही अविद्या अंधकार में सो रहे थे। उनके अनेक अटपटे आक्षेपों का प्रतिवाद कौन करता? अब उनके द्वारा ये भी जगे और उन के सम्मति स्वर्ण को निज विचार की कसौटी पर कस चले हैं। आशा है कि कुछ दिनों में बहुतेरे विवादग्रस्त विषय उभय पक्ष में सिद्धान्त रुप से स्वीकृत हो जायँगे। यद्यपि अनेक भारत सन्तान आज उन्हीं के सुर में सुर मिलाये वही राग अलाप रहे हैं। किन्तु वे क्या करें कि उन्हीं की टेकनी के सहारे वे चल सकते हैं। तौ भी सदा यही दिन न रहेगा। सदैव हमारे भाई औरों ही की पकाई खिचड़ी खाकर न सराहेंगे। वरञ्च वे भी शीघ्र ही पूर्वी और पश्चिमी उभय विज्ञान चक्षु को समान भाव से खोलेंगे, आलस्य छोड़ कर अपने अमूल्य रत्नों को टटोलेंगे और खरे खोटे की परख कर स्वयं अपने सच्चे सिद्धान्त स्थिर कर लेंगे।

अभी कल की बात है कि हमारे देश के गौरव स्वरूप ब्राह्मण कुल तिलक पण्डितवर बाल गङ्गाधर तिलक ने[1] अपने विलक्षण विद्या वैभव, और प्रतिभा से आर्य्यों के आदि निवास स्थान योंही वैदिक साहित्य की प्राचीनता—जिसे पश्चिमीय विद्वान ४ सहस्र वर्ष से अधिक नहीं मानते थे, उसे ८ सहस्र वर्ष सिद्ध कर दिया है। योंही अन्य

1 Qrion or Researches into the Antiquity of the vedas

अनेक ऐसे अमूल्य सिद्धान्त वेदों से आविष्कृत और प्रकाशित किये जिसे सुन वे चौकन्ने हो गये। कई बार आगे भी भारत पर अज्ञानान्धकार और विपरीत विचार का अधिकार हो चुका है, किन्तु फिर यथार्थ ज्ञान सूर्य्योदय ने उसे छिन्न भिन्न कर दिया है। जब तक वह दिन न आ जाय, हमें धैर्य्य धारण पूर्वक अपने सहस्त्रों वर्षों से चले आते सच्चे सिद्धान्त और विश्वास से टसकना न चाहिये। आप लोग क्षमा करें कि मैं प्रकृत विषय से बहक कर व्यर्थ बहुत दूर जा पहुँचा।

निदान देववाणी क्रमशः व्याकरण और साहित्य के विविध अंगप्रत्यङ्गों से युक्त हो इतनी उन्नत अवस्था को पहुँची कि आज भी संसार की भाषायें अनेक अंशों में उसके आगे सिर झुका रही हैं। आरम्भ में वही यहाँ की सामान्य भाषा वा राष्ट्रभाषा थी। फिर राज भाषा अथवा नागरी भाषा हुई क्योंकि क्रमशः व्याकरण के नियमों से वह ऐसी जकड़ दी गई कि केवल पढ़े लिखे लोगों ही से बोली और समझी जाने योग्य रह गई, जिसके पढ़ने के अर्थ मनुष्य की आयु भी पर्य्याप्त नहीं समझी जाती थी, मानो वह उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। इसी से उस की शिक्षा के अर्थ उस दूसरी लोक भाषा को भी सुधारने और नियम बद्ध करने की आवश्यकता आ पड़ी। भाषा वैदिक अपभ्रंश वा मूल प्राकृत थी, जो बुध जन और विद्वानों से क्रमशः परिमार्जित होकर आर्ष प्राकृत कहलाई। मानो तभी से सेकेण्ड लैंगवेज (Second language) का सूत्रपात हो चला।

बहुतेरों का मत है कि—प्राकृत ही से संस्कृत की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि वेदों में भी गाथा रूप से इसका अस्तित्व पाया जाता है और संस्कृत नाम ही मानो इस का साक्षी देता है। परन्तु यह केवल भ्रम है, जो प्राकृत व्याकरणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा दूर हो जाता है, क्योंकि वे सदैव संस्कृत ही का अनुकरण करते, संस्कृत ही से प्राकृत बनाने की विधि को विधान बतलाते और प्रायः देववाणी वा संस्कृत ही से उसकी सृष्टि की सूचना देते हैं। सारांश संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं।

निदान इस प्रकार वह परिमार्जित वैदिक अपभ्रंश भाषा वा आर्ष प्राकृत, जिस की क्रमशः अनेक शाखा प्रशाखायें होती गईं, संस्कृत के प्रचार की न्यूनता के संग राष्ट्रभाषा बन चली और इस देश के चारों ओर विशेष विस्तृत हो प्रान्तिक प्राकृतों से मिलती जुलती वही अन्त को महाराष्ट्री प्राकृत

भी कहलाई। उस समय तक केवल पवित्र वैदिक धर्म्म ही की धूम थी। गुरुकुल, परिषद् और पाठालयों में वेद ध्वनि का गुञ्जार और सत् शास्त्रों का अध्ययनाध्यापन होता रहा। चारो वर्ण और आश्रम अपने अपने धर्म्म पर स्थित थे। सुख स्वास्थ्य और आनन्द उत्सव का आश्रम यही देश बन रहा था।

पै[1] कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे सब।
दुरभागनि सों इत फैले फल फूट वैर जब॥
भयो भूमि भारत मैं महा भयंकर भारत।
भये वीरवर सकल सुभट एकहि संग गारत॥
मरे बिबुध नर नाह सकल चातुर गुन मण्डित।
बिगरो जन समुदाय बिना पथ दर्शक पण्डित॥
सत्य धर्म्म के नसत गयो बल, बिक्रम साहस।
विद्या बुद्धि विवेक विचाराचार रह्यो जस॥
नये नये मत चले, नये झगरे नित बाढ़े।
नये नये दुख परे सीस भारत पै गाढ़े॥

यही ब्राह्मणों की अदूरदर्शिता थी कि उन्होंने पहले पिछले काटे लोक भाषा में धर्म की शिक्षा का क्रम नहीं चलाया था, जिस कारण सत्य धर्म्माचार शिथिल हो गया और नाना प्रकार के अनाचारों का प्रचार हो चला था, जिस के संशोधन के अर्थ लोग उद्यत हुए। नये नये प्रकार के धर्म्म और आचार-विचार की शिक्षा सुनकर, अपने धर्म्म से अनभिज्ञ जन अचाञ्चक बहक चले।

बौद्ध धर्म्म के डंके बजने लगे। संस्कृत का पठन पाठन छूटा। प्राकृत के दिन लौटे। वह राष्ट्र और राज भाषा को छोड़ कर धर्म्म की भी भाषा बन चली। आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री अब मागधी और पाली बन, भाषाओं की मा[2] कहलाने का दावा कर चली। महाराज प्रियदर्शी अशोक के प्रताप के संग यह भी दूर दूर तक अपना अधिकार जमा चली। क्योंकि जब बुद्धदेव प्रगट हुए, प्रचरित देश भाषा ही में वे अपना उपदेश कर चले। संस्कृत में

---

१ मेरे "हार्दिक हर्षादर्श" नामक पुस्तक में।
२ सामागधी मूलभाषा नरा या आदि कप्पिका।
ब्राह्मणा चास्सुतालावा सम्बुद्धा चापि भासिरे॥

उपदेश का होना भी कठिन था। राजा का सहारा पाकर बौद्धमत सारे भारत में व्याप्त होगया। जैन धर्म्म के घन भी घुमड़कर घिर रहे थे। ब्राह्मणों के प्राणों के लाले पड़ रहे थे। जैसे आज उर्दू के प्रबल अधिकार से हिन्दी कोनों में दुबक दुबक कर छिपी जीवन धारण कर रही है, संस्कृत भी प्राकृत से दबी छिपी अपनी प्राण रक्षा कर रही थी। तौभी सनातन धर्म्म के सबी ग्रन्थ संस्कृत ही में होने के कारण नवीन धर्म्मावलम्बी जन, प्राचीन धर्म्म के खण्डन और स्वमत मण्डन के अभिप्राय से, उदार जन, साहित्य परिज्ञान और उसके अनुयायी, धर्म्म ज्ञानार्थ उसे कुछ न कुछ सीखते समझते ही रहे।

निदान उस देववाणी वा वेदभाषा त्रिपथगा की इह लौकिक धारा वैदिक अपभ्रंश-प्राकृत-गङ्गोत्तरी से, जो आर्षप्राकृत नाम्नीगङ्गा बही,तो जैसे सुरसरिता क्रमशः अनेकनाम और रूप धारण करती कोड़ियों नदी नद को अपने में लीन करती भारत भूमि के प्रधान भागों को उपजाऊ बनाती, सैकड़ों शाखाओं में बँट कर समुद्र से जा मिली, और जैसे गङ्गोत्तरी से चल कर प्रयाग तक जाह्नवी अपनी श्वेतधारा और सुधास्वादु सलिल के रूप और गुण को स्थिर रख सकी, किन्तु यमुना से मिल कर वर्ण में श्यामता और गुण में वातुलता ला चली; उसी प्रकार आर्ष प्राकृत भी हिमालय से लेकर कुरुक्षेत्र तक आते अपने रूप और गुण को स्थिर रख सकी। इसके पीछे जनपद विस्तार क्रम के अनुसार इस के रंग रूप और गुणों में भेद हो चला, तौभी भागीरथी के तुल्य उसकी प्रधान शाखा महाराष्ट्री की प्रधानता आरम्भ से अवसान तक बनी ही रही। महाराष्ट्र शब्द से प्रयोजन दक्षिण देश से नहीं है। किन्तु भारत रूपी महाराष्ट्र से है। देश विशेष की भाषायें इसकी शाखा स्वरूप दूसरी ही हैं। जैसे कि—शौरसेनी, आवन्ती, मागधी आदि। विश्वनाथ कविराजने* बहुतेरी भाषाओं के नाम बतलाये हैं, जिनमें अधिकांश प्रायः प्रधान प्राकृत ही के भेद हैं और जिनकी सन्तति आज भारत की प्रचलित समग्र प्रान्तिक भाषायें[2] हैं। यथा पञ्जाबी, गुजराती, मराठी, बंगला इत्यादि।

---

* संस्कृत १ प्राकृत २ उदीची ३ महाराष्ट्री ४ मागधी ५ सिङ्घार्द्ध मागधी ६ शकाभीरी ७ अवन्ती ८ द्राविड़ी ९ औड्रीया १० पाश्चात्या ११ प्राच्या १२ बाल्हीका १३ रन्तिका १४ दाक्षिणात्या १५ पैशाची १६ आवन्ती १७ शौरसेनी १८। इनके अतिरिक्त और भी अनेक नाम प्राकृतों के पाये जाते हैं।

निदान हमारी भारतभारती की शैशवावस्था का रूप ब्राह्मी वा देववाणी है। उसकी किशोरावस्था वैदिकभाषा, और संस्कृत उसकी यौवनावस्था की सुन्दर मनोहर छटा है। उसकी प्रथम पुत्री गाथा वा प्रधान प्राकृत थी। वैदिक अपभ्रंश भाषा शैशवावस्था, आर्ष प्राकृत किशोरावस्था, और महाराष्ट्री तथा प्रान्तिक प्राकृतें यौवनावस्था हैं। उसकी दूसरी पुत्री वा शाखा पैशाची वा आसुरी की अनेक ओर अनेक शाखायें फैलीं। जैसे पश्चिमी की क्रमशः पुरानी पारसी पहलवी वा वर्तमान फारसी और पश्तो आदि हैं, जिन से यहाँ हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। प्रान्तिक प्राकृतों की भी अनेक शाखायें फैलीं, जिनसे वर्त्तमान प्रचरित भाषाओं की उत्पत्ति है। उन का प्रथम रूप प्रान्तिक प्राकृतें, दूसरा उन के अपभ्रंश और तीसरी वर्तमान भाषायें हैं। जैसा कि हमारी भाषा का आदि रूप शौरसेनी[1] वा अर्द्धमागधी, तो दूसरा नागर[2] अपभ्रंश और तीसरा, प्राचीन भाषा है। औरों से यहां कुछ प्रयोजन नहीं है, इसी से हम केवल अपनी भाषा के रूपों और अवस्थाओं ही का क्रम कहते हैं। अर्थात्,—

वर्तमान हमारी भाषा का प्रथम रूप वा उस की शैशवावस्था पुरानी भाषा अर्थात् प्राकृत-अपभ्रंश मिश्रित भाषा है। जिस की झलक आज चन्द बरदाई के पृथ्वीराज रासो में पाई जाती है। उसकी यौवनावस्था का दूसरा रूप भाषा वा ब्रजभाषा अथवा मिश्रित भाषा है। जिसका दर्शन कबीर, सूर, केशव, खुसरो, जायसी, तुलसी, विहारी और देव, द्विजदेव आदि की कविताओं में हम पाते हैं। इसे किशोरावस्था और क्रमशः उसकी नव यौवनावस्था भी कहें, तो कुछ हानि नहीं। तीसरी अवस्था इसका वर्त्तमान रूप है। जिस के पद्य के कवियों में देव स्वामी, बाबू हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, श्री निवासदास और श्रीधर पाठक आदि, योंही गद्य के लल्लू जी लाल, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु और वर्तमान समय के अन्य सुलेखक हैं। जिसे उस की पूर्ण यौवनावस्था वा प्रौढ़ावस्था भी कह सकते हैं।

---

१ शौरसेनी अर्द्धमागधी के मूल रूपों में केवल दो ही अक्षरों के उच्चारण का भेद है।

२ नगरस्तु महाराष्ट्री शौर सेन्योः प्रतिष्ठितम्। प्राकृताष्टाध्यायी।

ऊपर लिखे क्रम के अनुसार अब हमारी भाषा, भारतभारती के अंकुर से क्रमशः उन्नत होती, अनेक अवस्थाओं के भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तित होती, मानो भाषा वृक्ष का मुख्य स्तम्भ स्वरूप है। अन्य सब प्रान्तिक भाषायें जिसकी शाखायें हैं, जिनमें कोई पुष्ट और/कोई पतली, कोई दीर्घ और कोई लघु हैं। सारांश हमारी भाषा का क्रम आरम्भ से अन्त तक एक प्रकार मूल से अब तक लगा चला आ रहा है और इस की प्रधानता अद्यापि वर्त्तमान है। जितना इस का विस्तार और प्रचार है, औरों का नहीं है क्योंकि यह मुख्य वा मध्यदेश की भाषा है। जहां सदैव साधु वा नागरी भाषा का प्रचार रहा और जहाँ से मूल भाषा का विकास प्रसरित होता हुआ, अन्य प्रान्तों में जाकर अपने स्वरूपों को विशेष परिवर्तित करता रहा है, जैसे खान से निकलकर रत्न दूर दूर पहुँचकर सुधारे और सँवारे जाकर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं। इसी से भगवान् मनु आज्ञा करते हैं कि—एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।

हमारा यह मध्य देश मानो भगवती भारती के परिभ्रमण का प्रधान पुष्पोद्यान है, उस में भी यह ग्रैंड ट्रङ्क रोड मानो भाषा भारती की भी ग्रैंड ट्रङ्क रोड है; जो सदा देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक निरन्तर चलती रही है। भारत के प्रधान तीर्थ यात्रियों की भांति भाषा का भी कोई पथिक ऐसा नहीं कि जिस से इस का परिचय न हुआ हो। अन्य सब उपभाषा रूपी सड़कें सदा इस की शाखा वा सहायक स्वरूप रही हैं और इसका सम्बन्ध सदा सब के साथ समान रूप से रहा है। सब से इस से थोड़ा बहुत अब भी व्यवहार बना हुआ है।

हम यहाँ कुछ ऐसे संस्कृत शब्द दिखलाते हैं कि जो आज भी ज्यों के त्यों हमारी भाषा में व्यवहृत होते और जिनके लिये उसमें प्रायः कोई दूसरे शब्द नहीं प्रयोग किये जाते हैं। जैसे कि,—

बल, हल, पल, खल, बन, मन, तनु, धन, जन, दूर, सूर, नदी, शीत, वर्षा, समुद्र, वसन्त, अन्त, साधु, सन्त, दिन, रात्रि, राजा, कवि, काम, क्रोध, इत्यादि।

जिनके अर्थ के वाची आज हमारी भाषा में दूसरे शब्द नहीं हैं। इसी भाँति अधिकांश दिनों, तिथियों, महीनों, नक्षत्रों, तारागणों, तीर्थों, नगरों, रागों, स्वरों, और बहुधा अन्न, फल, फूल, पशु, पक्षी, औषधि, वृक्ष आदि

के नाम, मनुष्य और पशुओं के नाम भी ठीक ठीक संस्कृत ही के से वा कुछ बिगड़े ग्राम्य जनों से अद्यापि बोले जाते हैं।

अब कुछ ऐसे शब्द देखिये जिनके लिये यद्यपि संस्कृत के ही कुछ बिगड़े दूसरे शब्द भी हैं, तौभी इनका प्रचार उन्हीं के तुल्य है; जिसे गँवार से गँवार भी बोलता और समझता है, जैसे—

जल, थल, मल, नर, सर, माता, पिता, विधवा, बालक, पवन, पर्वत आदि।

अब कुछ ऐसे शब्द लीजिये कि जो उच्चारण के भेद से बिगड़कर भी मूल से भिन्न नहीं हुए हैं। जैसे—

संस्कृत	भाषा	संस्कृत	भाषा	संस्कृत	भाषा
भूमि	भुईं	आकाश	अकास	हेमन्त	हेवँत
पृथ्वी	पिरथी	मनुष्य	मानुख	क्षेत्र	खेत
पानीय	पानी	सूर्य्य	सुरुज	शरीर	सरीर
श्वास	साँस	चन्द्रमा	चन्दा	वृक्ष	बिरछ
प्रजा	परजा	दर्शन	दरसन	यजमान	जजिमान

हमारी भाषा का सम्बन्ध मुख्यतः आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री ही से चला आता है। महाराष्ट्री और अर्द्ध मागधी में भी कुछ विशेष भेद नहीं है। योंही शौरसेनी वा नागर में भी अधिक अन्तर नहीं। आर्ष प्राकृत में केवल दो ही वचन होते अर्थात् एक वचन और बहुवचन। द्विवचन नहीं। यही क्रम हमारी भाषा में भी चला आता है। हिन्दी में लिङ्गों की अस्थिरता भी उसी का अंश है। अब हम कुछ ऐसे शब्दों को दिखलाते हैं कि जो संस्कृत से प्राकृत होकर हमारी भाषा में आये हैं। जिससे उनके रूपों के परिवर्तन का क्रम जाना जायगा। यथा,—

सर्वनाम।

संस्कृत	प्राकृत	भाषा	संस्कृत	प्राकृत	भाषा
अहम्	अम्मि	हम, मैं	त्वम्	तुं, तुव	तुम, तव
यः ये	जो, जे	जो, जे	सः ते	सो, ते	ते, वह, वे
कः के	को, के	के, कौन	एषः, एते	येते, येदे,	ये, यह,

योंही और भी समझिये। सामान्य शब्द यथा,—

सं०	प्रा०	भा०	सं०	प्रा०	भा०
बातुलं	बाउलो	बावला	शय्या	सेज्जा	सेज
उपाध्यायः	उवज्झाओ	ओझा	किन्तु	किणो	क्यों
शिथिलः	सिढिलो	ढीला	कृष्ण	कराह	कान्ह
कातरः	काहल	काहिल	कथम्	किवं, केम	किमि
कुटीर	कुडुल्ली	कोठरी	पुत्र	पुत्त	पूत
अन्तःपुर	अंदेउर	अन्दर	आत्मीयन्	अपणं	अपना
गर्त्त	गड्ढो	गढ़ा	धृष्टः	धिट्ठो	ढीठ
मृत्तिका	मट्टिआ	मट्टी	मृत्युः	मिच्चु	मीच
वृद्ध	बुड्ढो	बूढ़ा	वृक्षः	रुक्खो	रुख
श्लाघा	सलाहा	सराहा	स्फोटकः	फोड़ाओ	फोड़ा
श्मश्रु	मस्सू	मस	पदाति	पाइको	पायक
गर्भितः	गविभणं	गाभिन	प्रभूतः	बहुत्त	बहुत
अपर	अवर	और	स्तोकं	थोक्कं	थोक
कर्म्म	कम्म	काम	कर्ण	कन्न	कान
हस्त	हथ्थ	हाथ	वार्ता	वत्ता	बात
अद्य	अज्ज	आज	अग्रे	आग्गे	आगे
अग्नि	आगो	अगिन	दुग्ध	दुद्धी	दूध
घृतम्	घिअम्	घी	नृत्य	णच्च	नाच
मेघः	मेहो	मेह	पुस्तकम्	पोत्थओ	पोथी
भगिनी	बहिणी	बहिन	गम्भीरम	गहिरम	गहिरा
दुहिता	धीआ	धी	यष्टिः	लट्ठी	लाठी

हमारी मातृभाषा का परम्परागत यथार्थ नाम भाषा ही है, ठीक जैसे कि अनादि काल से चले आते हमारे धर्म का नाम धर्म है। अन्य जितने धर्म हैं सबकी एक एक संज्ञा विशेष है। जैसे बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, अनेक पंथी, वा मुसलमान, खृस्तान आदि। आज कल जब बहुत विभेद बढ़ा, तो निज समूह के समान प्रतिद्वद्वियों के सन्मुख कुछ लोग उसे सनातन धर्म कहते हैं, परन्तु वह भी समूह वाची सा हो गया है। ऐसे ही भाषा शब्द उसी सनातन धर्म्म के तुल्य है। पहिले देववाणी भी केवल भाषा ही कहलाती थी।*

*पतञ्जलि ने महाभाष्य में संस्कृत शब्दों को वैदिक ही कहा है—जैसे "केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानां च।"

जब वह सामान्य जनों की भाषा न रही, वरञ्च प्रधान भाषा प्राकृत हुई, तो उस का नाम देववाणी, वैदिक भाषा और संस्कृत हुआ और यह भाषा ही कहलाती रही। जब इसके भी भेद हो चले और प्रान्तिक भाषायें नये नये रूप बदलकर नवीन नामों को धारण कर चलीं, तो वह आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री, योंही भिन्न भिन्न प्रान्तों के नामों में प्रान्तिक भाषायें पुकारी जाने लगीं। किन्तु हमारे मध्य देश की प्रधान भाषा भाषा ही कहलाती रही, जिस के पश्चिमी छोर पर शौरसेनी, पूर्वी सीमा पर मागधी का अधिकार था, योंही दक्षिण में आवन्ती दाक्षिणात्या और उत्तर में उदीची का प्रचार था। बीच के पूर्वी भाग की भाषा को अर्द्ध मागधी भी पुकारते थे, योंही पश्चिमी को अर्द्ध शौरसेन वा नागर। परन्तु ये सब विशेषण उन्हीं भाषाओं के प्रचार के साथ हुए जैसे कि आज व्रजभाषा, मिश्रित भाषा, हिन्दी, नागरी, खरी बोली, अथवा उसके अनेक भेद, जो बहुधा आज केवल विभेद बढ़ाने ही के लिये बढ़ाकर कहे जाते हैं। क्योंकि स्थानिक बोलियाँ भाषा नहीं कहलायेंगी। भाषा वही है कि जिस में उन सब स्थानों वा प्रान्तों के सभ्यजन आपस में मिलकर एक दूसरे से बातें करते हों, वा जिसका कोई पृथक् साहित्य हो। यों तो इस महादेश की बोलियों के सम्बंध में यह कहावत है कि-"दस बिगहा पर पानी बदलै, दस कोसै पर बानी।"

अस्तु, हमारी भाषा और सब प्रान्तिक भाषाओं से प्रधान[1] और प्राचीन[2] है, तथा एक लेखे यही सब की जननी है। क्योंकि सामान्यतः संस्कृत और विशेषतः प्रधान वा महाराष्ट्री प्राकृत से इसका अद्यावधि साक्षात् सम्बन्ध वर्त्तमान है। पीछे से पड़ा, इस का हिन्दी नाम भी यही साक्षी देता है, अर्थात् वह भाषा कि जो समस्त हिन्द वा हिन्दोस्तान की हो। अवश्य ही यह शब्द

१ डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र कहते हैं कि हिन्दी अत्यन्त महत्व की भाषा है। यह हिन्दू जाति के सब से सुशिक्षित लोगों की भाषा है।

२ सुप्रसिद्ध बीमूस साहिब (Beams) कहते कि—"आर्य्यों की सब से प्राचीन भाषा हिन्दी ही है और इस में तद्भव शब्द सबी भाषाओं से अधिक है।

सर बिलियम जोंस का मत है कि 'हिन्दी ही पश्चिमोत्तर भारत की आदि भाषा है।

मि० पिनकाट लिखते हैं कि—उत्तर भारतवर्ष की भाषा सदा से हिन्दी थी और अब भी है।

बहुत ही विवादग्रस्त और विदेशी है। तथा एक प्रकार से हमारी प्रचलित साधु भाषा के अर्थ में तो नितान्त भ्रामक है, क्योंकि इसकी व्याप्ति बहुत विस्तृत है। सामान्य रूप से यह भारत की भाषामात्र का वाची है। यदि हम इसे अपनी भाषा में रुढ़ि मान लें, तौभी यह ठीक अर्थ नहीं देता, वरञ्च अपनी शाखा स्वरूप अनेक प्रान्तिक भाषाओं में भ्रम डालता है और बिना विशेषण के अर्थ का ठीक ठीक बोध नहीं होता।

बहुतेरे लोग हिन्द, हिन्दोस्तान, हिन्दू और हिन्दी नामों को अति आग्रह से अपनाना चाहते और उस पर अपना विशेष अनुराग दिखाते हैं। परन्तु जो अपना हई नहीं है, वह अपनाने से अपना कैसे होगा। कोई हिन्दव में हिन्दू सिद्ध करते, तो कोई शिव रहस्य[1] वा मेरु तंत्र के नवीन प्रक्षित श्लोकों[2] के आधार पर उसका विचार करते हैं। कोई हिंसा वा हीनाचार दूषक अर्थ कर इसे प्रशंसा वाचक मानते, तो बहुतेरे सिन्धु शब्द के उच्चारण भेद में, पारसियों से स के स्थानपर ह बोलने का उदाहरण देकर, सिन्धु नदी के इस पार के देश को हिन्द कह कर इस के अर्थ में कुछ हीनता नहीं मानते, और महाराणा उदयपुर के हिन्दूपति बादशाह की पदवी का उदाहरण देते अपने को हिन्दू धर्म्मावलम्बी कहने में कुछ भी दोष नहीं मानते हैं। परन्तु हमारी समझ में नहीं आता है कि कौन सा इस में ऐसा गुण है कि जिससे हम अपने देश, जाति, धर्म्म और भाषा के मूल, वा नाम ही में इतना विवाद वा अशुद्धि रक्खें और बिसमिल्लाही गलत की मसल को सच कर दिखलायें।

क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि न यह हमारे यहाँ का शब्द है और न हमारे पुराने संस्कृत ग्रन्थों में इस का कहीं व्यवहार ही हुआ है। यह हिन्द वा हिन्दू शब्द पारसी भाषा का है और चाहे आरम्भ में सामान्यतः यह सिन्धु नद पारवाले देश वा उस के निवासी मनुष्यों ही का वाचक क्यों न माना गया हो, परन्तु कुछ दिनों पीछे, विशेषतः मुसल्मानों के भारत विजय के अनन्तर यह शब्द घृणा वाचक अवश्य ही माना गया। इसके अर्थ के साथ काफ़िर, काला गुलाम और चोर का सम्बन्ध अनिवार्य्य है। काफ़िर का धर्म्म विरोध के कारण स्वाभाविक

---

१ हिन्दू धर्म्म प्रलोतारौ भविष्यन्ति कलौयुगे।

२ हिन्दू धर्म्म प्रलोतारौ जायन्ते चक्रवर्त्तिनः। अथवा—हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।

है। काला रंग भी ईरानी और अफ़ग़ानों से यहांवालों का कुछ होता ही है, परन्तु अरबवालों से कहीं कम। आगे यहां से जो हिन्दू पकड़कर जाते थे, वहां गुलामी के लिये बेचे जाते और गुलाम कहलाते थे। आज भी अफ्रिका आदि विदेश और टापुओं में यहां से कुली जाने के कारण हिन्दुस्तानी नाम सुनकर वहां वाले कुली ही समझते, और प्रायः उतनाही उनका मान और स्वत्व भी स्वीकार करते हैं। ट्रांसवालवाले इसके उदाहरण हैं, मारिशस आदि के प्रवासियों की दशा सब पर विदित है। किन्तु हम नहीं समझ सकते कि चोर और डाकू से हिन्दुवों का क्या सम्बन्ध है? कहिये कि हमारे भाई भी तो अपने को आज तक हिन्दू कहते आये हैं, तो यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। ये दैवी सृष्टि के मनुष्य हैं। इतने सहनशील, भोले और उदार हैं कि कभी किसी का प्रतिवाद करना तो स्वभाव ही से नहीं जानते। अगले दिनों हमारे भाई खुशामद के मारे अपने को काफ़िर छोड़ क्या क्या न लिख गये हैं। जिनकी फ़ारसी किताबें देखने से सर हैनरी इलियट के कथनानुसार यह नहीं लक्षित होता कि ये, किसी आर्य्यवंशी लेखक की लिखी हैं।

देश के राजा का दिया नाम भी लेना ही पड़ता है। मुसलमानी राजत्व काल में लोग अपने को हिन्दू न कहते, तो क्या करते। आज कल के 'सर' (Sir) और नाइट् (Knight) की भाँति पहले हमारे भाई मिरज़ा और मियां की भी पदवी पाते और प्रसन्नता से स्वीकार करते थे। जैसे— मिरज़ा मनोहर और मियां तानसेन! अब भी पंजाब के कई उच्चकुल के आर्य्य सन्तानों के नाम के पहिले मियां शब्द विराजता है, यथा मियां राम सिंह आदि। अङ्गरेजों के आने पर भी वे गोरे और साहिब, और हम काले कहलाये। अपने मू से अपने को अनेक भारतीय आज भी काला कहते ही हैं, विशेषतः अङ्गरेज़ों के शागिर्दपेशे लोग। जेता जाति के लोग जित जातिवालों को घृणा की दृष्टि से सदैव देखते आये हैं। मिस्टर दादा भाई नौरोज़ जी को लार्ड सालिसबरी ने काला आदमी कहा था। पार्लियामेण्ट के मेम्बर होने की बधाई की कविता "मङ्गलाशा" में मैंने भी उन्हें काला कहा है। जैसे,—

कारो निपट न कारो नाम लगत भारतियन।
यदपि न कारे तऊ भागि कारी विचारि मन॥
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे।

तासों कारे कारे शब्दहु पर हैं वारे ॥
अरु बहुधा कारन के हैं आधारहि कारे ।
विष्णु कृष्ण कारे, कारे सेसहु जग धारे ॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसन वारे ।
कारे लागत ताही सन कारन कों प्यारे ॥
तासों कारे ह्वै तुम लागत औरहु प्यारे ।
यातें नीको है तुम कारे जाहु पुकारे ॥
यहै असीस देत तुम कहँ मिलि हम सब कारे ।
सफल होहिँ मन के सब ही संकल्प तुम्हारे ॥
वे कारे धन से कारे जसुदा के बारे ।
कारे मुनि जन के मन मैं नित बिहरन हारे ॥
मङ्गल करैं सदा भारत को सहित तुमारे ।
सकल अमङ्गल मेटि रहैं आनँद बिस्तारे ॥

महाराणाओं का अपने नाम के साथ इस शब्द का स्वीकार केवल मुसल्मानों ही के अर्थ था, जैसे कि बादशाह, यह उनकी बराबरी के सूचित करने के अर्थ उन्हीं के भाषा का शब्द रक्खा गया, "हिन्दू पति बादशाह" वहाँ पर केवल "यावदार्य्य-कुल-कमल-दिवाकर वा प्रकाशक" का मानो अनुवाद था। फ़ारसी उर्दू में आर्य्य शब्द शुद्ध शुद्ध लिखा भी नहीं जा सकता। अन्य भाषा में हिन्दू शब्द भी इतना बुरा नहीं जंचता, जितना कि हमारी भाषा में। अस्तु, उसी हिन्द अथवा हिन्दू से यह हिन्दी शब्द भी उन्हीं लोगों से व्यवहृत किया गया था जिसका अर्थ हिंदोस्तान का निवासी वा भाषा है। पहले मुसल्मान जब इस देश में आये अपनी भाषा के अन्य शब्दों के साथ इसे भी अपने साथ लाये। इस से आगे यहाँ इसका नाम व निशान भी न था, वे इस देश की भाषा मात्र को हिन्दी कहने लगे, चाहे वह पंजाबी होती व गुजराती, भाषा वा व्रजभाषा, अथवा राजपुताने की वा मध्य देश निवासियों की बोली। सारांश उस समय भी न इसमें देश वा स्थान विशेष की विशेषता मानी गई थी और अब भी इस नाम के साथ कोई उचित विशेषता नहीं लग सकती, क्योंकि भारत के सबी देश और प्रान्त की हिंदी भिन्न भिन्न प्रकार की माननी पड़ेगी। हमारे मध्य देश के भिन्न भिन्न अञ्चलों में भी जो अनेक प्रकार की स्थानिक भाषायें बोली जाती हैं, उन सबी को हिंदी ही कहते और कहने

के अर्थ बाध्य होना पड़ेगा। तब उस भाषा का जो सबी ठौर के सभ्य समाज की भाषा है और जिसमें परस्पर एक प्रांत के नागरिक जन दूसरे देश वा प्रांत के लोगों से वार्त्तालाप करते, अथवा जिस में आज पुस्तकें लिखी जातीं और समाचारपत्र छपते, उसका कुछ विशेष नाम अवश्य ही होना उचित है। मैं सदा से उसे नागरी भाषा ही कहता और लिखता आया हूँ। वरञ्च आनन्द कादम्बिनी के आरम्भ ही के अंक में मैंने "नागरी भाषा वा इस देश की बोल चाल" शीर्षक एक लेख लिखना आरम्भ किया था। कुछ लोग इसे आर्य्यभाषा भी कहते, परन्तु वास्तव में यह नाम भी ठीक नहीं है। मेरी समझ में इस का भारतीय नागरी भाषा नाम होना चाहिये।

कितने कहते हैं कि नागरी तो वर्णमाला का नाम है, भाषा का नहीं। किन्तु उन्हें जानना चाहिये कि भाषा और अक्षर का नित्य सम्बन्ध है। संस्कृत वा पारसी, उर्दू वा अँगरेजी में लिखो, कहने से उसी अक्षर का बोध होता है जिसमें वह भाषा लिखी जाती है। जैसे उर्दू वा अँगरेजी के अक्षर अपने दूसरे नाम रखते हुए भी इन भाषाओं के साथ इन्हीं के अक्षर का अर्थ देते हैं। वैसे ही नागरी वर्णमाला का सम्बन्ध नागर वा नागरी भाषा के साथ दोनों प्रकार से अटल हो। जैसे कि पाली के अक्षर और भाषा दोनों का एक शब्द से बोध होता है।

महाशयो! राजधानी से भी भाषा का घनिष्ट सम्बन्ध होता है, क्योंकि जो राज भाषा होती, वही प्रायः नागरी वा साधु भाषा भी मानी जाती है। आरम्भ में देववाणी नागरी थी, और गाथा वा वैदिक अपभ्रंश प्राकृत ग्राम्यभाषा थी। जब संस्कृत नागरी हुई, तब आर्षप्राकृत सामान्य भाषा मानी जाती थी। जहाँ तक्क अयोध्या, प्रतिष्ठानपुर वा दिल्ली राजधानी रही, तहाँ तक प्रायः यही क्रम वर्त्तमान था। जनपद की वृद्धि के साथ साथ आर्ष-प्राकृत का भी विस्तार और विकास हुआ। मथुरा की राजधानी ने शौरसेनी का, पाटलीपुत्र ने मागधी और पाली का, योंही उज्जयिनी ने आवन्ती की प्रतिष्ठा बढ़ाई। तौभी इन सबों के प्रधान अंशों से अलंकृत हो वह आर्ष प्राकृत ही महाराष्ट्री नाम से इस महादेश की प्रधान भाषा, नागरी वा राष्ट्रभाषा बनी, अपना अधिकार जमाये थी। जैसे कि उसी का दूसरा रूप हमारी वर्त्तमान भाषा उसके स्थान पर आज अपना आधिपत्य रखती है, जिस का पूर्व रूप वा नाम नागर था। अर्थात् जब प्रान्तीय प्राकृतों के अपभ्रंश प्रचलित

हुए, तब मध्यदेशीय परिष्कृत भाषा का नाम नागर पड़ा, जिससे नागर जाति से कुछ सम्बन्ध नहीं, वरञ्च नागरिक जनों की नागरी भाषा से तात्पर्य्य है। प्रान्तिक प्राकृतें तब व्याकरणों के नियमों से नियन्त्रित होकर केवल ग्रन्थों ही में रह गई थीं। पिछले समय के साहित्य की भाषा हमारी प्राचीन भाषा ही थी, वही नागरी वा राष्ट्रभाषा थी। यदि उस समय भारत की कोई प्रधान राजधानी होती, वा यहाँ का कोई चक्रवर्ती राजा होता तो उस की भी बहुत उन्नति होती। हुई भी हो, तो उस का पता नहीं, क्योंकि उस समय का साहित्य दुर्लभ है। जब कि लोगों के प्राणों के लाले पड़ रहे थे, साहित्य की उन्नति और रक्षा की किसे सूझ रही थी। हमारी भाषा के कुछ कवियों वा उनके ग्रन्थों के जो नाम भी सुने जाते हैं, तो वे देखने में नहीं आते। जैसे कि—वैक्रमाब्द ७७० में हुए, पुष्य कवि का काव्य, वा ८१२ के चित्तौराधीश महाराणा खुमान का रासौ, योंही केदार, कुमारपाल और अनन्य दासादि के काव्य दुर्लभ हैं। निदान महाराज पृथ्वीराज के कवि चन्द बरदाई का रासौ ही हमारी भाषा का अति प्राचीन ग्रन्थ लभ्य होता है, जिसकी भाषा को सम्यक् प्रकार से समझनेवाले आज बहुत ही कम लोग मिलेंगे। तौभी वह हमारा एक अमूल्य रत्न है। वही वैक्रमाब्द की बारहवीं शताब्दी पर्य्यन्त के साहित्य वा भाषा का भण्डार है। भाषा ही उसका भी नाम था। जो क्रमशः सँवर और सुधरकर मध्य कालीन भाषा वा उस समय की प्रधान नागरी भाषा थी, जिसका नाम पीछे से ब्रज भाषा भी रक्खा गया और जिसके साहित्य में एक से एक चमकीले बहुमूल्य रत्न अद्यावधि हमारे अभिमान और सन्तोष की सामग्री हैं। आज भी जिसके साहित्य का स्रोत मन्दगति से प्रवाहित होता हमारे देश के असंख्य सहृदय साहित्य रस तृषितों के परितोष का हेतु है।

आज तक हमारी भाषा का कई बार संस्कार हो चुका है। पहला संस्कार देववाणी का हुआ, जिसमें मिले लोकभाषा अथवा मूल प्राकृत के व्यर्थ और भद्दे प्रयोग जो व्यवहार में आते थे, निकालकर वह परिष्कृत और शुद्ध करके संस्कृत बनाई गई। दूसरा जब कि प्राचीनभाषा से प्रान्तिक प्राकृतों के भद्दे अंश निकालकर साधु प्रयोग मात्र, योंही संस्कृत के भी केवल कोमल और व्यापक शब्दों ही से सम्बन्ध रखकर ब्रज के मधुर मुहाविरे और मनोहर शैली स्वीकृत हो, साहित्य के लालित्य का हेतु मानी जाकर उस समय की प्रधान नागरी भाषा बनी। यहाँ तक केवल स्वदेशी ही शब्दों की काट छाँट

होती रही। किन्तु विदेशियों के आने जाने और राज्याधिकार पाने से अब हमारी भाषा में विदेशी शब्दों का भी अधिक समावेश हो चला। मानो हमारी वर्त्तमान भाषा के जन्म के साथ ही इसका भी जन्म हो गया। क्योंकि चन्द के पृथ्वीराज रासो में भी विदेशी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, जिस की संख्या भी न्यून नहीं है। निदान ज्यों ज्यों मुसलमानों का अधिकार यहाँ बढ़ता गया, हमारी भाषा में उनके शब्दों का भी अधिकार बढ़ता गया। चन्द बरदाई ने अपने महाकाव्य की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है,—

उक्ति धर्म्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया॥

कुरान शब्द अनुप्रास के गुण के कारण कवि ने प्रयोग किया है। जिसका तात्पर्य्य अरबी फ़ारसी आदि मुसल्मानी शब्दों से है। सारांश पीछे से भाषा के लक्षण और गणना में पारसी भी रक्खी गई। जैसे,—

संस्कृतं प्राकृतं चैव सूरसेनं च मागधम्।
पारसीकमपभ्रंशम् भाषाया लक्षणानि षट्॥

काव्य निर्णय में भिखारी दास ने लिखा है,—

व्रज भाखा भाखा रुचिर कहैं सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति सुगम जु होय॥

योंही अन्य ने भी—

अन्तरवेदी नागरी गौड़ी पारस देस।
अरु अरबी जामैं मिलै मिश्रित भाषा बेस॥

निदान पारसी भाषा भी क्रमशः अपनी सहचरियों के सहित मानो उपभाषा रूप से अब स्वीकृत हुई और हमारी भाषा की मौसेरी बहिन वह पैशाची पुत्री पुनः आकर अपने जन्मस्थान हिन्दोस्तान में बस गई, जिसका बहिष्कार अब एक प्रकार से दुश्वार है। आगे लोग साहित्य में केवल पद्य लिखते थे। गद्य केवल सामान्य व्यवहार में आता था। कविता वा छन्दों में अधिकतर विदेशी शब्दों का समावेश भी असम्भव है, क्योंकि कवि जब अपनी भाषा में किसी शब्द का अभाव पाता, वा अन्य भाषा का शब्द उसे किसी स्थान पर विशेष उपयुक्त वा अर्थप्रद लखाता, तभी वह उसका प्रयोग करता है; और प्रयोग करके भी उसे अपना सा

बना लेता है, कि जो पढ़ने और सुनने में कर्कश वा अनोखा नहीं जँचता और न उससे प्रायः उसकी भाषा दूषित ही होती है। किन्तु गद्य लेखक ऐसा न कर प्रायः स्वपरिचित शब्दों से बिना विचार के काम लेता चला जाता है। अतः उसकी असावधानी से प्रायः भाषा का रूप ही बदल जाता और वह भद्दी और विभिन्न सी हो जाती है। इसी कारण पहिले छन्दों में विदेशी शब्द मिलकर भी कुछ हानि न कर सके और भाषा का रूप बिगड़ न सका। किन्तु जब से गद्य लिखने की अधिक चाल निकली, हमारी भाषा के कई रूप और नाम बन गये। जैसे बोल चाल की हिन्दी, लिखने पढ़ने की हिन्दी, साहित्य की हिन्दी, शुद्ध हिन्दी, अशुद्ध हिन्दी, मिश्रित हिन्दी, नागरी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, खरी-बोली, इत्यादि।

महाशयो, भारत में राज्यविप्लव के साथ साथ भाषा में भी विप्लव आरम्भ हुआ है। जहाँ केवल एक जाति के लोग रहते थे, दूसरे दूसरे देशों के लोग भी आ बसे। राजा की जाति होने से उनकी प्रधानता भी हुई। यहाँवालों से उनसे नित्य की बात चीत और व्यवहार से भाषा में बड़ा परिवर्तन हो चला। अगले दिनों में भिन्न भिन्न छोटी छोटी प्रान्तिक राजधानियों की प्रान्तिक भाषायें अपने अपने प्रान्तों में राज करती रहीं, उन्हें अधिक विस्तृत होने का अवसर भी न था, परन्तु अब विदेशी राजा का एक साम्राज्य होने के कारण विदेश और देश के भी भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोगों के एकत्र होने से एक ऐसी भाषा का विस्तार हो चला कि जो उनकी राजधानी की स्थानिक भाषा थी, और जो नित्य विदेशी शब्दों के बोझे से दबती जाती थी। विदेशी मुसल्मान और स्वदेशी आर्य्य-सन्तान चाहे वे देश के किसी प्रान्त के क्यों न होते, राजधानी की स्थानिक भाषा ही में राज दर्बार में बोलते और उसी भाषा में नित्य के काम काज के सम्बन्ध में लिखते पढ़ते थे। वे भारत के किसी अन्य प्रान्त में भी जाते, तौभी इसी नियम को निभाते थे। यही उस स्थानिक भाषा के राष्ट्र भाषा बन जाने का भी कारण हुआ।

यद्यपि मुसल्मानों का राज्य यहाँ दृढ़ हुआ, तौभी हमारी भाषा को तब तक लाभ छोड़ हानि नहीं पहुंची थी। वरञ्च राजभाषा पारसी के नीचे, हिन्दी नाम से हमारी भाषा ही में अधिकांश राज काज होता रहा और किसी प्रकार इसके रंग रूप में विशेष अन्तर नहीं आया। मुसल्मान लोग आपस में तो अपनी ही भाषा बोलते थे और यहाँ वालों से हमारी भाषा में, योंही

इस देश के लोग स्वभावतः आपस में अपनी निज ही भाषा में बोलते और लिखते पढ़ते थे। किन्तु हमारे भाई सदा से अपनी हानि का श्री गणेश प्रायः स्वयम् ही करते आये हैं। अकबर के समय उसके मन्त्री राजा टोडरमल ने राजस्वविभाग का नया प्रबन्ध करने के साथ ही साथ इस देशवालों को फ़ारसी पढ़ने पर बाध्य किया। कदाचित् उनका यह विचार था कि बिना राजभाषा के सीखे हमारे भाई राज्य के बड़े बड़े पदों पर नियुक्त न हो सकेंगे। राजभाषा में प्रवीण हो वे अवश्य ही कुछ अच्छे अच्छे पद प्राप्त कर सके, परन्तु उस से हमारी भाषा की उन्नति में बड़ी बाधा पड़ी ज्यों ज्यों पारसी पढ़ने का प्रचार बढ़ा, इधर से रुचि घट चली। राजभाषा होने के कारण सब छोटे बड़े फ़ारसी पढ़ चले। केवल ब्राह्मण और धार्मिक आर्य्यसन्तान संस्कृत और बन्दी जन भाषा काव्यादि का पठन पाठन और काव्यरचना करते रहे। उनके संसर्ग से भद्र समाज में औरों को भी इसका अनुराग न्यून न था। बहुतेरे साधु महात्मा और वैष्णव, विशेषतः वल्लभ सम्प्रदाय के लोग अपने भजन और विष्णुपद इस भाषा में रचते रहे। पहले बादशाही दर्बार में भी इसका बड़ा आदर और सम्मान था। भाषा के कवित्त रचे, पढ़े, सुनाये, और गाये जाते थे। अकबर बड़ा उदार गुण ग्राहक, नीति निपुण और विद्या प्रेमी था। सबी भाषा के बड़े बड़े विद्वान् और कवि उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे। हमारी भाषा से भी उसे बड़ा अनुराग था। इन भाषा के भी अनेक सुकवि सदैव उसके मनोविनोद की सामग्री थे। उसके प्रधान अधिकारियों, अामात्यों और पार्षदवर्गों में भी भाषा के सुकवि वर्तमान थे। जैसे कि राजा बीरबर और अब्दुर्रहीम खानिखानां आदि। स्वयम् भी वह भाषा की अच्छी कविता करता था, उसकी कुछ भाषा कवितायें आज भी उपलब्ध होती हैं। जैसे कि—

"शाह अकब्बर एक समैं, चले कान्ह बिनोद बिलोकन बालहिं।
आहट सों अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं॥
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी, सुभई छबि यों ललना अरु लालहिं।
चम्पक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहिबालहिं॥

अथवा—

शाह अकब्बर बाल की बाँह अचिन्त गही चलि भीतर भौने।
सुन्दरि द्वारहि दृष्टि लगाय कै भागिवे की भ्रम पावत गौने॥

चौंकत सी सब ओर विलोकत संक सकोच रही मुख मौने।
यों छवि नैन छबीलो के छाजत मानो बिछोह परे मृग छौने॥

योंही राजा बीरबर के मरने पर उनके शोक में उसका बनाया यह सोरठा है,—

"सब कछु दीनन दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सोउ दै हमहिं प्रवीन, नहिं राख्यो कछु बीरबर॥"

राजा बीरबर अपनी वर्ष गांठ पर सर्वस्व दान कर देते थे। युद्ध पर जाते समय भी सब कुछ दान कर गये थे।

सारांश अकबर का शान्त राज्य हमारी भाषा का मानो स्वर्णमय युग था। जितने अच्छे कवि उसके समय में हुए, फिर न हुए। विद्या प्रेमी राजा होने से विद्या का प्रचार और साहित्य की पुष्टि होती ही है। उसके सुयश को सुनकर सब प्रकार के गुणी दूर दूर देश और प्रान्तों से आकर एकत्र हो गये थे। फ़ारसी की भी उसके समय में बहुत उन्नति हुई। फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल आदि उस के दरबार में एक से एक धुरन्धर विद्वान बड़े सन्मान को पाकर उस भाषा में अनेक बहुमूल्यरत्न भर गये और संस्कृत के भी अनेक अमूल्य रत्नों को पारसी भाषान्तर के रूप में संग्रह किये। उसके प्रधान राज्याधिकारी और पार्षदों में भी उस से न्यून विद्या प्रेमी न थे। राजा बीरबर ही ने केशव दास को एक कवित्त पर कई लाख रुपये देने चाहे परन्तु उसने नहीं लिया। वह कवित्त जो उन की प्रशंसा में था, यों है,—

"पावक पच्छी पसू नग नाग, नदी नद लोक रच्यो दस चारी।
केसव देव अदेव रच्यो नर देव रच्यो रचना न निवारी॥
रचि कै नर नाह बली बरबीर भयो कृत कृत्य महा व्रत धारी।
दै करतापन आपन ताहि दियो करतार दोऊ करतारी॥"

जयपुराधीश महाराज मानसिंह ने भी इस दोहे को सुन तीन वार पढ़-कर ३ लाख रुपये दिये थे।

"बलि बोई कीरति लता करन करी है पात।
सींची मान महीप ने जब देखी मुरझात॥"

वास्तव में राजा का सत्कार कवि के उत्साह का हेतु होता ही है। यदि विक्रम वा भोज न होते, कालिदासादि के काव्य में यह अमृत न टपकता। यदि महमूद ग़ज़नवी प्रत्येक शेर के लिये एक अशर्फ़ी फ़िरदौसी को देने न

कहता, तो शाहनामा ग्रन्थ न बनता। महाराज जयसिंह से प्रत्येक दोहे के अर्थ एक एक सहस्र मुद्रा पाने की आशा न होती, तो बिहारी के इतने दोहों में यह स्वारस्य सर्वथा दुर्लभ होता। यदि एक कवित्त को चौंसठ बार सुनकर शिवाजी भूषण को ६४ हाथी पर ६४ तोड़े रुपये के धरकर न देता, तो भूषण की कविता में यह ओज कब आता? वह कवित्त यह है,—

"चारौ दिसा दल के बल जीति कै पच्छिम चंगुल दाबि कै नाखे।
रूप गुमान हर्यो गुजरात को, सूरत को रस तूरिकै चाखे॥
पंजन दाबि मलेच्छ मले, भजि वेई बचे जे अधीन ह्वै भाखे।
सौरंग है शिवराज बली जिन नौरँग मैं रँग एक न राखे॥

यही सम्बन्ध पृथ्वीराज और चन्द बरदाई, इन्द्रजीत और केशव, तथा नव्वाब खानिखानां और पण्डितराज जगन्नाथादि का भी समझना चाहिये। लोग ऊपर के दानों को सुनकर आश्चर्य्य करेंगे, किन्तु अभी कल की बात है कि, यशवन्त यशो भूषण ग्रन्थ के लिये महाराज जोधपुर ने कविराज मुरारिदान को एक लाख रुपये दिये हैं। तौभी यही कहना होगा कि आज हमारी भाषा का गुणग्राहक राजा कोई नहीं है, क्योंकि किसी राजा के यहाँ कोई सुकवि वा सुलेखक सुनाई नहीं देता। अङ्गरेज़ी गवर्नमेण्ट की तनिक सी कृपा के परिणाम से हमारी भाषा में बहुतेरे ग्रन्थ बने हैं। चाहे उनमें से अधिकांश बहुमूल्य न भी हों और चाहे वे उसके प्रधान कार्म्मचारियों के दुराग्रहयुक्त आदेश के अनुसार होने से, हमें वास्तविक फलप्रद न होने से अच्छे न जँचे। हैदराबाद और रामपुर के राज्यों द्वारा उर्दू भाषा की बहुत अधिक वृद्धि हुई और अनेक अच्छे ग्रन्थ बन गये हैं। यद्यपि अब समय ने पलटा खाया है; दूसरे दूसरे प्रकार से कुछ नरपतियों में हमारी भाषा के प्रचार की अभिरुचि हुई है—श्रीमन्महाराज सयाजी राव गायकवाड़ जिनके शिरोमणि हैं—तौभी प्राचीन रीति के अनुसार अच्छे सुलेखक और सुकवियों के अर्थ इस देश में कोई आश्रय नहीं है। पत्र और पुस्तकें बेंचकर लाभ उठानेवाली व्यापारिक प्रणाली उच्च हृदय के लोगों में प्रायः अनहोनी है कि जिन्हें आप अपनी ही सुध नहीं रहती और जो किसी दूसरे ही ध्यान में चूर रहते हैं।

अस्तु, अकबर से लेकर शाहजहां के राजत्व काल तक यही दशा वर्त्तमान थी। देश में शान्ति थी, राजा प्रजा में ईर्षा द्वेष का भाव भी घट चला था। हमारे साहित्य की गति भी पूर्ववत् थी। शाहजहां भी अकबर

का प्रतिरूप था। वह भी भाषा-कविता करता था। यथा औरंगजेब के अत्याचारों से दुखी होकर उस ने यह कवित्त बनाया था;—

"जन्मतही लख दान दियो अरु नाम धरयो नवरङ्ग बिहारी।
बालहिं सो प्रतिपाल कियो अरु देश मुलुक दियो दल भारी॥
सो सुत बैर बुझैं मन मैं धरि हाथ दियो बँध सारि मैं डारी।
शाहजहाँ बिनवै हरि सों बलि राजिवनैन रजाय तिहारी॥

यद्यपि साहित्य की भाषा में अनेक सुकवियों के द्वारा एक प्रकार उन्नति ही होती रही, तौभी बोल चाल की भाषा में बहुत भेद पड़ गया था। क्योंकि प्रथम तो अनेक प्रदेश और प्रान्तों के मनुष्यों के एकत्रित होने से मूल भाषा के मुहाविरे बदल चले, और न केवल विदेशी शब्दों ही की भरमार होने लगी, वरञ्च विदेशी भावों का भी सन्निवेश हो चला था। ऐसा क्यों न होता, जब कि सभ्य समाज में एक नवीन भाषा का अधिकता से प्रचार हो गया। ारा द्वार पर मौलवी लोग बैठ गये। पण्डित और गुरू जी की गद्दी उनके दखल में आ गई। विद्यारम्भ मुहूर्त के समय श्रीगणेश की जगह बिस्मिल्ला-हुर्रहेमानुर्रहीम का घोष होने लग चला। सभ्यता का रंग बदला। कहा गया है कि "यथा राजा तथा प्रजा" "और राजाहियुगमुच्यते।" अब लोगों में ईरानी चाल ढाल भी चली। क्या पौशाक लिबास और क्या अदब व क़वायद, सब में नया रंग ढंग। गुफ़गू में भी नई तराश व खराश आई। ऐन, ग़ैन, शीन, क़ान और ज़े, ज्वाद का स्वाद ज़बान चख चली और कान इनके आशना हुए। गाँव गिराँव के सब कार्य्य सदा से कायस्थों के हाथ था। क्या राजा और क्या जमींदार सब के दफ़्तर का काम यही करते थे। सामान्य लिपि का नाम ही कैथी था, जैसे कि देवनागरी बभनी कहलाती थी। जिस भाँति ब्राह्मणों से संस्कृत का सम्बन्ध था, कायस्थों से वैसे ही देशी भाषा का, जो मौलवियों के पूरे चेले बन गये थे। अब वे संस्कृत को शंसकीरत, ब्राह्मणों को बरहमन, समुद्र को समन्दर, और सूर्य्यनारायण को सूरजनरायन कहने लग पड़े थे। इन के गुरू यदि गुरबख्श थे, तो चेले चीनी परशाद हो गये, जिन की मीठी बातें सुन लोग ऐसे मोहित हुए कि हुजूर और गरीबनिवाज को छोड़ श्रीमान और महाराज शब्द सुनना भी गवारा न करते। सर्वा भद्र समाज में इन्हीं गुरू चेलों का राज सा हो गया, जिस कारण नित्य के व्यवहार की भाषा बिलकुल ही बिगड़ गई। अधिकांश शिक्षितों के खत किताबत में भी फ़ारसी का प्रचार हुआ। गुप्त बातें लोग

फ़ारसी ही में करते। जैसे आजकल अङ्गरेजी का विस्तार हो रहा है। चार शिक्षितों, विशेषतः विद्यार्थियों को अपनी भाषा में भी बोलते समय जैसे सामान्य स्वदेशियों को उनका आशय समझना कठिन होता है। कुछ कुछ ऐसी ही दशा तब उपस्थित हो चली थी, जिसे हमारी भाषा का नवीन काया पलट कहना भी अन्यथा नहीं है। क्योंकि संस्कृत प्राकृत और फ़ारसी को छोड़कर भी तब कई प्रकार की भाषायें प्रचलित हो गई थीं। अर्थात् एक बोल चाल की सामान्य भाषा, जो दिल्ली और आगरे की सम्मिलित, अनेक अन्य देशी शब्दों और मुहाविरों से मिश्रित थी। जिसकी अब प्रधानता होने लगी थी और जो सभ्य वा नागरी भाषा बन राष्ट्र भाषा बनती हुई, अपनी माता पुरानी प्रधान भाषा का नाम ब्रज भाषा देकर, उससे पृथक हो चली थी। जिसके दो भेद थे। एक पारसी शिक्षितों की भाषा, जिसका नाम रेखता था और जिसमें विदेशी शब्द अधिक होते थे। दूसरी जिसे विदेशी लोग हिन्दी कहते थे और जिस में विदेशी शब्द न्यून होते, केवल मुहाविरात ही नये थे। योंही साहित्य की तीन भाषायें थीं, अर्थात् एक तो वह मुख्य भाषा जिसे अब लोग ब्रज भाषा पुकारने लगे थे, जो अपने उसी पुराने रंग रूप और अक्षरों में आज तक चली आती है। दूसरी जो नवीन प्रचलित मिश्रित भाषा की शैली में विदेशी भावों और छन्दों में थोड़ी बहुत कविता बन चली थी और जो नागरी अक्षरों में भी लिखी जाती थी। तीसरी जो कुछ विशेष विदेशी शब्दों के मेल से फ़ारसी ही अक्षरों में लिखी जाती थी, जिसे मुसलमानों की हिंदी बोल चाल की भाषा कहनी चाहिये कि जिस का नाम आज उर्दू कविता वा शायरी है। ये पांचो क्रम अद्यावधि कुछ थोड़े बहुत परिवर्तन के सहित प्रचलित हैं।

पारसी अक्षरों में तब तक प्रायः गद्य और पद्य भी पारसी भाषा ही में लिखे जाते थे, तौभी कुछ कुछ अंश में उर्दू में भी कविता हो चली थी। किन्तु उर्दू में गद्य का व्यवहार तो नहीं के तुल्य था। उभय प्रकार के अक्षरों और भाषाओं में गद्य लिखने की चाल अङ्गरेजी राज्य और यन्त्रालयों के प्रचार के संग ही प्रचलित हुई, जिस की अब निरन्तर वृद्धि हो रही है। सुतराम् पूर्वोक्त दोनों भिन्न भिन्न अक्षरों में लिखी जाने वाली उभय प्रकार की भाषाओं के दो दो रूप हो गये। जैसे हमारी भाषा का मिश्रित रूप कि जिस में अरबी, फ़ारसी वा तुर्की, और अब अङ्गरेज़ी के भी शब्द अधिकता से काम में लाये जाते और जो हिन्दी कहलाती है, जिसे उर्दू की छोटी बहन

कहना चाहिये। दूसरी वह कि जिस में यथाशक्ति देशी शब्दों से काम लिया जाता और उन शब्दों को छोड़ कि जो हमारी भाषा ही के रंग में रंग चुके हैं, अपरिचित और बेडौल विदेशी शब्दों का सन्निवेश नहीं किया जाता, जिसे साधु वा नागरी भाषा कहते हैं। उसी को इस का अन्तिम संस्कार वा सुधार कहना चाहिये।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी भाषा के प्रधान तीन रूप हैं, उस में प्रथम प्राचीन रूप कि जो वैक्रमीय १२ वीं शताब्दी तक प्रचलित था, उस के न जाने कितने कवि हुए होंगे कि जिन की कविता वा उन के नाम का भी पता अब नहीं है, तौभी उस के प्रधान कवि चन्दबरदाई का बनाया महाकाव्य पृथ्वीराजरासौ आज हमें उपलब्ध होता है। उसकी कविता का रूप और गुण का आख्यान यद्यपि संक्षेप में नहीं हो सकता और यद्यपि उस के प्रबन्ध के आनन्द का अनुभव भी अब हम यथार्थ रीति से नहीं कर सकते, तौभी कह सकते हैं कि वह हमारे सब कवियों का राजा वा गुरू है। क्योंकि पिछले कवियों ने अनेक अंशों में न केवल उस का अनुकरण ही किया है, वरञ्च कुछ ने तो प्रत्यक्ष चोरी भी की है। उस में महाकवि के सबी गुण वर्तमान थे। वह न केवल संस्कृत वा प्राकृतों का अच्छा पण्डित ही था, वरञ्च अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और प्रायः पुराने साहित्य से पूर्ण परिचित था। वह जिस विषय वा रस का वर्णन करता है, उसमें अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दे देता है। क्या प्राचीन इतिहास और क्या धर्म्म, क्या नीति और क्या ज्योतिष, क्या वेदान्त और क्या योग, सबी को यथावसर उसने उचित स्थान दिया है एवं काव्य का कोई अंश अछूता नहीं छोड़ा। शब्दों की सजावट और अर्थ की गम्भीरता के सहित सुहाती उपमा और उत्प्रेक्षाओं को अपनी कई शैली की भाषा और विविध छन्दों में दिखलाता वह सहृदयों के मन को सहज ही लुभाता है। उस की रचना के सम्बन्ध में जिन अंशों से हमें विरोध है, यहाँ उस के आख्यान की कुछ आवश्यकता भी नहीं है। यद्यपि स्थान का संकोच है, तौभी हम यहाँ उसकी कविता के कुछ उदाहरण देते हैं। यथा,—

दशावतार का नाम स्मरण।

चौपाई। मछ्छ कछ्छ बाराह प्रनम्मिय। नारसिंघ वामन फरसम्मिय।
सुअ्र दशरथ्थ हलद्धर नम्मिय। बुद्ध कलंक नमो दह नम्मिय॥

अनङ्गपाल को पृथ्वीराज का उत्तर कि दिल्ली हम नहीं फेरेंगे,—

जलद बूंद परि धरनि, कबहुँ जावै न नभ्भ फिर।
पवन तुट्टि तरु पत्र, तरु न लग्गै सु आइ थिर॥
तुटि तारक आकास, बहुरि आकास न जाऔ।
सिंघ उलंघि सबजह, सोइ फुनि हनि नह षाऔं॥
अप्पिअ सु पहमि तुम उदक सह, सो पाओ दूजै जनम।
तप्पौ सु जाइ बद्री तपह, मत विचार राजस मनम॥

यही मानो उसकी सामान्य भाषा है। अब सरल भाषा भी देखिये।

जैसे दिल्ली के सम्बन्ध में—

दूहा। अनँग पाल तूंअर तहाँ, दिली बसाई आनि।
राज प्रजा नर नारि सब, बसे सकल मन मानि॥

पृथ्वीराज की बाल्यावस्था—

रज रंजित अंजित नयन, धूंठन डोलत भूमि।
लेत बलैया मात लषि, भरि कपोल मुष चूमि॥

उस की यौवन शोभा में से।

पाघ विराजत सीस पर, जरकस जोति निहाय।
मनों मेर के सिपर पर, रह्यो अहप्पति आय॥
श्रवन विराजत स्वाति सुत, करत न बनै बषान।
(मनु) कमल पत्र अग्रज रहैं, ओस उड्गन आन॥
कंठ माल मोतीन की, सोभत सोभ विसाल।
मेरु सिषर पारस फिरत, जानि नछित्रन माल॥
मिस भींने सु मयंक मुष निपट विराजत नूर।
मानौं वीर उर काम के, उगे आनि अंकूर॥

शब्द चित्र यथा कृष्ण चरित्र में।

मधुरिपु मधुरित मधुर मुख, मधु संमत मधु गोप।
मधुरित मधुपूर महिल सुष, मधुरित नयन स ओप॥

युद्ध वर्णन—

गाथा—बज्जे रन रंततूरं, गज्जे गहर सूर पल चूरं।
मंडे निजर करुरं, छंडे मरन मोह सासूरं॥

चौहान वीरों का युद्ध । भुजंगी—

बढ़े वान चहु प्रान चालुक्क पेतं । महा मन्त्र विद्या गुरं सुक्र जेतं ॥
घने घोर नीसान गज्जे गहारं । उठे जानि प्रासाद वर्षा प्रहारं ॥
बजी भेरि भंकार नफ्फेरि नादं । तड़क्कंत बिज्जू करन्नाल सादं ।
छुटी वान जंत्री उड़ीं गेन अग्गी । महादेव बीरं चषं निद्र भग्गी ॥
सहन्नाई सिंधू सुरं हर्ष वीरं । नचें ताल संमाल बेताल श्रीरं ॥
नचें नृत्य नीमान नारद धाई । चढ़ी व्योम विम्मान अपछरि सुहाई ॥
जके जप्प गंधर्व कौदिग्गहारी । प्रलै कालयं ष्षाल ष्यालं विचारी ॥
डुवं दिग्गपालं डुवं छत्र धारी । डुवं ढाल ढिंचाल मल्लं करारी ॥

हिन्दू मुसलमानों के युद्ध से—

त्रोटक— सारंग चढ़यौ कविचंद भनं । रन नंकिय बीर नफेरि घनं ॥
छ्ननंकहि घंटनघंटन की । तननकहि भेरि भयंटन कीं ॥
घननंकहि घुघ्घर पष्ष रनं । ठननंकहि आइ प्रसद्द घनं ॥
बर चिक्किय चक्कि मिले पलटे । दिषि घुघ्घुर रेनिय अस्य घटे ॥
तमके तम तेज पहार उठे । बहुरे किधु पावस अभ्भ बुठे ॥
कविचंद सुअंसुय साव धरे । त्रय नेत्त जु गंग समीर घरे ॥
दोउ दीन अनंदिय तेग छुटीं । सु बनै चहुआनय मार टटी ॥

उसके दूसरे रूप ब्रज भाषा से तो आज हम सभी परिचित हैं, जिस का समय वैक्रमाब्द की १६ वीं शताब्दी मानना चाहिये । उसके सब कवियों की संख्या बतलानी तो कठिन है । तौभी कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम दिये देते हैं । उन में प्रधान आर्य्य जातीय सुकवियों की कई श्रेणी हैं, जैसे—कबीर, कमाल, विद्यापति, नान्हक, दादू, नाभा आदि—जिन की भाषायें कुछ पुरानी, मनमानी और प्रान्त विशेष की बोलियों से मिश्रित हैं । दूसरे समूह में मीराँबाई सूरदासादि अष्टसखा, नागरीदास, हिंतहरिवंश, तानसेन आदि हैं, जो अधिकांश प्रायः भजन और विष्णुपद तथा रागरागिनियों के प्रणेता हैं । तीसरे में केशव, नरहरि, तुलसी, देव, भूषण, मतिराम, बिहारी, भिखारी दास, आनन्दघन, पद्माकर, कविन्द, पजनेस आदि हैं, जो पुष्ट ब्रजभाषा और मिश्रितभाषा के कवि हैं । चौथे में देवस्वामी, बेनी प्रवीन, ठाकुर, सेवक, महाराज रघुराज सिंह, द्विजदेव, हरिश्चन्द्र आदि हैं कि जो पिछले दिनों के पुरानी और कुछ कुछ नवीन शैली के भी कवि हैं ।

योंही मुसल्मान कवियों में जायसी, मुबारक, रहीम, नबी, रसखान, आलम और नेवाज, योंही नज़ीर, निज़ामी, मौज ये सब भाषा वा ब्रजभाषा तथा उर्दू के कवि हैं। टकसाली ब्रजभाषा के कवि सूरदास, नन्ददास, हितहरवंश वा देव, रहीम, रसखान, दास, आनन्दघन और बिहारी आदि ही की कही जाती है। जिन में बिहारी और देव आदर्श रूप हैं। यद्यपि इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं, तौभी कुछ देना ही उचित है। जैसे—श्री सूरदास जी-

कुँवर जल भरि भरि लोचन लेत।

मानहुँ स्रवत सुधानिधि मोती, उरगन अवलि समेत॥ अथवा—
गज निरख्यो फहरानि बसन की।
लग्यो ललकि मुख कमल निहारन, भूली गई सुधि ग्राह ग्रसन की॥

महाकवि देव—

देस बिदेस के देखे नरेसन, रीझ की कोऊ न बूझ करैगो।
तामों तिन्हैं तजि जानि गिरयो गुन सो गुन सौगुनी गाँठि परैगो॥
बाँसुरीवारो बड़ी रिझवार है, देव जो नेक सुढार ढरैगो।
साँवरो छैल वही तो अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगो॥
नाहिनै नंद को मंदिर ह्यां, वृखभान को भौन कहाँ जकती हो।
हौं हीं अकेली तुहीं कवि देव जू, घूँघट तैं केहि को तकती हौ॥
भेंटती भोरी भटू केहि कारन, कौन की धौं छवि सों छकती हौ।
काह भयो है? कहा कहौ? कैसी हो? कान्ह कहां है? कहा बकती हौ?

नेवाज—

सुनती हौ कहा भजि जाहु धरैं, बिधि जाहुगी मैन के बानन मैं।
यह बंसी नेवाज भरी बिख सों, बिख सीं बगरावती प्रानन मैं॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू? भभरौ जनि मीठी सी तानन में।
कुलकानि जौ आपनी राखी चाहौ दै रहौ अंगुरी दोउ कानन में॥

रसखान—

जो मुसलमान से परमवैष्णव हुआ। जिनके विषय में कहा गया है, कि—
इनि मुसलमान हरि जनन पै कोटिन हिन्दुन वारियै।

मानुख हों तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गांव के ग्वारन।
जौ पसु हों तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥

पाहन हों तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हों तौ बेसरो करौं वा कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

महाकवि बिहारी लाल—

रह्यो चकित चहुँधा चितै चित मेरो मति भूल।
सूर उदै आये रही दृगन साँझ सी फूल॥
हम हारीं कै कै हहा पायन पारुयो प्योरु।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरे त्योरु॥
बिछुरे जिये सकोच गुनि मुख सों कढ़े न बैन।
दोऊ दौरि गरैं लगै लगे किये निचौंहैं नैन॥
मैं तपाय त्रय ताप सों राख्यो हियो हमाम।
मत कबहूँ आवै इहां पुलकि पसीजे स्याम॥
हाहा बदन उघारि दृग सफल करै सब कोय।
रोज सरोजनि के परै हँसी ससी की होय।

रहीम—

रहिमन राज सराहिये जौ बिधु के बिधि होय।
कहा निगोड़ो तरनि यह उवत तरैयन खोय॥
धूरि उड़ावत सीस पैं कहु रहीम किहि काज।
जिहि रज रिषि पतनी तरी तिहि ढूँढत गजराज॥
जो गरीब सों हित करैं धनि रहीम वे लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग॥

अब बतलाइये कि यह लालित्य और माधुरी दूसरी किस भाषा में लभ्य है? उर्दू बिचारी को तो इस का स्वप्न भी असम्भव है।

ब्रजभाषा में बहुतेरे इसी श्रेणी के कवि हुए हैं जिनकी कविता के उदाहरण अथवा उनकी समालोचना करने को यहाँ स्थान नहीं है। इसी से केवल इतना ही कहना यथेष्ट है कि यदि देववाणी वा संस्कृत की आर्ष भाषा के स्थान पर हमारी भाषा में चन्द की कविता है, तो सूर, व्यास, और तुलसी वाल्मीकि हैं। यदि केशव श्रीहर्ष तो बिहारी कालिदास हैं; योंही यदि माघ की कविता का स्वाद देनेवाला देव है, तो भारवि भिखारी दास हैं। यदि रहीम को पंडितराज जगन्नाथ कहें तो आनन्द घन को गोवर्धनाचार्य्य और हरिवंश को जयदेव कह सकते हैं। यह केवल आंशिक उपमायें हैं। नहीं तो

जितनी संस्कृत से हमारी भाषा छोटी है, उतने ही उस के कवियों से हमारे कवि भी छोटे समझिये। कुछ लोग सूर को तुलसी से छोटा कवि कहते हैं। जिसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। सागर की थाह सहज ही कैसे लग सकती है, उस में से रत्न निकालना कठिन कार्य्य है। तुलसीदास जी की कविता सब लोग जानते क्योंकि उस का प्रचार बहुत है। सूर सागर अभी पूरा छप भी न सका केवल एक वा दो ही पूरे ग्रन्थ भारत में उपलब्ध होते हैं। क्या यह हमारे अर्थ लज्जा का विषय नहीं है? फिर उस पर कैसे समालोचना की जा सकती है। तौभी आगे के लोग साफ़ कह गये हैं कि—सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केसव दास।

योंही—"जो कुछ रहा सो अन्हरैं भाखा, कठवौ कहेसि अनूठीं।
बचा रहा सो जोलहा कहिगा, अब जो कहै सो झूठी॥

किन्तु वास्तव में ये दोनों तुल्य ही मान्य हैं, इन में छोटे बड़े का विचार करना ही व्यर्थ है। बृज भाषा के पिछले कवियों में गिरिधर दास (भारतेन्दु के पिता और द्विजदेव (अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह) और सेवक बहुत अच्छे कवि हुए।

शुद्ध बृजभाषा में कविता करना कुछ सहज नहीं है। उसमें बड़ी प्रवीणता की आवश्यकता पड़ती है। समझने में भी उसके सामान्य जनों को कुछ कठिनता पड़ती है, उसी से सरल कविता में सुकवि जन भी मिश्रित भाषा को काम में लाते थे। अतः उसी व्रजभाषा का एक उपभेद मिश्रितभाषा भी है, जिसमें दूसरी दूसरी भाषाओं का भी मेल रहता, जैसे उर्दू, फ़ारसी अथवा प्रान्तिक बोलियों का। इस प्रकार की कविता करनेवालों में से प्रधान कवि जायसी, तुलसीदास और रहीम हैं। जैसे पदमावत में—

जायसी—

चौ० सावन बरसु मेंह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी॥
लागु पुरनवसु पीउ न देखा। भइ बाउरि सुनि कन्त सरेखा॥
रकत की आंसु परै भुंइ टूटी। रेंगि चलै जनु बीरबहूटी॥
सखिह रचा पिउ संग हिँडोला। हरिअरि भुम्मि कुसुंभी चोला॥
हिय हिँडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा॥
बाट असूझ अथाह गंभीरी। जिउ बाउर भा फिरै भंभीरी॥
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाउ खेवक बिनु थाकी॥

दो० —परबत समुंद अगम बन बीहड़ घन अरु ढांख ।
किमि करि भेटौं कंत, तुम ना मोहिं पाँव न पाँख ॥

गोस्वामी तुलसीदास—

चौ० जननिहिँ बिकल बिलोकि भवानी । बोली युत बिबेक मृदु बानी ॥
अस बिचारि सोचहु जनि माता । सो न टरै जो रचै बिधाता ॥
करम लिखा जो बाउर नाहू । तौ कत दोष लगाइय काहू ॥
तुम सन मिटहिँ कि बिधि के अंका । मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥
छं०—जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं ।
दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं ॥
सुनि उमा बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं ।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं ॥

अब्दुर्रहीम खानिखानान्—

बरवै—का बढ़ि भयउ सेमरवा फूल्यो फूल ।
जौ पै स्याम भँवरवा नहिँ अनुकूल ॥
टूटि टाट घर टपकत खटियौ टूटि ।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूटि

हमारी भाषा का तीसरा रूप, जिसे उसकी यौवनावस्था कहेंगे, यही वर्त्तमान रूप है, जिसके चार वा पाँच भेद हम ऊपर कह आये हैं और जिसका आरम्भ समय ईस्वी की उन्नीसवीं शताब्दी बतलाया जाता है। किन्तु हम जब विचार करते हैं तो यद्यपि इसके गद्य का ग्रन्थ इससे पूर्व का नहीं पाते, तौभी जो पुराने पद्यों में इस भाषा का रूप हमें मिलता है, वह इस बात का साक्षी है कि यह भाषा उस समय से बहुत पूर्व प्रचलित हो चुकी थी। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उनके काव्य में इसकी झलक न आती, योंही जिसका सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण तो उर्दू भाषा ही है, क्योंकि विदेशी शब्दों के बाहुल्य को छोड़ हमारी वर्त्तमान भाषा से उसमें और तो कुछ भेद हुआ नहीं है।

उदाहरण जैसे कबीर—

मन का फेरत दिन गया गया न मन का फेर ।
कर का मन का छाँड़कर मन का मन का फेर ॥

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबित गया न कोय॥
आये एकै देस से उतरे एकै घाट।
अपनी अपनी चाल से हो गये बारह बाट॥
मूरख को सिखलावते ज्ञान गाठ का जाय।
कोइला होत न ऊजला सौ मन साबुन लाय।
अथवा—पंडित ज्ञानी क्यों न पिओ छान पानी।

अब इससे दो बातों का पता चलता है, एक तो यह कि हमारी वर्त्तमान भाषा लल्लूजीलाल के समय से कई सौ वर्ष पूर्व से प्रचलित थी। दूसरे यह कि उस भाषा में उसी समय से कविता भी होती थी। आज कल के लोगों के इस कथन में कुछ भी सार नहीं है, जो खरी बोली को खड़ी बोली लिखते और कहते हैं कि यह इजादिबन्दा है। स्वर्गीय बाबू अयोध्या प्रसाद के उत्तेजना से जिसका आरम्भ वा अधिक प्रचार हुआ है। हम अनेक प्राचीन कवियों की इस चाल की बहुतेरी कवितायें दिखला सकते हैं कि जिसकी भाषा वर्त्तमान नागरी ही है वा उसी से मिलती जुलती है। किसी किसी में पारसी के शब्द भी मिले हैं और किसी में नहीं। किसी में कुछ ब्रजभाषा का पुट पड़ गया है, तो किसी में कुछ संस्कृत के भी छींटे आ गये हैं। यह दोनों प्रकार के मेल कविता में ग्राह्य हैं। परन्तु आजकल के खरी हिन्दी—जिसे नागरी ही कहना उचित है के कवि—इस पर राज़ी न होंगे। क्योंकि वे चाहते कि ठीक ठीक जैसा हम बोलते हैं, उसी रीति भाँति से कविता भी करें; जिस कारण उन्हें बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता और कविता के सहज स्वारस्य से उनकी रचना भी प्रायः शून्य रहती है। सबी भाषाओं में बोलचाल और कविता की भाषा में भेद रहता है। परन्तु खेद है कि हमारे वर्त्तमान नागरी के कवि इस भेद को मिटाना चाहते है। अब इसके कुछ सुविज्ञ कवि खड़ी बोली वा हिन्दी नाम को नापसन्द करके अपनी कविता की भाषा को बोलचाल की भाषा कहने लगे हैं। किन्तु वे बोल चाल की भाषा में कविता कर नहीं सकते हैं। कविता में बोल चाल की भाषा आना बहुत बड़ा गुण है। पर उनकी कविता या तो संस्कृत सी पढ़ी जाती, या उर्दू सी सुनी जाती है। जिसका प्रधान कारण यह है कि वे अधिकांश या तो संस्कृत के छन्द या उर्दू पारसी के छन्दों ही में अपनी कविता करते हैं। क्या हमारी भाषा के इतने छन्दों में से कोई भी उनके

काम का नहीं है ? अथवा इनसे उन्हें द्रोह है ? उनकी कविताओं अथवा गद्य के लेख में चाहे संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी वा अङ्गरेज़ी का कुछ अंश भले ही आ जाये, परन्तु ब्रजभाषा का कोई शब्द, पद वा मुहाविरा कदापि नहीं आने पाता। हम नहीं जानते कि इससे लोगों को क्यों इतनी चिढ़ है। यदि उन्हें इस से चिढ़ न होती, तो निःसन्देह उनकी और प्राचीनों की इस शैली की कविता में कुछ भी भेद न होता। सब भाषाओं के कवियों का यह नियम है कि वे पुराने कवियों का अनुकरण करते हुये आगे बढ़ते हैं, परन्तु शोक, इन्होंने उनका सर्वथा वहिष्कार कर दिया। और यही कारण है कि ये उनकी सम्पादित स्वतन्त्रताओं और सुभीते से वञ्चित रहे, जिनकी एकमात्रा और अक्षरों में तीन तीन चार चार शब्दों का काम सहज में निकल आता और रचना में बड़ी सरलता और सरसता आती है। जैसे, देखि और देखन आदि।

आगे के लोग इस बोलचाल की भाषा को विशुद्ध वा साधु भाषा अथवा प्रशस्त पद्य रचना के योग्य नहीं मानते थे, इसी से जब कुछ लोग निम्न श्रेणी अथवा छोटे दरजे की कविता करते थे, तो इसी भाषा को काम में लाते थे, विशेष कर जब वे उसे सामान्य जनों के हेतु बनाते, अथवा सरसता को छोड़ते और सरलता से सम्बंध जोड़ते थे। यही कारण है कि प्रायः क्या प्राचीन और क्या मध्यकालीन एवम् कुछ नवीन समय के भी निम्न कोटि के पद्य इस भाषा में बने पाये जाते हैं।

जैसे चूरनवालों की बानी, बिरहे और पचड़ों के बहुतेरे बन्द स्वांग, भगत और ख्याल चौबोले, सैर आदि जैसे—

राम राम कहना अच्छा ही काम है। बेमेहनत का दाना दानाहराम है॥

अथवा—

सदा भवानी दाहिनी सन्मुख रहैं गनेस।
पांच देव रच्छा करैं ब्रह्मा विष्णु महेस॥
राम नाम की लूट है लूट सकै तौ लूट।
अन्त काल पछतावगे जब तन जैहै छूट॥

नागरी दास—

प्रेम उसी की झलक है ज्यों सूरज की धूप।
जहां प्रेम तहँ आप है कादिर नादिर रूप॥
इशक चमन महबूब का वहां न जाये कोय।

जाये सो जीये नहीं जिये तो बौरा होय ॥

कबीर— द्वार धनी के पड़ रहै धक्का धनी का खाय ।
एक दिन धनी नेवाज ही जौ दर छोड़ि न जाय ॥
कहते हैं करते नहीं वे भी बड़े लबार ।
अन्त फजीहत होयँगे साहेब के दरबार ॥

गीतें जैसे कबीर—

कंकड़ चुन चुन महल उठाया लोग कहैं घर मेरा है ।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा है ॥
जग में राम भजा सो जीता या जग ।
कब सेवरी कासी को धाई कब पढ़ि आई गीता ।
जूठे फल सेवरी के खाये तनिक लाज जहिँ कीता ॥

सूरदास ।

अँखिया हरि दरसन की प्यासी ।
बिन देखे वह सुरति साँवरी मन में रहत उदासी ॥

तुलसीदास ।

जै जै भागीरथ नन्दनि मुनि चैचकोर चंदिनि ।
सुर नाग बिबुध बदिन जै जन्हु बालिका ॥
जै जै जग जननि देवि सुर नर सुनि असुर सेवि ।
भक्ति मुक्ति दाइनि तव चरन कालिका ॥

बाबू हरिश्चन्द्र ।

सांझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है ।
डंका कूच का बज रहा मुसाफ़िर चेतो रे भाई ॥

अथवा—

अग्नि वायु जल पृथवी सब इन तत्वों ही का मेला है ।
इच्छा कर्म्म मयोगी इंजन गारड आप अकेला है ॥
जीव लाद खींचत डोलत तन स्टेशन झेला है ।
जयति अपूरब कारीगर जिन जगत रेल को रेला है ॥

ठुमरी ।

आ जा सँवलिया गले लगा लूँ रस के भरे तेरे नैन रे ।

रेखता और लावनी प्रायः इसी भाषा में बनाई जाती हैं, यदि उस में अप्रचलित पारसी और अरबी के शब्द न आवैं, तो वह भी नागरी ही है ।

जिस की संख्या भी हमारी भाषा में अति अधिक है इसी से उन के उदाहरण नहीं दिये।

कवित्त जैसे—

यार को मिला दे या तो यार को दिखा दे।
कवि राम खत लिख दूँ तावे ज़िंदगी गुलामी का॥

इन सब के सुनने से यह नहीं बोध होता कि यह हमारी भाषा की कविता नहीं है, परन्तु आजकल की बनी नागरी कवितायें सुनने में बहुत ही विभिन्न और अजनबी सी जँचती हैं। आप कहैंगे कि नहीं जिन्हें तुम लिख गये हो, उसमें वृजभाषा की छाया खाती और कहीं कहीं उर्दू या संस्कृत की भी झलक आती है। यद्यपि ऐसा तो नहीं है, तौभी आप उसे निकाल सकते हैं।

अस्तु, खरी बोली की कविता वा गद्य का उत्तम उदाहरण लोग रानी केतकी की कहानी में देख सकते हैं। छंदों से उसके हमें अवश्य ही कुछ सम्बन्ध न रखना चाहिये। पर भाषा तो उस की अति रम्य है। जैसे,—

रानी को बहुत सी बेकली थी। कब सूझती कुछ भली बुरी थी॥
चुपके चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी।
कहती थी कभी अरी मदनबान। है आठ पहर मुझे वही ध्यान॥
यहाँ प्यास किसे भला किसे भूख। देखूंहूँ वही हरे हरे रूख॥

लोकभाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा थी। दूसरा समय वह था जब इस के जाननेवाले केवल कहीं कहीं कुछ बचे थे और प्राकृत राष्ट्रभाषा और राजभाषा थी। फिर जो समय ने पलटा खाया तो प्राकृत बिगड़कर अनेक अपभ्रंशों में विलीन हो गई और संस्कृत पुनरपि विस्तृत हो सारे देश में प्रधान साहित्यभाषा और धर्म की भाषा बन गई और बौद्ध धर्म के साथ ही मानो प्राकृत का नाम भी भारत से जाता रहा। दूसरा समय व्रजभाषा का आया कि जिसे पिछले दिनों की एक प्रकार संस्कृत के नीचे की उपराष्ट्र भाषा कह सकते हैं। क्योंकि संस्कृत और प्राकृत के पीछे यहाँ क्या धार्मिक ग्रन्थ, और क्या साहित्य के अन्य अंगों की भी यही प्रधान भाषा थी। भारत के प्रायः सबी प्रान्तों में इस का कुछ न कुछ प्रचार अद्यावधि वर्त्तमान है, विशेषतः मध्यदेश में तो मानों इसका आज भी राज है। और जीवित भाषा रूप से यह एक बड़े भाग में व्यवहृत हो रही है। यदि संस्कृत प्राचीन साहित्य सिन्धु है, तो यह भी सिन्धु नद है। यदि उस का सम्बन्ध हम से अटल है, तो इस का भी अनिवार्य्य है। यदि उसमें हमारे प्रातः स्मरणीय पूर्वज असंख्य अमूल्य रत्न भर गये हैं, तो इस में भी बहुमूल्य छोड़ गये हैं। उसका अवहेलन करते जो आज हमारे अनेक भाई दिखलाई दे रहे हैं। वे बहुत ही बेतरह बहक रहे हैं। इस का निरादर कर वे पीछे पछतायेंगे और उसी चने को खायेंगे। दूसरे सूर, तुलसी, बिहारी और देव को वे कहाँ पायेंगे कि जिन्हें ब्रह्मा ने अनूठे बनाये थे। अवश्य हमारी साम्प्रतिक नागरी भाषा वृद्ध्युन्मुख है। वह और अंशों में चाहे कितनी ही उन्नति क्यों न कर ले, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि वह अब ऐसे महाकवि न पायेगी' वरञ्च इन्हीं के अभिमान पर सदा सतरायेगी और इन्हीं के भोले भावों से मुस्कुरायेगी। वैसी माधुरी इस में कदापि आनेवाली नहीं, कि जिसे उन्होंने जन्म भर खूने-जिगर पी पी कर जमा की है। यह भाषा उन के समय ही की है, उन्होंने भी इस की चाश्नी ली, पर चीख चीख कर छोड़ दिया। मुसलमान सुकवियों ने भी जो आरम्भ ही से इस भाषा के सँवारने और सुधारने में लगे रहे, भाषा की कविता के योग्य उसे न समझा। उनकी कविता शक्ति भी हमारे देशी सुकवियों से न्यून न थी, पर जब उन्होंने भी भाषा के लिखने को लेखनी उठाई, तो उसी प्राचीन शैली का अनुसरण किया।

जैसे कि सब से प्राचीन प्रसिद्ध मुसलमान कवि खुसरू की यह पारसी और भाषा की मिलावट की मशहूर ग़ज़ल—

ज़ेहाले मिस्कीं मकुन तगाफुल, दुराय नैना बनाय बतियाँ।
किताबे हिज्राँ नदारम ऐ जां, न लेहु काहे लगाय छतियाँ।
शवाने हिजराँ दराज़ चूँ जुलफो रोजे वसलत चु उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतिया।

आज भी लखनऊ वाले जिन्हें अपनी ज़बांदानी का अभिमान है ठुमरियों की भाषा में उसी की पैरवी करते हैं। निदान उससे सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना इतनी बड़ी भारी भूल है कि जिसका ठिकाना नहीं।

अस्तु, हम अपनी भाषा के पद्य के चार वा पाँच प्रकार के भेदों को उनके उदाहरण के सहित दिखला चुके। गद्य के भी प्रधान दो भेद हैं। एक जो प्रायः पारसी अक्षरों में अधिकांश अरबी, पारसी, शब्दों की मिलावट से लिखी जाती और जिसे उर्दू कहते हैं। दूसरी जो देवाक्षर में अधिकांश स्वदेशी शब्दों ही के मेल से लिखी जाती जिसे हिन्दी वा नागरी कहते हैं।

पारसी अक्षरों में लिखी जानेवाली हिन्दी अथवा उर्दू के भी दो भेद हैं। अर्थात् एक पुरानी भाषा, जिसमें कुछ देशी शब्द भी आते और जो कुछ कुछ ब्रजभाषा की भी छाया रखती, जो देहली की रेख़ता वा उर्दू कहलाती है। दूसरी लखनव्वी उर्दू, जिसे फारसी की बच्ची कहना चाहिये और क्रिया आदि को छोड़, जिसका शेष सब फ़ारसी ही का रूप रहता है। हम दोनों स्थानों के कवियों की कविताओं के कुछ कुछ नमूने देते हैं। जैसे देहली का पुराना कवि सौदा—

ज़ंजीर जुनू कड़ी न पड़ियो। दीवाने का पाँव दरमियाँ है।
कितना शिगुफ़्तारू है कि मानिन्दे आरमी।
छाती के जिसके सामने खुल जाते हैं केवाड़॥
उठ जाने में है रोज मज़ा यार से लड़कर।
मिलते हैं तो फिर छाती को छाती से रगड़ कर॥
कहता था यह सौदा वह न चाहेगा कहाँ तक॥
जा बैठूँगा दरवाजे पै अब उसके मैं गड़ कर।

अथवा ज़फर—

मेरे दिल में था कि कहूँगा मैं, यह जो दिल पै रंजो मलाल है।
वह जब आ गया मेरे सामने, न तो रंज था न मलाल था॥

नज़ीर-आगरे वाला—

जो और को फल देवेगा वह भी सदा फल पावेगा।
गेहूँ से गेहूँ, जौ से जौ, चाँवल से चाँवल पावेगा॥
जो आज देवेगा यहां, वैसाही वह फल पावेगा।
कल देवेगा, कल पावेगा, कल पावेगा, कल पावेगा॥
कलजुग नहीं करजुग है यह, वाँ दिन को दे और रात ले।
क्या खूब सौदा नक़द है, इस हाथ दे उस हाथ ले॥

अथवा—हर इक मकाँ में जला फिर दिया दिवाली का।
हर इक तरफ़ को उँजाला हुआ दिवाली का॥

लखनऊ का प्रसिद्ध कवि आतिश—

नसीमे नौ बहारी की तरह आये हो गुलशन में
तमाशाए गुलो सर्वो सनोवर देखते जाओ॥

दहन पर हैं उनके गुमाँ कैसे कैसे। कलाम आते हैं दर्मियाँ कैसे कैसे

नासिख़—

काविशे ग़म दूर हो मेरे दिले वीराँ से क्या
ख़ार आते हैं कहीं सहरा का दमाँ छोड़ कर।
लगा दे शोलए आरिज़ से गर वह आग गुलशन में
कबाबी सीख समझे बुलबुलें शाखे नशेमन को।
वह अकसीर आतिशे ग़म है कि अपनी आहि सोजा ने
तलाई एक दम में कर दिया जंजीर आहन को॥
आवाज़ है मानिन्दे मज़ामीर गले में।
तहरीर है गोया तेरी तक़रीर गले में॥

पं० दयाशङ्कर नसीम—

हर शाख में है शिगूफ़ा कारी। समरा है कलम का हमदे बारी॥
नसीम इस चमन में गुलेतर की सूरत। फटे कपड़े रखते हैं पर्दा तुमारा॥

मीर हसन की कविता अवश्य ही सरल और सरस है, जैसे,—

मुसाफ़िर से भी कोई करता है प्रीत।
मसल है कि जोगी हुए किसके मीत॥
बरस पंदरह या कि सोलह का सिन।
मुरादों की रातें जवानी के दिन॥

कहां यह जवानी कहां फिर य सिन।
मसल है कि है चांदनी चार दिन॥
हिन्दी जिसे उर्दू और नागरी दोनों कह सकते हैं—
झुके आप से उस से झुक जाइये।
रुके आप से उस से रुक जाइये॥

नागरी के प्रथम गद्य लेखक लल्लूजीलाल हैं, क्योंकि उनसे पहले के किसी लेखक का नाम नहीं सुना जाता। अवश्य ही लोग आगे भी गद्य लिखते ही रहे होंगे, परन्तु छापाखानों के अभाव से सामान्य गद्य ग्रन्थ कैसे प्रचार में आते। तब क्यों कोई प्रेमसागर सा बड़ा ग्रंथ हाथों से लिखता और उस का इतना प्रचार होता। जो हो, उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के आदि में प्रेमसागर बनाया, जिसकी रचना की प्रशंसा करनी ही होगी, क्योंकि वह केवल प्रायः कान से सुनी बोली के लिखनेवाले थे। उन्होंने विदेशी शब्दों से अपनी भाषा को बहुत बचाया। मानो यही हमारी भाषा का अंतिम संस्कार है कि जो उर्दू से उसे भिन्न रूप देता है। तौभी यह मानना पड़ेगा कि उन की भाषा एक रीति से बालभाषा है, इसी कारण वह निरी सीधी सादी और खुर्खुरी है, जिसे टकसाली भाषा नहीं कह सकते। इसी भाँति उनके पीछे के पादरी लोगों वा अन्यों की भाषायें भी उसी कोटि की हैं। अतएव उसके दूसरे सुलेखक राजा शिवप्रसाद जी ही को उस का परमाचार्य अथवा आदि सुलेखक वा ग्रंथकार कहना चाहिये। क्योंकि जैसी अनोखी और पुष्ट भाषा उन्होंने लिखी, आज तक फिर कोई न लिख पाया। जिस काट छाँट का कैंडा वह बना गये, वह उन की बहुत बड़ी योग्यता का साक्षी है। ठेठ हिन्दी शब्दों की सजावट, सुगम संस्कृत और पारसी आदि शब्दों की मिलावट से जैसी सुथरी, सुन्दर और चुस्त इबारत की धारा प्रवाह उनकी लिखावट में आई, फिर किसी की लेखनी से न निकल सकी।

क्या नागरी अर्थात् अधिकांश विदेशी शब्दों से शून्य और क्या सामान्य बोल चाल की सरल भाषा तथा नीम उर्दू उन की सबी शैलियाँ समान रीति से सुहावनी और मन-लुभावनी होती थीं। जिसका प्रमाण उन की पुस्तकें हैं। विशेष कर भूगोल हस्तामलक अथवा गुटका और इतिहास तिमिरनाशक विशेषतः तीसरा भाग।

एक दिन मैं अपने अभिन्न हृदय माननीय मित्र भारतेन्दु से संयोगात् कह उठा कि मैंने सब की लिखी हिन्दी पढ़ी, परंतु जो स्वाद मुझे राजा साहिब की

लिखावट में मिलता है, दूसरों की में नहीं। वह मुसकुरा कर बोले, कि "क्या कहें वैसी लच्छेदार इबारत कोई लिखी नहीं सकता, पसंद कैसे आवै। सचमुच उन के कलम में जादू का असर है।" अवश्य ही वह सरल उर्दू शब्दों के मेल को बुरा नहीं समझते थे और अप्रचलित संस्कृत शब्दों के भरने के विरोधी थे। वह केवल ठेठ बोलचाल की हिन्दी के पक्षपाती थे। एक दिन भारतेन्दु के साथ मैं उन के घर पर गया और बातों के साथ हिंदी की लिखावट की बात चली, तो कहा कि "आप क्या पाणिनि का ज़माना लाना चाहते हैं?" इबारत वही अच्छी कही जायगी कि जो आम फ़हम और खास पसंद हो। बाबू साहब ने कहा कि "हुज़ूर! क्या किया जाय अरबी फ़ारसी के अलफ़ाज़ के मेल से तो उर्दू हिंदी में कुछ भेद ही नहीं रह जाता।" कहा कि "भेद तो दरअस्ल हई नहीं है, लोग दोनों तरफ़ से खींचतान करके भेद बढ़ा रहे हैं।" पिछले दिनों राजा साहेब अपनी भाषा में उर्दूपन अधिक ला चले थे जिस के कारण शायद उनके अफसर डाइरेक्टर शिक्षा विभाग हुए हों, अथवा सर्कारी कचहरियों में उर्दू के स्थान पर हिंदी के प्रचार के अर्थ बहुत उद्योग कर के भी हताश हो कदाचित् उन्होंने यह सिद्धांत कर लिया था कि अब हिन्दी हीं को उर्दू बना चलो क्योंकि राजभाषा से प्रजा को परिचित करना अति ही आवश्यक है। जो हो, उन्होंने पाठ्य पुस्तकों में अपनी भाषा की शैली बदल दी। तृतीय भाग इतिहास तिमिरनाशक के अंत की भाषा खरी, वरञ्च उच्च कोटि की उर्दू कही जा सकती है, जिसे कम लियाक़त के मुदर्रिस तो प्रायः समझ भी नहीं सकते, पढ़ाते क्या? वैसे ही उन्होंने अपनी भाषा के लिये एक व्याकरण भी बनाया जिसमें फ़ारसी और अरबी के नियम और गर्दन लिखकर अवश्य ही हमारी भाषा में एक अच्छी वस्तु छोड़ गये पर वह उस काम के लिये उपयुक्त नहीं, जिस के लिये उनका श्रम था। यह तो अनहोनी बात थी कि दूसरे वर्णों द्वारा दूसरी दूसरी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो सके; कवि वचन सुधा में बहुत दिनों तक उस की समालोचना हुई थी। फ़ज़ीहत राय के नाम से बाबू हरिश्चन्द्र लिखते थे। उस लेख माला का एक शीर्षक ही था कि—भला यह व्याकरण पढ़ावैगा कौन? हमारी गवर्नमेंट यही चाहती है कि एक भाषा दो भिन्न अक्षरों में लिखी जाय, परंतु यह कब सम्भव है। जब तक वह अपनी इस भूल को न सुधारेगी प्रजा की दशा न सुधरेगी और न हमारी भाषा का उद्धार होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र आरम्भ में उन्हीं के अनुकरणकर्ता हुए। वे राजा

साहिब को अपना गुरू मानते थे कुछ दिनों दोनों की भाषायें एक सी थीं, परंतु पीछे दोनों की शैलियां भिन्न भिन्न हो गईं। वे विदेशी शब्दों पर झुके और ये देशी शब्दों पर। वे कदाचित् गवर्नमेण्ट की इच्छा से लाचार थे क्योंकि तब से आज तक पाठ्य पुस्तकों की भाषा उर्दू मिली ही देखी गई। बहुतेरों ने इधर नई नई पुस्तकें लिखीं, परंतु भाषा उनकी निरी उर्दू ही है। योंहीं लेख भी सर्वथा सूखे और निर्जीव से जिन में राजा साहेब की उर्दू मिली भाषा की शतांश रोचकता और पुष्टता भी नहीं। कुछ लोग इसी भ्रम में पड़कर अपनी भाषा में उर्दूपन ला चले। कदाचित् उन्होंने समझा कि पारसी अरबी शब्द भर देने ही से इबारत दिलचस्प हो जायगी परन्तु सिर्फ़ इसी बात से उस में बात की मिठास कब आ सकती थी।

अस्तु, राजा साहेब केवल पाठ्य पुस्तकों ही को लिख गये और केवल अच्छा गद्य ही लिख सकते थे परन्तु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य का कोई भाग ही अछूता न छोड़ा और सब में अपनी समान योग्यता दिखलाकर सबी रुचि के लोगों के मन में स्थान किया। उन्होंने स्वयम् ही लिखा परंतु औरों से भी लिखवाया और लोगों में लिखने पढ़ने की रुचि फैलाई। स्वयम् लिखने में इतने अभ्यस्त थे कि यदि यह कहैं कि यावज्जीवन उनकी लेखनी चलती ही रही तौभी अयुक्त नहीं। वास्तव में वह सदैव लिखने ही पढ़ने में व्यस्त रहते थे, और विचित्रता तो यह कि सैकड़ों मनुष्यों में बैठे भाँति भाँति की गप्पाष्टक होतीं, तौभी उनकी लेखनी चली ही जाती थी। इसी से वे इतनी थोड़ी अवस्था में इतने ग्रन्थ लिख सके। चार सामयिक पत्रों का सम्पादन भी करते थे। अर्थात् कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन वा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, बालाबोधनी, जो बरस ही छ महीने चली और भगवद भक्ति तोषि (यह दोई चार संख्या छप सकी) सब से प्रधान 'कवि वचन सुधा'। थी जो प्रथम मासिक फिर साप्ताहिक हुई और जो उन के ख्याति की प्रधान सामग्री थी। उस से आगे नागरी में दो एक पत्र और छपते थे परंतु वह गिनती के योग्य नहीं। प्रथम पत्र यही कहा जा सकता है। पहिले जिस में केवल कवित्तों का संग्रह, फिर काव्य के सब प्रकार के ग्रन्थ, फिर समाचार आदि छपने लगे। उस समय जितने अच्छे लेखक थे सबी उस में लिखते थे, जिन में से कई पीछे से पत्र सम्पादक हो गये और अपने नये पत्र निकाल चले।

बाबू हरिश्चन्द्र न केवल गद्य ही अनेक प्रकार की लिख सकते थे किन्तु कविता भी सबी चाल की करते थे। उनके पिता उनसे भी अच्छे कवि थे किंतु केवल पुरानी चाल की वृजभाषा ही के। उनके रचित ४० ग्रंथ हैं जिन में उन की प्रौढ़ कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है, यथा—

तोयजबरन दोय लोयन लसै ललाम जोय जोय होय रही रतिमति हारी सी।
समर समर जीति लेवे को अमरमति नाजुक कमर असि असि बसुधारी सी।
गिरधरदास मह मह महकति देह लहकति कांति बिजु पाति उँजियारी सी।
सारी जर तारी भारी भूखन सँवारी नारी कीरति कुमारी प्यारी दीपति दिवारी सी।

बाबू हरिश्चन्द्र सबी कुछ लिख सकते थे। परंतु समाचार पत्र सम्पादक वैसा कोई फिर आज तक न हो सका। हँसी दिल्लगी के मज़मून तो वह ऐसा लिखते कि कैसा कुछ। उन्होंने हमारी भाषा में सामयिक लेख और कविता की चाल चलाई, स्वदेशानुराग उत्पन्न किया और जातीयता का बीजारोपण किया। इस अंश में वह अनूठे हुए।

राजा साहिब यदि कंसर्वेटिव थे तो बाबू साहिब लिबरल। वे सदैव राजा के पक्षपाती थे तो ये प्रजा के, वे यदि अपनी उन्नति को प्रधान समझते तो ये देश और जाति की उन्नति को। इसी से उनसे इनसे क्रमशः वैमनस्य भी बढ़ा। उन्होंने इन की वृद्धि में बड़ी हानि की। और उन्होंने उन्हें देश की आंखों से गिरा दिया। अन्त तक इन दोनों का बैर बढ़ता ही गया और मेल न हुआ।

जो हो ये दोनों काशीवासी गुरू और चेले हमारे सम्मान के भाजन हैं क्योंकि हमारी वर्तमान भाषा के यही दो प्रधान संस्कारक वा परिपोषक हैं। इस देशरूपी खेत में जो हमारी भाषा का बीज छिप रहा था उसे लल्लूलाल रूपी वर्षा ऋतु ने अङ्कुरित किया तो शिवप्रसाद शारद ने उसे बेल बूटे का आकार दिया और हरिश्चन्द्र बसन्त ने फूल फल दिखलाये। अथवा यों कहें कि यदि लल्लू लाल उसके जन्मदाता तो राजा साहिब उसके पालनकर्ता हैं क्योंकि उन्हों ही ने इस भाषा को ऐसा रूप दिया कि जिस से वह उर्दू से टक्कर लेने में समर्थ हुई, जिसे पढ़कर लोग लेख का आनन्द पाने लगे और यह समझ सके कि उर्दू को छोड़ हिन्दी में भी लेख लालित्य दिखलाई जा सकती है बाबू साहिब मानो उसके शिक्षक थे कि जो उसके अनेक गुण लोगों को दिखला सके, अथवा राजा साहिब की जगाई भूख को यह भांति भाँति के सामग्री देकर तृप्ति दे सके।

परन्तु खेद कि आज हम लोग जो अपनी भाषा का रूप देखते हैं वह इन दोनों की लिखावट से भिन्न है। शैलियाँ दोनों की आज भी प्रचलित हैं। लेखकों की संख्या भी अधिक है। ग्रन्थ भी बहुत प्रकाशित होते तौभी लोग यही कहते कि हमारी भाषा में अच्छे ग्रन्थ नहीं हैं, अच्छे लेखक नहीं हैं। क्या यह वास्तव में सच है और यदि सच है तो इसका कारण क्या है ? हम यह कहेंगे कि हमारी भाषा की ऐसी दशा हो गई है कि जब तक कोई संस्कृत, व्रजभाषा, उर्दू, फ़ारसी और अब अँगरेज़ी भी न जाने वह अच्छा लेखक नहीं हो सकता क्योंकि जब तक संस्कृत और वृजभाषा न जानेगा सुन्दर शब्दों को न पावेगा और न प्राचीन संगठित शैली से अभिज्ञ होगा एवम् प्रमाण और उदाहरणों के लाने से भी वञ्चित रहैगा। उर्दू के बिना मुहाविरे ठीक न होंगे और भाषा भी प्रायः अशुद्ध होगी; क्योंकि आज कल की हमारी भाषा में बहुतेरे शब्द अरबी फ़ारसी के बिना आये भी न रहैंगे और उनका अशुद्ध प्रयोग जानकारों को असह्य होंगे। अँगरेज़ी अब सब से अधिक आवश्यक हो गई है जिसके बिना वर्तमान समय में कुछ कार्य्य ही नहीं चल सकता। इसी से उन लोगों के पीछे के जो लेखक हुए उनमें जो जितनी ही अधिक भाषाओं के ज्ञाता थे वैसी अच्छी भाषा लिख सके।

काशी हमारा सदा का विद्यापीठ है। वहाँ से यदि संस्कृत की धारा बहती थी तो उस की बची हमारी भाषा की भी स्रोती का वहाँ से निकलना परम स्वाभाविक है। भारतेन्दु के अस्त होने पर जो नागरी प्रचारिणी सभा खुली, मानों वह आज भी उनकी प्रतिनिधि बनी बहुत कुछ उनके किये की लाज रख रही है। उसने कई काम ऐसे किये कि जो हमारी भाषा के हितैषियों के धैर्य्य हेतु हैं। विशेषतः पृथ्वीराज रासो को प्रकाशित करना, हिन्दी कोश का निर्माण और प्राचीन भाषा ग्रन्थों की खोज और उन में कुछ का उद्धार करना। सम्मेलन स्थापन का सुयश भी उसी को मिला और यह भी उसके बड़े कामों में है। आज यह जिस का ईश्वर की कृपा से तृतीय अधिवेशन है, मानो काशी क्षेत्र से जो हमारी भाषा का नया अङ्कुर उगा था वह क्रमशः इतना बड़ा वृक्ष हो गया कि जिस की छाया आज भारत के सीमाओं तक पहुँची है। एक दिन वह था कि जब उस का एक एक हितैषी राजा शिवप्रसाद सितारा हिंद के किसी अङ्गरेज़ी कवि के कथनानुसार—

जुग जुगात छोटे से तारे, अचरज मोहि अहै तू क्या रे।
धरनी सों अति ऊपर ऐसे, चमकत नभ मैं हीरक जैसे ॥

काशी आकाश से कुछ प्रकाश फैला चल था कि साथ ही उसके उसका अनुयायी भारतेन्दु उगा और अपनी द्वितीया की सूक्ष्म कला की मन्द ज्योत्सना उद्योग के संग साहित्य सुधा सिञ्चन में प्रवृत्त हुआ और हमारी नवीन भाषा का कोलाहल हो चला, जिसका उद्योग पूर्ण सफलता को प्राप्त हो आज मानो द्वादसी के मयङ्क मरीचिमाला से भारत को उँजाला कर रहा है।

महाशयो! क्या राजा शिवप्रसाद का इतिहास तिमिरनाशक नाम आज चरितार्थ नहीं हो रहा है? क्या यह हिन्दी इतिहास का उजला पृष्ठ नहीं है? तब जहाँ दो चार भी हितैषी वा सेवक इसके न थे आज सहस्रों की संख्या आपके सन्मुख उपस्थित है, तौभी क्यों कुछ लोग कहते कि हिन्दी की वास्तविक उन्नति नहीं हो रही है? क्या यह सच है? यदि सच है, हम पूछेंगे कि क्या उसके देश भारत ही की हीनावस्था नहीं है? क्या आर्य्य राजराजेश्वरों के समय का सा सुख स्वास्थ्य समृद्धि और स्वच्छन्दता आज इसे प्राप्त है? आप कहियेगा कि नहीं। फिर भी क्या पिछले दिनों से आज इस की किसी अंश में कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है? आप अवश्य ही कहेंगे कि हाँ होई रही है। उसी प्रकार हमारी भाषा की अनेक अंशों में अवश्य ही उन्नति हो रही है। ईश्वर की कृपा से जब इसकी पूर्ण उन्नति हो जायगी तो निश्चय रखिये कि भारत की भी पूर्ण उन्नति दिखलाई पड़ने लगेगी।

आप आज भारत को अपूर्ण और अमेरिका के नये देश और उनकी गति विद्या और सभ्यता की चमक दमक देख भारत की हीनावस्था पर उदास हैं किन्तु यह नहीं सोचते कि कल के लहलहाते पौधे हैं, जब से ये उगे हैं भारत तब से बिगड़ता बिगड़ाता भी अभी इस दशा पर स्थिर है। यही दशा उसके और उस के उक्त अंगों की भी जानिये। आप उसी प्रकार भारत की कुछ नई भाषाओं के मिलान से अपनी भाषा के हीनावस्था पर विषाद प्रकट करते हैं किन्तु यह नहीं विचार करते कि जितना उनका आज साहित्य है, आप की भाषा उतना कीड़े मकोड़े और दीमकों को अर्पण कर चुकी है, योंही वे भी उन्हीं नये देशों के समान कल के पौधे हैं, कि जो हमारी पुरानी भाषा के आगे अपने रंग रूप पर अभिमान कर रहे हैं। जितनी विपत्ति भारत पर पड़ी उस के एक अंश के पड़ने पर भी वे नये देश ऊजड़ गाम हो गये होते। परंतु यह सौ सौ सांसतों को सहकर भी सांस लेइ रहा है। संसार के अनेक प्राचीन देश और जाति जो इससे जेठी भी न थीं, आज कबी काल के गाल में विलीन हो गईं, परन्तु यह जीता जागता ही है, वैसे ही आज की नवीन प्रान्तिक

भाषाओं की लहलहाती शोभा से हमारी इस मूल भाषा से क्या तुलना है ? वृक्ष के मुख्य स्तम्भ से पत्रावलियों की शोभा और संख्या अधिक होती ही है। यह जब से जनमी, सुख से पलती और उभरती चली आई, इधर इसके विधवा के अनुचित गर्भ के समान प्रसव न होने देने ही की युक्ति की जाने लगी।

आप बँगला, मराठी और गुजराती की उन्नति देखकर इसकी हीनावस्था पर क्या खेद करते ऐसा कहते हैं ? परन्तु क्या उस देशवालों के से अधिकार आप भी रखते हैं ? क्या उन्हीं लोगों के समान हमें अपनी भाषा की शिक्षा मिलती है ? क्या उनके समान हमारी भाषा भी अपने देश के राज कार्य्यालयों में प्रतिष्ठित है ? नहीं यह तो विचारी "बहु दिवसन तैं राज सभा सों रही निकारी"।

फिर भला औरों से इसकी क्या तुलना की जा सकती है ? जिस देश की वह भाषा है, हमारी सरकार से वहाँ की एक दूसरी ही भाषा और वर्णावली स्वीकार की जाती है। एक मियान में दो तलवारें घुसेड़ दी गई है मानो पारसी अक्षरों में उर्दू भाषा मुसलमानी बादशाहत की यादगार बरकरार रक्खी गई है। अब ऐसी दशा पर महाशयों ! आप विचार करें कि बिना किसी सहारे के जो आप की भाषा उन्नत हो रही है, यही आश्चर्य्य है। क्योंकि शिक्षा में भी इसकी जड़ काटी गई है। कहा जाता है कि पाठ्य पुस्तकों की भाषा ऐसी रक्खी जाय कि जो दो भिन्न भिन्न वर्णावली में लिखी जा सके, अर्थात् नागराक्षर और पारसी लिपि में भी। इसीलिये उर्दू और हिन्दी दोनों का नाम छोड़कर साहिब लोगों ने इस देश की भाषा का एक नया नाम हिन्दुस्तानी रक्खा ; न एतबार हो तो इन्साइक्लोपीडिया बृटानिया खोलकर देख लीजिये। इसका फल यह होता है कि हिन्दी पुस्तकों की भाषा उर्दू हो गई क्योंकि पारसी लिपि में तो दूसरी भाषा के अक्षर लिखे ही नहीं जा सकते। यदि कोई लिखे भी तो उसका पढ़ना नितान्त असम्भव है— जो आजकल हमारे देश युक्तप्रान्त और पंजाब के राज कार्य्यालयों में हमारी देश भाषा के नाम से पारसी अक्षरों के सहित प्रचलित है और जिसके कारण नित्य प्रति हमारी जो हानि होती है, उसका ठिकाना नहीं है। जैसा कि मैंने "आनन्द बधाई" नामक कविता में कहा है ;—

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आये।
अँगरेज़ी अधिकार अमित अन्याय नसाये ॥

लह्यो न्याय सबही छीने निज स्वत्वहिं पाई ।
दुरभागनि बचि रही यही अन्याय सताई ॥
लह्यो देस भाषा अधिकार सबै निज देसन ।
राज काज आलय विद्यालय बीच ततच्छन ॥
पै इत बिरचि नाम उर्दू को "हिन्दुस्तानी ।"
अरबी बरनहुं लिखित सके नहिं बुध पहिचानी ॥
"हिन्दुस्तानी" भाषा कौन ? कहाँ तैं आई ।
को भाषत, किहि ठौर कोऊ किन देहु बताई ॥
कोउ साहिब खपुष्प सम नाम धरयो मनमानो ।
होत बड़न सों भूलहु बड़ी सहज यह जानो ॥
हरि हिन्दी की बोली अरु अच्छर अधिकारहिं ।
लै पैठारे बीच कचहरी बिना बिचारहिं ॥
जाको फल अतिसय अनिष्ट लखि सब अकुलाने ।
राज कर्म्मचारी अरु प्रजा बृन्द बिलखाने ॥
संसोधन हित बारहिं बार कियो बहु उद्यम ।
होय असम्भव किमि सम्भव, कैसे खल उत्तम ॥
हिन्दी भाषा सरल चह्यो लिखि अरबी बरनन ।
सो कैसे ह्वै सकै बिचारहु नेक, बिचच्छन !
मुग़लानी, ईरानी, अरबी, इङ्गलिस्तानी ।
तिय नहिं हिन्दुस्तानी बानी सकत बखानी ॥
ज्यों लोहार गढ़ि सकत न सोने के आभूषन ।
अरु कुम्हार नहिं बनै सकत चांदी के बरतन ॥
कलम कुल्हाड़ी सों न बनाय सकत कोउ जैसे ।
सूजा सों मलमल पर बखिया होत न तैसे ॥
कैसे हिन्दी के कोऊ सुद्ध शब्द लिखि लैहै ।
अरबी अच्छर बीच, लिखेहुँ पुनि किमि पढ़ि पैहै ।
निज भाषा को सबद लिखो पढ़ि जात न जामैं ।
पर भाषा को कहौ पढ़ै कैसे कोउ तामैं ॥
लिख्यो हकीम औषधी मैं 'आलू बोखारा ।'
उल्लू बनो मोलवी पढ़ि 'उल्लू बेचारा ॥'
साहिब 'किस्ती' चही, पठाई मुनसी 'कसबी ।'

'नमक' पठायो भई तमस्सुक की जब तलबी ॥
पढ़त 'सुनार' 'सितार' 'किताब' 'कबाब' बनावत।
"दुआ" देत हू 'दगा' देन को दोष लगावत ॥
मेम साहिबा 'बड़े २ मोती' चाह्यो जब।
बड़ी २ मूली पठवायो तसिल्दार तब ॥
उदाहरन कोउ कहँ लगि याके सकै गनाई।
एकहु सबद न एक भांति जब जात पढ़ाई ॥
दस औ बीस भांति सो तौ पढ़ि जात घनेरे।
पढ़े* हजार प्रकारहु सों जाते बहुतेरे ॥
ज़ेर ज़बर अरु पेस स्वरन को काम चलावत।
बिन्दी की भूलनि सौ सौ बिधि भेद बनावत ॥
चारि प्रकार जकार, सकार, अकार तीन बिधि।
होत हकार, तकार, यकार, उभय बिधि छल निधि ॥
कौन सबद केहि बरन लिखे सों सुद्ध कहावत।
याको नियम न कोऊ लिखित लेख लखि आवत ॥
यह विचित्रताई जग और ठौर कहुं नाहीं।
पँचमेली भाषा लिखि जात बरन उन माहीं ॥
जिन से अधम बरन को अनुमानहुँ अति दुस्तर।
अवसि जालियन सुखद एक उर्दू को दफ़तर ॥
जिहि तें सौ सौ सांसति सहत सदा बिलखानी।
भोली भाली प्रजा इहां की अतिहि अयानी ॥
भारत सिंहासन स्वामिनि जो रही सदा की।
जग में अब लौं लहि न सक्यो कोऊ छबि जाकी ॥
जासु बरनमाला गुन खानि सकल जग जानत।
बिन गुन गाहक सुलभ निरादर मन अनुमानत ॥
राज सभा सों अलग कई सौ बरस बितावत।
दीन प्रवीन कुटीन बीच सोभा सरसावत ॥
बरसावत रस रही ज्ञान, हरि भक्ति, धरम नित।
सिच्छा अरु साहित्य सुधा सम्बाद आदि इत ॥

---

*भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक शब्द को १००० प्रकार से पढ़ा जाना सिद्ध किया है।

क्यो न बदन मलीन पीन बरु होत निरन्तर।
रही धीरता धारि ईस इच्छा पर निरभर॥

प्रथम तो कचहरियों में उर्दू के जारी रहने से सामान्य नौकरी पेशा वाले लोग हिन्दी पढ़ते ही नहीं और जो पढ़ते भी हैं तो उन्हें उसकी कुछ भी योग्यता नहीं होती, उन्हें हमारी भाषा की कोई अच्छी पुस्तक वा समाचारपत्र दे दीजिये उसे वे पढ़ भी नहीं सकते समझना तो दूर रहा। क्योंकि आजकल की पाठ्य पुस्तकों के प्रणेता छुट्ट उर्दू ही में उसे लिखते, ऐसा न करने से पुस्तकें सरकार से स्वीकृत भी न हों। प्रणेता भी प्रायः नवशिक्षित ही होते कि जिन्होंने इसी क्रम से हमारी भाषा पढ़ी है। साहिब लोगों की पुस्तकों के अनुवाद कभी इसी साँचे के ढले होते। बहुतेरे यन्त्रालयों से प्रकाशित ग्रंथ भी प्रचलित हैं कि जिनके प्रणेता थोड़ी योग्यता और थोड़े वेतन पर रख लिए जाते और जोड़ तोड़ लगाकर बेगार टालने के लिए वही पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों में रक्खी जातीं। पुस्तक प्रणेताओं की योग्यता की परख इसी से हो जाती कि वे अपने ग्रन्थ का एक नाम भी अपनी भाषा में नहीं रख सकते। ग्रन्थ उर्दू वा हिन्दी का और नाम अँगरेज़ी प्राइमर और रीडर जहाँ राजा शिवप्रसाद सदृश विलक्षण विद्वान के बनाये भूगोल हस्तामलक, इतिहास तिमिरनाशक, गुटका और विद्याङ्कुर से पढ़ाये जाते थे, तहाँ अब ऐसे कि जिन्हें देखकर हिन्दी के नाम रोना आता है। निदान ऐसी ही ऐसी पुस्तकों को पढ़ जो आज हमारे देश के नव-शिक्षित युवक निकलते हैं उन्हें प्रायः अपनी भाषा से नितान्त अनभिज्ञ ही समझना चाहिये। जब मूल शिक्षा ही की यह दशा है तो उसमें योग्य शिक्षित कैसे उत्पन्न होंगे और जब किसी भाषा के अच्छे शिक्षित न निकलेंगे तो उसकी उन्नति की आशा कैसे हो सकती है। शोक, कि थोड़े ही दिन के लिए सरकार ने बंग को दो भागों में विभक्त कर दिया। बंगाली प्रजा ने आकाश पाताल एक कर दिया। लार्ड मार्ले के निश्चित और अटल सिद्धान्त को दोई चार बरसों में अपने सच्चे घोर आन्दोलन से मिटा कर क्षणभङ्गुर बना दिया, उसमें उनकी क्या हानि थी? अवश्य ही सबसे बड़ी हानि उसमें भाषा और विद्या सम्बन्धी थी किन्तु शोक कि उसी हमारी भाषा पर आज पचासों वर्ष से भाँति भाँति के दुसह आघात हो रहे हैं किंतु हमारे देश के कानों पर अभी तक जूँ भी नहीं रेंगे! वह अपने देश में निज भाषा की शिक्षा के सम्बंध में कभी विचार भी नहीं किया जिस से उनका निरन्तर अध-पतन हो रहा है। हमारे देश के अभिमान के हेतु महामान्य श्रीमान गोपाल

कृष्ण गोखले ने जो अपना शिक्षा सम्बन्धी बिल इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में पेश किया था और उसके पक्ष में गत वर्ष जब इस सम्मेलन ने अपना मंतव्य स्थिर करना चाहा था तो कैसा उसका प्रतिवाद हुआ था, वहीं क्यों देश के अनेक प्रान्तों में उसका विरोध किया गया था ? फिर महाशयो ! क्या इसे भी आप अपनी भाषा की उन्नति ही मानेगें ? दूसरे प्रान्तों की भाषायें स्कूलों को छोड़ कालिजों की उच्चतर शिक्षा तक पहुँची हैं। क्या आप लोगों ने भी उसके अर्थ कुछ उद्योग किया है ? रुपयों पैसों को छोड़ अभी कल सरकारी नोटों पर से आप की भाषा निकाली गई है ? क्या आप को उसका कुछ दुःख हुआ ? हुआ तो क्या कुछ उद्योग हुआ ? क्या एक दिन एक मन्तव्य ? फिर क्या बस इतनाही पर्य्याप्त है ? सच तो यह है कि आप सन्तोषामृततृप्तों में सहनशीलता की लत लग गई है। आप में उपेक्षा की मात्रा बहुत बढ़ गई है जिस कारण आपकी जो कुछ हानि न हो थोड़ी है।

देश के सौभाग्य से उदार हृदय न्यायमूर्ति महामान्य सर एण्टनी मेकडोनल हमारे देश के प्रांतिक प्रभु होकर आये और हमारे मित्र माननीय मदन मोहन मालवीय ने, ईश्वर उन्हें चिरञ्जीव रक्खे, लोहों के चने चाभ कर किसी प्रकार अपनी मातृभाषा का राजकार्य्यालयों में प्रवेश का अधिकार भी कराया परन्तु क्या उसका कुछ भी फल हुआ ? क्या इस अलभ्य लाभ को पा करके भी आप लाभवान हुए ? जहाँ देखिये अभी उर्दू बीबी ही की तूती बोल रही है।

सारांश जब तक आप की भाषा की पूछ न होगी, उसका कोई ग्राहक न होगा क्यों कोई उसकी योग्यता बढ़ाने के अर्थ श्रम करेगा ? जब तक उसके सुयोग्य साहित्य सेवियों की संख्या न बढ़ेगी उसमें से अनोखे सुलेखक और ग्रन्थकार कैसे निकलेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारी भाषा में अच्छे ग्रन्थों का अभाव है। हम नहीं समझते कि उनका क्या अभिप्राय है ? क्या सचमुच हमारी भाषा में उसके परिज्ञान के अर्थ भी ग्रन्थों का अभाव है। क्या चन्द, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भिखारीदास, देव, प्रताप, सुखदेव, मतिराम भूषण, जायसी, रहीम, नरहरि, रघुनाथ आदि अनेक प्राचीन और बहुतेरे नवीन ग्रन्थकारों जैसे राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, बाबू हरिश्चन्द्र आदि के ग्रन्थ अपनी भाषा का परिज्ञान भी नहीं करा सकते ? अथवा इनके शिक्षा से कोई लाभ न हो।

कुछ लोग यह भी कहते कि पुराने ग्रन्थ केवल कविता सम्बन्धी हैं और उनमें प्रायः शृङ्गार रस ही भरा पूरा है। हम पूछते हैं कि क्या कविता कोई काम की वस्तु नहीं है? क्या कोई ऐसी भाषा संसार में है जिसे अपनी कविता पर अभिमान न हो? भाषा का मुख्य रूप तो कविता ही दिखलाती है। सत्कवियों ही के मुहाविरे ही तो साधु प्रयोगों के साक्षी होते। कोशों में प्रायः कविता ही के प्रमाण संग्रहीत होते। कविता साहित्य सदन की शोभा वरञ्च दीपक है। कविता ही भाषा के आकाश का सूर्य है। रहा यह कि शृङ्गार रस का इसमें आधिक्य है, परन्तु यही एक रस है जिसमें संचारी, विभाव, अनुभाव, सब भेदों सहित दर्शित होते हैं, अतएव रसराज कहाता है। इसका निरादर जगत् की किस भाषा में दिखलाई पड़ता है? अधिकांश इसी रस से तो संसार का साहित्य लबालब भरा हुआ है। आप कहेंगे कि हमें नायक नायिकाओं के भेद-विभेद और उनके प्रेम प्रसंग से घृणा है। यद्यपि यह दोष रस का नहीं है वरञ्च कवि का होता है, तो इसे जाने दीजिये और यद्यपि प्रेम-प्रसंग को आप बुरा नहीं प्रमाणित कर सकते तौभी आलम्बन विभाग को छोड़ उद्दीपन को तो आप भी सराहेंगे। यदि आपको प्राकृतिक सौन्दर्य से भी चिढ़ हो तो इसे भी छोड़िये और सब रसों की सामग्री प्राचीन कवियों ने एकत्रित कर रक्खी है आप इन्हीं से अपना मनोरञ्जन कीजिये। वीर, करुण, शांत आदि रस; भक्ति, धर्म्म, नीति, इतिहास, पुराण, आचार, मतमतांतर, कथा, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य, कोश, छन्द, अलङ्कार, योग, वेदान्त आदि वैज्ञानिक ग्रन्थ भी इनमें न्यून नहीं है और लभ्य भी होते हैं। किन्तु हाँ, यदि ऐसे ऐसे समालोचकों के ऐसे ही अलाप जारी रहे तो लोगों की उपेक्षा से वे कुछ दिनों में कर्पूर की भाँति उड़ जायँगे।

साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है। उस समय जब के बने वे ग्रंथ हैं इससे अधिक की लोगों को आवश्यकता न थी। रुचि भी ऐसी ही अधिकांश लोगों की हो रही थी, विशेषतः हमारे देश के राजा बाबू और अमीरों का शृङ्गार ही से काम था वही उनकी माता थी, उसी की अधिक संख्या कविता में पाई जाती है। आज समय दूसरा है, देश की दुर्दशा ने सब की मुटाई झाड़ दी है, अक्ल ठिकाने आ गई है, अब वे बातें नहीं जँचती; इसी से आज की आवश्यकता को आजकल के सुलेखकों और ग्रंथकारों को पूरी करनी चाहिये वेही इसके उत्तरदाता हैं, उन्हें अब अपने साहित्य के शून्य स्थान को भरना चाहिये और लोग इसके लिये सचेष्ट भी हो रहे हैं।

कितनों का कहना है कि हमारी भाषा में अब जो कुछ नये ग्रन्थ बने भी हैं उनमें प्रायः अनुवाद की संख्या अधिक है, किन्तु क्या अनुवाद कोई वस्तु नहीं और क्या इससे साहित्य को कुछ लाभ नहीं पहुँचता? ऐसी कौन सी उन्नत भाषा है कि जिसमें अंनुवाद की अधिकता नहीं है। जब तक दूसरी दूसरी भाषाओं के उत्तम और अनूठे ग्रन्थों का अनुवाद न हो किसी भाषा का स्थिर महत्व स्थापित ही नहीं हो सकता। अङ्गरेजी आदि विदेशी और बँगला आदि स्वदेशी भाषाओं के महत्व का अधिकांश आधार अनुवाद ही है। हाँ अनुवादक और उसका मूलग्रन्थ अच्छा होना अवश्य चाहिये। व्यर्थ ग्रन्थों का अनुवाद तो निन्दनीय हुई है। हमारी भाषा को विविध भाषाओं के सदग्रन्थों के अनुवाद की अभी बड़ी आवश्यकता है, संस्कृत और अङ्गरेजी के अतिरिक्त स्वदेशी भाषाओं में भी अनुवाद की उत्तमोत्तम सामग्री भरी पड़ी है जिसका संचय करना बहुत ही आवश्यक है।

अस्तु, महाशयो! आप लोगों में से जो अपनी भाषा के उद्धार के अर्थ उद्योग तत्पर हुए हैं उनका सर्व प्रथम यही कार्य है कि वे अपने उदासीन भाइयों को उपेक्षा की निद्रा से जगायें और अपने स्वत्वों की रक्षा के अर्थ तत्पर करें। शिक्षा के सुधार का प्रश्न सबसे अधिक महत्व का है उसके अर्थ आपकी प्रथम चेष्टा होनी चाहिये।

क०—हिन्दी टेक्स्टबुक कमेटियों में अपने सुयोग्य प्रतिनिधियों के प्रवेश का यत्न कीजिये और करते ही चले जाइये। उसके वर्त्तमान सुयोग्य सदस्यों और अन्य विद्वानों से सहायता लीजिये।

ख०—केवल गवर्नमेण्ट ही के आसरे पर न रह अपनी भाषा के जिसमें संस्कृत अङ्गरेज़ी के संग अपनी भाषा की वास्तविक शिक्षा का प्रबन्ध कीजिये।

ग०—ईश्वर की कृपा से जब आपका काशी हिन्दू विश्व विद्यालय खुले तो उसमें अपनी भाषा की उचित और प्रौढ़ शिक्षा का प्रबन्ध कीजिये।

घ०—खेद का विषय है कि भारत भास्कर महामान्य श्रीमान् गोखले महाशय का शिक्षा सम्बन्धी प्रयास न हो सका, किन्तु हर्ष का विषय है साम्राज्य शिक्षा प्रसार का दृढ़ संकल्प कर उद्यत हुई है; ऐसे समय उस शिक्षा के सुधार और उसको यथोचित लाभप्रद बनाने में यत्नवान हूजिये और साम्राज्य की सहायता कीजिये।

ङ०—उच्च शिक्षा में अपनी भाषा को भी पहुँचाने का प्रबल प्रयत्न कीजिए जिसमें बी० ए० और एम० ए० की श्रेणियों में इसे भी स्थान मिले।

च०—इसके लिये आपको प्रथम ही से अपने साहित्य की अंग पुष्टि करनी होगी। इसी से सामान्य और उच्च शिक्षा के उपयोगी ग्रन्थों के निर्माण का यत्न करना चाहिये। पुराने सद्ग्रन्थों के अच्छे संस्करण निकालने चाहिये।

आप अपने इस सम्मेलन को पूर्ण परिपुष्ट कीजिये। इसकी शक्ति को बढ़ाइये। परस्पर के बैर विरोध और ईर्षा से हमको दूर रखिये और इसकी सम्मिलित शक्ति से लाभवान हूजिये। आप लोग बहुत पिछड़ गये हैं, आप को अभी बहुत कुछ करना है। आपने अभी किया ही क्या है। आप तो अभी उन्हीं स्वत्वों से हाथ धो बैठे हैं कि जिसे आप के पड़ोसी भाई मुद्दतों से भोग रहे हैं।

सर्व प्रथम आपको अपने प्रदेश के राज कार्य्यालयों में अपनी भाषा के प्रवेश का उद्योग करना चाहिये सरकार ने भी जिसकी आज्ञा दे रक्खी है। अब उसमें आपकी उद्योग शिथिलता ही बनी बनाई बात बिगाड़ रही है। उसके अर्थ अब अत्यन्त तीव्रता से यत्न कीजिये। आर्य्य जाति मात्र को इस पर प्रण कर लेना चाहिये कि एक चिट्ट भी अपने अक्षरों को छोड़ दूसरे में कदापि किसी राज कार्य्यालय में न देंगे और न देंगे। ये अदालती अमले कहाँ तक विघ्न करेंगे। विघ्न से न डरना चाहिये; राजर्षि भर्तृहरि की शिक्षा को अपना मूल मन्त्र बना लेना चाहिये। दूसरा कर्तव्य आपका उतने ही महत्व का अपनी भाषा की शिक्षा के सुधार का है जिसकी दुर्दशा का अन्त नहीं है और बिना जिसके सुधरे कोई सुधार अथवा निस्तार नहीं हो सकता जिसके लिये आपको कई प्रकार के उद्योग करने पड़ेंगे।

———

नीलदेवी की समालोचना

नील देवी हमारे प्रियवर श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्रजी रचित ऐतिहासिक दुखान्त गीत रूपक ! यह रूपक के राजासूरजदेव की रानी नीलदेवी का अपने पति के प्राण के बदले में स्वयं गाय की भेष में दिल्ली के बादशाह के सेनापति अब्दुल शरीफ खाँ शूर की सभा में जाकर उक्त पति-प्राणहारक शत्रु का बध कर डालने के बीज पर लिखा गया है। यद्यपि इस रूपक के प्रबंध और रचना में कुछ दोष भी क्यों न आगए हों, पर तो भी हम केवल गुण गान का वर्णन करना उचित न जानते हों, इसमें सातवां दृश्य (विशेष लावनी) आठवां (इसके पागल का पाठ बहुत ही उत्तम है) अच्छे हैं और दसवां में तीनों दृश्य अच्छे हैं। हम इसके नववें दृश्य से उद्धृत कर कुमार सोमदेव के वीर रस भरे उत्साह पूरित वाक्य अपने रसिकों को इसके कविता को परिचय दिलाने के अर्थ यहाँ लिखते हैं।

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहिं उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खीच रण रंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधो।
केसरिया बानो सजि सजि रन कङ्कन बाँधो।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

पौष सं० १९३८ आ० का०

संयोगिता स्वयम्बर और उसकी आलोचना

यह ऐतिहासिक नाटक श्री लाला श्रीनिवास दास जी कृत, सारसुधानिधि यन्त्र में मुद्रित पंडित सदानन्द मिश्र द्वारा प्रकाशित जिसका मूल्य ।=) है भारतेन्दु द्वारा मुझे समालोचनार्थ मिला।

इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है। क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते। इसे यदि खुशामद न मानी जाय तो यह अनुमान हो कि न वे केवल नाटक विद्या और पुराने कवियों के काव्य ही से अनभिज्ञ हैं, किन्तु कदाचित् भाषा वा हिन्दी को भी भली भाँति नहीं जानते; क्योंकि वे इस क्षुद्र ग्रन्थ की रचना पर मोहित हो रचयिता को भाषा के वाल्मीक, भाषा के कालिदास और भाषाचार्य्य कह डालते, और श्री हरिश्चन्द्र के तुल्य भारतेन्दु पद के योग्य ठहराते हैं। हम केवल हरिश्चन्द्र ही के विषय में पूछते हैं कि भला उनसे इनका क्या सम्बन्ध है ? परन्तु जब लोग इन्हें वाल्मीक और कालिदास कह डालते हैं, तो फिर हरिश्चन्द्र तो कोई बात ही नहीं, कहावत है कि "जो शालिग्राम को भून खाएँ उन्हें आलू भूनते क्या" कदाचित् उन लोगों को मालूम नहीं है कि वाल्मीक और कालिदास क्या थे, नहीं वे कदापि ऐसा न लिखते। परन्तु जो उन्हें अपना प्रातस्मरणीय मानते हैं, उनसे क्या चारा है ? वे उन्हें अपना यावज्जीवन स्मरणीय माने रहें, परन्तु किसी खास वास्ते या सबब से सब संसार को धोखा न दें, और ग्रन्थकारों को उत्साहित करने के बदले उनका इतना अभिमान न बढ़ा देवें कि वे सचमुच अपने को बाल्मीक और कालिदास मान बैठें। कौन जाने कि इन्हीं झूठी प्रसंशाओं से ग्रन्थकार सचमुच अपने को भाषाचार्यमान, मानहानि की आन मन में आन, किसी अन्य इस विद्या के ज्ञाता को भी ग्रन्थ नहीं दिखा सका, नहीं तो हर तरह की ऐसी भद्दी गलतियाँ न दिखलाई देती, परन्तु हम

बहुत विस्तार के भय से उसे छोड़ केवल ग्रन्थ पर अपनी खरी और यथार्थ सम्मति प्रकाश करना चाहते हैं, जिससे न हमारी यह इच्छा है कि ग्रन्थ-कर्ता व उसके अनुरागी और खुशामदी समालोचकों का दिल दुखे, परन्तु हाँ, यह अवश्य कि ग्रन्थ का यथार्थ भेद जान पड़े। इसमें सन्देह नहीं कि कथा वा बीज इसका बहुत ही उत्तम था और अन्य ग्रन्थों से सहायता भी यथोचित मिली (बल्कि हम भी इसे नाटक रचना के योग्य सोचते थे, ग्रन्थ पाते ही प्रसन्न हुये कि बेमिहनत मतलब मिला) परन्तु ग्रन्थ प्रबन्ध और नाटक रचना इसकी बिल्कुल ही निकम्मी निकली।

नाट्य रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाये हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं कि जो प्रधान और विशेष हैं। यदि यह संयोगिता स्वयम्बर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयम्बर का न रखना मानों इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है; और अभिनय में मुख्य आनन्द-दायी, एवम् कवि के कविता दिखाने का मौका है, न एतबार हो तो रघुवंश, अनेक रामायण, सीता स्वयम्बर आदि में देख लीजिये। फिर इसमें कथा की दो प्रणाली थी अर्थात् मुख्य द्वेष दूसरी प्रीति सो प्रथम तो कवि ने निःशेष ही कर डाला और दूसरी का उचित रीति से निर्वाह न कर सका; पूर्वानुराग का तो नामही नहीं लिया, नायिका की प्रीति की कहीं झलक ही नहीं दिखाई, दिखाई भी तो बहुत ही बेहूदे तरह; करनाटकी का प्रवेश किया परन्तु आशय और उद्योग ऐसा गुप्त रहा कि नहीं के बराबर हुआ।

रस इसमें प्रधान दो थे, वीर और शृङ्गार अङ्गी कौन है, यह कौन कहे ? सच तो यह है कि कोई रस कहीं पर उत्तमता से उदय नहीं हुआ, चित्त का चित्र किसी का ठीक नहीं उतारा गया और जहाँ इसका उद्योग भी किया। वीर को हिंजड़े की पौशाक पिन्हाई और सती वा स्वकीया को वेश्याओं के शृङ्गार कर दिये। जहाँ शृङ्गार का काम पड़ा, आपने नीति और धर्म्म का उपदेश दिया, जहाँ बीर का मौका आया, वीभत्स किया; निदान साधारण रीति से ग्रन्थ के अन्य अङ्गों की छबि दिखाना चाहते हैं। उसमें भी यदि हम शब्दों की छोटी-छोटी भूल पर या छन्दों की बनावट के दोषों को दिखावैं तो प्रति पंक्ति नहीं तो प्रति पृष्ठ तो कोई सर्वांश शुद्ध न मिलेगा, परन्तु हम उन्हें केवल लिखैंगे जो मुख्य हैं।

नान्दी

[प्रथम छन्द] (दीन जान) इसी तरह ऐसे स्थान पर ह्रस्वईकार की मात्रा कहीं नहीं दिखाई पड़ती। जैसे दूसरे छन्द में "कर करुणा" "वहाँ ते चुन" माना कि उर्दू का अनुकरण कर वा दिल्ली की बोली में इसका ख्याल न हो पर छन्द में प्राचीन कवियों के मुहाविरे और ब्रजभाषा की कविता की वह क़ैद माननी होगी जो आज तक मानी गई, अतः 'जान' को 'जानि' 'कर' को 'करि', 'चुन' को 'चुनि' लिखना चाहिए।

[दूसरा छंद] पहिले तो यही नहीं ज्ञात होता कि बन्दना किससे की गई। यदि निराकार ब्रह्म की है तो (पदनखचन्द) कैसा ? और यदि साकार देव है, तो नाम अवश्य चाहिये, फिर देखो छन्द है कि "हे स्वामी माया तिमिर रह्यो सकल जग छाय। कर करुना ताको हरो पद नख चन्द्र देखाय"॥ (चाहे तुक बदलै, पर चन्द्र को छन्द में चन्द लिखना चाहिये) फिर "बहुरि कृपा कर जगत वाटिका की तम नासो" यह पुनरुक्ति कैसी ? योंहीं "तव कछु विकशित (शाकार को भाषा छन्द में सकार लिखा कीजिये) कुसुम (किस कारण से और कौन कुसुम) वहाँ ते चुन अभिरामी। सज्जन मधुप प्रमोद करों तिनतें हे स्वामी" ॥

जब आपके स्वामी इतना बखेड़ा करैं तब आप सज्जनों को प्रमोद करैं। यदि अनुस्वार ग़लत है, तो स्वामी काहे के सेवक हुए। फिर ज़रा "प्रमोद करो" को देखिये ! यहाँ प्रमोदित चाहिये। कवि वेणीसंहार के नान्दी और सभा पूजा का आनन्द) लाना चाहता था, परन्तु कालिदास के कथनानुसार कैसे छोटे हाथों से बड़ी वस्तु मिलै।

[उसी आदि पृष्ट में] "नट। आकर" (वाह ! क्या ज़बर्दस्ती घुस पड़ता है) फिर पारिपार्श्वक के स्थान पर नट का लिखना कैसा ? "आपने और तो सब कुछ कहा..." एक ही बात तो कहा था।

[पृष्ट ४] सूत्रधार ने बहुत ही ठीक कहा कि-"इस नाटक में और कोई गुण हो अथवा न हो (लेकिन या, परन्तु तो लिख देते) नवीन रचना होने से यह सज्जनों को अवश्य रुचिकर होगा" ऐसा ही है। आपने नट के पूछने पर नाटक के गुणों के व्याख्यान में बताया "अभिनय कर्ता अपने चित्त पर पूरा अधिकार रख सकता है" खूब फ़िर तो योगियों को योग त्याग कर इसी का अभ्यास करना चाहिये। अब दो आदमी से प्रस्तावना न हो सकने या नीति उपदेश के अर्थ आप नटी के प्रवेश के लिये यों फ़र्माते हैं कि—सूत्रधार

"प्रथम तुमको अपनी नटी से इस विषय में सम्मति करनी चाहिये क्योंकि दम्पति की सम्मति बिना संसार का कोई काम भली भाँति सम्पन्न नहीं हो सक्ता" (सकता को सक्ता न लिखिये०) अब देखिये तो नटी और नट दोनों में से एक का प्रवेश महा व्यर्थ है विशेषतः नट का।

अब कुछ कवि के मुहाविरे और उस के पद रचना के ढंग को भी देखिये। [पृष्ट ५] नट। 'प्यारी का मुखचन्द निहारने, (वाह) फिर नटी से "संयोगिता-स्वयम्बर के अभिनय का विचार है। इसलिए तुम अपनी स्वाभाविक रसिकता से उसके सरस करने का उपाय करो" भला यह लिखावट और नाटक की, आगे देखिये० नटी० "कृपा करिये! संयोगिता प्राणनाथ के विरह में व्याकुल है और हंसी (नहीं हँसनी) के समान करनाटकी पृथ्वीराज के गुण-मुक्ता धारण करके अपने वर्णन की वायु से उसकी विरहाग्नि को रात दिन बढ़ाती रहती है" ग्रन्थकार अपनी कविताई अवश्य दिखाना चाहता है, चाहे उपमानोपमेय की जान क्यों न निकल जाय, चाहे रूपकालंकार कुरूपकान्धकार हो क्यों न झलकै पर ल्याया जाय जरूर। भला मैं पूँछता हूँ कि कहाँ नटी, कहाँ संयोगिता और फिर कहाँ करनाटकी और कहाँ हँसी, फिर पृथ्वीराज के गुण मुक्ता, और उसका धारण कैसा? फिर वरणन (क्या और कैसा?) की वायु (वाह) से कैसी और उसकी विरहाग्नि कैसी? प्रेम के प्रादुर्भाव और संयोगोत्कण्ठा के प्रथम कवि वियोग ही का मजा चखाता है० आगे फिर कहती है कि "आप थोड़े दिन के लिए परदेश पधारे थे उस समय की विरह वेदना मैं अब तक नहीं भूली, ईश्वर की कृपा से मैं इस समय आपकी कण्ठाभरण हूँ परन्तु आपके निकट होने पर भी इस वर्षा ऋतु में विचारी संयोगिता की दशा देख कर उस समय के स्मरण से मेरा हृदय काँप उठता है।" (अब इसकी लिखावट अर्थभाव और ढंग पर रसिक जन विचार कर सकते हैं, मानो कोई उन्मत्त बात करता है, कभी कुछ और कभी कुछ०) अब उसका काल देखिये किस मौक़े से आता है ॥राग बागेसरी॥ "कारे कारे बदरन चपला चमकै पिय के अंक दरस दुरि जाई ॥ (यह क्या) कामिन (नहीं बिरहिन लिखिये) नैनन अँसुआ बरसैं धरक धरक हियरा अकुलाय। (खूब) स्वास (श्वास राखिये या सांस) समीर सरिस झकझोरत डरप डरप जियरा लरजाई। (क्या कहना है) पिउ-पिउ रटत पपहिया पापी तड़प तड़प हियरा विनसाई" (अहा हा हा! पर कै जगह हियरा विनसाइयेगा) भला तुकान्त में यकार से रकार में क्या गुण समझा गया? शायद इसी गान के लिए

ऊपर का प्रबन्ध था । प्रायः कवि छन्द के आधार पर गद्य लिखता है क्योंकि प्रायः छन्द इसमें बे मौके की जगहों पर मिलते हैं और मौक़े पर नहीं, जैसे कवि और ग्रंथ के परिचय में आवश्यक था ।

अब थोड़ा सा प्रस्तावना के ख़ात्मा और कथा प्रवेश पर लिहाज़ करना उचित है—

प्रथम तो लिखते हैं कि "पृथ्वीराज वेश बदल कर चन्द के संग जैचन्द की सभा में आते हैं" (बस काफी था और यदि आप पात्र सूचना या कथारम्भ के योग्य नहीं मानते तो बेफायदः नाटक का मज़ा ख़राब करने वाली गुप्त बात क्यों यहाँ प्रगट करते हैं ? जिसके आगे चँडूबाज़ों की पिनक से जागकर दूसरे को फिर बोलना होता है कि "सूत्रधार—देखो इस पुष्पबाटिका में से कोकिल की कुहुक कैसी सुन्दर सुनाई देती है" नट—इस शब्द के साथ कङ्कण किंकणादि (वाह) झङ्कार (कुसूर मोआफ़ झंकार लिखा कीजिये) भी मिल रही हैं (ये गहने बाल्मीक जी के ज़माने के हैं, आजकल इसकी झंकार आप ही के ग्रन्थ में आती है और फिर कंगने औ करधनी में झंकार ?

[पृष्ठ ७] कदाचित् नूपुर का नाम भूल कर कंकन लिख दिया) ख़ैर ? आगे। "नटी॰ यह संयोगिता की रसीली वाणी है और इसी ओर आती है" और सुनिये—"सू॰ धा॰ तो चलो हम लोग भी चलकर अपना साज समाज ठीक करें" । बलिहार बलिहार कहाँ तो संयोगिता आती है और आप अभी साज समाज ठीक करना चाहते हैं प्रस्तावना काहे को यह तो बनियों का ठाट हुआ कि कोई सौदा पटता ही नहीं जावो जोरू से भी सलाह कर आओ ।

नटी विदूषकोवापि पारि पार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्व्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्य्योत्यैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापिसा ॥

साहित्य दर्पणे ।

क्या कहें ? प्रस्तावना के उत्तम गुण कोई भी नहीं, न नाटक की चालकी प्रस्तावना है, और न नृत्य के योग्य नाटक रचना॰ ख़ैर ! यदि प्रस्तावना के अनुसार समग्र ग्रन्थ पर सम्मति दी जाय तो कादाम्बिनी के कई

मेघ काफी न हों, इससे अब समान भाव से प्रत्येक अङ्क और गर्भाङ्कों के मुख्य और प्रयोजनीय ही विषयों की हम आलोचना करते हैं।

(प्र० अं० प्र० ग० पृ० ६) संयोगिता और उसकी सखी की बातें। अब देखिये कि जैसा नटी ने प्रस्तावना में नायिका अर्थात् संयोगिता को विरह से व्याकुल बतलाया, कवि ने उसकी कैसी झांकी दिखलाया है "बादलों के लूम झूम कर आने फुहारे पड़ने, और शीतल मंद सुगंधित वायु चलने से चित्त का भाव और ही कुछ हुआ जाता है (यह वसन्त के वायु का वर्णन है, वर्षा में तो "झंझा पवन झूकैं") त्रैलोक्य ताप हारिणी गंगा…की शोभा देखो"। यहाँ वियोग की व्याकुलता कहाँ है "करनाटकी-जिस तरह ये रस उमंग से जाकर रत्नाकर का हृदय पावन करती है इसी तरह तुम अपने प्रेम प्रवाह से (प्रेम-प्रवाह कैसा) किसी बड़भागी राज-कुमार का (यही करनाटकी पृथ्वीराज का गुण गुप्ता धारण किये हैं ?) हृदय तर अर्थात् आर्द्र करोगी" पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि नायिका ने अभी तक किसी से अपने प्रेम का नाता नहीं जोड़ा, परन्तु ऐसा नहीं है। फिर कहती है "मेरी प्रेम मूर्ति के हृदय नहीं तब मुझको अपने प्रेम प्रवाह से उसके हृदय तर करने का मार्ग कहाँ मिले, ईश्वर की कृपा से जब उस स्वर्ण प्रतिमा में प्राण आयेंगे तब मुझको अपने जन्म सफल करने का समय मिलैगा" (भला यह कौन लिखावट है)।

[पृष्ठ १२] विलासवती "प्रथम अपने पिता के बल का कुछ विचार करो यदि वे मन पर ले तो क्षण भर में पृथ्वीराज बिहीन पृथ्वी कर सकते हैं संयोगिता-वह सिंह सहज में वशवर्ती होने योग्य नहीं है तद्यपि ऐसा हो तो मैं क्वारे नाते सती हो अपना पतिव्रत निभाऊँगी (शब्दाशुद्धि का विचार आप लोग कीजिये परन्तु कदाचित् कवि ने रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक बना कर बाल रंडा कराने अथवा उस अमंगल की सूचना देने की प्रकृति कर ली है, नहीं तो इस प्रसंग की क्या आवश्यकता थी। योंहीं नायिका का पूर्ण प्रेम जान कर भी उसकी सखी नायक के विषय में जो यों कहती है, क्या उचित है ? अब उस गीत के 'यमकालंकार को देखिये जिसकी बड़ी तारीफ़ है ।

[प्र० अं० प्र० ग०] पृष्ठ "१४ मों मन बस्यो प्रिय चहुँ आन"—(इस गीत में पाँच जगह चहुंआन शब्द आया है, तीन जगह का अर्थ तो समझ पड़ता है, दो जगह पुनरुक्ति ही मालूम पड़ती है, हमने देखा है कि

कवि हर जगह चहूँआन लिखता है। परन्तु प्रचलित और यथार्थ में शब्द चौहान है, यदि वह पृथ्वीराज रासो का प्रमाण दे तो उसमें चहूँआन' चोआंन और चोहान भी काम में लाया गया है। "अब करनाटकी देश पर चढ़ि चल्यो चहुआँन "योंहीं चढ्यो सुबर चहुआँन बीर कन्नाट देश पर" "फिर, लैहूँ सुनि सुविहान सुनै ढीली सुर तान। लुयूथि पार पुंडीर भीरपरि है चोहान" फिर पुस्तक का नाम ही पृथ्वीराज चौहान रासो है॥

[द्वितीय गर्भाङ्क] जयचन्द की सभा। इसमें जो चन्द और जैचन्द की बातैं कराई गई हैं बहुत ही बेहूदा और अनुचित मालूम होती हैं। पहिले तो बेमौके कवि का गाना फिर जैचन्द० "कहहु बरद निज वृत्ति" (वृत्ति नहीं है वृत्त यों ही पृष्ठ २२ में) जैचन्द० "काव्य के शत्रु तारापति चन्द को ले जाकर आराम से टैरा"। यह तो साफ़ गाली है, श्लेष कैसा? फिर सेवक के वेश में पृथ्वीराज का प्रवेश और फल शून्य। करनाटकी का आना और बे-पूछे बे-मौके फ़जूल गाना-गाना [पृष्ठ २१] "सुनिये कृपाल चित्त दे दुःख की कथा हमारी छूटा स्वदेश जब से तब से कलेश भारी। अतिशय तृषार्त्ति होवै लूकी लपट प्रजारी। शशि में सुधा निरखि के चाहे न क्यों दुखारी"॥ कविता और शब्दाशुद्धि को छोड़कर भी यह किससे कहती है और क्या बकती है हमारी समझ में इस अंक के रखने की कुछ आवश्यकता ही न थी, यदि थी तो पृथ्वीराज के प्रगट होने में मजा था। फिर यह क्या कि सब परीक्षा हो भी चुकी और सन्देह बना है।

[तृतीय गर्भाङ्क॥ चंद के डेरे] इस गर्भाङ्क का भी कथा भाग व्यर्थ है क्योंकि इससे भी कोई कार्य्य साधन नहीं होता अर्थात् पृथ्वीराज और उसके सरदारों की फ़जूल बातचीत "महिमानी का सामान" करनाटकी लेकर आई योंही जैचंद का प्रवेश और उससे बातचीत, जैचन्द की आज्ञा से उसकी सेना के आक्रमण की खबर सुन नायक और उसके सैनिकों का युद्ध में उत्साह का प्रदर्शन वर्णनीय विषय है। अशुद्धियाँ इसमें बहुत ही अधिक हैं परन्तु उन्हें न लिख कर कुछ नमूना आगे का दिखलाता हूँ—[पृ० २४] पृथ्वीराज० क्या बहुत मृग मृगेन्द्र का मुकाबला कर सकते हैं (यह शुद्धि और यह अभिमान और यह डींग) चन्द—"अभी तो आप जयचन्द के दरबार में मेरी गंगाजली उठा कर जाने पाये हो" (क्या अच्छी मर्य्यादा की बातचीत है और क्या ही नायक के उचित कार्य का व्याख्यान है, गंगाजली के बदले पानदान का प्रयोग कदाचित् कवि के दृष्टि में अपमान का कारण

है) करनाटकी [पृ० २६] दादरा ॥ "हमसे न पूछिये जी सुनने में क्या धरा है" फिर आप से न पूंछें तो मालूम कैसे हो कि सुनने में (०) क्या धरा है) "गंगा के तीर डूबस चातक विपत परा है, ताकी तृषा कूघन बिन काहूने ना हरा है" (क्या चातकी आना स्त्री के लिये अनुचित था ?) "पान लेने को जैचन्द हाथ बढ़ाता है तब पान देती बार पृथ्वीराज उसके हाथ में एक में एक झटका मारता है कि जिससे वह गिरते-गिरते मुश्किल से सम्हल सकता है, पीछे मन्त्री को पान दिया जाता है" (हम नहीं जानते कि इससे क्या फल सिद्धि हुई, कदाचित कवि ने नायक के प्रकाश होने का यही मौका अच्छा समझा। हमारी जान तो द्वितीय गर्भाङ्क में यदि नायक नहीं प्रगट हुआ तो द्वितीय अंक में अर्थात् नायिका के संयोग में उसका प्रगट होना और सेना का आक्रमण वहीं उचित होता।

अब और देखिये कि सेनाक्रमणवृत्त सुन० [पृ० ३०] पृथ्वीराज— अच्छा हमारे शस्त्र ला ॥ कन्ह० साथ के लिये कौन कौन तैय्यार हो। पृथ्वीराज—"सूरबीर रण को बढ़त ढूंढ़ै किसका साथ। साचे साथी ईस अरु हिया कटारा हाथ" ॥ (वाह क्या कविता है) अब देखिये कि यह तो बातें हैं और कोई भी नायक को रणभूमि में जाने से नहीं रोकता, और न वह गया० हम नहीं जानते कि इससे बढ़कर अनुचित और क्या होगी। [पृ० ३२] पृथ्वीराज। "चलो हम भी चल कर लंगरी राय की कुमक देने के लिये और सेना तैय्यार करें" अब सेना तैय्यार करने की कैफ़ियत आगे देखिये।—

द्वितीय अंक। स्थान संयोगिता के महलों के सन्निकट गंगातट। इस गर्भाङ्क में दम्पति का प्रथम समागम वर्णित है। जहाँ तक हम सोच सकते हैं बहुत ही बेहूदे तरह पर दोनों का मिलना हुआ। अचानक आये हुये नायक के पास मोती का थार भेजना, और ऐसी बातें करना तो वेश्या से भी असम्भव है,जैसे [पृ० ३३] करनाटकी। राजनन्दिनी ! आप तो युद्ध देखने के लिये छत पर जाती थी यहाँ कैसे खड़ी हो रही' (क्या अनुस्वार दोनों जगह ग़ायब)।

संयोगिता० "तुमने इस वीर को देखा इसका रूप कामदेव से, मधुरिमा चन्द्रमा से, तेज सूर्य्य से और शोभा इन्द्र से मिलती है, पर इस सबके समूह से हूबहू (हूबहू राजाशिवप्रसाद के कलम का आनन्द) "मेरे ध्यान की"—(वल्लाह रेखा से क्या दिल्लगी है) "भला जो ये पृथ्वीराज हों तो

तुम क्या करो" संयोगिता—यहीं से अपना सत्व (सत्व क्या) छोड़ कर इनके गले का हार बनजाऊँ (गले के हार रखने का आपको बहुत शौक़ मालूम होता है) राग जोगिया [पृ० ३५] "प्यारी या छवि की बलिहारी" जब से दृष्टि परी जा तन पै हटी न हठ कर हारी । और अंग अवलोकन की रुचि मन ही रही विचारी । (धन्य ! धन्य !! धन्य !!! अब इससे ज्यादः बढ़ कर बेपर्दगी और क्या होगी ? वह कौन सी अंग है ? जो नहीं देख पड़ती ! [पृ० ३६] "करनाटकी के गले से लिपट कर । प्यारी ! अब इनके मिलने का शीघ्र उपाय कर दीन दरिद्री को पारस मिले पीछे भी स्वर्ण बनाये बिना कल नहीं पड़ती" (बस अब चुप भी रहिये येतो फ़ार्स हो गया०) जो ये इस समय यहाँ से बिना मिले चले गये तो क्या होगा (देखिये कैसा कुल-वधुओं का चित्र उतारा है) ॥ फिर संयोगिता—सखी ! मोतियों के दो थाल जल्दी सुन्दरी के हाथ महाराज के पास भेज (गाती भी हैं) [पृ० ३६] ठुमरी ॥ पियन यह मदन खिलारीरे । पंचवाण कहिबे को धारत भृगुटि द्रिगादिक (द्रिगादिक क्या) अलग संवारत । युवति जनन को तक तक मारत द्रिग मतवारी रे । (फिर द्रिग और फिर मतवारी) जो अब ये मेरे ढ़िग आवत तो इनको पिय पास पठावत (यह कैसा भाई) उनको मन बस कर मँगवावत यह जिय धारी रे (शायद यह कविता ही मतवारी है) क्योंकि [पृ० ३७] राग निहालदे (जनाब यह राग नहीं है इसे माड़वारिनों की भद्दी गीत कहनी चाहिये) "मैं वारी जाऊँ प्यारी मेरी वारियाँ । तेरी मैं बलिहारी जी । तेरी मैं बलिहारी कोमल नार ॥टेक॥ (बलिहार) नांचत मोर उमँग से जी कोई हरा भया संसार भौंरा भी गूंजे प्यारी मेरी आम पैजि कोई कोयल करे पुकार (इसको गंगाजमनी कविता कहते हैं अर्थात् वर्षा और वसन्त दोनों एक ही सांचे से ढली हैं) सरिता सरवर पै चलीजि (सरिता सरवर में खूब चली) मानो छम छम करती नार (क्या स्वभाव का चित्र है) आपने कजली भी बना डाली [पृ० ३८] "आई जोबन; हाँ, हाँ रे आई जोबन की बहार (इसके आगे ?) नवललता नवमंजरी नव सुवास सुखसार । नव कोंपल नवकुसुमदल नवल कली कचनार ॥ देखो तो आई जोबन हाँ, हाँ रे आई जोबन (भला कजली जिसका प्रस्तार भी आप को नहीं मालूम क्यों बनाने लगे, और फिर वर्षा वर्णन में नवल लता नव मंजरी नव कोंपल और नवल कली कचनार लिखते हैं० हाय हाय क्या आप को इतना भी नहीं मालूम कि कचनार कब फूलता है) ।

[पृ० ४१] पृथ्वीराज—हे अनंग० तुम…मुझको प्यारी के पास पहुँचने के लिये अनङ्ग, अर्थात् शरीर विहीन क्यों नहीं बना देते (वाह क्या नई और अच्छी बात है) पृथ्वीराज अचेत हो गिरने लगते हैं (क्या मिरगी आती थी ?) सुन्दरी सम्हालती है। (क्या उचित दृश्य है) सुन्दरी "आप का चित्त…व्याकुल मालूम होता है महल में चलकर थोड़ी देर विश्राम कीजिये। (जाता है)

[पृ० ४२] करनाटकी संयोगिता से "तुम्ही ने तो कहा था कि दीन दरिद्री को पारस मिले पीछे स्वर्ण बनाये बिना कल नहीं पड़ती। करनाटकी धीरे धीरे संयोगिता को खैंच कर भीतर ले जाती है" (क्या खूबी से कवि संयोग सूचना देता है) ॥

अब देखिये समागम की दशा आप देख ही चुके, नायक नायिका के स्वभाव का परिचय मिल ही गया होगा, नाटक के प्रबन्ध का कुछ कहना ही नहीं, एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है; और इसी परदे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं; सो आपने एक ही गर्भाङ्क में तीन स्थान बदल डाले अर्थात् महल जहाँ नायिका है, और दूसरा गंगातट जहाँ नायक है, और फिर महल पर हम लाचार हैं अपने देश के खुशामदियों से कि जो बिना जाने भी किसी वस्तु की बड़ाई ही करने लगते हैं, किसी ने इसी गर्भाङ्क की तारीफ़ में लिखा है कि "पलभा की सुई का रुख भी कभी उत्तर से फिरते देखा है" यह अपूर्व और नई उपमा है। (हम जानते हैं कि जिसने ऐसा लिखा सचमुच प्राचीन काव्यों को नहीं देखा है यद्यपि यह उपमा स्वयम् अशुद्ध है, क्योंकि पलभा की सुई उत्तर से अकसर फिरा करती है, परन्तु हाँ किसी और दिशा में ठहरती नहीं; पर तौ भी हम पुरानी उपमा के प्रमाण लिख देने की आवश्यकता जान लिख देते हैं। जैसे कि विहारी सतसई में

"सबही तन समुहाति छिन छिनक चलति दै पीठ।
वाहीं पै ठहराति यह क़िवलनुमा लों दीठ" ॥

योंहीं—'क़िवलनुमा लौं जात चली उत रहत यार जितहीं'। परन्तु जो एक अनोखे शब्द को भी नया जान रीझ कर कविको भाषाचार्य बनाते हैं उनसे क्या चारा है, उन्होंने श्री हरिश्चन्द्र का शायद वह कवित भी नहीं

देखा कि—"भये विगरैल अनोखे"॥ हम तो देखते हैं कि नटों के विज्ञप्तिके के लिये और उनकी अवस्था सूचक जो वाक्य लिखे गये हैं वे भी अच्छे प्रकार के नहीं, सच तो यह है कि कथा का मुख्य भाग और नाट्य रचना की चतुराई ऐसी ही रीति तथा टिप्पणियों से लिखकर टाली गई है जैसा कि आगे के गर्भाङ्क में (द्वितीयं अंक । द्वितीय गर्भाङ्क । स्थान संयोगिता का बाग़) यह गर्भाङ्क भी दम्पतिसमागम या नायिक नायका के विहार के वर्णन पर लिखा गया है । हमारी जान इस २ गर्भाङ्क को जुदा लिखने की बिलकुल ज़रूरत न थी, क्योंकि जब नायक का महल में प्रवेश कराया गया तो वहीं इसे भी खतम करना था । खैर इसकी भी वानगी देखिये ॥

(पृष्ट ४३) पृथ्वीराज अति सुन्दर रत्नजटित सिंहासन पर बैठे हैं। संयोगिता अपने एक चरण की ओट दे हाथ जोड़ शिर झुकाए अलग खड़ी हैं (यह दासी का भाव है) । पास ही एक मनोहर झूला वृक्ष में पड़ा है। करनाटकी वृक्ष की ओट से इनका भाव देख रही है (इसे नाट्य व्याख्या कहें या कहानी ?) । पृथ्वीराज—"मेरे नयनों के तारे, मेरे हिये के हार, मेरे शरीर का चन्दन" (प्रिय पाठक ! सच बताइये आप को क्या अनुमान हुआ कि यह बात स्त्री से कही गयी या पुरुष से, अवश्य पुरुष से ! परन्तु यह संयोगिता का विशेषण है । क्या इसकी जगह यदि मेरे आँखों की पुतली ! मेरे हृदय की माला लिखी जाती तो न अच्छा होता ? फिर आगे "ये लोकाचार इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार है, प्यारी ! रक्षा करो, रक्षा करो" (किससे ? युद्ध से ? या पागल हो गया ? कदाचित् कवि वेणी संहार के मज़े को ल्याना चाहता है परन्तु हाय ! लोकाचार से) "अब तक तो तुम्हारे नयनों की बाणवर्षा से छिन्नकवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला" (नयन से भी कवच कटता है ? क्या ऐज़ यू लाइक इट (As You Like It) का मज़ा लाना अभीष्ट था ? । करनाटकी

[पृष्ट ४४] पृथ्वीराज । मैं अधरामृत का प्यासा हूँ और प्यासे तो दोनों हाथों से पिया ही करते हैं (दूध न अधरामृत कि नीचे जो सरोवर का रूपक) [पृष्ट ४४ पं० १३] में स्त्री के अंग में लिखा गया, न कालिदास की चोरी है बल्कि साफ़ सीनाज़ोरी है यथा—

बाहू द्वौ च मृणाल (मास्य कमलं लावराय लीलाजलं श्रेणी तीर्थशिलाच नेत्रसफरी धम्मिल शैवालकम् । कान्तायाः स्तनचक्रवाकयुगलं कंदर्पबाणा-बलै दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मितम् ?

श्लोक ही क्यों नहीं लिख दिया गया। 'अकबर कमला कर गहे' की एवज़ "रत्न विन्दु बरसै नृपति" दोहा बना, प्रथम अंक में रक्खा गया। [पृष्ठ ४४] संयोगिता इनका मुख चन्द्र निहार मेरा मन समुद्र के तरह उमंगने लगा (क्या पुत्र-स्नेह दरसाया है ? रोमियोजिउलियट के आनन्द की कोशिश छोड़िए)। इसके आगे संयोगिता की वार्ता ऐसी भ्रष्ट रीति से लिखी गई जो लिखी नहीं जा सकती "प्रीति सीखिये ईखसों" यह पुराना दोहा प्रथम तो बहुत बेमौक़ा है फिर क्या साफ़ उड़ा लिया गया है। जब भारतवर्ष के कवियों से तृप्ति न हुई तो आप इंगलैण्ड भी जा पहुँचे; और हिन्दुस्तानी विवाह की रीति से न सन्तुष्ट हो, समयानुसार अंग्रेज़ी छल्लावदलौअल के लिये शेक्सपीयर पर हथलपकौअल कर मरचेन्ट आफ वेनिस के भी मरचेन्ट बन गये। [पृष्ठ ४७] जैसे "मै अब जिस लायक हूँ उसमें हज़ार गुनी होती तो भी आप के लायक न होती।"

यथा—

You see me, lord Bassanio, where I stand
Such as I am...............
....yet for you
I would be trebled twenty times myself
A thousand times more fair ten thousand times
More rich...... ....
To stand high in your account·
———Merchant of Venice (Act III Sc. 2)

[पृष्ठ ४७] संयोगिता—आज तक मैं इस देह की मालिक थी पर अब इन सब के स्वामी आप हैं........

....But now
This house, these servants, of this same myself
Are yours, my lord ....
———Merchant of Venice (Act III Sc. 2)

गर्जे कि इस सफ़हे की कुल स्पीचैं मरचेन्ट आफ वेनिस से ली गई। पहले तो मैं यह पूछता हूं कि विवाह में मुद्रिक परिवर्तन की रीति इस देस की नहीं बल्कि यूरोप (Europe) की। मैंने माना कि आप शकुन्तला को दुष्यन्त के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे पर वो तो परिवर्तन न था किन्तु

महाराज ने अपना स्मारक चिन्ह दिया था। न जाने कब आप झूले पर भी विराज गये कि जिससे गीत छन्द सावक को झूलना लिख डाला।

[पृष्ठ ४५] "देखो री प्रिया प्रिय मिल गये मिल गये सकल प्रकार (सकलप्रकार क्या) अब हरिश्चन्द्र के हीरो पर हाथ बढ़ाने के लिये दर्पण भी लेना पड़ा।

[पृष्ठ ४६] यथा—"सखि दर्पण मत ल्याइये प्रिय सन्मुख इन्हीं बार"! क्या इससे यह दोहा खराब था "बार-बार पिय आरसी मति देखहु"। (कहां आरसी और कहां दर्पण और इहिं) नवीन भारतेन्दु न हुआ चाहते हैं! फिर करनाटकी मलार गाती है गोया वह पागल हो गई; नहीं जानते कि दोनों के एकान्त बिहार में यह दाल भात में मूसर कहाँ से आ गई? कवि इतने पर सन्तुष्ट न हो हाथ में शराब का प्याला दे मारवाड़िन बना बीबी संयोगिता का भी मुजरा करवाया।

[पृ० ४६] "प्यारा म्हारो मन राखो मद तो पियो, हेजी थारो गुण गास्यां थोड़ो थोड़ा मद तो पीयो। (आज कल तो किसी स्त्री से कह दे तो लड़ाई हो जाय, शराब ख्वारी में मारवाड़ी बोली क्या बहुत मौजू थी) "साजन मद मैं गुण घणा केसे कहूं बनाय। बिन पचरंग हिंडोलना प्रीतम झोंका खाय', (वाह! जनाब यह तो पते वार बात बयान करने लगे) "साजन थोड़ा अमल में फुर्ती घणी जणाय। सूर चढ़ै अरु श्रम मिटै वार न खाली जाय" (बस कह चुके) इससे भी नहीं तृप्ति हुई तो नायिका को नायका बना साफ साफ कहलाना शुरू किया।

[पृष्ठ ५०] देस—"दीजे प्रेम को उपहार। हर्ष हिंय पहिराइये, प्रिय बिन गुण (हरषि, प्रिय, बिन गुनन लिखिये) कोहार (बिन गुन का हार रति के अन्त में वर्णन होता है। गाना क्या यह तो रतिभिक्षा माँगना है) करहिं कर में राख करिये करन की व्योहार। (यह तो कबीर हो गई। हमने ऐसी निर्लज्जता का लेख सिवाय कोक के और कहीं नहीं पाया। नहीं कोई दूसरा अर्थ बतावै?) फिर कहती है।

[पृष्ठ ५१] "कि मैं अपने मन की दशा क्या कहूँ...कि हर एक काम में आप का अनुकरण किया चाहता है" (अर्थात् आपने मेरा गाल काटा जो मेरा चित्त भी आप का गाल काटने को चाहता है) अब कवि के लज्जा विहीन लेख को देख टुक प्रबन्ध पर भी ध्यान दीजिये कि प्रथम तो आप

(नायक) समर से चित्त चुरा संयोगिता के सदन में आ सिकुड़े थे, जब यहाँ गहिरी प्रीति की चोट चलने लगी, तो नीति उपदेश कर चल भागना चाहा, बल्के चलेही गये। चलते समय का संयोगिता का गाना और बतलाना रंडाओं के और बिलबिलाने से कम नहीं, हालां कि शेक्सपियर के हेनरी आठवें से छाया लिया परन्तु अत्यन्त भ्रष्ट रीति से भ्रष्ट किया।

तृतीय अंक। १ ग०। चंद का डेरा। यह गर्भाङ्क कवि ने वीर रस का उत्साह दिखलाने के लिये लिखा है। आदि में चचा भतीजे की मर्यादा विरुद्ध बातचीत है, फिर नायक का उत्साह—पृथ्वीराज (पृष्ठ ५५)। "सेना तत्काल तैय्यार हो और आज ऐसा धुंआधार युद्ध करें जिससे भूमि थर्रा उठे, दिग्पाल डगमगाने लगें (क्या अच्छा केवल सेना के भरोसे मन की खिचड़ी पकाना है) "भूतेश्वरी की मुंडमाल पूरी हो जाय, चामुंडा नाच उठे, कबन्ध युद्ध करें और रुधिर की नदी बह निकले। (यह कवि का स्वभाव है कि जैसे संयोग के पहिले ही वियोग का वर्णन किया था, इसी तरह वीर रस और रौद्र के पहिले ही वीभत्स ही गा चले) गोयन्दराय-"आप गिर्राज बन कर सब की रक्षा कीजिये, हम भी अपनी लकुटिया का सहारा लगाने को तैय्यार हैं।" (यह तो वीरों का उत्साह है) पृथ्वीराज [पृष्ठ ५६] "तो कृष्ण की तरह यहाँ कंस से सब की रक्षा होगी" (सच है आप से क्या होना है)। पंडितराज जगन्नाथ जिन्होंने कुत्सित कवि रूपी चोरों के डर से अपने उत्तम कवित्वरत्न की रक्षार्थ भामिनी विलास नाम संग्रह ग्रन्थ रूपी संदूक बना कर और उसमें वे रत्न भर कर कसम और गाली की कुंजी से बन्द कर गये थे, आप ने उसे भी तोड़ कर लूट लिया अर्थात्—"दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगंडाः करटिनः" का 'दिग्गज विशेष व्यापक विदेश। हाथिनी मलीन अबला अधीन, (नक़ल को अक़ल क्या? ऐसा सुनते थे पर उसका भी यह हाल है)। पृथ्वीराज-'स्शाबास !स्शाबास !' (स्मैंबास ! शाबाश आनन्द रघुनन्दन नाटक के मुहाबिरे) जरा भूषण के कवित्त को "त्योंहीं मलेच्छबंस पर शेर शिवराज है" को आपने [पृष्ठ ५६] "तैसे रिपु वंस पर आज पृथ्वीराज है" (लिखकर हजम कर गये) बहुत प्रसिद्ध कवित्त जान कर इमान्दारी दिखलाने को आप टिप्पणी में लिखते हैं कि मूल कविने (मूल कवि क्या ?) शिवराज लिखा है (फिर आपने पृथ्वीराज क्यों लिख दिया)। सच तो यह है कि यह आप की आदत पड़ गई है क्योंकि भारत भिक्षा से-"मृदंगादि बाजे बजाओ ! बजाओ" इसे भी ले [पृ० ६०] अरे ओ सिंदूरा बजाओ" ! तलवार निकाल कर घुमाते हुये—सब नेपथ्य में

जाते हैं" बस अब युद्ध की सूचना हो गई। अब इसके आगे फिर युद्ध कराने का कोई आवश्यकता न थी, परन्तु जो कि साहित्यकार और नाट्य शास्त्र के आचार्य्य युद्ध कराने को नाटक में मना करते हैं, यथा—

'दूराह्वानं बधो युद्धम् राज्यदेशादि विप्लवः" उसे आप क्यों न करें, ख़ास कर के जब आपको वेणीसंहार का सत्त निकालना मंजूर है।

द्वितीय गर्भाङ्क। रणभूमि—इस गर्भाङ्क में कवि युद्ध कराता है। [पृ० ६१] देखिये—"पृथ्वीराज की सेना चक्रव्यूह रचकर खड़ी है। युद्ध बाजा बज रहा है" (यहाँ तक मालूम होता है कि युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ परंतु अभी से वीभत्स वर्णन (बावली तो बनी ही नहीं मगरों ने डेरा डाल दिया) "रंगभूमि में जगह २ रुधिर, मांस, मज्जा बिखर रहे हैं, जहाँ तहां अनेक घायल और मृतक शरीर दृष्टि आते हैं, शस्त्र और भूषण वस्त्रादि रुधिर से भरे पड़े हैं, मांसभक्षी जीव इधर उधर फिरते हैं" (धन्य आप की लिखावट) अब इसके आगे बेणीसंहार और विशेषतः अश्वत्थामा और करण के झगड़े की ख़राबी करने के लिये आप ने केहर कंठीर और आतताई की सचमुच लड़ाई ही करा दी। और कथा सचमुच युद्ध का नाट्य करने के लिये कोष्ठों के भीतर पृष्ठके पृष्ठ लिख डाले। बीच २ में सिंदूरा और काफ़ी का गान भी [पृष्ट ६५] कं कं खं खं गं ग लिख कर पूरा किया है। विष्कंभक प्रवेशक से क़सम खाकर नहीं चल सका तब बीच २ में चंद से काम लिया और कालिदास होने के उल्लास में कालिदास के रघु को लघु बनाने को उद्यत हो रत्न जटित पन्ने के पन्ने उजाड़ लाये, जैसे [पृष्ट ६७] "जो बीर यहाँ शरीर छोड़ते हैं तत्काल दिव्य देह पाकर स्वर्ग से आप ही अपने कबन्ध को लड़ते देखते हैं"

"कश्चिद्द्विषत् खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानं प्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत् कबन्धं समरे ददर्श॥"

[पृष्ट ६८] "मरे पीछे भी स्वर्ग में एक अप्सरा के लिये दोनों वीर झगड़ते हैं"

"अमर्त्य भावेपि कयोश्चिदासी देकाप्सरा प्रार्थित योर्विवादः"
"वीरों के कटे शिर भी दांतों से होंठ काटते ही बने रहे"
"सरोषदष्टाधिक लोहितोष्ठैः" इत्यादि

जिस रस को चाहे ल्याये, जिसका चाहा नाश कर दिया अंत को लिख दिया जवनिका धीरैं २ गिरती है। (आप हर अंक में जवनिका गिराते हैं) अब पुरुषों की लड़ाई से सन्तुष्ट न हो स्त्रियों को लड़ाना चाहते हैं।

चतुर्थ अंक। (इस अंक में गर्भाङ्क ल्याना आप भूल गये) स्थान के जगह लिखते हैं कि "पूर्णिमा की रात्रि के समान (वाह !) प्रकाश हो रहा है"। संयोगिता शुक्लाभिसारिका के वेश में हीरा मोतियों के भूषण और श्वेत पुष्पों का मनोहर शृंगार करके आरसी में मुख निहार रही है (कदाचित् कवि अभिसारिका नायिका का लक्षण नहीं जानता या उसको नायक के पास ले जाना चाहता है, जो चाहे सो करे वह सब में समर्थ हैं क्योंकि आगे देखिये) "परन्तु उसके शरीर में शस्त्राघात केसे कुछ चिन्ह दिखाई देते हैं" धन्य ! धन्य ! फिर तो नायिका को रक्ताभिसारिका कहना चाहिये (७२) "नाचत मोर जानि दामिन द्युति" (इस पर भी ज़रा ग़ौर कीजिये)। अब नायिका की बातें सुनिये (पृष्ट ७२) "हाय उनने मुझको बालकपन से लाड़ लगाया (वाह ! पर थोड़ी अशुद्धि हो गई) खैर योंहीं कभी पिता पर कृपा दिखलायीं, फिर पति पर आयीं, योंहीं बेढंगी अनेक गीत गायी, कभी बीणा बजायी, और कभी चौसर फैलायी कभी दर्द से चिल्लायी। अब ज़रा ज़ोरू के बचाये बच कर आये हुये नायक की डींग सुनिये (पृ० ७६) "कि क्या काल की कोई भी अघटित घटना हमारे मन को निर्बल कर सकी है। भय क्या पदार्थ है यह हमने कभी नहीं जाना, कठिन से कठिन संकट आने पर भी मन ज़रा नहीं डिगता जो हो सो हो हम हिम्मत कभी नहीं हारेंगे"। फिर कहते हैं (पृ० ७७) हमारे प्राण बचाने वाला बीर मिले तो हम जनम भर उसकी सेवा करें" इतना कहना था कि "नायका नायक की गोद में लेट अपनी भुजा उसके कंठ में डाल देती है (पृ० ७७) हाल जान कर आप फ़रमाते हैं कि वह तो मेरी ही दूसरी देह थी। छाती से लग कर। प्यारी ! तुम्हीं मेरा सुख तुमहीं मेरे प्राण, तुमहीं मेरा वैभव और तुमही मेरे सर्वस्व हो (धन्यरे लिखावट क्या गीत गोबिंद की भी सैर कर डाली) जिसके बदले नायिका साहबा फ़रमाती है कि "आप का मेरा भोक्तृ-भोग्य सम्बंध है (इससे साफ़ और क्या कहियेगा माफ़ कीजिये।)

अब आप संयोगिता का हाथ पकड़ कर धीरे २ कुलटा स्त्रियों की भांति राजभवन से अपने डेरे में घसीट लाये और क्या आश्चर्य की बात है कि दो बार आने जानेमें रोके तक भी नहीं गये, यह तो किसी सामान्य गृहस्थ के

वर में भी असम्भव है कि जयचंद को इसकी खबर तक न हुई, हमारी जान तो युद्ध का मौका इससे अच्छा कोई भी न था ॥

पंचम अंक। प्रथम गर्भाङ्क। स्थान चंद का डेरा। कवि ने यह अंक नीति और धर्म के उपदेश करने के लिये और बनियऊँ झाँव झाँब दिखलाने के लिये बनाया है। जैसे कि पृथ्वीराज चन्द से कहता है कि—

जयचन्द

[पृ० ८६] तुम जाकर जयचन्द से कह आ कि हम अपना मनोरथ सफ़ल करके दिल्ली जाते हैं"। चन्द कहता है कि तुम "धर्म और नीति का सूक्ष्म विचार नही जानते, चुपचाप चले चलो"। फिर पृथ्वीराज। "क्या तुम जय-चन्द अथवा मृत्यु से हम को डराते हो हम मरने से जरा भी नहीं डरते। चन्द... यह तो पशु धर्म है... भला दीपक पर पतंग के भाँति मरने से क्या लाभ होगा? क्रोध में बहुधा मनुष्य वृथा प्रलाप किया करते हैं-.. आप स्वस्थ चित्त से मेरी प्रार्थना का विचार करें"। (क्या सेवक और स्वामी की बात चीत है। हम नहीं जानते कि इस अंक से क्या फल सिद्ध समझी गई है)। पंचम अंक का द्वितीय गर्भाङ्क। स्थान—जयचन्द की राजसभा। इस गर्भाङ्क में कथा की समाप्ति और नाटक का खातमा है। निर्बहण सन्धि या किसी के भी अङ्गों से तो वास्ता ही नहीं हैं, पर तौ भी देखिये यदि हमसे कोई पूंछे कि इस ग्रन्थ में तुम्हें कुछ पसन्द भी आया! तो क़सम खाने के लिए बेशक एक जगह है और वह यह कि जब चन्द द्वारा जैयचन्द को अपनी पुत्री संयोगिता के सर्वथा कुल स्त्री दुःसाध्य, एवम् किसी ऐसी राज कुमारी से अनहोने महाअनुचित कर्म्म विज्ञप्ति मिली। बिचारे के छक्के छूट गये व्याकुल हो कह उठा—

[पृ० ८८] कि हाय! "क्या संयोगिता पृथ्वीराज के पास है? हम ने यह यज्ञ किया जिसमें घृत के बदले रुधिर की आहुती दी गई" (पढ़ कर अवश्य चित पर नायिका के बेवफ़ाई, और मा बाप का सम्बन्ध तोड़ लोक लाज से मुँह मोड़ घर बार सब छोड़ उनके अनुमति और इच्छा के विरूद्ध कुलशत्रु अजनवी नायक के साथ चल निकलने से प्राप्त दुःख से दुखी उसके पिता की बातों ने अपने प्रभाव का प्रकाश किया, योंहीं फिर—

[पृ० ८८] चन्द—से—"तुम क्यों जले पर नोन छिड़कते हो, माता पिता की सम्मति बिना सम्बन्ध होने की यह कौन सी रीति है और इस विषय में हमारे लिये कैसी लज्जा प्रतीत होती है" खैर! अन्त को लाचार

हो जैयचन्द को पृथ्वीराज और संयोगिता को बुला कर ब्याह कर देना पड़ा, और किसी तरह किस्सा ख़त्म हुआ।

अब देखना चाहिये कि गोयन्दराय के जिम्मे दो काम सपुर्द हुआ, एक या दो तो सूर सामन्त का उसी में बिदूषक भी बनाये गये। परन्तु काम बिदूषक का कहीं नहीं झलका। नाम न केवल गोबिन्दराय का गोयन्दराव चौहान का चहुआन किन्तु संयुक्ता को संयोगिता लिख बिसमिल्लाही ग़लत कर डाला। हाहुलीराय ए लंगरी राय नाम अवश्य बिदूषक के काम की याद कराते हैं ॥

निदान समालोचना बहुत बड़ी हो जाने से नाटककार के साधारण धर्म्म का आख्यान न कर हम लेख समाप्त कर के अपने मित्र ग्रन्थकर्ता और समालोचक समूह से यह प्रार्थना करते हैं कि यों मनमाना लेख न लिख मारा करें, विशेष कर सम्पादकों को इस पर विशेष ध्यान रखना चाहिये ॥ क्यों कि उनकी सम्मति सर्वसाधारण को विश्वसित प्रमाण रूप होती है; उन्हें अपनी पक्षपात शून्य यथार्थ सम्मति प्रकाश करनी चाहिये चाहे ग्रन्थकर्ता रुष्ट क्यों न हो, जाय परन्तु चापलूसी और खुशामद सम्पादकों को कलंक का कारण है। हमारी कई समालोचनाओं पर क्रुधित हो अनेक ग्रन्थकर्ता ग्राहकों ने कादम्बिनी लेना बन्द कर दिया परन्तु उसके लालच वा हानि के कारण हम अपनी उचित और उदार सम्मति को प्रकाश करने से बन्द नहीं कर सकते।

अभी विगत मेघ में एक माननीय मित्र रचित पुस्तककी समालोचना जो शुद्ध और यथार्थ रीति से की गई थी कोई उनका चापलूस बहुत कुछ उन्मत प्रलाप के उपरान्त यों धमकी देता है कि यदि आपने यों लिखा है, तो हम भी आप की कविताओं में दोष दिखलावेंगे और कादंबिनी की निन्दा करैंगे। परन्तु यदि वह हमारे सच्चे दोषों को प्रगट करैगा हम अपने दोषों को समझ उसे दूर कर लाभवान् होंगे। और अवश्य चित से उसके धन्यवादित होंगे, और यदि वे मिथ्या निन्दा करते हैं तो उससे हमारी कुछ हानि नहीं, इसी प्रकार इस समालोचना में भी जो कुछ अयथार्थ समझें, दृढ़तर प्रबल प्रमाण पूर्वक प्रकाश करें; उत्तर दिया जायगा। परन्तु केवल अपनी भूल की हूल के दर्द की चिल्लाहट और बिलबिलाहट व्यर्थ न सुनी जायगी।

बंग विजयता की आलोचना

यह हिन्दी में मनोहर और अनूठा उपन्यास बना, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ उपन्यास के समस्त गुणों से युक्त है विशेषता यह कि आर्य्य भाषा में भी होकर अंगरेज़ी प्रबन्ध और प्रणाली से युक्त है, क्यों न हो जब कि रचयिता इसके अनन्य आर्य्य कुल भूषण सुविख्यात श्री रमेश बाबू हैं, और अनुवाद कर्ता सुयोग्य हमारे मित्र, इस कारण हम ग्रन्थ कर्त्ता और अनुवादक के विषय में अलग अलग समालोचना करना उचित समझते हैं।

अनुवाद के विषय में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है क्योंकि वह प्रचलित साधु भाषा में ज्यों का त्यों लिखा गया है और ढंग भी अच्छा है, केवल कहीं कहीं अप्रचलित शब्द अवश्य आ गए हैं; अथवा कहीं कहीं व्याकरण की अशुद्धि और छापे की अशुद्धियां मिल जाती हैं परन्तु उसे हम कोई विशेष दोष नहीं मानते, किन्तु अंगरेज़ी कविताओं के वे शीर्षक छंद जो प्रत्येक परि-च्छेदों के आदि में ग्रन्थकर्त्ता द्वारा संग्रहीत, और सन्निवेशित किए गए, और मानों वे तत्वरूप हैं उसका अनुवाद नहीं किया गया, यही कसर या भूल आलस्य या दोष अनुवादक का हम मानते हैं। यदि यह भूल ग्रन्थकर्त्ता की मान कर मक्षिका स्थाने मक्षिका लिखना अनुवादकर्त्ता अपना धर्म्म मानते हैं तो भी हम उनसे पूर्णरूप से सहमत नहीं इसलिए की बङ्गालियों में अंग्ररेज़ी का बहुत ही प्रचार है अस्तु हम अपने मित्र से आशा रखते हैं कि वे पुनरावृत्ति में इस न्यूनता को मिटा कर विशेषता सम्पादन करेंगे। अन्त को हम अनुवादकर्त्ता के सफल परिश्रम से धन्यवादित होकर के ग्रन्थकर्त्ता के विषय में अपनी सम्मति सूचित करते हैं तो इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास सर्व्वतोभावेन उत्तमोत्तम है जैसा हम पूर्व में प्रकाशित कर चुके हैं, परन्तु इसके गुण दोष को भी साधारण रीति पर प्रकाश करना उचित समझते हैं।

प्रथम परिच्छेद का पूर्व भाग जो पञ्चम पृष्ठ के आधे में समाप्त होता है, और जिसमें बङ्ग देश का इतिहास लिखा गया है, हमारी जान यहाँ पर न लिखा जाना चाहिए, क्योंकि वह उपन्यास का कोई अङ्ग नहीं यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका द्वारा प्रकाशनीय है॥

(दूसरा परि०) महाश्वेता और सरला के प्रवेश के संग काल और समय एवं दशासंबन्ध और स्वभाव का सुन्दर चित्र उतरा है। चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है, विशेषता सरला और अमला से साँचे की ढली नवेली ललनाओं की स्वाभाविक रसीली और भोली भाली बातें एवं इन्द्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही और प्रेमी की स्वाभाविक मर्य्यादा संपन्न शुद्ध प्रीतिप्रदर्शन, और परस्पर सुमधर प्रेमालाप और साथ ही वियोग सूचना अत्यन्त उत्तम रीति से वर्णित है। परन्तु ४० पृष्ठ के अन्त में जो सरला देशत्याग करने की इच्छा रखने वाले इन्द्रनाथ से कहती है—"क्यों क्या' सखी तुमको घर में रहने नहीं देती" नहीं समझ में आता कि वह सखी कौन है।

[छठवां परिच्छेद] विमला और सतीश्चन्द्र की प्रभावपूर्ण बातें, पिता और पुत्री का स्नेह अच्छा दिखलाया है।

[सातवां परिच्छेद] पाप का प्रभाव और पापी के चित्त की चिन्ता का चित्र एवं दुष्टों की कुटिल शिक्षा और विपरीत वचनरचना सामर्थ्य भी उत्तमता से लिखी गई।

[आठवां परिच्छेद] कुटिल और दुष्टों की मनोवृति अच्छी दिखाई गई।

[नवां-दसवां परिच्छेद] में समय और स्वाभाविक सौन्दर्य्य के वर्णन संग चिन्तित चित्त वाले जनों की चिन्ता का चित्र और शोकार्त्त हृदय वाले का अन्ततोगत्वा ईश्वर में अनन्य प्रौढ़ प्रेम प्रदर्शन उत्तम है। परन्तु हम यहां विमला और इन्द्रनाथ का मिलना नहीं पसन्द करते, और सरला से इन्द्रनाथ का सतीशचन्द्र के रक्षा की प्रतीक्षा तो अत्यन्त अनुचित और अवर्णनीय है। यद्यपि उसको ग्रन्थकार अपने तीसरे परिच्छेद में सुधारता है, परन्तु हम उससे असन्तुष्ट हैं।

[ग्यारहवां परिच्छेद] गुप्त वेष में दोनों भाइयों का संयोग और विचित्र वार्तालाप उत्तम है, परन्तु इसमें दो बातें आलोचना योग्य है। प्रथम ये नाविक और इन्द्रनाथ के मुगेर में मिलने से यदि महेश्वर के मन्दिर से चलते शोकाकुल हृदय इन्द्रनाथ से मुगेर की राह में नाविक मिलता तो कदाचित् और भी सुन्दरता आती; यों हीं [बारहवें परिच्छेद में] नाविक को पूर्वकथा के पश्चात इन्द्रनाथ का यदि सम्बन्ध नाविक पर प्रकाश हो तो और अच्छा

होता, क्योंकि नाविक अर्थात् उपेन्द्रनाथ, इन्द्रनाथ, अर्थात सुरेन्द्रनाथ को अपना छोटा भाई जान कर भी चाहे इससे फिर प्रत्यक्ष भ्रातृ सम्बन्ध होने की आगामि में आशा न भी हो परन्तु फिर भी अपने प्रेम का यों खुल्ली खुल्ला व्याख्यान करना कुछ अनुचित सा बोध होता है,

[सोलहवां तथा सतरहवां परि०] कमला का स्वभाव और उसकी दशा बहुत ही अच्छी तरह वर्णित है ॥

[इक्कीसवां तथा बाइसवां परि०] महाश्वेता और सरला का कारागृह निवास, विमला का उन पर असीम कृपा प्रकाशन और सरला से सरल भाव पूर्वक अभिन्न मैत्री का वर्णन है। परन्तु हम विमला और सरला का दूध पानी के समान मिल जाना नहीं पसन्द करते क्योंकि महाश्वेता और सरला सी राजकुलाभिमानी, और शत्रुनाशन-प्रतिज्ञा-व्रतधारिणी, राजमहिषी और राजकुमारियों का चाहे वे कितनी हूँ पराधीनता में क्यों न हों तो भी यों मिल रहना एवं विमला का चाहे वह कैसी हू दयामय निष्कपट हृदय सरल स्वभाव की क्यों न हो पर अचानक शत्रुकुल के घर के गूढ़ भेद और सत्य गोपनीय वार्ताओं का व्याख्यान स्वभाव के विरुद्ध समझ पड़ता है। विमला और मैना (पक्षी) की बातें बहुत ही उचित और विचित्रता संयुक्त हैं और इसी प्रकार सरला का निज गृह में स्वप्न का भान होना।

(तेइसवां परि०) यहां इन्द्रनाथ विषयक वार्ता होना मुझे नहीं पसन्द है, और महेश्वर के मन्दिर से यहाँ तक विमला को इन्द्रनाथ का प्रेम मेरी जान वर्णनीय नहीं है, और सरला द्वारा विमला को शोच होना भी अच्छा नहीं यदि छिपा प्रेम पीछे प्रगट होता तो भी अनुचित न होता। हमारी जान विमला और इन्द्रनाथ का मिलना मुंगेर में अच्छा होता जिसकी सूचना १५ वें परिच्छेद में आती है एवं २५ वें परिच्छेद में भी।

[पच्चीसवां परि०] समय और समा एवं स्वाभाविक सौन्दर्य्य वर्णन के साथ विमला के शोकाक्रान्त हृदय का चित्र अच्छा उतरा, अन्तिम भाग में पूर्व कथा की सूचना भी उत्तमोत्तम है।

[तीसवां परि०] सतीशचन्द्र की मृत्यु बहुत उचित लिखी गई, और उसके कण्ठप्राणावस्था की वार्ताएँ भी भाव भरी हैं।

[एकतीसवां परि०] ग्रन्थकार ने किस सौन्दर्य्य से पूर्णिमाशी का अमावस्या बनाया है। सरला की उत्कंठा भी अच्छी दिखाई परन्तु इन्द्रनाथ के सम्मे-

लन में कुछ विशेष विचित्रता न आई। [तैंतीसवां परि०] यह परिच्छेद मानो ग्रन्थ का सार भाग अत्यन्त ही उत्तमोत्तम है, क्योंकि समग्र कथा का निचोड़ इसी में निकलता है, विशेषतः कमला और उपेन्द्रनाथ का सम्मेलन अत्यन्त ही उत्तम रीति से लिखा गया, और सर्व्वांश शुद्ध और प्रशंसनीय है।

[चौतीसवां परि०] राजा टोडरमल के दर्बार की शान शौक़त अच्छी दिखाई गई, शकुनी की मृत्यु भी अच्छी रीति से कराई गई।

[पैंतीसवां परिच्छेद] यह अन्तिम परिच्छेद, है इसमें ग्रन्थ और कथा समाप्ति होती है, इसमें हम विमला के मृत्यु का वर्णन अत्यन्त नापसंद करते हैं, हर्षप्रद सरला के विवाह के संग विमला की मृत्यु वैसे ही बोध होती है जैसे मिश्री मिश्रित सुमधुर दुग्ध के प्याले में नींबू निचोड़ा जाय। हमारी जान सतीश्चन्द्र के मृत्यु के साथ ही जाली काग़ज़ात राजा टोडरमल को समर्पण कर शकुनी के समग्र अपराध सूचित कर सरला और इन्द्रनाथ का सम्बन्ध कह अपनी प्रेम दशा और उसके परित्याग पूर्वक पिता के शोक से शोकार्त्त विमला का आत्मघात द्वारा प्राण विसर्जन तीसवें हीं परिच्छेद में वर्णन करना उचित था। सारांश यह कि ग्रन्थ निस्सन्देह उत्तम श्रेणी का है क्योंकि कथा अत्यंत उत्तम है, प्रबन्ध भी मनोहर और मुख्य गुण स्वभाव के परिचय का अच्छा दिया प्राकृतिक स्वाभाविक दोनों सुन्दरता का वर्णन सुन्दरता से किया गया—

जैसे कि पचीसवें परिच्छेद २४४ पृ० में—"आकाश में अँधेरी छाई थी आगे पीछे जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी केवल जल ही जल देख पड़ता था। झुंड के झुंड मेघों की परछाईं उस नील जल में देख पड़ती थी, मन्द पवन के प्रवाह से नदी का जल हिलकोरा मार रहा था उसी तरङ्ग और फेन राशि के ऊपर से नौका चली जाती थी। दोनों किनारों पर कहीं कहीं आम के वृक्ष अमराई में निशाचर श्रेणी की भाँति निविड़ अन्धकार में खड़े थे और वायु वेग से हाहा शब्द करती।

यों ही चौथे परिच्छेद उनतीसवें पृष्ठ में—भीतर से शब्द हुआ और एक षोडश वर्ष की कटीली आँखें वाली चञ्चला किनारेदार साड़ी पहिरे हाथों में शंख की चूड़ी, पैरों में कड़ा, कमर पर कलशा रक्खे बाहर आई। आते ही उसने सरला का जूड़ा पकड़ कर खींच लिया, और चिकोटी काट

कर बोली कि 'तैं कैसी बौरहिया है'। स्वामी घर में हैं, तिस पर वृद्ध स्वामी इतने तड़के हमको कैसे छोड़ैगा। तुझको क्या माता ने विवाह किया नहीं सारी रात चिन्ता में नींद नहीं आती।

अन्त को अब हम अपने परमादरप्रिय ग्रन्थकर्त्ता के धन्यवादित और अपने मित्र अनुवादक के कृतज्ञ होकर समालोचना की समाप्ति करते हैं।

बंगविजयता की समालोचना

मान्यवर श्रीयुत बाबू रमेशचन्द्रदत्त जी० सी० यस० प्रणीत जिसे हमारे मित्र श्री बाबू गदाधर सिंह शिरिश्तेदार कलक्टरी मिरज़ापुर ने बंग भाषा से नागरी भाषा में अनुवाद किया है, मूल्य १) मात्र उत्तम काग़ज़ पर टाइप के सुन्दर अक्षरों में बारहपेज़ी फ़ार्म के आकार में २७८ पृष्ठ का ग्रन्थ है। अवश्य हिन्दी रसिकों को ग्रन्थकर्त्ता से मँगा कर देखना चाहिए।

नागरी के समाचार पत्र और उनकी समालोचना

यद्यपि सबी विषयों की समालोचना करनी समाचार पत्रों का एक मुख्य धर्म्म वा अंग है, परन्तु साहित्य संबन्धी समालोचना उसमें भी एक विशेष आवश्यक वस्तु है। क्योंकि प्रथम तो इससे कि सामयिक पत्रों के द्वारा सामान्यतः सबी पत्र पाठकों को किसी नवीन पुस्तक वा पत्र के प्रकाशित होने की विज्ञप्ति हो जाती और बिना कौड़ी व्यय के पुस्तक प्रणेता को एक बार विज्ञापन देने का लाभ हो जाता है। अधिकतर पुस्तकें भी केवल इसी अभिप्राय: से समाचारपत्र सम्पादकों के समीप आती न कि सच्ची समालोचना कराने के अभिप्राय से और यही कारण है कि समाचार पत्रों ने भी एक प्राप्ति स्वीकार का स्तम्भ बनाया है, कि जिससे प्राप्ति स्वीकार करके पुस्तक प्रेषणकर्त्ता के ऋण से मुक्त हो जाते हैं। वास्तव में बहुतेरी पुस्तकें ऐसी ही होतीं, वरञ्च अनेक तो इसके भी योग्य नहीं, परन्तु अवश्य कुछ ऐसी भी आजाती कि जिनपर समालोचना की आवश्यकता होती, और उनमें कुछ की समालोचना सम्पादक की योग्यता, श्रद्धा और अवकाश के अनुसार लिखी भी जाती। अब इसके आगे का आख्यान सामान्य वस्तु को छोड़ कर विशेष का विषय है, जिसकी चर्चा यहाँ अप्रयोजनीय है। रिव्यू अर्थात् समालोचना का अर्थ है पक्षपात रहित होकर न्याय पूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण दोष की विवेचना करना और उससे ग्रन्थकर्ता को विज्ञप्ति देना है क्योंकि रचित ग्रन्थ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढ़ाना, एवम् दोषों को दिखला कर उसके सुधार का यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है। परन्तु यह एक कठिन वस्तु भी है, क्योंकि प्रथम तो किसी अच्छे ग्रन्थ की समालोचना करने के लिये समालोचक की योग्यता उसके ग्रन्थ कर्त्ता से अधिक अपेक्षित है, दूसरे उसे भी उतने ही सावधानी और परिश्रम पूर्वक उसे देखने की आवश्यकता है जितनी उसके ग्रन्थकर्त्ता को उसके संशोधन में होती है। इसी से बिना इतने के तो उसका सुसम्पन्न होना ही दुर्लभ है, रहा यह कि मतभेद आग्रह पक्षपात, ईर्षा, द्वेष, शुश्रूषा, संकोच और दबाव,

यह कठिनता उसके दोष के कारण हैं, परन्तु पूर्वोक्त गुणयुक्त और इन दोषों से रहित जो समालोचना लिखी जाय यथार्थ समालोचना कहाने की योग्यता वही रखती है। सच्ची समालोचना एक स्वच्छ दर्पण तुल्य है कि जो श्रृंगार की सजावट को दिखाती, और उसके दोषों तथा साहित्य की दुष्टाकृति को बतलाती। यह एक ऐसी कसौटी है कि जिसपर वर्ण सुवर्ण का खरा और खोटापन झलकता है; यह वह दीपक है कि जिसकी सहायता से अन्धेरी कोठरी में धरे अच्छे और निकृष्ट दोनों पदार्थ देख पड़ते अथवा वह उपनेत्र (चश्मा) है कि जिसके द्वारा अति सूक्ष्म पदार्थ हीन दृष्टि वाले जन को भी सहज में सुझाई पड़े अथवाः—

'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भ्रमरुज परिवारू॥
उघरहिं विमल विलोचन हीके। मिटहिं दोष दुःख भ्रम रजनी के॥

परन्तु शोक से कहना पड़ता है, कि न तो प्रायः इस प्रकार की समालोचना लिखने योग्य विशेष पुस्तकें प्रकाशित होती और जो होती उनकी ऐसी समालोचना भी नहीं लिखी जाती एवम् यदि कदाचित् लिखी जाती, तो उसका फल अवश्य ही विपरीत होता है और वह भी कई प्रकार से।

जहां तक लोग जानते हैं यद्यपि हिन्दी पत्रों में न्यूनाधिक समालोचना लिखने की चाल तो आगे से प्रचरित है तौ भी ऐसी समालोचना लिखने की परिपाटी हमारे नगर की सुप्रसिद्ध मासिकपत्रिका आनन्द कादम्बिनी ही ने निकाली। सच पूछिये तो मासिक पत्र ही का कार्य्य है कि ऐसी समालोचना लिखें परन्तु इन समालोचानाओं के लिखने से उसे बहुत कुछ हानि उठानी पड़ी, यथा बंगाल के एक महाराज की बनाई एक नष्ट पुस्तक की निष्प्रयोजनता और रचना दोष के दिखलाने से पत्र बन्द करने के पश्चात भी गुप्त पत्रों द्वारा उधर से गालियों के बौछार आते रहे। इसी भांति स्वर्गीय लाला श्री निवास दास कृत 'संयोगितास्वयम्बर नाटक' जिसकी अशेष सामयिक समाचार पत्रों के एकमुख हो प्रशंसा करने पर भी कादम्बिनी ने जो उसके दोष दिखलाए तब भी वही दशा रही। वर्षों के पीछे पत्रिका के दोष दिखाने का भी बहुत कुछ प्रबंध किया गया, परंतु शोक कि उसके बतलाये दोष का उत्तर न दिया गया। यही दशा ऊपर की कही पुस्तक के रचयिता की ओर से हुई; इसी भांति अभी बहुत दिन की बात नहीं है कि जब उसी आनन्द कादम्बिनी के सम्पादक द्वारा प्रणीत भारत

सौभाग्य नाटक समस्त पत्र सम्पादकों के समीप समालोचना अर्थ वितरित हुआ तो प्रायः उसकी भी सभी पत्रों ने समालोचना की, और एक स्वर से प्रशंसा भी की थी, परन्तु वर्तमान हिन्दोस्थान नामक दैनिक पत्र के उस समय के सम्पादक वा सम्पादकों ने अपने समालोचना में उसकी निन्दा की, और कई दोष भी दिखलाये। पुस्तक प्रणेता की ओर से उसका उत्तर दिया गया, परन्तु शोक कि उक्त दैनिक पत्र के सम्पादकों ने निज पत्र में उस प्रेषित उत्तर को बेढंगा कह कर पचा डाला और उसे न छापा, वरञ्च फिर भी उस समालोचित पुस्तक की निन्दा की। यद्यपि वह निन्दा आभ्यन्तरिक द्वेष बुद्धि अथवा किसी विशेष कारण से क्यों न रही हो, तथापि वह कोई विशेष आक्षेप का कारण नहीं जितना कि उसके उत्तर का न छापना। फिर यदि उसके सम्पादक ने द्वेष दूषित होने से वा योंभी ऐसी संकीर्णता दिखलाई, तौभी कुछ विशेष विचित्रता न थी, परन्तु अनर्थ तो यह था कि इस देश के दूसरे बड़े बड़े पत्रों के सम्पादक भी उस के छापने से टाल टूल करने लगे, कोई कहता कि,-"मेरे पत्र में इतने बड़े प्रबन्ध का समावेश असम्भव." तो कोई कुछ कहता और दैनिक से लड़ने में डरता। अब कहिये तो ऐसी दशा पर किसी मनुष्य की कठिनता की कहाँ तक सीमा पहुँचती है, कि जब वह अपनी प्रेषित पुस्तक के निकाले दोषों का उत्तर भी न दे सके? फिर यदि किसी सामान्य पुस्तक वा लेखक के विषय में ऐसा अन्याय भी किया जाय वा उसका लेख छापने से मूँ मोड़ा जाय तो एक बात भी है, परन्तु ऐसी पुस्तक कि जिसकी सब समाचार पत्र प्रशंसा करें, और जिसका प्रणेता एक सुलेखक माना जाय, और एक प्रतिष्ठित पत्र का सम्पादक भी रह चुका हो, उसके भी ऐसे आवश्यक लेख का छापने वाला कोई पत्र न ठहरे तो इससे अधिक किसी भाषा के सम्पादकसमूह के लिये लाञ्छना का और कौन दूसरा विषय है!

यही कारण था कि विगत वर्ष जब साहित्यसुधानिधि का छपना बन्द था, उसके सम्पादक बाबू देवकीनन्दन का एक पत्र जो केवल उनके ग्रन्थों की बनावट के विषय में था और जिसमें उन्होंने उपन्यास लिखने की रीति पूँछी थी और सर्वसामान्य तथा विशेषजनों से अपने ग्रन्थों के विषय में सम्मति मांगी थी यद्यपि उससे किसी ऐसे विषय से सम्बन्ध न था कि जिसपर उन दिनों आन्दोलन आरम्भ हो कि उसके छापने से

हमारे सहकारी सम्पादक ने भी अनिच्छा प्रकाश की, और उसने कहा कि इस पत्र वा शास्त्रार्थ से लेखक महाशय का केवल अपने ग्रंथों की ख्याति अथवा विज्ञापन देने का अभिप्राय है, और केवल स्वार्थ के अतिरिक्त इससे सर्व सामान्य का कुछ उपकार नहीं, तौ भी हमने लेखक महाशय के आग्रह पर उसे प्रकाशित कर दिया, क्योंकि समाचार पत्र कोई ग्रंथ नहीं, न अपनी कोठी का बही-खाता कि उसमें हम अपने इच्छा के विरुद्ध कुछ न छपने दें, चाहे वह सर्वसामान्य जन वा विशेष के उचित लाभ से कैसा ही कुछ सम्बन्ध क्यों न रखता हो वरञ्च उदार पत्र सम्पादकों का मत इसके विरुद्ध है, और समाचार पत्र एक प्रकार सर्व सामान्य की सम्पति है, उक्त बाबू देवकी नन्दन के उसी पत्र के उत्तर में सहयोगी भारत मित्र सम्पादक ने लिखा भी था कि "हमने इस पत्र को अप्रयोज-नीय मान कर नहीं प्रकाशित किया था, परन्तु नागरी नीरद ने जब इसे प्रकाशित किया है, तो इसके विषय में हम अपने विचार को प्रकाशित करते हैं।" यद्यपि उस पर और किसी ने कुछ उत्तर न दिया और हम भी उसके विषय में अपना मत न प्रकाशित कर सके परन्तु अपने परिश्रम के बचाव के लिये एक प्रसिद्ध लेखक के लेख को चाहे वह स्वार्थ बुद्धि से ही क्यों न लिखा गया हो, जब किसी अनुचित विषय वा रीति पर नहीं लिखा गया है, तो प्रकाशित करने से भी मुख मोड़ना उचित न समझा।

इस कथा के कहने से तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि समालोचनाओं के लिखने में ऐसे २ अनेक बखेड़े पड़ते हैं, कि जिनके अनेक उदाहरण और भी हैं, जो लेख बढ़ जाने के कारण नहीं लिखे जा सकते। फिर इसके अति-रिक्त कि उसमें बहुत श्रम करना पड़ता, पीछे भी बहुत बखेड़ा झेलना पड़ता है। फिर हमारी भाषा में जो पुस्तकें आज कल प्रकाशित होतीं, उनमें से अधिकांश पढ़ने के पीछे केवल पश्चाताप ही होता, और ग्रन्थ कर्त्ता के परिश्रम को छोड़ अपने समय के नष्ट होने का परिताप होता हैं और जो इससे अच्छी हैं, उनके विषय में गुण की प्रशंसा करने में ठीक है, परन्तु दोष तो दिखाते ही ग्रन्थकार लोग अति अप्रसन्न होते, और वे उचित रीति से उत्तर देने के स्थान पर अनुचित साहस के करने पर भी तत्पर होते। वे नहीं चाहते कि "उनके गुण दोष की जांच की जाय, वरंच विशुद्ध प्रशंसा कि जो एक न्यायी समालोचक के लिये एक प्रकार की बड़ी भारी कठिनता

है, विशेषकर उस अवस्था में कि जब उसने श्रम कर एक ग्रन्थ रूपी धान्य को कूड़ा करकट से अलग करके बतलाया कि इसमें इतना अंश उत्तम और इतना अधम है, तो पुरस्कार के पलटे वह गाली पाये वा अनुचित रीति पर ग्रन्थ कर्त्ता से वाद विवाद कर अपना अमूल्य समय नष्ट करें और साथ ही दूसरी २ हानियों को भी सहे! सारांश किसी न्यायी और सुयोग्य समालोचक को लाभ केवल उस पुस्तक के अतिरिक्त कि जो उसने पाई और कदापि कुछ नहीं है वरञ्च कभी २ हानि और कहीं कई प्रकार की कठिनाइयां, परन्तु सद्ग्रन्थकर्त्ताओं को अवश्य अच्छे समालोचकों से बड़ा लाभ होता है, जैसा कि कविकुलकुमुदकलाधर श्री कालिदास का कथन है, कि—

"तंसन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसम्संयक्ति हेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यमिकापि वा॥

अस्तु हम अभी ऊपर लिख आये हैं किन हमारी भाषा में विशेष समालोचना योग्य पुस्तकें ही आती और न नागरी के समाचार पत्र उनकी यथार्थ समोलोचन हीं करते हैं, वरञ्च वे केवल प्राप्ति स्वीकारही मात्र करते, व एकाध शब्द प्रशंसात्मक, भी लिख देते, चाहे वह उसके भी योग्य हो अथवा न हो, परन्तु हमारी समझ में यह परिपाटी बहुत हीं निकृष्ट है। यह क्या कि—सेत २ सब एक से कनक, कपूर कपास?" उनका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि-वे ठीक २ और यथावत् गुण और दोष को तुल्य प्रकाशित करें, सत्कवि और सुयोग्य लेखकों के श्रम को सराहें उनके यश को फैलायें, उत्साह बढ़ायें, दुष्टपद्यपूरक और व्यर्थ लेखनी घिसने वालों को उनके अयोग्य और व्यर्थ बढ़ते अनर्गल उत्साह को दबाये एवम् श्रम पर पश्चात्ताप कराये और सिखलाये कि तुम ऐसा अनुचित साहस अब आगामि से कदापि मत करो, एवम् अपनी भाषा रूपी वाटिका की उसी भांति रखवाली करें कि जैसे एक सुचतुर माली खर और कुटिल कंटकमय वृक्षों को निकाल सुन्दर सुगन्धित पुष्प और सुस्वादु फलवान तरु लताओं के आलबाल को बारि पूरित और उनकी समयोचित सेवा करता है, काक और उलूकों को फलों पर चोंच चलाने से वारण करता और भ्रमरों को मकरन्द पान करते देख प्रमुदित होता है। सम्पादकों के इस असावधानी वा त्रुटि से सर्वसाधारण वा पत्र-पाठकों की भी एक बड़ी हानि होती अर्थात् वे पत्रों की समालोचना से यह नहीं निश्चय कर सकते कि अमुक ग्रन्थ कैसा है, इसी भाँति वे कभी २ झूठी प्रशंसाओं से

वंचित हो कुछ २ खो भी बैठते हैं एवम् अनेक सत्कवि और अच्छे ग्रन्थकारों की भी हानि होती है, क्योंकि इनके मीठे मुख की प्रसंशा भी शंकाजनक रहने से नवीन पुस्तक पाठक वा सामान्य स्वभाषा प्रेमियों की श्रद्धा पूर्णतः उत्तेजित नहीं होती। जैसे कई श्रेणी के ग्रन्थकार होते, वैसे ही उतने ही श्रेणी के पत्र सम्पादक भी हैं, उतने ही श्रेणी की उनकी योग्यता और उनके पत्र का गौरव, परन्तु यह भी स्मरणीय है कि-छोटे भी बड़ों ही का अनुकरण करते हैं, और बड़ों ही पर छोटों के सुधारने और सँभालने का भार भी है। इसी भांति इसमें एक सब से बड़ी कठिनता यह भी है कि ग्रन्थकार तो भिन्न २ अनेक कला कुशल होते और एक सम्पादक बेचारा कहां तक सब विषय की पाण्डित्य रख सकता। यही कारण है, कि नित्य नवीन उन्नतिसम्पन्न अंग्रेज़ी भाषा के प्रतिष्ठित समाचार पत्र सम्पादकों को बहुत सी भिन्न २ विद्या शास्त्रों के गूढ़ ग्रन्थों की समालोचना विशेष व्यय करके उसी विद्या और शास्त्र के महापण्डितों के द्वारा करानी पड़ती है। परन्तु वह दिन हमारी हिन्दी वा नागरी के कहां? यहां तो बहुत श्रम कर और अच्छे से अच्छा ग्रन्थ लिख कर भी ग्रन्थकर्त्ता अथवा पत्र सम्पादक पछताता, और श्रम छोड़ कर छपाई का भी व्यय नहीं पाता! तब इसकी कथा ही क्या है! परन्तु आक्षेप तो इस पर है कि जो जन योग्यतासम्पन्न और समर्थ भी हैं वे ही प्रायः इसके विरुद्ध आचरण करते और उपर्युक्त विषयों पर विशेष ध्यान नहीं देते! जिससे कई प्रकार की हानि होती इसी भांति अनेक जन व्यर्थ भी हाथों में पिसान लगा कर भण्डारी बनने पर तत्पर हो जाते! और यद्यपि विच्छू का भी मंत्र नहीं जानते परन्तु सर्प के मुख में अंगुली डाल देते हैं! जिससे अनेक प्रकार की हानियां होतीं! परन्तु क्या किया जाय, कि इसमें अनेक काठिनाइयां आ पड़तीं, जिनमें कैयों के वर्णन तो हम ऊपर कर चुके हैं, परन्तु वे उतनी ही नहीं वरंच अनेक और भी अद्भुत और दुर्निवार्य्य हैं, फिर सामान्य पत्र सम्पादकों के अतिरिक्त विशेषों को और विशेष आशंका और उपद्रव के सन्मुख आना पड़ता, जिसकी यहां कुछ भी चरचा चलाना इस प्रबन्ध को मानो शास्त्रार्थ का विज्ञापन बनाना है। अस्तु इनहीं बातो को विचार कर हम नीरद में समालोचना लिखना ही छोड़ बैठे थे, क्योंकि-हम सामान्य भाव से आंख मूंद कर सब ग्रन्थों की प्राप्ति स्वीकार मात्र करना कदापि नहीं चाहते और न झूठी प्रशंसा, फिर साथ ही सच्ची समालोचना करते भी डरते हैं, क्यों कि सच्ची समालोचना

करना मानों व्यर्थ अपने अनेक बैरी बनाना है। फिर जिस कार्य्य में लाभ तो नहीं, और हानि इतनी उसे क्यों करें परन्तु इसमें भी इसके अतिरिक्त कि अनेक सुलेखकों के प्रति उचित कर्तव्य से हम शिथिल होते, और अकृतज्ञ बनते सर्वसामान्य पुस्तक प्रणेता और पत्र प्रेषकों से भी निपट निरुत्तर बन जाते हैं ! यदि केवल उत्तमों ही की प्रशंसा कर दिया करें, तो यद्यपि केवल प्रशंसा के लिए विशुद्ध गुण ही का मिलना दुर्लभ है, अन्याय भी होता, फिर कहिये अब इस कठिनता से बचने की कौन युक्ति सुलभ है ?

यद्यपि हम लोगों की सच्ची समालोचना से परिचित अनेक पुस्तक प्रणेता हमें स्वयम् अपनी पुस्तकें ही नहीं भेजते, और हम लोग भी उन्हें हर्षपूर्वक धन्यवाद देते हैं, तौ भी अधिकांश जन भेजा ही करते और हम उन्हें एक स्थान पर अबतक रक्खे जाते, और इसी बखेडे से बचने के लिये भूलकर भी नहीं देखते थे कि कदाचित् उसका फल समालोचना लिखना ही न हो, और अनेक आने जाने वाले सभ्य स्वरूप में ग्रन्थों के चोर लोग किसी न किसी भांति उनके बाहुल्य को नित्यप्रति न्यून करते ही जाते-तौ भी उनकी संख्या इतने दिनों के पीछे अधिक होई गई है। उनके प्रेषकों के पत्रों की भी भरमार है। उत्तर पचा जाने पर भी कैयों के कई पत्र आचुके और अब उस उदासीन वृत्ति को भी छोड़ना पड़ता है, और विचार करने से कोई उचित शैली भी नहीं दिलखाई पड़ती।

निदान अब हमें भी विशेष रूप से अपने अन्य सहयोगियों का ही अनुगामी होना पड़ता है यद्यपि यह तो असम्भव सा प्रतीत होता, कि हम अपने सिद्धान्त को भूल अन्यथा प्रशंसा वा निन्दा करें तौ भी अब यही उचित बोध होता कि बहुतेरी निःसार और निन्दनीय पुस्तकों की निन्दा न कर केवल प्राप्ति स्वीकार मात्र करदें और शेष की संक्षिप्त समालोचना अतः हमारा प्राप्ति स्वीकार मात्र देख पाठक वा पुस्तकप्रणेता केवल यह समझें कि—इसमें समालोचना की आवश्यकता नहीं है, योग्यता ही नहीं है और समालोचित पुस्तकों का गुण दोष भी प्रायः उतना ही कि जितना उसमें लिखा गया है एवम् पुस्तक प्रणेता और पत्र प्रेषण कर्त्ताओं, विशेषतः अनेक उस समालोचना के लिये आग्रह करने वालों से भी अत्यन्त नम्रता पूर्वक यह विनय है कि समालोचना करने में हम लोग यथा मति उसके सच्चे गुण दोष के प्रकाशित करने में बाध्य है। गुण कहने में यद्यपि कोई हानि नहीं होती, परन्तु अनेक गुणों की प्रशंसा सुन कुछ भी दोष दिखाने से लोग रुष्ट

हो जाते हैं, यद्यपि उसी दोष के दिखलाने से ग्रन्थकर्ता लाभवान होता, अपनी भूल और कसर कोर से विज्ञप्ति पाकर उसके संशोधन और उसकी पूर्ति में समर्थ होता है। अस्तु जो लोग सच्ची समालोचना नहीं चाहते उन्हें उचित है कि हमारे यहाँ पत्र पुस्तकादि जो भेजें उसके ऊपर समालोचनार्थ न लिखें वा न भेजें।

उर्दू बेगम की आलोचना

उर्दू और हिन्दी भाषाओं के सम्बन्ध में एक कहानी जो उपन्यास की भाँति लिखी गई है। इसके ग्रंथकर्त्ता बा० भगवानदास बी० ए० होने के अतिरिक्त एक योग्य और हमारे परिचित सज्जन हैं, तथापि जो कि वह स्वयं अपना नाम छिपाते अतएव हम भी उसे नहीं बताते हैं। पुस्तक आठपेजी रायल आकार के १३३ पृष्ठों की है। काग़ज़ तथा छपाई भी अच्छी, मूल्य ॥) और प्रबन्ध भी अच्छा है।

पुस्तक की मुख्य भाषा बोल चाल की उर्दू है। कहीं-कहीं नागरी भाषा भी हिन्दी के बार्तालाप में आगई है। कुछ स्थानों पर भोजपुरी हिन्दी भी लिखी गई है जो अधिक अशुद्ध है। यद्यपि और भी स्थानों पर कई प्रकार की अशुद्धियाँ रह गई है परन्तु अनेक स्थानों की लिखावट बहुत अच्छी है। व्यंग्य और विनोद प्रायः अधिकतर स्थानों में वर्तमान हैं जिससे कहीं कहीं पढ़ने वालों की हँसी नहीं रुकती। कथा का आरम्भ बहुत उत्तम रीति से हुआ है। कविता का अंश भी कहीं कहीं प्रकाशित होता और इसके गुण भी लखाई पड़ते हैं। छन्द भी कई उर्दू और कई हिन्दी के मिलते हैं जिनमें कई अच्छे भी हैं। किसी किसी में नयापन जिन्हें कदाचित कुछ लोग अरुचिकर कहेंगे रक्खा गया है। और कहीं कहीं अश्लीलता भी आगई है। कहीं विद्या विषयक बातें और कहीं शिक्षा का अंश भी आया है और प्रायः वाक्यों में तुकबन्दियाँ की गई हैं। सारांश पुस्तक एक प्रकार से अच्छी कहने योग्य है। प्रणेता का यह प्रयत्न प्रथम है, यदि वह नागरीभाषा में अपनी लेखनी से आगामी में और कार्य्य लेंगे, तो अवश्य ही निज मातृ भाषा का उपकार कर सकेंगे। अस्तु कुछ अंश उस ग्रंथ से पाठकों के परिज्ञानार्थ उद्धृत भी कर देते हैं;—

पृष्ठ १—"एक लम्बी डाढ़ीवाले मियाँ उस सड़क पर से गुज़रे। उनके पैरों में काबुली जूते और उनके सिर पर अम्भामा था। उनके बदन पर लम्बा कुर्ता था और नीचे सरइ पायजामा था।" * * * (उर्दू बेग़म) "वह सरापा साँचे में ढली थी और उसका मुखड़ा चाँद का टुकड़ा मालूम होता था। हालाँ कि ग़ुर्बत की वजह से उसका कपड़ा वोसीदः था लेकिन उसके

अन्दर उसका गोरा चिहरा ऐसा पोशीदः था जैसे गुदड़ी में लाल या अब्र में हिलाल" ३१ पृ०,

राजत भाल विसाल रसाल सों त्यों सहतूत सी भौंह सुहाई। सुन्दर सेब से गोल कपोल बदाम सी आँख हैं देत दिखाई। दाड़िम दन्त औ ओठ खजूर से नासिका कदली सी मन भाई। 'तौ मुख चन्द सुधा सी स्त्रवै छितपे नित सेवन की मधुराई।

पृष्ठ ३३—"इससे तो ओठों की मिसाल लाल मिरचों से देना बेहतर होता। याने 'इन्द्रायण' के फल की इसलिये मिसाल दी है कि देखने में तो माशूकों के लब बहुत खुशनुमा मालूम होते हैं लेकिन चखने से ज़हर की तासीर रखते हैं।

पृष्ठ ४७—पेशकार हुज़ूर उर्दू ही की खराबी से तो यह गलती हुई। उर्दू का लिखना ऐसा है कि अगर बैलों के नुक़ते बदल दें तो तबलों होजाय और कसबियाँ के नुक़ते बदल दे तो किश्तियाँ हो जाय।

क० सा० (मुस्कुरा कर) सेकट्टर साहेब बोलटा है कि इन कसबियों पर डाट (नुक़्तः) लगा कर इनको किस्टियाँ बना दो हम इस पर सवार होगा।

४६ पेशकार— हुजूर इनमें डाट लगाने की ज़रूरत नहीं है ये इसी तरह सवारी के काबिल हैं।

पृष्ठ ७६—इस बादिये खुशनुमा के अन्दर लहराता है धान का समन्दर। मैंदा में पहाड़ जो खड़ा है। दरयां में जहाज सा अड़ा है।

मस्तूल "प:" उसके दो मुछन्दर। इन्सा की तरह खड़े हैं बन्दर।

तो० रा०—और अगर आप की शेरनी के पीछे यह शेर जोड़ दिया जाता तो अच्छा जोड़ा हो जाता:—

उन बन्दरों के साथ बन्दरानी। कपड़ा पहिने खड़ी है धानी।

पृष्ठ ८१—"सित तालन टांकि सितारन सों पहिने तन धानन को पट धानी।

नदनालन को मनि मालन सों, गिरि ऊँच उरोजनि धारि सयानी।
मनभावन मोरन के मिस गावत, सावन मास सुहावन जानी।
महिमण्डल गोल हिडोंल पै झूलत, हैं नित भारत की महिरानी।

तो० रा०—वाह वाह आपने तो पूर्णोपमालङ्कार का चित्र सा खींच दिया और भारत की महिरानी को राधिका रानी की सी सुन्दरी बनाकर हिंडोले पर झुला दिया। अबतो मेरी आँखों में भी धान के खेत धानी कपड़े से नज़र आते हैं और ये चमकते हुये लाल सितारों की छटा दिखलाते हैं।

आनंद कादम्बिनी का प्रथम प्रादुर्भाव

धन्य है वह भगवान, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द घन परमात्मा ! जिसकी कृपा से आज बहुत दिन की इच्छा के प्रकाश, और रेपू करने का अवसर हमे मिला, अतएव उस इष्ट देव को कोटि कोटि धन्यवाद के उपरान्त अपने देश के हितैषी, और स्वदेश भाषा के उन्नति चाहने वाले, तथा इस पत्र के शुभाकाँक्षी, रसिक महाशयों को, इस पत्र सम्पादक और प्रकाश करने वालों की ओर से अत्यन्त नम्रता और विनय के संग निवेदन है; कि आप लोगों में से कितने महानुभावों को स्मरण होगा, कि प्रथम यहाँ रसिक समाज के रसिकों को बड़ी उत्कण्ठा थी कि, इस उत्तम नगर में कोई नागरी भाषा का ऐसा पत्र निकले, कि जिसके द्वारा इस भाषा का जौहर दिखाया जाय, और उक्त समाज के सभ्यों के बचनामृत की वर्षा कर दूर दूर के प्रेमियों को सुखी करे; और एक हिन्दी भाषा में पञ्च "प्रहसन पत्र" निकालने के लिये बड़े धूमधाम से विज्ञापन 'कवि बचन सुधा' आदि पत्र में दिया, और सौ ग्राहक हो जाने पर प्रकाश करने की प्रतिज्ञा की थी पर पंच को पंचप्रपंच जान के केवल पञ्च ग्राहकों के स्वीकार पत्र आये और इसी प्रपंच में पंच का प्रपंच ज्यों का त्यों रहा, फिर बराबर दिल का तकाज़ा कलम से होता रहा, कभी प्रेस ऐक्ट के डर से डराते, और कभी अपने देश भाषा के समाचारपत्रों की दशा दिखलाते और समझाते।

निदान इसी तरह नाना प्रकार की बातों से बहलाते, और फुसलाते, पर वह काहै सुनता, अपने को यह ठहरा कि खैर ! न पंच सही साधारण समाचार पत्र सही, न समाचार पत्र तो माहवारी रिसाला या मेगज़ीन ही सही पर कुछ न कुछ खुराफ़ात करना ज़रूर।

इस अपूर्व वर्षा ऋतु के आदि सावन सुहावन में आनन्द कादाम्बिनी पर कौन अरुचि कर सकता है, पर यह तो बताइये कि आप किस मनोरथ पर ऐसे उद्यत हुये हैं? और कौन सी इच्छा के मनसूबे पर यह फूँ फाँ है, यों तो गिन्तियों के लिये बहुत से पत्र हुई हैं, अपनी सी गति गाते चले ही जाते हैं, समग्र प्रकार के जो उन्हें लाभ का नाम और हानि के काम से काम रहता है, उससे भी आप अनज्ञ और नावाकिफ फिर क्या समझे जो यों एक

बारगी बेशान गुमान " जान न पहचान बीबी साहिबा सलाम की मसल सच कर दी ?

मित्र ! सच पूंछो तो जब से 'कबिबचनसुधा' से सुधा का स्वाद "सुधासुरपुर" जा बसा और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में चमकीलापन और मनोहरता का गुण मोहनपन के परदे मे ढँप गया, और उस प्राणोपम परम-प्रिय हरिश्चन्द्र ने कि जिसे भारतेन्दु क्या संसार सूर्य्य कहना योग्य अपनी लेखनी को आनन्द के कलमदान बिश्रामालय में स्थान दिया, वे मन्दिर सी दशा को भाषा प्राप्त हुई, सैलानी दिल घबराने लगा, उँगलियाँ कलम उठा कहने लगी कि अरे न सोलह आने तो खैर पाई ही सही, पर कुछ न कुछ करतूत कर अपने भाषा के रसिकों को आश्वासन देना अवश्य ?

शाबाश ! शाबाश !! एकबारगी दून की डींग ! अच्छा कुछ और सुनूँ ।

कृपानिधान ! मैं आप को ऐसा अज्ञान न जान कर सुजान को सैन और "दाना राइ शारा काफ़ी" समझा था, पर आप तो पूंछ २ के इस पचड़े में समस्त पत्र रंगवाया चाहते हैं ! कहैं न तो भी न बनै, अच्छा तो सुनिये ! पर अब न कुछ छेड़ छाड़ करना; देखिये ! यह तो आप पर भली भाँति विदित होगा, कि समस्त प्रकार के देश का हितसाधन और उद्योग, विषयक शिक्षा और सूचना के प्रस्ताव, विविध विद्या, और राजकीय देशीय विषय व्यवस्था नीति और धर्म्म इत्यादि पर लेख राय, खबर, अनुवाद प्रकरण, यह एक साधारण समाचार पत्रों का धर्म्म है, पर मैं इस लिये कि अभी बालक हूँ ! अतएव बहुधा कार्य्य मैंने, अपने और बन्धुवर्ग को बाँट दिये और बहुतों को जो बहुतों ने अपना लिया, तो मैंने भी "दखल दर्माक़ूलात" देना अनङ्गीकृत किया: जैसे कि हिन्दी प्रदीप को देशोन्नति, राजा और प्रजा विषयक प्रस्ताव, निर्द्वन्द मन आजादी से राय देना और भारत मित्र, भारतबन्धु, सारसुधानिधि, बिहारबन्धु, कबिबचनसुधा, मित्रविलासादि भी बहुधा पूर्वोक्ति विषय नाम और शेष निज विषयों से पूरित रहते हैं ।

पर मैंने यह चाहा है कि जहाँ तक हो, अवश्य अनूठेपन को काम में लाऊँ, अभी जब तक शिशुता है तब तक (अनाप शनाप सब से वास्ता रहेगा, और कदाचित् इससे रासिकों को पूर्ण रूप तृप्त न कर सकूँ पर तौ भी किशोर हो अवश्य सन्तोष करने की अभिलाषा रखता हूँ ।

और ईश्वर ने चाहा तो क्या आश्चर्य्य कि सैरवीन का समासुझा आप की आँखें दिल के सहित हर्षित और प्रफुल्लित करदूँ, और समस्त संसार की एक मात्र राजराजेश्वरी श्रीमती महाराणी संस्कृत देवी की चिरञ्जीवनी बालिका श्रीमती नागरी कुमारी के नवीन बनक और हाव भाव कटाक्ष की चोखी छूरियों से बीबी उर्दू की जो सदैव अपनी छल छुद्रता के कारण सन्मान के अभिमान से नाक भौं चढ़ाया करती है, बायें हाथ से नाक पकड़ दाहिनी की मदद से काट कर चिहरा सफाचट्ट करके तब छोड़ूँ और अब अधिक कहाँ तक कहूँ भगवान ने चाहा तो कर दिखलाता हूँ, इतने ही में समझ जाव मित्र धन्य ! धन्य !! धन्य !!! ईश्वर तुम्हारा मनोरथ सिद्ध करैं, अच्छा तो अब बिलम्ब न होना चाहिये।

पत्रिका की प्रार्थना

दोहा

जयति सच्चिदानन्द घन, करुणा सागर देव।
जय जय परम कृपायतन, सुर नर मुनि जेहि सेव ॥१॥
जयति जयति आनन्द घन, कादम्बिनी समान।
सर्व दिशा सब काल जो, पूरित जग सुख दान ॥२॥
भरित दया जल सों सदा, बरिस रह्यौ चहुँ ओर।
हरित करत जग जोहि जेहि, नाचत मुनि मन मोर ॥३॥
सोई आनन्दघन कृपा सों भरि आनद वारि।
भारत नभ आनन्द की कादम्बिनी प्रसारि ॥४॥
बरखि बिंदु आनन्द के आनन्दित करि देश।
विद्या सर भरि मूढ़ता आतप करि निश्शेष ॥५॥
निज प्रेमी चातकन करि तृप्त अनंदि अथोर
वर विबुधन, सुकवीन मन, मोहै मनु मन मोर ॥६॥

आनन्द पूर्वक प्रथम उस मंगलमय आनन्दस्वरुप दया सागर जगदीश्वर को अनेकानेक धन्यवाद देना अवश्य है कि जिसकी कृपाकणवारिबिंदु का आश्रय पाकर आनन्दोल्लासलसित कलितकादम्बिनी सी आज यह आनन्द-कादम्बिनी उमड़ घुमड़ कर फिर भी घिर आई यद्यपि जब से इसके सम्पादक सहायक समीर सांसारिक शोक सैल की सैल में जा दत्तचित हुआ, इसने भी कुत्सित समय सरद जान विश्राम के आँचल में मूँ छिपाया और यद्यपि इसकी प्रेमी मयूरमन्डली तभी से कूक कूक कर अपना असीम प्रेम प्रगट करती रही, पर बहुतेरे रसिक चातकों ने तो वह चहँकार की रट लगाया कि चुप हुये नहीं, और ऐसी दशा में यही उचित जान निश्चय हुआ कि जो हो, इनके तृप्त कर देने में चाहे कुछ कसर अभी क्यों न रहजाय, पर ये तृषाकुल तो न रहैं, और श्रीमती नागरी देवी कि जिसका एक मात्र आश्रय भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र था, उसके अचानचक मूँ मोड़ छोड़ भागने से प्राप्त दुःख दुखिनी को कुछ भी तो आश्वासन दिया जाय। यों तो इस जगत के जंजाल के उलझन से सर्वथा सुलझे रहना अत्यन्त असम्भव है, क्योंकि न यहाँ

आ केवल नल हरिश्चन्द्र, और युधिष्टिर प्रभृति को ही रोना पड़ा, किन्तु रामकृष्णादि को भी सचमुच सुख से हाथ धोना पड़ा, तो भला अस्मदादिक की कौन गणना है कि जो केवल माया मानस के दीन मीन, हर तरह सत्य स्वच्छन्दता बिहीन नित्य नये मृगतृष्णा में लीन रह कदापि किसी तरह आनन्दित नहीं रह सकते। निदान यह जानकर मान लेना पड़ा कि जैसे अनक झगड़े और झमेले हैं अकेले इसी से क्यों छुटकारा लेने के लिये यत्न किया जाय जैसे सब कर्तव्य है, यह भी एक परमावश्यक है, यद्यपि इसके प्रकाशकों को कदापि इसके द्वारा द्रव्य लाभ की इच्छा न थी, और न अब है, किन्तु कुछ हानि उठा कर भी अपने भाषा के प्रेमियों को मोहित करना मंजूर था, परन्तु जब केवल कोरे प्रेम के बाजार में भी ठाले पड़ें, तो उत्साह के लाले पड़ने कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि "वसुयच्छति वा न वा नरेन्द्रो यदि कर्णों कवि भारतीं शृणोति। रति मिच्छति वा न वा नवोढ़ा यदि केलीगृह देहली मुपैति। हमैं अपने अनुग्राहक ग्राहकों को यद्यपि वे कितने हूँ कम क्यों न हों चित्त से धन्यवाद देना चाहिये कि जिन्होंने कादम्बिनी का अग्रिम मूल्य भेज हमारा उत्साह सम्बर्धन किया; एवम् उन रसिकों का कि जिन्होंने अपनी विशेष रुचि इस पत्र पर प्रगट की, और अपना अन्तरङ्ग प्रेम लिख कर हमें जतलाया। अथवा हमारे वे उदारमति सहयोगी भाषापत्र के सम्पादक समूह कि जिन्होंने न केवल इस पत्र की समालोचना कर केवल अपनी शुभ सम्मति प्रगट की, किन्तु और रीत पर भी सहज और स्वाभाविक स्नेह सूचित किया, और बहुत दिन तक कादम्बिनी न पाकर भी अपने अपने पत्र प्रेषित किया किये, किन्तु कोई कोई महानुभाव अबतक भी उसके स्मरणार्थ भेजते ही जाते हैं, कि जो मानों हम पर तक़ाज़ा और उनके असीम अनुग्रह के भार हो रहे थे, या जिन कृपाकर मित्रों, वा उन योग्य सत्पुरुषों को जिनके लेख भी सहायता रूप से आये और जिनमें बहुतेरे स्थानाभाव से न छपे, और जिसकी हम क्षमा चाहते हैं। इसी रीति उन ग्रंथकर्ताओं को जो अपने अपने नूतन ग्रंथ प्रायः आज तक कादम्बिनी कार्य्यालय को अर्पण किये, और उनकी समालोचना भी हम न कर सकें। अत्यन्त निरुत्तरता के साथ उनके पूर्वोक्त असंख्य कृपा के चित्त से क्यों न बाधित हों। इसके उपरान्त हम अपने रसिकों से यह निवेदन करते हैं कि सचमुच जिस इच्छा और मनसूबे तथा जो कुछ कर्तव्य जान कर प्रथम लेखनी उठाई गई वा जो कुछ क़रिश्मा कर दिखाना चाहा गया था, उसको कुछ भी अंश पूरा करने का अवसर

हमें न मिला, और हम अपने रसिकों को बहुत सी आशा देकर भी कोई ऐसी अनोखी समा न दिखा सके कि वे देखते ही चकित और चौकन्ने हो वाह वाह कर उठते, एवम् कादम्बिनी कृत कुमारी नागरी के किसी शुभ अंग का कोई श्रृंगार वा सजावट और बनावट सुसज्जित रूप से अवलोकन न करा सके; कि जैसा हम अपनी मति और इच्छानुरूप चाहते थे। सदैव उसके छपके निकलने हीं के लाले पड़े रहे, कारण यह कि पत्र विषय किसी संख्या का दो फार्म में आ सका, और विस्तार होने से इधर कई नम्बर एक में देने पड़े। हम लोगों ने यह विचार किया था कि जैसे ही हमारे थोड़े से भी पुष्ट ग्राहक हो जायँ, संख्या पत्रों की अधिक कर दी जाँय, क्योंकि जब तक ऐसा न हो दो फार्म में हम अपनी कौन सी करतूत दिखा सकते हैं, कहावत प्रसिद्ध है कि "बालिश्त भर की खूंटी क्या ज़मीन में गाड़ै और क्या आसमान में"।

[यद्यपि अभी उसी पुराने विचार के अनुसार वही संख्या रखने का विचार है; पर यदि हमारे रसिकों ने हमें कुछ भी उत्साहित किया तो तुरन्त ही दूनी संख्या कर दी जायगी। हम यही नहीं चाहते कि हमारे ग्राहक गण पत्र पाते ही मूल्य भेज दें, किन्तु वे प्रथम तो अपना स्वीकार पत्र भेजें, और यथार्थ अपनी अभिरुचि प्रगट करैं, फिर दो तीन संख्या देख कर वा जैसे चाहें मूल्य भेजें, हमने तो इस मसल को सच करना चाहा था कि "देना लेना क्या मुहब्बत बड़ी चीज़ है" अर्थात् कुछ दिन यह रत्न जो यथार्थ में अमूल्य है बिना मूल्य ही वितरण हो, क्योंकि बहुधा अरुचि का कारण भी यही हुआ करता है। परन्तु अभी तो यथार्थ रसिकों का निर्णय होई नहीं सकता, तब तो फिर "सर्वं खल्विमिदम्ब्रह्म" का हाल होता सिवा इसके ऐसी प्रतिज्ञा की कहाँ तक स्थिरता रह सकती है, और फिर ऐसी दशा में कि जब उसकी दिन दिन उन्नति और चिरस्थाई होने की अभिलाषा हो, यद्यपि हम कह आये हैं कि कादम्बिनी ने जैसा कुछ कर्तव्य करना चाहा था उसके समग्र रूप से पूर्ण करने का अवसर न मिला।

(छब्बीस ग्रंथों पर) समालोचना भी की लेकिन ऐसी नहीं कि पुस्तक में इतने पृष्ट हैं, या मूल्य है, यहाँ मिलती है किंतु ग्रंथ का तत्व खिंचा हुआ अपक्षपात सम्मति जिसे रिविउ कहते हैं, यों ही अनेक धन्यवाद इत्यादि प्रेरित और अन्य जन लिखित विषय यथा "हिंदू शब्द का अर्थ" दर्बार श्री काशिराज महाराज से प्राप्त, "इतिहास सार" मास्टर छेदीलाल कृत, छत्तीस गढ़ का हाल श्री राजा जगमोहनसिंह लिखित, स्फुट कविता श्री बाबू

हरिश्चन्द्र प्रेषित, इनके सिवा हिन्दी के प्रायः सभी उत्तम लेखकों के लेख कार्य्यालय में आये, जैसे **भारतेन्दु श्री बाबू हरिश्चन्द्र, लाल खड्ग बहादुर मल्ल राजकुमार मझौली, बाबू काशी नाथ सिरसा, बाबू राधा-कृष्ण दास, व्यास श्री राम शंकर शर्म्मा, विनायक शास्त्री इत्यादि २।** यद्यपि उनमें बहुतेरे अनूठे और सुहावने लेख हैं, कि जो केवल स्थानाभाव से न प्रकाश हो सके जिसकी क्षमा चाहते हुये हम फिर से यथा अवसर मुद्रित करने की इच्छा रखते हैं एवम् स्वयम् सम्पादक लिखित लेख इतने अधिक थे कि ऐसे कई पत्र वर्षों छपा करे तो भी अन्य किसी लेखक के लेख की अपेक्षा न हो। नूतन और मनोहर ग्रंथों से भरी आलमारी सदा इसी प्रतीक्षा में रही कि कब कादम्बिनी मुझ पर कृपा दृष्टि फेरेगी? पर प्रथम ही से ऐसे नवीन विषय प्रवेशित हो गये जो यद्यपि आवश्यक थे, पर तब भी पूर्वोक्त विषय के बाधक हुये।

किंतु इस विलम्ब वाटिका ने तो इतने ही अवसर में वह २ विचित्र फूल खिलाये कि इधर तो आशा दुराशा ही में पड़े रहे, और उधर यारों ने नाम और नमूने को ले आकाश पहुँचे, कोई महाशय आशय देख ग्रंथ लिख मारा कोई ज़वानी बीज की तजबीज सुन बीजही निगल गये, कोई कोई ग्रंथ का नाम ही सुन अपना काम तमाम कर डाले, अतएव अब से यह विचार है कि जहाँ तक हो सके प्रायः नवीन और विचित्र ग्रंथों ही से पत्रिका भूषित की जाय, अर्थात् पत्र विषय बहुत ही कम रहे, क्योंकि वास्तव में यह पत्र तो केवल विद्या विषयक है, कि समाचार पत्र न हम यहाँ उन नवीन ग्रंथों का नाम कि जो कादम्बिनी के यथार्थ विभूषित करने में समर्थ और प्रस्तुत हैं गिना कर दो एक पृष्ठ और नहीं रंगा चाहते, यद्यपि स्थान संकोच से चित्त संकुचित है पर तब भी आगामिनी माला से किसी उत्तम ग्रंथ का सन्निवेषित करेंगे, यदि हो सका तो कोई श्रव्य काव्य भी दिया जायगा कि जिससे रसिकों की तृप्ति की पूरी आशा हो सके। हम अपने रसिकों को इसका भी स्मरण दिलाना अनुचित नहीं समझते कि जो कादम्बिनी ने प्रथम संख्या में "पत्र परिचय द्वारा" अपने अभिमान वाक्य कहे थे मुख्य जिसमें बीबी उर्दू की नाक काटने की प्रतिज्ञा थी, सो शिक्षा कमीशन के द्वारा यद्यपि उसकी जान तो नहीं गई पर नाक तो अवश्य कट गई क्योंकि शरीर में जितना अंश नाक का है उतना प्रचार उसका अवश्य कम हुआ। यद्यपि वह कटी नाक भी झूलती है, पर यह केवल कादम्बिनी की दया और आलस्य

की कसर है, हमारे रसिक हतोत्साह न हों क्योंकि असम्भव नहीं कि कोई ऐसा अवसर भी आये कि विचारी स्वयं अँकड़ जाँय, इसलिये कि अब उसके सन्मानाहार में कमी होने लगी।

कादम्बिनी ने यह भी कहा था कि मैंने चाहा है कि जहाँ तक हो सके अवश्य अनूठेपन को काम में ल्याऊँ, और चाहे अभी अपने रसिकों को पूर्ण तृप्त न कर सकूं पर तो भी एक दिन उनको अवश्य सन्तोष प्रदान करने की अभिलाषा इत्यादि। सो यद्यपि संख्या लेखों की अधिक न हुई अर्थात् जो लेख प्रथम संख्या में छपे वे ही छपते रह गये फिर भी अब हम उन्हीं की जाँच के लिए आप लोगों को इधर दृष्टिपात करने की प्रार्थना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम तो हमारे कलम की कारीगरी का प्रमाण केवल "कलम की कारीगरी" ही है जो पद्य लेख में से है, इसी तरह गद्य लेख की अन्तिम अवस्था दिखलाने के लिये केवल "ऋतुवर्णन" पर्य्याप्त है, और "रूपक साहित्य" का लेख भी अवश्य उस अन्धकार के मिटाने में समर्थ है कि जिसके कारण हमारी भाषा में इस विद्या की सौन्दर्य्य का यौवन अद्यावधि नहीं झलका यद्यपि एक आध चुटकुले इस विषय पर लोगों ने लिखे, पर उनसे कुछ लाभ नहीं वे केवल अपनी विद्या दिखाने को हैं न औरों के सिखलाने को।

"प्रहसन" जो तीन लिखे गये यद्यपि वे सभ्य परिहास का पूर्ण स्वारस्य देने को यथार्थ में काफ़ी न थे, और परिहास का तो पूर्ण आनन्द तब तक असम्भव है कि जब तक पत्र स्वयम् स्वतन्त्र प्रहसनपत्र अर्थात् पञ्च न हो। सच तो यह है कि जब तक किसी अच्छे सुयोग्य लेखक द्वारा कोई ऐसा पत्र न प्रकाशित होगा, यथार्थ में प्यारी हिन्दी की भोली बोली और हंसी ठिठोली कि जो उसके रसिकों को नित्य नई होली की समा दिखाये कैसे श्रवणगोचर होना सम्भव है। परन्तु हमारे रसिक इस स्वाद से सर्वदा वञ्चित न रहैं, इससे इस विषय में भी हमारा साधारण उद्योग था, और है यदि हम अपने रसिकों को इस विषय में उत्कण्ठित पावेंगे तो विशेष यत्न के करने पर भी बद्ध परिकर होंगे। प्राप्त लेखों में "इतिहास सार" उपकारी और अच्छा था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि "न विद्यते खलु काश्चिदुपायः सर्व लोक परितोष करोयः" अर्थात् ऐसी कोई उपाय नहीं है कि जो सबको प्रसन्नता और संतोषदाई हो अतएव "सर्वदा सुहितमाचरणींय किम् भविष्यति जनैर्वहु जल्पैः" अर्थात् इससे अपने जान हित का आचरण करना और लोगों को बकने देना

चाहिये । यह आवश्यक नहीं है कि समग्र मनुष्य हमारे प्रबन्ध पर प्रसन्न हों, किन्तु बहुतों की तो अप्रसन्नता और निन्दाही हमारी स्तुति और आदर सन्मान का हेतु है हम अपने थोड़े से सुविज्ञ सज्जन गुणग्राही रसिकों की थोड़ी प्रसन्नता को बहुत और अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं; और २ चाल के औरों की कुछ परवाह नहीं करते क्योंकि—

"आई न जौ बक बावरे पैं द्विज देव जू हंसन की तौ गई गति ।
मेढुक मीन न मान कियो तौ भई है कहा अरविन्दन की छति ।
उक्ति उदार कविन्दन की वन वासिन की सुभई न भई रति ।
जौ पै गँवार खरीदी न तौ घट जाति जवाहिर की कहूँ कीमति" ।

अब हम अन्त को अपने प्रिय रसिक चातकों से बेअदवी और असावधानी मात्र की क्षमा चाहते हुये यह प्रेम निवेदन करते हैं, कि ईश्वर की कृपा और आप लोगों की गुण ग्राहकता के आश्रय से सदैव यह आनन्द कादम्बिनी अवश्य आपको आनन्द प्रदायिनी होगी, और नित्य नई उन्नति करेगी और ईश्वर ऐसा ही करै ।

—o—

नागरी नीरद का पत्र परिचय

अनेकानेक धन्यवाद उस परमात्मा सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द घन-स्वरूप को है ! जिसकी कृपा कणिका के प्रभाव से यह शुभ अवसर मिला कि आज चिरसमयाभिलषित मनोरथ के सिद्धि का समीर संचारित हो चला, और इस सरस पावस के सुहावने समय भद्रभाद्रपद मास में जो तापत्रयहारी, बृन्द्रावनचारी, गिरिगोवर्द्धनधारी, ब्रजयुवतिजनमनहारी, आनन्द कन्द, भगवान श्री कृष्णचन्द्र के जन्म के कारण परम पवित्र और मंगलमय है, उसकी शोभा का हेतु जगतजीवनदायक नाभाच्छादित नीरद समान निज प्रेमीमयूर मण्डली के मन मोहनार्थ आज यह 'नागरी नीरद,' उमड़ आया।

जिसका न केवल यह आशय और सिद्धान्त है कि अपने चन्द चतुर चातक चमू के चित्त को चुराकर ललचाये, वा आनन्दविन्दु प्रदान कर परमाल्हादित मात्र करै; वरञ्च ईश्वर ने चाहा तो आशा ऐसी ही है कि यथानामगुणयुक्ति 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' एवम् 'आनन्द कादम्बिनी' आदि के अभाव से मुरझानी सी नवलनागरीलतिका को निज लेख लालित्य सलिल वर्षा से हरी भरी लहलही और प्रफुल्लित कर दे। अथवा यों कहो, कि सर्वगुन आगरी कुमारी नागरी के उन अङ्गों का अपूर्व श्रृंगार कर सुसज्जित करे, कि जो अब तक सूने हैं, योहीं सुरम्य साहित्य के उन अमूल्य नवीनालङ्कारों से अलंकृत करे, कि जो स्वाभाविक मनोहरता के अतिरिक्त विशेष रूप से उसके प्रेमियों को सर्वथा वशीभूत कर लेने में समर्थ हैं।

हमारे पाठकों में से अनेक जन कह बैठेंगे कि भाई नित्य ही नवीन पत्र प्रकाशित होते हैं, और चटपट अस्त भी हो जाते हैं, न उनका कोई नवीन उद्देश्य होता, और न वे यथार्थ रीति से मनोरञ्जक ही होते, प्रत्युत साधारणतः एक समाचार पत्र के साधारण धर्म्म के पालन में भी असमर्थ होते हैं फिर क्या समझ कर तुमें स्वागत दें?" उनके प्रति तो यही निवेदन है, कि आप इसपर कृपा कटाक्ष रक्खैं, क्या आश्चर्य कि इस नवीन नीरद की शोभा देख आप के लोल लोचन चातक बन जायें परन्तु बहुतेरे तो ऐसे हैं, जो चौंक कर चीखें मार चिल्लाने लगेंगे, कि

"महाशय ! माफ़ कीजिये, मेरे तो समाचार पत्र के नाम भी सुनने से रोंगटे खड़े होते हैं, भगवान के निहोरे अब भी मान जाइये, क्यों निर्दोषियों के हलाकान करने की ठान ठानते हो ? हम लोग बहुत कुछ दुख झेल चुके हैं" उन्हें जानना चाहिये कि हमारे इस पत्र का यह मन्तव्य कदापि नहीं है कि—

हठात् किसी एक दल के पक्ष का अवलम्बन कर दूसरे के साथ अन्याय का आचरण किया जाय, या किसी सत्पुरुष वा कुलीन का अन्तरङ्ग छिद्रान्वेषण कर सर्वसाधारण में उसके प्रकाश के यत्न से उन्हें भयभीत कर आत्मार्थ-साधन की युक्ति की जाय; वा उनकी चूक पर चोखी चुटकियाँ ले उनकी अन्तरात्मा दुखाई जाय, एवम् नानानिन्द्य नाट्य और भयङ्कर दृश्य दिखा निज त्रुटि की पूर्ति की जाय, किन्तु यथान्याय केवल अपने उचित धर्म्म का पालन मात्र किया जाय। इसी भाँति न यह कि बहुत से ग्राहकों की अप्रसन्नतानुमानपूर्वक व्यापारसुलभ शैली का अवलम्बन कर उसमें त्रुटि की जाय; अथवा यह अनुमान कर कि अमुक विषय के आन्दोलन से अनेक जनरुष्ट होंगे अतः उचित वस्तु का त्याग भी कर दिया जाय, अथवा उसके विरुद्ध अङ्गीकार किया जाय या व्यर्थ बहुत से विज्ञापन और निष्फल समाचार या अन्य समाचार पत्रों को उद्धृत कर पत्रपूर्ति कर' अथवा क्षुद्र पद्यपुङ्गवों के सहजस्वारस्यवञ्चित व्यर्थ वचाडम्बर या कविता कलानिधि का केवल कलङ्क अवलोकन कराकर ग्राहकों को हतोत्साह किया जाय तथा निज भाषा और देश दशा, समाजरीति, नीति सभ्यता, और सदाचार, राजकाज, न्याय और अन्याय अथवा साधारण प्रजा के दुख सुख की कुछ भी खोज न की जाय।

प्रत्युत इसका मन्तव्य तो यह है, कि समाज के वे दोष और कुरीतियाँ कि जिससे भारत निरन्तर आरत हो रहा है, सद्शिक्षामय लेख द्वारा यथा शक्ति उसके संशोधन की चेष्टा की जाय, एवम् ऐसे सुगम सुलभ सदुपाय प्रदर्शन पूर्वक निज देश बान्धवों का जो आलस्य और उपेक्षा की निद्रा में अचेत सोते हैं, उत्साह सलिल मार्जन पूर्वक उद्योग के अर्थ उठाना है।

एवम् हमारी भाषा के उत्तमोत्तम सुलेखक जो किसी अनुकूल उत्तम पत्र के अभाव ही से मौन मारे बैठे हैं, उन्हें अपनी अनुपम योग्यता दिखाने का अवसर दिया जाय; और यथा साध्य इस रीति स्वदेश भाषा का भण्डार भरा जाय, कि न केवल स्वदेशी ही रत्न रञ्जित हों, किन्तु अन्य देशीय काव्य

कला चातुरी और वैज्ञानिक वैभवों के आशय भी अनुवाद के रूप में आकर उसकी पुष्टता के कारण हों एवम् समयानुसार आवश्यक सामाजिक और राजनैतिकादि विषय पर भी स्वच्छन्द भाव से अपनी उचित सम्मति प्रदान कर स्वदेश तथा राजा को चैतन्य करना। यों ही उस करतार की विहार भूमि संसार वाटिका में जो बहार और पतझार के अनुसार नाना प्रसूनों के प्रस्फुटित और रहित होने के कारण शोभा का प्रकाश, और ह्रास होता है, उसकी कुछ चर्चा कर, घर बैठे ही विश्व भर की लहर दिखा देना है। और विविध रस-रसिक पाठकों को उनके इच्छानुरूप रसास्वादन करा के तृप्त कर देना है। कहाँ तक क्या क्या गिनायें आप लोग देखते जायें, और सच्चे चित्त से ईश्वर से यही मनायें कि वह निज दया दृष्टि की वृष्टि से इसकी पूर्ण सहायता करता रहे, और यह नागरी नीरद सचमुच नागरी नीरद हो।

इसके उपरान्त अत्यन्त नम्रता पूर्वक इसके प्रकाशक की ओर से समस्त सुजान विद्वान पाठक और सुयोग्य सहयोगी सम्पादक समूह की सेवा में निवेदन है, कि आप सब इस नीरद के गम्भीर गर्जन को सुन अत्युक्ति और अनौचित्य का अनुमान कर न घबरायें, किन्तु इसके उस पियूष वर्षा तक ठहर जायँ, कि जो रसज्ञ सहृदय हृदयधरित्री को हरित आर्दित कर देने में समर्थ है!

हम अवश्य अत्यन्त कृतज्ञता के साथ सधन्यवाद उन सब सज्जन समूह की शुभशिक्षा और साधारण सम्मति प्रदान को भी स्वीकार करेंगे, जो इसके अभाव के पूर्णता में समर्थ होंगी, किन्तु जो केवल स्पर्धा और ईर्षा द्वेषानल से जल कर इस नीरद के जल को केवल घृत की आहुति मानैं उनकी बात सुनने से लोग हमें क्षमा करैं।

अन्त को आप सबसे कहनी अनकहनी बातों की क्षमा प्रार्थना पूर्वक उस जगदाधार करुणावरुणालय से सानुकूल सलिल सम्पति की याञ्चा है!

नीरद का नवीन वर्षारम्भ

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥

श्रीमत् सच्चिदानन्दनघन जगदीश्वर को असंख्य धन्यवाद है, जिसकी कृपा से यह वर्ष सकुशल समाप्त हुआ, और सब प्रकार से निर्विघ्न यह नागरी नीरद, अपनी मधुर ध्वनि से निज प्रेमी मयूरमण्डली को प्रेमोदित करता रहा ! अब आज से यह एक वर्ष का बालक हो, अपनी तोतली बातों से पुनः अपने ग्राहकों को विशेष प्रसन्न करने की अभिलाषा से, अत्यन्त नम्रता और प्रेम पूर्वक उसी परब्रह्म परमात्मा के आर्तिहरण युगल चरण कमलों में यह प्रार्थना करता है, कि वह अपनी असीम कृपा के किञ्चिदंश से सदैव इसकी सहायता करता रहे और इसके समस्त विघ्नों को हरता रहे। तद्-पश्चात् अपने सुचतुर चातक तुल्य सच्चे अनुग्राहक ग्राहक गण, एवम् सुले-खक कलापि कदम्ब, और अनेक सुयोग्य सहयोगी समूह जिन्होंने यथायोग्य सहायता सम्पादन की, उनकी सेवा में भी अनेक धन्यवाद पुरःसर वर्ष भर की भूल चूक दोष और असावधानी की क्षमा प्रार्थना पूर्वक आगामी से और अधिक कृपा की विनय है।

पत्र विषय

इसमें तो सन्देह नहीं है कि नीरद ने अपने प्रथम विन्दु में निज प्रेमी मयूरों को प्रमोदित करने की जैसी कुछ आशा दी थी यद्यपि यथातथ्य उसका पालन न कर सका, तथापि समय २ पर जो सलिल प्रदान कर इसने नागरी लता को सिञ्चन किया, उसी से उसके अनेक हितैषी सन्तुष्ट हुये यह न्यून हर्ष का विषय नहीं है। नवीन बड़े लेख इस वर्ष में केवल दो प्रकाशित हुये, अर्थात्, पद्य में मङ्गलाशा वा हार्दिक धन्यवाद और गद्य गुप्तगोष्ठी गाथा अनुवादाम्बुप्रवाह में, कुछ अंश "अनमोल बोल" महामति बेकन के एसे का, और 'स्वर्णकार के स्वर्णालङ्कार' गोल्ड स्मिथ का अनुवाद छपा। प्रेरित कलापि कलरव में भी अनेक उत्तम लेख छपे जिसके प्रधान लेखक पंडित-वर श्री चन्द्रभूषण चातुर्वेद्य अनेक धन्यवाद के पात्र हैं। सम्पादकीय प्रबन्धों के अतिरिक्त अनेक अन्य सुलेखकों और मित्रों के अनेक सुन्दर लेख

भी अधिकता से कार्य्यालय में आये किन्तु स्थान संकोच से वे अद्यावधि-पर्य्यन्त पड़े ही रह गये जिस कारण परम पश्चाताप के सहित सम्पादक की उनसे क्षमा प्रार्थना है।

प्रिय पाठक! यद्यपि हम लोगों को इसके स्वल्पाकार और बृहत् भाण्डार पर सदैव चिन्ता वर्तमान रही, विशेषत: जब एक साधारण विशाल प्रबन्ध के लिये भी कई विन्दुओं में शेषमग्रे लिखने की आवश्यकता पड़ती, योंही हमारे गुप्तगोष्ठी के कई मित्र तो यही कह रहे हैं कि जब तक तुम इसके आकार को न बढ़ाओगे हम अपने लेख न देंगे।" तो भी अभी तक जो कि वे सब कारण ज्यों के त्यों हैं, जिनके विचार से आरम्भ ही में नीरद का आकार लघु रक्खा गया, अतः अभी इसके आकार की वृद्धि करने का विचार पुनः पूर्ववत् आगामि वर्ष पर उन्हीं नियमों पर निर्भर है, जिनमें कुछ की चर्चा तो हम आगे करेंगे, और कुछ को अन्य अवसर के लिये छिपा रखेंगे।

हम लोगों की इच्छा यह थी, कि प्रिय नीरद चाहे, आकार में लघु हो, परन्तु केवल सब प्रकार से गुणों से गुरु हो, प्रत्युत प्रस्ताव में यह पत्र गुरु हो, और यही छोटे पृष्ठ इस रीति पर सुसज्जित हों जैसे किसी सुमुखी सुहावनी का सुन्दर मुखारविन्द कि भ्रमरों की भाँति पाठकों की दृष्टि जहीं पड़े, और बस वहीं चिपक जाय। और जिसकी पंक्ति, शब्द वर्ण तथा मात्रायें प्रेम पुत्त-लिका प्राणबल्लभावों के प्रत्येक प्रत्येक अंग प्रत्यङ्ग भ्रूवरुनी, कज्जलरेख, और तिल, तिलकादि, तुल्य मनोहर हों यद्यपि इस वर्ष वैसपूर्ण योग्य पूर्ण बनेगा परन्तु आगामि के लिये, ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह इस मन संकल्प को सत्य कर नीरद की प्रतिष्ठा और कुमारी नागरी की शोभा बढ़ाये। "हम सोचते हैं तो गत वर्ष के अनेक विन्दुओं के विशेष रोचक न होने का प्रधान कारण अधिकता से राजनैतिक विषयों का समावेश है, कि जो प्रायः स्वाभाविक नीरस है। यद्यपि हम लोग नहीं चाहते कि इसमें राजनैतिक विषय का विशेष समावेश हो, समाचार पत्र नाम के कारण समाचारों की भाँति इसे भी स्वीकार करने में विवश होना ही पड़ता है। यद्यपि यह सुविधा केवल मासिक पत्रों ही में सुलभ है तथापि यावत् सम्भव भविष्य में हम ऐसी ही चेष्टा करेंगे कि हमारे पाठक न केवल नीरद से समाचार पत्र, प्रत्युत मासिक पत्र और मनोहर पुस्तक के स्वाद की भी आशा रक्खें।

(हिन्दी पत्र पाठक वा उनके ग्राहक)

हमारी प्यारी नागरी भाषा वा हिन्दी के समाचार पत्रों की जैसी कुछ दुर्दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है और सभी वस्तु की सजावट और बनावट उसके ग्राहकों की गुण ग्राहकता के आधार पर निर्भर है, और खेद है कि अभी हिन्दी के सच्चे रसिक प्रायः हई नहीं है, और जो हैं वे अद्भुत। हमको इतने थोड़े अवसर में इन ग्राहकोंका जो कुछ परिचय मिला है, उससे विदेशी ग्राहकों का तो वृत्त केवल इतना ही है, कि पत्र प्रति सप्ताह लेना और कठिन से कठिन सूचना पढ़कर भी दाम देने का नाम तक न लेना। परिचित वा मित्र ग्राहकों ने तो मानों पत्र को मित्रता का सम्बन्ध वा उस सम्बन्ध के तोड़ने का इसे एक नया ढंग समझ कर प्रत्येक सप्ताह पत्र पचाते ही चले जाते डकार भी नहीं लेते, और एक विलक्षण बड़वानल बन गये हैं। स्थानिक ग्राहकों में विशेषतः जो धनी मानी है बहुतेरे उनमें से पत्र लेते ही नहीं। पत्र ले जाने वाला यदि कहे, कि भला आप लखपती धनी और सम्पादक जी के मित्रों में हैं, यदि आप ही पत्र न लेंगे तो कौन लेगा तो कहने लगते, कि "भाई जी ये क्या बात कहो हो? हमारी राजी होगी अकबाल लेवैंगे, नहीं खुशी चाहैग न लेवैंगे, क्या अकबाल नहीं लेणे से दोश्ती में बट्टा लग जायगा?" देखिये क्या सच्चा उपदेश है। कोई कहते हैं कि "शुणो शाब! में अकबोल लेऊँ हूँ तों, पण दाम ईरों एक रिपियों सूँ ज्यादा देऊँ कोयनी—कलकत्ते बन्दर से बङ्गबासी ईरो चौगुणी बड़ी छै, ऊँरो दोम दोई रिपियो छै, जिमाय शगले देशावर रो शमच्चर, माल ताल री रघोती खैछै, सो उसश मूजबईरो दोम यो आठआन्नी सुनाशब छै।" इन्हें इतना बिचार नहीं कि बङ्गबासी दो रुपये के मोल पर कदाचित् नहीं चलता है। एक बड़े ही मान मर्य्यादा के अन्य महानुभाव पत्र देखते ही बमक कर कहने लगते हैं, कि—"सुन्यः हम एकर दाम वाम एक्कौ कौड़ी देब ओब न! जाइकै अपने अड़ीचर से कहि दिह्या नाहीं तौ पीछे दामो मांगै लगैं! हाँ! भल परचा कुक्कुर अस अठयें दिन दुआरे ठाढ़रहथ्यः। न ओहमें कुछ सहर कै खबर रहै, न कौनो मोकदिमा मामिला कै बात, जब देखः तब काँगड़स,—हो विलायत हो होस, हो फौस! काँगड़स गबेर्है, और बिलाइति में लागइ आगिः;—हमसे ओसे कौन मतलब! ईं नाहीं की सोझे सोझे सहर कै हाल लिखौ।" कोई कहते कि जनाब जाने क्या खाक पत्थर आप लिखा करते हैं। मेरे तो कुछ समझ में नहीं आता खुदा के लिए ज़रा इबारत सलीस और आम फहम हिन्दी लिखा कीजिए कहिए तो अब इन्हें क्या उत्तर दें।

।। विगत बृतान्त व्यवस्था ।।

अब विशेष कहा सुनी न कर यदि गत वर्ष के संसार /बाटिका के ऋतु परिवर्तन जनित नाना पुष्प फलों की खिलावट और गिरावट पर ध्यान दिया जाय, और नवीन घटनाओं की चर्चा की जाय तो प्रथम इस वर्ष जैसे यह नागरी नीरद निरन्तर अपने विविध बिषय वारि बिन्दु की वर्षा करता है उसी भाँति नाभाच्छादित नीरद भी प्रायः सभी ऋतुओं में बरसता रहा और इस वर्षा ऋतु में तो कहीं २ पानी की वह बाढ़ आई, कि वहां की प्रजा चिल्लाकर त्राहि २ पुकारने लगी। केवल काश्मीर अपनी आधी स्वच्छन्दता के संग आधा बह गया, प्रत्युत पंजाब देश के मुलतान झेलम आदि नगर भी प्रायः उजड़ से गये! इधर बिहार और बंगाल के कई खण्ड जलमग्नि हो गये, चम्पारन, मुजफ्फरपूर, दरभंगा, की दशा शोचनीय है! पश्चिमोत्तर सीमा का भय बढ़ता ही रहा, रूसियों के पामीर पचा जाने पर अँगरेज और चीन चिल्ला २ कर चुप हो गये; वरञ्च उनके नित्य आगे बढ़ने का समाचार आया, अब सुनते हैं कि हिरात पर हथलपकौवल हो रही है! काबुल में कमीशन जाते २ रह कर फिर जाया चाहता है। कुशक् नदी के जल का निबटारा करने को हमारे मध्यस्थ रूसी सीमा पर गये ही हैं। कुशल हुई कि कोई भारी लड़ाई नहीं छिड़ी, चुटपुट कहीं चिन जाति कहीं बेबों, वा चिल्स के कोहिस्तानियों से लड़ाई हुई, बुलन्द खेल में डाकुओं का आक्रमण हुआ, वाबीटू जलाया गया इसी भाँति लुशाइयों से खटपट आदि हमारे बीरों के युद्ध अभ्यास के कारण हुई। स्याम और फ्रान्स का यद्यपि घोर संग्राम रुका, तथापि भारत की पूर्वीय सीमा विशेष शङ्का जनक हो गई० भारत सीमा स्थित दो स्वतन्त्र यवन राज्य के पूर्व्वशासक परिवर्तित हो, हमारे साम्राज्य शक्तिद्वारा नवीन राज्याधिकारी स्थापित हुये, अर्थात् चित्राल के मिहतर और किलातके खाँ।

अँगरेजी उच्च पदाधिकारियों में भूतपूर्व भारत के सेनापति लार्ड राबर्ट अपना पद परित्याग कर घर को सिधारे, और नये सैनिक लाट मेजर जेनरल श्रीमान् ह्वाइट महोदय हुये। मन्दराज के सेनापति सरजेम्स डार्मर का व्याघ्र के आखेट में जाकर स्वयम् व्याघ्र का आखेट होना, और बम्बई के कमाण्डर इनचीफ का घोड़े से गिर कर अकाल मृत्यु प्राप्त करना, अवश्य शोचनीय घटनायें है! हमारे प्रदेश के छोटे लाट सर आक्लैराड कालविन का अपना पद त्याग कर जाना, और क्यापटन् हियर्से का उन्हें ललकारना, सर

चार्ल्स क्रास्थवेट का सिंहासन पर बैठना, हमारे नगर की प्रजा से शस्त्रास्त्र हरण करना आदिक स्थानिक और प्रादेशिक परिवर्तन हैं।

प्रधान राजनैतिक परिवर्तनों में मुख्य भारतीय व्यवस्थापक सभाओं में नवीन संशोधन के अनुसार निर्वाचिन प्रथा का प्रचलित होना, और उसमें अधिकांश कांग्रेस हिंतैषियों ही का सम्मिलित होना है० इसी भाँति दो विषय और भी चिरस्मरणीय और मंगलमय हुये। जो विशेषतः विलायत से सम्म्बध रखते हैं, अर्थात्—भारतपुत्र मिस्टर दादा भाई नौरोजी जी का बृटिश पार्लियामेंट में प्रवेश, और भारत में तुल्य सिविलसर्विस परीक्षा का आदेश० यों ही अब से भारत में रौप्यमुद्रा का न बनना और स्वर्ण मुद्रा के प्रचार की सूचना० तथा गाँजा, भंग, और अफीम के निवारणार्थ बिचारसभाओं का नियत होना है। अत्यन्त लज्जास्पद और शोचनीय दुर्घटना अनेक स्थानों में हिन्दू मुसलमानों का परस्पर का कलह और घोर संग्राम है, उसमें भी प्रधानतः बरेली, बलिया, गोरखपुर, गाजीपुर, आजमगढ़ तथा रंगून, विहार, बम्बई और जूनागढ़ के घोरतर उत्पात के संग कहीं २ के राजकर्मचारियों का पक्षपात मिश्रित अन्यायाचरण कठिन भयावना और खेद जनक विषय है।

देश में नवीन व्यापारोन्नति में बम्बई प्रदेश के पूना नगर में सूई बनाने, और बंगाल में अँगरेजी औषधि बनाने, तथा अवध में लोहा ढालने, के कार्य्यालय खुले० बंगाल में पुनः ज्यूरी प्रथा का प्रचार हर्षदायक हुआ० हमारे प्रदेश के प्रधान नगर प्रयाग में जातीय सभा की बैठक सफलता से निर्बिघ्न हुई! देशी राज्यों के बिषय में महाराज अलबर और महाराज बेतिया की मृत्यु शोक दायक हुई। महाराज पटियाला ने एक गोरी मेम से ब्याह कर हिन्दू आग्रह से मूँ मोड़ा० ठाकुर गोण्डाल, मोर्वी, राजाबीविलो, महाराज भाव नगर, कपूर्थला, गाइकवाड़, आदि बिलायत गये।

सबसे विशेष हर्ष का विषय यह है कि गत वर्ष बंगाल गवर्नमेंट ने प्यारी नागरी का विशेष सत्कार किया। न केवल अपने राज कर्म्मचारियों के देशी भाषा की परीक्षा ही में इस अक्षर का लिखाना उचित माना, प्रत्युत विहार प्रान्त के समस्त राजकार्य्यालयों मे नागराक्षर को प्रतिष्ठित किया जो सर्कार का अवश्य असंख्य धन्यवाद के योग्य निर्मल न्याय मिश्रित सत्कार्य्य है० नागरी भाषा के अन्य साहित्य समाचारों के लिखने की आवश्यकता और अवकाश नहीं है, केवल ईश्वर से प्रार्थना है कि शीघ्र वह दिन भी लाए कि हमारे देश में भी इस अक्षर की वैसी ही प्रतिष्ठा हो! और ऐसा ही हो।

हमारा नवीन सम्वत्सर

हमारा यह नवीन सम्वत्सर सामान्य औरों का मन माना-सा नहीं, कि जब से जी चाहा उसका आरम्भ मान लिया, वरञ्च वास्तव में हमारे नवीन सम्वत्सर का प्रिय प्रथम दिवस प्रथम ही से प्रथम सम्वतसर का प्रथम दिवस है, अर्थात् इसी दिन से इस जगत की उत्पत्ति हुई, और ब्रह्मा ने इस संसार की सृष्टि की, जैसा कि हेमाद्रि में,—

"चैत्रे मासे जगद्ब्रह्माजं ससर्जिप्रथमेऽहनि।
शुक्ल पक्षे समग्रं तु तदा सूर्य्योदये सति॥

अतएव सच्चे सम्वत्सर का आरम्भ यही है, इसकी सचाई में किसी विशेष अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तनिक आँख उठाकर चारों ओर देखिए, और कह दीजिए कि हाँ ठीक कहते हो, ऐसा ही है। किसी सघन बन को जाकर देखिये तो कि कहीं एक भी पुराने पत्ते का नाम नहीं है, मानो सृष्टि कर्त्ता ने अभी अभी नई सृष्टि रची है, और प्रकृति दूलहिन अपना नया सिंगार साजे चली आ रही है। नवलदल पल्लव से लहलहाती लताएँ नूतन पत्र पुष्प फल से लदे वृक्षों से लिपट कर मानो नवीन सम्वत्सर के शुभ अवसर पर अपने प्रियतम् से मिलकर आन्तरिक प्रेम का परिचय दे रही है, और उपायन स्वरूप नाना रंग रूप के फूल और फल परस्पर एक दूसरे को अर्पण करने की लालसा से दोनों लहरा रहे हैं जिनके मनोहर शाखाओं पर सुशोभित सुन्दर विहङ्गावलियां विनोद से बधाई के ब्याज चहचहाती गाती चित्त को चुराती हैं। यदि उतनी दूर न जाइये तो भला किसी वाटिका में आइए कि जहाँ जिधर दृष्टि फेरिये और वाह! वाह! कह उठिये, कि प्रत्येक फूल की क्यारियाँ परियों को लज्जित कर रही हैं, और उनके प्रेमी मलिन्द आज मकरन्द के मद्य से मतवाले मारे मोद के नाचते घूम रहे हैं। शिशिर की रुखाई और तीक्ष्णता, हेमन्त की शीत को त्याग सरस स्निग्ध समीर सुखद शीतलताई और सुगन्ध से सनकर नवीन प्रकार से मन्द मन्द गति चलकर मन मुकुल को प्रफुल्लित करने लगा है। नदी, नद नवीन सलिल और ताल सरोवर अपने निर्मल और सुस्वाद जल में नवीन अङ्कुरित कमलकलिका को बिकसाना आरम्भ किया है। वन्यभूमि शुष्क तृण

सङ्कुल विहीन, और जन स्थान के सब खेत कटने से पृथ्वी शुद्ध और स्वच्छ हो फिर से नवीन हुई है।

पशु मात्र अपने प्राचीन लोम का परित्याग कर, नवीन से युक्त हो नवीन हुए हैं, पक्षियों ने भी कुरोज़ किया पुराने पर झाड़ नए लेकर बने, सर्पादि कीड़ों ने भी प्राचीन केचुलें छोड़ नवीन हो चमकने लगे, अनेक ऊष्मज जीवों का भी फिर से नवीन सृष्टि का आरम्भ हो चला। मनुष्य के शरीर के धमनी स्रोत में भी नवीन रुधिर पिघल कर पतला हो प्रवाहित होने लगा। यही कारण है कि—मनुष्य का मन और उत्साह भी नवीन हो गया, सब रीति और प्रीति भी नवीन हो चली। सारांश यह कि समस्त संसार ही काया कल्प कर नवीन हो हमारे सच्चे नवीन सम्वतसर को प्रमाणित कर रहा है। जैसा कि श्री महाराज मानसिंह जू देव द्विजदेव इस समय की शोभा का आख्यान करते हैं—

और भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं और भाँति सबद पपीहन के ह्वै गये।
और भाँति पल्लव लिये हैं वृन्द वृन्द तरु और छवि पुञ्ज कुञ्ज कुञ्जन उने गये।
और भाँति सीतल सुगन्ध मन्द डोले पौन दिजदेव देखत न ऐसे पल द्वै गये।
औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गये।
गुञ्जरन लागीं भौंर भीरैं कलि कुञ्जन मैं क्वलिया के मुख तैं कुहूकनि कढ़े लगी।
द्विजदेव तैसे कछु गहब गुलाबन तैं चहिक चहूँघा चटकाहटि बढ़ै लगी।
लागी सरसावन मनोज निज ओज रति विरही सतावन की बतियाँ गढ़ै लगी।
होन लागी प्रीति रीति बहुरि नइसो नवनेह उनई सीमति मोह सो मढ़ै लगी।

चहकि चकोर उठे सोर करि मोरैं उठे बोल ठोर ठोर उठे कोकिल सुहावनें। खिलि उठीं एकैबार कलिका अपार हिलि हिलि उठे मारुत सुगन्ध सरसावने। पलक न लागी अनुरागी इन नैनन पैं पलटि गये धौं कबै तरु मन भावनें। उमँगि अनन्द अँसुवान लौं चहूँघा लागे फूलि फूलि सुमन मरन्द बरसावने॥

फूले घनें घनें कुञ्जन माँह नये छबि पुञ्ज के बीज बए हैं।
त्यौं तरु जूहन में दिजदेव प्रसून नयेई नये उनये हैं॥

साँची किधौं सपनौं करतार विचारत हूँ नहिं ठीक ठए हैं।
संग नये त्यौं समाज नये सब साज नये रितुराज नए हैं॥
बायु बहारि बहारि रही छिति बीथी सुगन्धन जाति सिंचाई।

त्यों मधुमाते मलिन्द सबै जय के करखान रहे कछु गाई ॥
मगल पाठ पढै दिजदेव सबै विधि सो सुखमा उपजाई ।
साजि रहे सब साज घने बन मैं रितुराज की जानि अवाई ॥

तात्पर्य्य यह कि—हमारा स्वाभाविक सच्चा सम्वत्सर सुखद सब ऋतुओं के राजा बसन्त से आरम्भ होता है, वा यों कहिए, कि हमारे प्यारे नवीन सम्वतसर के स्वागत के लिए दो सप्ताह पूर्व ही से ऋतुराज अपने नवीन साज-समाज से सुसज्जित हो आ सुशोभित होता है। औरों की भाँति यहाँ वह उटपटाँग खाता नहीं कि—"खुदा की दी दाढी जब चाहा तब नोचा।" जिसके मन मे जब से आया अपने सम्वतसर को पकड बुलाया, यह भी न विचारा कि—नवीन सम्वत्सर के हर्ष मनाने मे कुछ प्रकृति सहायता देगी कि नहीं, अथवा ऊपरी हर्ष दिखाने के सग सचमुच मन भी कुछ स्वाभाविक प्रहर्षित रहेगा वा नही।

जैसा कि अँगरेज लोग हृदय कम्पायमानकारी, खटाखट दाँत बजाने वाले जाडे के मध्य जनवरी मास से अपने नवीन सम्वतसर का आरम्भ मानते, और उसकी पहली तारीख को नवीन सम्वतसर का प्रसन्न प्रथम दिवस (Happy New Year's Day) कह कर पुकारते, और आनन्द मनाते हैं, हम नहीं जानते कि जब भारत मे उस समय का जाडा अत्यन्त असह्य होता है, तो योरप में क्या दशा होती होगी? तथापि वे जनवरी से आरम्भ किये सन् के अनुसार अपना राज-काज का लेखा परेखा ठीक रखने मे भी ऐसे असमर्थ होते कि झखमार कर एप्रिल मास से, जो कि हमारे इसी चैत्र में पडता वा हमारे वर्षारम्भ ही के कुछ आगे पीछे आरम्भ होता है, वर्षमानने मे वाध्य होते हैं और एक वर्ष को दो वर्ष लिखते हैं, जैसे कि सन् १८९४-९५।

मुसलमान लोगों की तो जैसे समग्र बातै ससार से निराली हैं, वैसे ही उनका सम्वत् और महीना भी चलता फिरता है और जो कि उनकी जाति और सृष्टि ही मुहर्रमी है, अत· उनका सम्वतसर भी मुहर्रम के आरम्भ से आरम्भ होता। जब मुहर्रम आया, और दूसरा वर्ष लग गया। यों ही जो कि हर्ष और आनन्द की समस्त सामग्री इनके यहाँ हराम मानी जाती हैं, अतः सम्वतसर के आरम्भ में भी क्यों आनन्द मनाने की कोई विधि होने लगी। अवश्य ही पार्सी भाषा मे इसके लिए एक शब्द नौरोज का

व्यवहृत है, परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पारस देश निवासी पारसी जाति मात्र से है, मुसलमानों से इससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यों ही मुसलमान लोग अपने अरबी महीना के सम्वतसर के आरम्भ में कुछ भी हर्ष प्रदर्शन नहीं करते, वरञ्च शोक। कट्टर मुसलमान सम्राट् आलमगीर ने जब यह समाचार सुना था, कि उसका पुत्र नौरोज़ में हर्ष प्रदर्शन करता, और खुशियाँ मनाता है, अत्यंत क्रुद्ध होकर राजकुमार को आगामि से ऐसा न करने का तीव्र आदेश दिया था।

पारसियों के नवीन सम्वतसर का आरम्भ अर्थात नवरोज़ यानी फर्वर-दीन मास के प्रथम तिथि को होता, अर्थात् जिस दिन कि सूर्य्य मेष राशि पर आता है। सारांश यह कि वे हम लोगों के सौरमास वा संक्रांति के अनुसार ही अथवा सौर वर्षारम्भ से अपना वर्षारम्भ मानते हैं, तात्पर्य यह कि विदेशी अँगरेज़ लोग भी हमारे चान्द्र सम्वतसर का अनुकरण करने में वाध्य होते, और पारसी लोग सौर वर्ष को मानते हैं।

जानना चाहिए कि हमारे यहाँ कई प्रकार के वर्ष माने जाते हैं, और यही कारण है कि इस सुवृहत् देश के अनेक प्रांतों में एक ही सम्वत् एक ही प्रकार से नहीं माना जाता, वरञ्च अनेक प्रकार और भेद से बरता जाता है। जैसे कि ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रन्थों में कालमान अर्थात् समय के वत्सरादि भेदों के ६ प्रकार कहे गये हैं,—

"इत्थं पृथङ् मानव, दैव, जैव, पत्राक्षे, सौरेन्दव सावनानि। पत्र वा ब्राह्मं, च काले नवमं प्रमाणं ग्रहास्तुसाध्या मनुजै स्वमानात्।

अर्थात्—मानुष, दैव, वाहस्पत्य, पैत्र, नाक्षत्र, सौर, चान्द्र, सावन और वाह्य।

काल की संख्या वा भेद इस प्रकार हैं—

कि पलक गिरने में जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं। उसका तीसवाँ भाग तत्पर। और तत्पर का शतांश त्रुटि कहलाता है। योंही १८ निमेष की एक काष्ठा। तीस काष्ठा की एक कला। तीस कला की एक घटी। दो घटी का एक मुहूर्त्त। ३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र—

यों ही एक दूसरा मत यह है, कि—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष का श्वासोच्छ्वास काल, वा ज़ितने समय में दस गुरु अक्षरों का उच्चारण होता है, उसे एक प्राण कहते हैं। ऐसे ६ प्राणों का एक पल, ६० पल की एक घटी, ६० घटी

का एक दिन और ३० दिन का एक महीना तथा १२ मास का १ वर्ष होता है। इसी रीति से नवों प्रकार के मानों में वर्ष मासादिक बना लेना चाहिए।

जैसे कि मेषादि राशि चक्र का भ्रमण जितने दिन में सूर्य्य पूर्ण करते हैं, उसको सौर वर्ष कहते हैं, उसका द्वादशांश सौर मास, मास का त्रिशांश सौर दिन, दिन का षष्ठ्यांश सौर घटी, सौर घटी का षष्ठ्यांश सौर पल होता है। इसी प्रकार पूर्व्व परिभाषा के अनुसार समस्त मानो में जानना। सौर वर्ष ही देव और असुरों का अहोरात्र है, परन्तु जो (उत्तरायण) देवों का दिन है, वही असुरों की रात्रि है। इस प्रकार देवों के ३६० दिन का एक दैव वर्ष होता है। अमावस्या से अमावस्या पर्यन्त काल चान्द्र मास कहलाता है। चान्द्रमास ही पैत्र अहोरात्रि कहलाता है। (अर्थात् कृष्ण पक्ष दिन और शुक्ल पक्ष रात्रि)। दो सूर्योदय का अन्तर अर्थात् सूर्य्योदय से सूर्य्योदय-पर्य्यन्त काल सावन अहोरात्र कहा जाता है। अश्विन्यादि नक्षत्र भोगकाल नाक्षत्र मास है। और वृहस्पति के राशि चक्र भोगकाल को वार्हस्पत्य वर्ष कहते हैं। यह बारह सौर वर्ष का एक वर्ष होता है। यों ही १००० महायुग का एक ब्राह्म दिन होता है। मनुष्य मात्र उक्त चार मानों से मिश्रित होता है क्योंकि लोक में चार ही मान से सब कार्य्य किये जाते हैं, अर्थात्—सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र।

वर्ष अयन, ऋतु और युगादिक सौर मान से, मास और तिथि चान्द्र मान से, व्रतोपवासादि सावन मान से, और घटिकादि नाक्षत्र मान से प्रवृत्त होते हैं।

४३२००० सौर वर्ष कलियुग का भोग है, उसका दूना द्वापर का, तिगुना त्रेता, सौर चौगुना सतयुग का ये चारो युग मिलकर अर्थात् ४३२०००० और वर्ष का एक महायुग होता है। ऐसे ही ७१ महायुग का एक मन्वन्तर होता है। एक ब्राह्म दिन में १४ मनु होते, अर्थात् १४ मन्वन्तर का एक ब्राह्म दिन होता है। इसी को कल्प वा प्रलय-काल भी कहते हैं, जिसके कि आरम्भ से ग्रहों का चलना आरम्भ होता, और अन्त में समाप्त होता है। ऐसे १०० वर्षों की ब्रह्मा की आयु है जिसके समाप्त होने ही को महाप्रलय भी कहते हैं।

धर्मशास्त्र के कालमान से इसमें कुछ विरोध पड़ता है और पुराणों के मत भी भिन्न हैं। परन्तु लोक में विशेषतः इन बड़े मानों से कार्य्य नहीं

पड़ता। हम लोगों को केवल इन्हीं प्रकार के बड़े मानों से सम्बन्ध है;—

यथा वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, सप्ताह, और दिवस सौर मास के अनुसार ६ मास का अयन, और मास का ऋतु होता है। चान्द्र—मास के दो भागों की पक्ष संज्ञा है, (अर्थात् क्रमशः चन्द्रमा की कलाओं के क्षय और वृद्धि के अनुसार कृष्ण और शुक्ल भेद से जो प्रायः पन्द्रह-पन्द्रह दिन के होते हैं) सप्ताह ७ दिन का चारों के अनुसार माना जाता। और उसका सातवाँ भाग दिन है। विशेष रूप से मास भी चार ही प्रकार के लोक के व्यवहार में आते हैं, जैसे सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और सावन। सौर अर्थात् एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति तक। चान्द्र के दो भेद हैं—अमान्त, और पौर्णिमान्त, अर्थात् अमावस्या से अमावस्या तक, अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक। नाक्षत्रमास २७ नक्षत्र व्यतीत होने पर और यों ही सावन मास ठीक ३० दिन का होता है।

इसी प्रकार धर्म्मशास्त्र के आचार्य्य माधो ने वर्ष पाँच प्रकार के माने हैं, यथा सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और वार्हस्पत्य। अगले चारों के कारण और कार्य्य प्रथम कह आये हैं, वार्हस्पत्य वर्ष व्यतीत होने पर जो कि प्रायः १२ सौर वर्ष का होता है जगत की दशा में कुछ न कुछ परिवर्तन होता है, और वर्ष के ऊपर एक सामान्य बड़े मानों में माना जाता है। १२ वर्ष पर कुम्भ आदि मेलों का व्यवहार अथवा अँगरेज़ी राजनियम के अनुसार मियाद की एक अवधि १२ वर्ष की यों भी मानी जाती ही है।

अब यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि ८ व ६ प्रकार को छोड़कर ४ वा ५ प्रकार के भी वर्ष यदि लोक के व्यवहार में आते हैं तो उनमें किसके आरम्भ से नवीन सम्वत् का आरम्भ मानना ठीक है? सो प्रथम तो आर्ष्टिषेण ऋषि का वचन है, कि सम्वत्सरादि से प्रवृत्ति होने के कारण सदा चान्द्र सम्वत्सर ही का व्यवहार करना उचित है, सम्वत्सरादि से यहाँ कल्पादि से तात्पर्य है, और इसीलिए चैत्रशुक्ल प्रतिपद को कल्पादि ही कहते भी हैं।

स्मरेत सर्वत्र कर्मादी चन्द्र सम्वत्सरम सदा।
नान्यम् यस्मात् वत्सरादौ प्रवृत्ति स्तस्य कीर्तित ॥

इसी भाँति ज्योतिष शास्त्र शिरोमणि में भी लिखा है कि

लङ्का नगर्य्या मुदयाच्चभानो स्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव।
मधो सितादेदिनमास वर्षं युगादिकानां युगपत्प्रवृत्ति ॥

लंका के सूर्योदय के अनुसार चैत्रशुक्ल शनिवार को प्रथम ही प्रथम दिन, मास, वर्ष युगादि की प्रवृत्ति हुई थी; अर्थात् यही टष्यादि काल कहलाता है।

इसके कारण को उसी शास्त्र "सिद्धान्त तत्वविवेक" में और भी स्पष्ट रीति से लिखा है—

लङ्कार्द्धरात्रे चलिताग्रहोच्चपातादयः स्युर्युगपच्च सर्वे।
नाड्याह्वयेजादियुदास्तदैव सृष्ट्या ह्ये काल मुदाहरिन्त ॥
कालेनयेनैतिपुनः सयोगस्तं सृष्टि कल्पं प्रवदत्ति संतः।

लंका में आधीरात के समय अर्थात् अधीरात ही से दिन का आरम्भ जोड़ा जाता है। ग्रहोच्चपातादिक सब नाड़ी बलय में मेषराशि के आदि में युक्त होकर चलित हुए थे, इसी को सृष्टियादि काल कहते हैं और जितने काल में फिर वह योग आता है उसको सृष्टि कल्प प्रलयकाल भी कहते हैं। यही ब्राह्मदिन कहलाता है।

जैसे भगवान् मनु कहते हैं:—

यदा स देवो जागर्ति तदेहं चेष्टते जगत्।
यदास्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वनिमीलति ॥

जब ब्रह्मा जी जागते रहते हैं, तब यह जगत देख पड़ता रहता है, और जब वह सो जाते हैं। तब सब जगत प्रलय को प्राप्त होता है।

यद्यपि चन्द्र सम्वत् की श्रेष्ठता में एक प्रमाण दे चुके हैं, और यह भी बतला चुके हैं कि मास और तिथि चान्द्र मास ही के अनुसार माने जाते हैं, तथापि सामान्य रीति से बिचारने पर भी कुछ विशेषता इस चान्द्र मास ही में पाई जाती है, क्योंकि न केवल मनुष्यों की गणना और पञ्चाङ्गो के लिखने के अनुसार ही वरञ्च प्रत्यक्ष भो नित्य एक नवीन परिवर्तन क्रमशः चन्द्रमा की कलाओं की बृद्धि और ह्रास से दिखाई पड़ता है। एवम् जो लोग शास्त्र प्रमाण नहीं मानते, और यह कहते की मनुष्य जाति स्वयम् उन्नति को प्राप्त हो अपने ही अनुभव से क्रमशः समस्त विषयों का ज्ञान लाभ किया है उनके मत के अनुसार भी यही मानना पड़ेगा, कि आरम्भ में मनुष्यों को केवल चन्द्रकला के क्षय और वृद्धि ही से प्रत्येक दिन में भेद अवगत हुआ होगा, और तिथि मासादि की गणना की शिक्षा मिली होगी।

अब यह प्रमाणित हो गया कि अनेक अन्य मानों में चान्द्रही सर्व प्रधान और मुख्य हैं और यही बर्ता जाता, और हमारे यहाँ के सब त्योहार

और पर्व केवल विशेष अवस्थाओं को छोड़ सामान्यतः इसी के अनुसार माने जाते हैं, वरञ्च यवनादि भी अपने अनलसद्द तारीखी त्योहारों की जाँच के लिए भी इसी चान्द्र तिथि का आश्रय लेते हैं। फिर वर्षारम्भ इसे छोड़ कर और दूसरे के अनुसार क्यों माना जाय ?

अब जो परस्पर अनेक संवत्सरों में कुछ कुछ भेद पड़ जाता है, वह आरम्भ में न था, क्योंकि कल्पादि में सब ग्रह नक्षत्रादिक में जो मेषराशि के आदि में युक्त होकर गति रहित हुए थे, वे सब एक बारही चले फिर पीछे निज निज गति के शीघ्र और मन्द होने के कारण क्रमशः भेद पड़ता गया। सो भी लौकिक मानों में से बार्हस्पत्य को छोड़ शेष ४ सावन चान्द्र सौर और नाक्षत्र में जो मुख्य है, प्रथम तो विशेष भेद नहीं पड़ता, और जो पड़ता है सो फिर भी कुछ दिनों में निवृत्त हो जाया करता है। वरञ्च कभी कभी ऐसा भी समय आजाता कि अधिकांश की एकता हो जाया करती है, जैसे कि इस सतयुग अन्त में अर्थात् जब से ग्रहों की गति का हिसाब ठीक करके सूर्य्यसिद्धान्त बनाया गया था जैसा कि ज्योतिष के मुख्य ग्रन्थ सूर्य्य सिद्धान्त में लिखा है कि :—

अस्मिन् कृतयुगस्यांते सर्वेमध्यनगाग्रहाः।
विनातु पातमन्दोच्चन्मेषादौ तुल्यतामिताः॥

अर्थात् इस २८ वें महायुग के कृतयुग के अन्त में समस्त मध्यम सूर्य्यादिग्रह मेष राशि के आदि में तुल्य हो गये थे, परन्तु ग्रहों के पात और मन्दोच्च तुल्य नहीं थे (इसका कारण स्पष्ट ग्रहों में भेद था)।

अस्तु यद्यपि यह निर्विवाद है कि हमारे यहाँ वर्षारम्भ कल्पादि अर्थात् चैत्र कृष्ण प्रतिपदा ही से होता, क्योंकि जिन आर्य्य राजाओं के सम्वत् वा शाके भारत में प्रचरित हुए, सब इसी दिन से बदलते गये; यह कदापि न समझना चाहिए कि योरोपियन और यवनों की भाँति किसी के जन्म वा मरण अथवा राज्याभिषेक के दिन से विक्रमादि के सम्वत् का आरम्भ माना गया है। तौ भी भारत के भिन्न प्रान्तों में आजकल इसके विषय में बहुत कुछ विभिन्नता देखी जाती है जैसे कि बंगाली लोग सौर मास मानते; और उसी की प्रत्येक विभक्ति तिथि को तारीख कहते वा हमलोग जिस भाँति पूर्णिमान्त चान्द्र मास मानते, तथा महाराष्ट्र लोग अमान्त मानते हैं। दक्षिण और पश्चिम के अनेक भाग में कोई कोई विजयादशमी और कोई

कार्तिक की दीपावली अमावाष्या से नवीन सम्वत् और उसका आरम्भ करते हैं। यद्यपि कुल रीति के अनुसार हमारे देश के भी अनेक महाजन लोग दीवाली से अपना नया कागज बदलते और कोई धनतेरस देवोत्थानी एकादशी से, परन्तु वे सम्वत् के हिसाब को नहीं बिगाड़ते, योंही जिमींदार लोग विजयादशमी से नये तहसील के साथ अपने गाईं हिसाब किताब के कागज बदलते हैं, किन्तु वे लोग प्रायः फसलीसन् का व्यवहार करते हैं। सारांश विक्रमादि सम्वतों के व्यवहार करनेवालों का चैत्र शुक्ल को छोड़ और दिन से उसका आरम्भ मानना निपट अनर्गलपन है।

श्रावण १९५१ वैक्रमीय

आनन्द कादम्बिनी का नवीन सम्वत्सर

धन्य २ उस परब्रह्म सच्चिदानन्द घन को कि जिसकी कृपा बारि बिन्दु वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचाञ्चक आज फिर यह मन मयूर नवीन उत्साह अवलम्बन कर आनन्द कादम्बिनी के आनन्द विस्तार लालसा से थिरिकने लगा, और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चहँकार चली, कि—मेरे प्यारे रसिक ! आओ आज के समागम से चिरवियोग दुःख को भूलें, और बहुत दिनों से मानों मानवती बन बैठी वार्ता वधूटी के आरम्भ घूँघट को खोल उसके आनन्द मन्दस्मित का स्वारस्य अनुभव करें। कुछ अपनी बीती सुनायें, और कुछ तुम्हें भी सुनाने का अवसर दें। यद्यपि—"खुलेंगे शिकवे के जब के दफ़्तर इधर हमारे उधर तुमारे। तो क्या क्या गुजरेंगे हाल दिलपर इधर हमारे उधर तुमारे॥" अवश्य ही एक अनूठी कठिनाई है; क्योंकि दोनों ओर कुछ ऐसा ही साहित्य सञ्चित है।

तो क्या कुछ न कहें ? यदि कुछ न कहें तो विशेषता ही क्या ? और आज मिलाप का फल ही क्या ? किन्तु कहने की इच्छा करते ही आपके लिये अनगिनत उलाहने आकर हठात् उपस्थित हो उच्चारण के प्रार्थी होते हैं, जिन्हें सुनते ही आप ऊबकर कह उठेंगे कि—"आँय ! यह आते ही आग उगलौवल कैसी ?" इसी से जो कहने को जी चाहता है उसे न कहकर कुछ इधर ही उधर की चर्चा चला चलनी उचित प्रतीत होती है। तौभी जो भूल से कहीं वही सुर छिड़ जाय, तो रूठ न जाइएगा। क्योंकि—"भरी है सीनये सोज़ा में आतिश इस्क़दर गम की। जो ठण्डी साँस भी लूँ तो मेरे मूँ से धुवाँ निकले।" और आप भी तनिक अपनी ओर बचाइएगा, कहीं यह न पूछ चलियेगा, कि—हें, हें, हज़त् आज तक कादम्बिनी किस आसमान की हवा खा रही थी ? हम लोगों की आँखों को इन्तज़ार का बीमार बना रही थी ? उनके भाई नागरी नीरद साहिब भी ऐसे उड़े कि अन्का हो गये ! हम लोगों का कुछ खयाल भी न रहा कि कहाँ क्या होता है और किस पर क्या बीत रही है ? फिर बतलाइये तो कि यह कैसी कुछ बेएतनाई, बेवफ़ाई, ढिठाई, या बेहयाई है ?" क्योंकि इसके उत्तर में यदि कदाचित् मैं भी निवेदन कर चलूँगा कि—दया निधान ! इन्हीं बातों में से कुछ मेरी ओर से भी दुहरा लीजिये, और बतला तो

दीजिये, कि—आप ही की गुनगाहकता न्याय की हाट में वास्तविक क्या मूल्य रखती ? कृपा कर विचार की कसौटी पर कसके समझ न लीजिए। तो आनन्द तो अलग, आज के अलाप का कलह छोड़ दूसरा परिणाम ही न निकलेगा और प्रथम ही चुम्बन में गलकटौवल की कहावत चरितार्थ हो चलेगी। अतः यही संकल्प रहे कि उरहना परहनी न हो, केवल कुछ कुछ आवश्यकीय बातें कहनी, अनकहनी कहनी न कहनी ॥

अच्छा, परन्तु तौभी चाहे मैं लाख बातें लाख रीति से बना कर कह चलूँ किन्तु आपके चिर जिज्ञास्य प्रश्न तो आप का पेट फुलाए कान तक सकसे रह दूसरी बातों को वहाँ घुसने हीं न देंगे। अतः अवश्य ही आवश्यक सूचना पाचक प्रयोग से प्रथम उन्हें शमन करना ही समीचीन होगा। क्योंकि आप में से अनेक महानुभाव जब कभी प्राइवेट पत्रों की पतंग बढ़ाते, वा संयोग से कहीं मिल जाते, तो लाख बात को छोड़ केवल एक इसी बात का बवण्डर लाते, और उसे अत्यन्त आग्रह के आकाश तक पहुंचाकर तब साँस लेते। बहुतेरे बारम्बार अस्वीकार उत्तर का तिरस्कार करके भी निरन्तर नई नई सीख सिखाते, और उचित अवसरों पर अपनी नई नई अनुमति बतलाते और कादम्बिनी के पुनः प्रकाशित करने की सौहैं दिलाते ही रहे हैं। कोई कोई प्रकाश रूप से समाचार पत्रों में फटकार बतलाते, अपनी अप्रसन्नता वा उत्कण्ठा जतलाते, एवम् कभी कभी कोई चोखी चुटकियाँ ले चैतन्य कराते, वा और की ओट में चित चाही चोट चलाते ही रहे। सारांश कादम्बिनी के चातक चुप न रह अद्यावधि पूर्ववत् चहँकार मचाते ही चले जाते रहे, और हम चुप-चाप सुनकर भी अनसुनी कर जाते ही रहे। क्योंकि कई बार की परीक्षा से कुछ इसी प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सोच विचार अन्त को ऐसी ही ठान ठान लेनी पड़ी थी। चातकों में न केवल सामान्य विद्या, बुद्धि और और वित्त, वा वृत्ति ही के मनुष्य; वरञ्च बड़े बड़े राजा, महाराज, पण्डित, कवि, वकील, राजकर्म्मचारी, प्रेमी, भक्त, योगी, और महात्मा! न केवल उदासीन, वरञ्च आत्मीय, बन्धु बान्धव सुहृद समस्वभाव, अनुग्राहक महानु भाव जिनमें कोई कहता, कि—

"क्यों साहिब! कृपा कर भला बतलाइए तो, कि आपही ने न आनन्द कादम्बिनी की आदि माला के प्रथम मेघ के पत्र परिचय में लिखा था कि—'सच पूँछो तो जब से कविवचन सुधा का स्वाद 'सुधा सुरपुर' में जा बसा, और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के चन्द्रिका का चमकीलापन और

मनोहरता का गुन मोहनपन के परदे से ढँप गया, और उस प्राणोपम परम प्रिय हरिश्चन्द्र ने कि जिसे भारतेन्दु क्या संसार-सूर्य्य कहना योग्य है, अपनी लेखनी को आनन्द के कलमदान विश्रामालय में स्थान दिया, दिया बिन मन्दिर सी दशा को भाषा प्राप्त भई। सैलानी दिल घबराने लगा, उँगलियाँ कलम उठाकर कहने लगी कि अरे! न सोलह आने तो खैर पाई ही सही, पर कुछ न कुछ करतूत कर अपने भाषा के रसिकों को आश्वासन देना तो अवश्य आवश्यक है।' मैं पूछता हूँ कि वह सैलानी दिल अब क्यों नहीं घबराता ? उँगलियाँ अब क्यों नहीं कलम उठातीं ? वहीं आपने फिर कहा था, कि—'ईश्वर ने चाहा तो क्या आश्चर्य कि सैरबीन का समा सुझा आपकी आखें दिल के सहित हर्षित और प्रफुल्लित कर दूँ, और समस्त संसार की एक मात्र राजराजेश्वरी श्रीमती महाराणी संस्कृत देवी की चिर-जीविनी बालिका श्रीमती नागरी कुमारी के नवीन बनक और हाव-भाव कटाक्ष की चोखी छूरियों से बीबी उर्दू की जो सदैव अपनी छल क्षुद्रता के कारण सन्मान के अभिमान से नाक भौं चढ़ाया करती है, बायें हाथ से नाक पकड़ दाहिने की मदद से काट कर चिहरा सफाचट्ट करके तब छोड़ूँ, और अब अधिक कहाँ तक कहूँ, भगवान ने चाहा तो कर दिखलाता हूँ।' सो अब तो ईश्वर की कृपा से आप से आपही उस बिचारी के गले पर छुरी चल गयी; बहुतेरे ख़ून लगा कर शहीदों में भी शामिल हो चुके; और मुद्दतों की माँगी मुराद बर आ गई, तब आप क्यों चुपचाप बैठे हैं!" कोई कहता कि—"बरसों बन्द रहने के उपरान्त जब फिर कादम्बिनी निकली तब आप ने लिखा था, कि—'यद्यपि जब से इस का सम्पादक सहायक समीर सांसारिक सोक सैल की सैल में जा दत्तचित्त हुआ, इसने भी कुत्सित समय सरद जान विश्राम के आँचल में मुँह छुपाया, और यद्यपि इसकी प्रेमी मयूर मण्डली तभी से कूक कूक कर अपना असीम प्रेम प्रगट करती रही, पर बहुतेरे रसिक चातकों ने तो वह चहँकार की रट लगायी, कि चुप हुयेई नहीं। और ऐसी दशा में यही उचित जान निश्चय हुआ, कि जो हो, इनके तृप्त कर देने में चाहे कुछ कसर अभी क्यों न रहे, परन्तु ये तृषाकुल तो न रहें, और श्रीमती नागरी देवी कि जिसका एकमात्र आश्रय भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र था आचाञ्चक मूं मोड़ छोड़ भागने से प्राप्त दुःख दुखिनी को कुछ भी तो आश्वासन दिया जाय। यों तो इस जगत के जंजाल के उलझन से सर्वथा सुलझे रहना अत्यन्त असम्भव है, क्योंकि न यहाँ आ केवल नल, हरिश्चन्द्र,

और युधिष्ठिर प्रभृति को ही रोना पड़ा, किन्तु राम कृष्णादि को भी तो सासांरिक सुख से हाथ धोना पड़ा तो भला अस्मदादि की कौन गणना है कि जो केवल माया मानस के दीन मीन, हर तरह सत्य, स्वच्छन्दता विहीन, नित्य नई नई मृग तृष्णा में लीन ही रहा करते हैं ? निदान यह जानकर मान लेना पड़ा कि जैसे अनेक झगड़े और झमेले हैं, अकेले इसी से क्यों छुटकारा लेने के लिए यत्न किया जाय जैसे सब कर्तव्य हैं, यह भी एक परमावश्यक है।" इसमें सन्देह नहीं कि बीच में कई बरसों तक आप अवश्यही उरहने के योग्य न थे,क्योंकि ऐसे ऐसे झंझट झमेलों में उलझे रहे कि जिसकी सीमा नहीं परन्तु अब उससे सर्वथा सुलझ कर भी यह मौनावलम्बन कैसा ? क्या उन बातों की कुछ भी सुध नहीं है ?" हम कहते कि—हां, अवश्यही उसकी सुध नहीं है, और सुध आने से एक प्रकार का खेद हो होता है, क्योंकि वह कुछ समय ही दूसरा था, अवस्था ही दूसरी थीं, चित्तही दूसरा था, और हमी दूसरे थे, साथी-सहयोगी, ग्राहक, अनुग्राहक और गुणग्राहक ही दूसरे थे, इच्छा और मनसूबे ही दूसरे थे, उमंग और उत्साह का रंग ढंग ही कुछ और था। तौभी यदि आप उसके आगे की कुछ पंक्तियां और भी स्मरण करते, तो यों ललकार और फटकार की डींग न हाँकते। जैसे कि तृतीय माला के प्रथम मेघ में यों कहा गया था, कि—"यद्यपि इसके प्रकाशकों को कदापि इस के द्वारा द्रव्य लाभ की इच्छा न थी, और न अब है; किन्तु कुछ हानि उठा कर भी अपने भाषा के प्रेमियों को मोहित करना मंजूर था परन्तु जब सच्ची चाह के बाज़ार में भी ठाले पड़ें, तो उत्साह के लाले पड़ने कुछ आश्चर्य नहीं। सो केवल प्रशंसित रसिक चातकों के अतिरिक्त साधारण विद्वान, धनवान, एवं सर्व्व सामान्य मातृभाषानुरागियों से कादम्बिनी को कुछ भी सहायता न मिली; और हमारे देशी राजा महाराजा लोग तो हिन्दी पत्रों को बे खोले ही अस्वीकार लेख लिख फेर दिया करते हैं; इसलिये कि ये उनके शुभचिन्तक हैं, "सारांश कादम्बिनी के डाक व्यय भर को भी उसका मूल्य अब तक न आया। यद्यपि हम तो अपना सिद्धान्त विगत माला में कह चुके हैं कि---'हम अपने थोड़े से सुविज्ञ सज्जन गुणग्राही रसिकों की थोड़ी प्रसन्नता को बहुत और अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं, परन्तु थोड़े और थोड़ी की बहुत ही थोड़ी संख्या हो जाने से थोड़ी उत्साह शक्ति भी थोड़ी हो जानी कुछ आश्चर्य्य थोड़ी है ?"

अस्तु, उस झंझट झमेले के दिनों ही में जिसकी चर्चा अभी आप ने

ऊपर की है, हमारी वह नवीन मित्र मण्डली जिसका सविस्तर वृत्तान्त प्रायः नागरी नीरद नामक साप्ताहिक पत्र के 'गुप्त गोष्ठी गाथा' नाम के शीर्षक स्तम्भ में प्रकाशित होता रहा, संगठित हुई। और जब जब उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ, तो मेरे लाख लाख आपत्ति करने पर भी मण्डली से यही स्थिर हुआ, कि---नहीं नहीं प्रथम साप्ताहिक समाचार पत्र ही प्रकाशित करना चाहिये और यथासाध्य उसी को इस प्रकार सावधानी से सुसज्जित करना चाहिये कि जो मासिक पत्र का काम दे, और उसमें जब भली भाँति कृतकार्य्यता हो जाय, तब अवश्य पुनः कादम्बिनी भी निकाली जाय। बस, फिर क्या था, विवश हो प्यारी कादम्बिनी की सुधं भूल नीरद ही के निकालने पर उद्यत होना पड़ा, और वह सर्वसामान्य के नेत्रोत्सव का हेतु हो चला। परन्तु अत्यन्त खेद पूर्वक कहना पड़ता है कि पूरे चार वर्ष भी समाप्त न होने पाये, कि वही लक्षण आगे आये, जिसके लिये लोग पूर्वही से चेताये गये थे। हमारे सब मित्रों की अभिलाषा पूर्ण हो गई, मेरी सब बातें समझ पड़ीं, उत्साह कर्पूरवत् अदृश्य हुआ, परस्पर लोग आपस में एक दूसरे को दोषी बना बुनू बैठ रहे। मैं प्रथम ही से कहता रहा कि, यारो! जिस चाल पर मासिक पत्रिका का चलाना कठिन होता; साप्ताहिक का साहस क्यों करते हो, पर उस दून की सूझ में कोई क्यों सुनता था। उक्त पत्र के विषय में जो मनसूबे बाँधे गए थे उसके षोडशांश की भी पूर्ति न हो सकी, और वह विचार बिना किसी सूचनाही के आशा दुराशा के आकाश में अन्तर्धान भी हो गया! और यहां नित्य नये नये उपाय और उद्योग के लिए विवाद होता ही रहा। अन्त को नितान्त दुःसाध्य जान लोग इस विषय में मुझे स्वतन्त्र और निज मनमानी करने की अनुमति देकर चुप हुए। मैं भी अपने पुराने विचारानुसार परिणाम देख, और अपने मित्रों की बहकावट में पड़ निज मत के विरुद्ध कार्य्य करने के दोष को समझ और आगे अधिक निष्फल प्रयत्न करना व्यर्थ जान चुपका हो रहा।

मित्र मण्डली में नाना प्रकार से पुनः उसे चलाते ही चलने की चर्चा होती रही, परन्तु मैं कदापि उसपर कान न देता और समझता कि इन्हीं लोगों के ऐन्द्रजालिक जाल में पड़कर धोखा खाया है, अतः अब "न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्" का पाठ कण्ठ किया करता। पर वह कब सुनते, जब मिले तब यही प्रश्न—"कहिये कहिये अब क्या स्थिर किया? नीरद कब दृष्टिगोचर होगा? कादम्बिनी कब रस बरसायगी? क्या कहें जब से आप ने

इनका दर्शन दुर्लभ किया, ईश्वर ने इनके यथार्थ नामियों का भी दर्शन दुर्लभ कर दिया। कादम्बिनी और नीरद की वर्षा बन्द होने से न केवल हम से चातकों ही की उत्कण्ठा पराकाष्ठा को पहुँची, वरंच विचारा भारत ही आरत होता चला जाता है। भला आपही अपनी वर्षा कर चलिये कि—ख़रबूज़े को देखकर शायद ख़रबूज़ा रंग पकड़ ले, तो देश का भी मङ्गल हो।" कोई कहता कि अजी जब से इनका निकलना बन्द हुआ, तुमने तो लिखना ही पढ़ना छोड़ दिया। इनके जरिये से तो भला कभी कभी कुछ लिख भी लेते थे, अब तो गोया इसकी सुध ही भूल गये हो! मित्र! किस आशा दुराशा में पड़े हो। तुमारे सर्वथा इच्छानुसार सुख सामग्री और समय काहे को आयेगा, और कब किसे उपलब्ध हुआ है? अंगरेजी की वह कहावत बहुत सत्य है, कि—'Perfect happiness is impossible" अर्थात् दुर्लभं परमं सुखम्। अतः समयानुसार ही तुम्हें भी चलना चाहिये। बहुत मनसूबे को बटोरो। थोड़ा ही करो। नागरी नीरद नहीं तो कादम्बिनी ही सही, परन्तु कुछ कर चलो! इतना और ऐसा भी समय और स्वास्थ्य दुर्लभ है।" कोई कहता, कि—"यदि द्रव्य के हानि लाभ का विचार हो, तो लीजिये जो कुछ कादम्बिनी खाते खरच पड़ेगा मैं दूँगा, आप निकालिये।" दूसरे कहते "साहिब मैनेजरी का काम मुफ़ में मैं कर दूँगा आप लिखकर लेख मात्र दे दिया करें और सब कुछ हो रहेगा।" तीसरे आज्ञा करते, कि—यदि लेख की न्यूनता ही चिन्ता का कारण हो, तो कहिये उसके आकार का चौगुना लिखकर महीनों आगे से भेज दिया करूँ, और फिर ऐसे प्रबन्ध कि जो देखे और कहे कि वाह।" चौथे यह प्रश्न करते कि—"अब कहिये, कि क्या आपत्ति है?" मैं इन बातों को चुपचाप सुनता, और कुछ निश्चय न कर सकता। कहता, कि भाईयो! जब सबी बस्तु का ठीक लग गया, तो मेरी आवश्यकता ही क्या है? यन्त्रालय आपी लोगों का है, छापिये। मुझ से न पूछिये, न मेरी सम्मति लीजिये। उत्तर मिलता; कि—"वाह! भला हमें इसकी क्या ज़रूरत है? यह सब तो तुमारे लिये कहते हैं, तुम यदि वैसी ही उदासीनता दिखलाओ और इतने पर भी कुछ न लिखा पढ़ा चाहो, तो हम सब क्यों यह प्रपञ्च फैलाने लगे। परन्तु याद रक्खो कि—यों शक्ति को नष्ट करना और अमूल्य समय को व्यर्थ बिताना बुद्धिमानों का काम नहीं है!"

निदान यों बारम्बार आनाकानी करते करते मैं भी अग्यान हो गया,

और अन्त को सोच विचार करके फिर यही निश्चय करना पड़ा, कि "अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।" किन्तु जैसेही मैं स्वीकार का आकार दिखलाने लगा कि फिर मित्रों की मण्डली सम्मति दे चली, और पुनः वही सब प्रश्न आ उपस्थित हुए जिन्हें कर कर के पछता चुके हैं। अस्तु, बड़े बड़े वादाविवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि—नीरद नहीं, कादम्बिनी ही निकाली जाय। और बस अबकी वर्षा का आरम्भ होते ही आनन्द कादम्बिनी की भी वर्षा अयश्यमावश्य आरम्भ हो चले। परन्तु वर्षा आती और चली जाती। सावन आता, भाद्रपद आता, किन्तु उत्साह न आता। क्योंकि, चित्त पर इस विचार का अधिकार अब तक अटल है, कि—चाहे किसी दंगल, सर्कस, जादू के खेल, वा रंगशाला में घुस प्रसन्नता से लोग महीने में चार बार दो-दो चार चार रूपया सहज में देकर प्रसन्न रहें, परन्तु निज भाषा के कैसे ही अच्छे पत्र वा पत्रिका के लिए वर्ष भर में दो चार रुपया कष्ट से भी टेंट से निकालने वाले देश बान्धवों की संख्या अभी देश में बहुत ही थोड़ी है! और अपनी भाषा की उन्नति वा उसके अर्थ भी कुछ कर्तव्य वा दातव्य है, इस विचार से युक्त मष्तिष्कवाले लोग तो कदाचित् इस युक्त प्रदेश में नितान्त ही न्यून हैं। और जो हैं, तो वे शक्ति शून्य हैं?

कहिए तो आप ने किस राजा महाराजा के दर्बार में कभी कोई हिन्दी समाचार पत्र वा मासिक पत्र पढ़ा, सुना, वा देखा जाते देखा है? किस अमीर वा रईस के हाथों में उसे कभी खुला अवलोकन किया है? किस राजकर्मचारी की मेज़ पर रक्खा भी लखा है? और किस ग्रैजुयट के चश्मे के तले उसे पढ़ा जाते पाया है? कदाचित् आप अवश्य ही कहेंगे, कि—नहीं नहीं वा, कदाचित्। तो हम कहते हैं कि फिर जब तक पूर्वोक्त जनों में इसका पूर्ण प्रचार न होगा, हमारी भाषा की भी उन्नति कदापि न होगी। हमारे राजे, महाराजे वा रईस, अमीर लोग पायोनियर, इङ्गलिशमेन, वा सिविल मिलीटरी गज़ट के स्थान पर चाहे लण्डन टाइम्स, इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज़ अथवा लण्डन पञ्च के ग्राहक क्यों न बन जायँ, और चाहे डर, शुश्रूषा वा कीर्ति लाभार्थ ही क्यों न उसे अत्यावश्यक, परमावश्यक और नितान्त आवश्यक मान उनके मूल्य से सौगुना द्रव्य भी दे देने में कुछ क्लेश अनुभव न करें; किन्तु निज भाषा के पत्रों के अत्यन्त अल्प मूल्य को उपकार बुध्या देने में भी मानो दिवाला निकल जाने का सा डर अनुमान करते हैं। बड़े-बड़े राज कर्म्मचारी और सुबृहत् उपाधिधारी पश्चिमीय भाषाविशारद देश बान्धव भी

उस भाषा के नाते अमृत बाज़ार पत्रिका; हिन्दू, वा ऐडवोकेट् को छोड़ चाहे अखबारि-आम, अवध अखबार,वा अवध पञ्च का क्रय करें, और लेख द्वारा उनकी निरन्तर सहायता करें, किन्तु भारतमित्र, हिन्दी वङ्गवासी वा हिन्दोस्थान में भी उन के नाम को स्थान मिले, यह एक प्रकार आश्चर्य्य ही है। सम्भव है कि हमारे पूर्वोक्त मत के विरूद्ध कदाचित् कोई दो चार नाम बतला सकें ? परन्तु क्या इतने बड़े देश और जन समुदाय में वह संख्या गणना के योग्य होगी, जिसका पड़ता लाख में एक का पड़ता है ? फिर कहिये तो, यह कितने बड़े आश्चर्य, आक्षेप और परिताप का विषय है ? क्या किया जाय कि हमारे भाई हमारे और हमारी शब्द के अर्थही को भूल गए हैं ! वे सब प्रकार पराये हाथों बिक पराये बन गए हैं ? ईश्वर उनपर शीघ्र कृपाकरे। यदि कोई कहे, कि—"साहिब हिन्दी पत्रों में कुछ हो भी, मुफ़ क्यों कोई अपना रुपया और समय नष्ट करे।" तो इसका यही सहज उत्तर है, कि यह सब आपही लोगों का दोष है, क्योंकि बिना गुणग्राहक गुण की वृद्धि कदापि नहीं होती।

लोग कह बैठेंगे कि "महाशय ! यह आप क्या कह रहे हैं ? अब तो वह दिन नहीं है कि जब आप लोग इने गिने चार जने सम्पादक उपाधिवान हो अभिमान करते थे, वरञ्च अब तो यह पदवी हर हाटों में टके सेर लग रही है; और हिन्दी के कोड़ियों पत्र और पत्रिकायें कौड़ियों के भाव बिक रही हैं; किसी को कुछ उपालम्भ नहीं है, आप आये, और लगे वही पुरानी तान अलापने। तनिक आँख उठाकर देखिये तो, तब से अब में कितना भेद है !" हाँ, इसमें सन्देह तो नहीं, कि संख्या पत्रों की अधिक हो गई है, और ग्राहक संख्या भी आगे से अवश्य ही अधिक हुई होगी; परन्तु इससे किसी हिन्दी पत्र की कदाचित् ही स्पृहणीय दशा हुई हो, उसे हम नहीं जानते। दो एक पत्र जो अच्छी दशा में हैं, उनमें भी स्थान और कृत्य की विशेषता ही कारण है, जो व्यापार सुलभ शैली के अवलम्बन से एकान्त सम्बन्ध रखता है, और जिसके अनुकरण के हम लोग सर्वथा और सर्वदा से विरोधी हैं। हम लोग सर्व्व सामान्य को प्रसन्न कर धन सञ्चय करने से अपने को कृतकृत्य नहीं मानना चाहते, किन्तु विशेष जनों को चाहे उनकी संख्या अविशेष ही क्यों न हो विशेष प्रयत्न से विशेष प्रसन्न करना हीं अपना विशेष लाभ समझते हैं। इसीलिए विशेषतः विशेषता ही का ध्यान रहता, और चाहते कि यदि कुछ विशेषता की समा ला सकें, तब तो सब प्रयत्न ठीक है, नहीं उससे तो चुपचाप बैठे ही

रहना सर्वथा समीचीन है। क्योंकि यदि हम लोगों के उद्योग से हमारी भाषा का कुछ भी सच्चा उपकार हो सके, अथवा हम लोग अपने देश बान्धवों का ध्यान उनकी मातृभाषा की ओर कुछ विशेष आकर्षित कर सकें, या साहित्य की प्रचलित प्रणाली से निराली सजधज दिखलाकर उनका मन मोहित कर सकें, या काव्यानन्द निमग्न कर उनके मुख से साधुवाद का उच्चारण करा सकें वा देश और समाज की नित्य प्रति नवीन अवनति का मर्म्म सुझा कर नतग्रीव कर उनकी नासिकाओं से अस्वाभाविक शोकोच्छ्वास प्रवाहित करा सकें और उसके सुधार के लिए कुछ लोगों के भी हृदय में विचार उत्पन्न कर सकें वा निज धर्म्म, कर्म्म, रीति, नीति, आचार, व्यवहार के प्रचार और उसके विरुद्ध बढ़ती बाढ़ सी कुरीतियों के रोकने के अर्थ उन्हें तत्पर और बद्ध-परिकर कर सकें, तो अवश्यही हम अपने को सचमुच लाभवान् समझ सकें, किंतु केवल संसार भर के नीरस समाचार, वा शुष्क राजनैतिक पुकार, अथवा दूसरे पत्रों के लेख संग्रह कर प्रकाशित करने के अर्थ तो लेखनी को छूना भी नहीं चाहते॥

निदान इन्हीं कारणों से कई बार उत्साहित होकर हम लोगों ने लेखनी उठाई, और देश की दशा निरख परख फिर चुपके हो रहे। क्योंकि और बातों के अतिरिक्त केवल निज नागरी भाषा ही के विषय में, जिसके लिये हम लोग सदैव लालायित रहे हैं, जब २ जो कुछ कर्तव्य विचारा, उसके कुछ अंश को भी पूरा न कर पाया। इसलिए कि केवल वर्तमान भाषा प्रेमियों के भरोसे उनका निर्वाह असम्भव सा प्रतीत हुआ और अन्य को सहायता की अपेक्षा न कर स्वयम् अपने सिर पर उस भार बहन के योग्य शक्ति सम्पन्न होने की हर समय प्रतीक्षा ही करते २ बहुत सा समय बीत गया, और अब तक वह समय न आया कि जिसके ऊपर कर्तव्य मात्र की आशा निर्भर थी! वरञ्च बीच २ में समय ने ऐसे २ विचित्र दृश्य दिखलाए, कि बहुतेरे मनोरथों ही को मन से धोकर दूर बहाये। न केवल सांसारिक परिवर्तन ही को दिखा कर दिल की आँखें खोल दीं, वरञ्च अपने शारीरिक और मानसिक दशा में भी आकाश और पताल के तुल्य अन्तर उपस्थित कर दिया। इसी भाँति न केवल इच्छा अनुराग, उत्कण्ठा, व्यसन और वासना ही को अदल बदल डाला, वरञ्च बुद्धि और विचार ही में कुछ इस प्रकार पर फेर फार उत्पन्न कर दिया, कि जिनमें दिन और रात का सा भेद लखाई पड़ने लगा। अवश्यही यदि ऐसे संगी साथी न रहे कि जो अपने समय में अद्वितीय और अनुपम, एवम् देश

की शोभा के हेतु वा उसके अलंकार कहने के योग्य थे, और वास्तव में थे; तो उनकी मण्डली में जो आनन्द आता था, आज उस आनन्द को मन वास्तविक आनन्द नहीं मानता। जैसे समाज में तब बैठकर खाना, पीना, सोना भूल जाते थे, आज उसमें कदाचित् मन बहलने की भी आशा नहीं पाते हैं। जिस प्रकार के लोगों का दर्शन तब शरच्चन्द्र वा प्रफुल्लारविन्द तुल्य नेत्रों को नितान्त आनन्ददायी, वरञ्च उन्हें तृषित चकोर और मत्त मधुकर बनाई देने में समर्थ सा था, अब वह दुस्सह दुःखदाई और बचने बचाने के योग्य समझ पड़ने लगा। तब जिनसे मिलने और बातें करने के लिए चित्त में चटपटी पड़ी रहती थी, अब उन्हें देख दूर भागने ही में कुशल की आशा होती है। तब जिन्हें अपना और आत्मीय समझते थे, बहुतेरे उनमें पराये और बिगाने जनाने लगे। जिन्हें मित्र और सूहृद समझते थे, उनमें अनेक बैरी और विरोधी को भी भुलाने लगे। जिन्हें प्रिय और जीवन धन जानते वरञ्च आराध्यदेव सा निरन्तर हृदय में स्थान दिये थे; अब उनका स्मरण भी दुखद हो यही स्मरण कराता है, कि—"उम्र सब मुफ्त में खोया किये नदान रहे।" अस्तु संसार के निःसार नाते देखभाल चित्त की वृत्ति ही कुछ दूसरी हो गई। तब जो बातें प्रसन्न हो कहते थे, अब उन्हें सुनना भी नही चाहते। तब जो लिखकर प्रसन्न होते थे, अब उसे देखना भी सह्य नहीं और जिस कृत्य से तब अलभ्य लाभ अनुमान करते थे, अब उसकी चर्चा भी नहीँ सुहाती। फिर इस विषय में भी उत्साह न होना क्या आश्चर्य्य है? तौभी जब २ वर्षा आती, नीरद नागरी नीरद और कादम्बिनी आनन्द कादम्बिनी की सुध दिलाती, अथवा गम्भीर निर्घोष के मिष मानो चेताती, कि—क्यों अब क्यों देरकर रहे हो? तुमारी प्रतिज्ञानुसार तो सावन आया और बीत भी चला, तो अवश्यही चित्त चातक सा उत्कण्ठित हो उठता विशेषतः कादम्बिनी के रसिक और मित्र मण्डली के मित्र मयूरों का उत्कण्ठा कलरव और भी प्रोत्तेजित कर देता। यद्यपि यह विचार आरम्भ हो जाता, कि अब तो एक से एक बड़े २ और उत्तमोत्तम पत्र और पत्रिकाएँ नित्य नये रंग ढंग से निकल ही रही हैं, तुमारे ही चार पृष्ठ काला करने बिना क्या हानि हो रही? विशेषतः जब कि अपने मन के मनसूबे के अनुसार कार्य्य भी नहीं कर सकते, तो आधे मन का कार्य्य भी कैसे ठीक होगा। किंतु क्या किया जाय कि अनेक मित्र भी इसी हठ पर लेखनी नहीं उठाते कि जब लिखेंगे तो नीरद वा कादम्बिनी ही में। और उनके कथनानुसार यह

भी एक आक्षेप का विषय है, कि—आनन्द कादम्बिनी जिसके नाम से यन्त्रालय नित्य ही चलता है, वह स्वयम् बन्द रहे, जिस मनोरथ से प्रेस आया वही न हो और संसार भर का व्यर्थ कार्य्य हो। इसी प्रकार क्यों सब पत्र चलें, और यही अकेली बन्द रहे ? जहाँ बड़े २ पत्र और पत्रिकायें हैं, वहाँ एक छोटी सी कादम्बिनी भी यदि अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाती रहे तो क्या अनुचित हो ? इसी तर्क वितर्क और ऊहापोह में वर्षा बीतती, और दूसरी वर्षा पर विचार छोड़ा जाता, और नवीन वर्षा पर नवीन उत्साह प्रबल पूर्वानिल प्रवाह की प्रतीक्षा होती।

किन्तु हाँ, जब से कि नागरी देवी के वर्णवैचित्र ने इस देश के राज प्रतिनिधि के मन को मोहित किया, और कई सौ बरस के पीछे फिर इस देश की राजसभा में उसका प्रवेश आरम्भ हुआ; और वह महत्कार्य जिसके लिए आगे बड़े बड़े लोगों ने बड़े बड़े उद्योग करके भी कुछ फल प्राप्त न कर पाया था, समय पाकर हमारे दो एक मित्रों के निरन्तर उचित उद्योग के फलस्वरूप में सिद्ध हो उनके अमल यश का हेतु हुआ, देख चित्त को अकथनीय आनन्द के अतिरिक्त विशेष सन्तोष भी प्राप्त हुआ। और यह भी निश्चय हो गया कि—थोड़ा भी कार्य्य करने से ईश्वरेच्छानुकूल रहने पर विशेष फलोदय भी हो जाया करता है, यथा "झूँठे हूँ कीने जतन कारज बिगरत नाहिं। कपट पुरुष लखि खेत सों जैसे मृग फिरि जाहिं।" अतएवव अन्त को यही विचार निश्चय हुआ कि जो कुछ तुमसे भी हो सके, अपने देश और भाषा की सेवा कर चलो, उन बड़ी २ बातों की सुध भूल जावो, सम्भव है कि इसी बीज से भगवान उस वाञ्छित बड़े विटप को भी उत्पन्न करदे कि जिसके लिए उसने कोई विशेष समय नियत किया हो।

अस्तु, गत श्रावण में जो कादम्बिनी का पुनः प्रादुर्भाव करना निश्चय कर कुछ कार्य्यवाही आरम्भ करनी चाही, तो गत वर्ष की भाँति मित्रों की फिर विविध प्रकार की अनुमतियों की बौछार आ चली, फिर दिल दहल चला और मैं घबरा चला क्योंकि हमारे मित्र मण्डली के मित्रों में जो कई उत्साह के समुद्र, तो दो एक उनमें साक्षात अगस्त्य, अनेक उनमें सर्वतो भावेन प्रशंसाके पात्र, तोकोई कोई एकाध बात में ऐसे, कि जैसे कुछ। जो जैसी जैसी कृपा उनकी नीरद वा कादम्बिनी के विषय में हुई, समझकर यही कहना पड़ता है, कि " खुदा दुश्मनों से न दिखलाये हर्गिज़। जो कुछ दोस्त अपने से हम देखते हैं।" प्यारे पाठको!

हमारे वास्तविक अनुत्साह के कारण भी यही लोग हैं, जिसे हम न छिपा सके और कही देना पड़ा, चाहे इसका फल कुछ ही क्यों न हो। क्योंकि परस्पर हमारा और उनका सम्बन्ध अटल, और दुर्निवार्य्य है। वह लाख अपराध करके भी हमारे ऊपर वैसाही अधिकार रखते, कि जैसे पूर्व में। और हमारे अच्छे से अच्छे कार्य्य को भी वह सहज ही में दोषयुक्त कह कर चुप करा देने में समर्थ हैं। सबी बातों में वे सम्मति देने वाले, और निज मनमानी कार्य्यवाही करा देने वाले। यद्यपि मैं एक प्रकार सर्वथा उनके आधीन हूँ; तौभी कैयों की अपूर्व अनुमतियों के सदाविरुद्ध रहा करता; विशेषतः लिखने पढ़ने वा पुस्तक और पत्र के विषय में तो मेरा मत दो एक व्यक्तियों के अतिरिक्त प्रायः सब से अलग और स्वतन्त्र है; तौभी औरों के अनुरोध से कभी न कभी परतन्त्र होना ही पड़ता है। विषेशतः जो बातें मण्डली में प्रवेश पा गई उनका निबटेरा तो फिर उसी के आधीन रहता है। कादम्बिनी के विषय में मण्डली ने अधिकांश बातों में यद्यपि मुझे स्वातन्त्र्य दे दी है, परन्तु मित्रता का नाता टेढ़ा होने से सबी प्रकार की सब की सम्मति सदा सापेक्ष्य रहती। यद्यपि चार भारतीयों की एक सम्मति किसी एक विषय में स्थिर होनी एक प्रकार कठिन है, तथापि अपने लोगों में कुशल है। यदि एक बिगड़ता तो दूसरे सुधारते, समझाते, बुझाते, और फुसलाकर उसे पथ पर लाते हैं। इस विषय में प्रायः उनमें से बहुतेरे ऐसीही बातें करते कि जिसे सुनकर मैं बिलकुल ही बेदिल और उदास हो एकदम उत्साह शून्य हो जाता, और कदाचित् मण्डली के मेम्बरों को छोड़ सबी कोई मेरी बात मान सकता है, पर वे नहीं। अस्तु, मित्रों की यह राम कहानी तो तमाम होनी नहीं है, हाँ समय समय पर अवश्य ही पाठक उससे परिचित होंगे। सारांश श्रावण के अन्त से लेकर भाद्रपद पर्य्यन्त नाना प्रकार के वादविवाद के बाद वह सब आपत्तियां छोड़ छुड़ाकर किसी प्रकार प्यारी आनन्द कादम्बिनी का प्रादुर्भाव निश्चय हुआ। मैंने कहा, कि विगत वर्षों की भाँति उचित समय फिर भी जाता रहा। आज्ञा हुई,—"कैसा समय ? कादम्बिनी के लिए सदैव समय है, विशेषतः शरद की कादम्बिनी का स्वागत तो सारा संसार करता है। इसी के स्वाति बिन्दु से अन्नादि की कौन कहे, मुक्ता, गजमुक्ता, गोरोचन और कर्पूरादिक से मूल्यवान पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं।" अतः इसमें यह आपत्ति अब अश्रोतव्य है। इसके और सब विषयों में अनेक आग्रह करने पर भी सबी बातें पूर्ववत रहने ही की सम्मति स्थिर हुई।

प्रिय पाठक वृन्द ! इस प्रकार यह आनन्द कादम्बिनी अनेक उपद्रव और विघ्नों से बचकर चिर दिनों के उपरान्त आज फिर आप की सेवा में उपस्थित होती है, आपकी उदारता से दृढ़ आशा है कि अवश्यमावश्य आप इसे आदर दीजियेगा, और इसकी न्यूनताओं पर दृष्टि न दीजियेगा। वरञ्च सच्चे चित्त से ईश्वर से अवश्य यह प्रार्थना कीजियेगा, कि वह इसे शीघ्र सर्वगुण सम्पन्न कर विघ्नों को हरता हुआ दीर्घजीवी बनाये। और यह बहुत दिनों तक आप लोगों के मन को लुभाये।

ईश्वर सदैव सानुकूल रह रक्षा करतार है। शुभमस्तु !

अनेकानेक धन्यवाद उस करुणा वरुणालय को, जिसकी कृपा कणिका के प्रभाव से आज हमें अपने प्रिय पाठकों को नवीन वर्ष की बधाई के संग आनन्द कादम्बिनी के भी नवीन वर्षारम्भ की बधाई देने का शुभ अवसर उपस्थित है। सुतराम् यथोचित शिष्टाचारान्तक यदि उनसे कुछ व्यतीत बरस की बातैं करें तो कहाँ तक और छोड़ें तो कैसे, कि जिसमें ऐसे ऐसे दुखड़े झेलने पड़े कि जी ही जानता है और संसार सूत्रधार ने इस पृथ्वी नाट्यशाला में ऐसे ऐसे अनोखे दृश्य दिखलाये कि उसे देखने का कब किसी को कभी स्वप्न में भी मान था।

भला कहिये तो, कि जब अनेक यूरोपियन शक्तिशार्दूल वा व्याघ्र वृन्द ने बारम्बार अति उत्तेजित हो उग्रभाव से गरज गरज कर उद्दण्ड ऋक्ष रूप से मञ्चूरिया मेष के छोड़ देने के अर्थ कहा और वह प्रमत्त पशु केवल हाँ हाँ कहता अनाकानी ही करता रह गया और जब सबी निराश हो चुपके हो रहे; तो करुणास्पद कुतिये सा कोरिया को भी धीरे धीरे उसे कवलित करता देख बीर विडाल जापान के गुरगुराने में भी कुछ तत्व है; यह कब किसने सोचा था ? अथवा अचाञ्चक यह विडाल ऋक्ष पर जा टूटेगा और प्रथम ही झपेटे में उसे पूर्ण विध्वस्त वा त्रस्त कर देगा ? फिर न एक बार, न दो बार, वरञ्च सौ बार और बारम्बार उसे हार पर हार देता नितान्त आर्त करके संसार पर अपना असह्य आतङ्क स्थापित कर देगा ? यह कब किसने समझा था कि निरन्तर अधःपतन शील पूर्व देश का सौभाग्य सूर्य्य लौट कर फिर जहाँ का तहाँ, अथवा कहाँ से कहाँ जा पहुँचेगा ? यद्यपि यह स्वाभाविक नियम है, कि पूर्व से प्रकाश फैलाता सूर्य्य पश्चिम को जाता और फिर वहाँ से पूर्व पर आ पुनः पूर्ववत प्रकाशित होता है, तौ भी यह कब किसे विश्वास था कि पश्चिमी शक्तियों को त्रस्त कर जो जापान उनसे एक परम असभ्य

क्षुद्र मूषक समझा जाता था, वह एक ही विजय पाकर परम सुशिक्षित, परम सभ्य और परम समर कुशल वीर वा व्याघ्र अथवा समस्त गुण आकर प्रमाणित हो जायगा ? फिर उस भयङ्कर समर की समाप्ति का ओर छोर भी कब किसे सूझता था ? यों परस्पर सन्धि की भी कब किसे आशा थी, कि जो समरारम्भ और विजय की भाँति आश्चर्य्य से शून्य न रही ? आज देखिये, रूस की स्थिति में भी सन्देह हो रहा है और जिधर सुनते हैं, जापान की तूती बोल रही है। रूस का सर्वथा अपने को अजेय समझ कर नितान्त अहङ्कारान्वित और लोभान्ध हो जाना और जापान का उचित अवसर पर अपने परम कर्तव्य कर्म्म के अर्थ प्राणपण पूर्वक उद्यत हो जाना ही इस अपूर्व परिवर्तन का कारण है। फिर जगत को त्रासदात्री मुसलमान जाति पूज्य सवत्कृष्ट सम्राट सुलतान रूम विचारे दिन दिन दबते "दवा बनियाँ सौदा करे।" के आदर्श बनते जाते, तो चीन पर कुछ नवीन आशा का संचार हो चला है।

अब यदि अभागे भारत के राजनैतिक आकाश की ओर दृष्टि दीजिये तो वह कुछ और ही रंग बदलता सा लखाई पड़ता है। कहाँ भूत भारत प्रभु लार्ड कर्जन का अगला रूप और उनकी प्यारी-प्यारी बातैं, फिर दिल्ली दर्बार से ले दूसरे बार के आगमन पर्य्यन्त की विविधि कूटनीति के बवण्डर, उद्दण्ड दर्प, उपेक्षा और अहङ्कार झाङ्कार, और उनके विलक्षण कृत्यों को देख क्या कुछ न्यून अन्तर लखाई पड़ता था ? करुणास्पद तिब्बत आक्रमण, खेदजनक ईरान प्रस्थान, और व्यर्थ काबुल को दूत दल संप्रेषणादि बातैं भूलकर भी प्रत्यक्ष भारत सम्बन्धी प्रबन्ध प्रभृति अनेक विषयों को छोड़ यदि केवल कुछ प्रधान राजनैतिक चालों, अटपटे आख्यान वा अनुष्ठानों को स्मरण करते हैं तो अचाञ्चक किसी उर्दू कवि का यह कथन यथार्थ अनुमित होता स्मरण आता है, कि—

"फ़लक को कब ये सलीक़ा था सितमगारी में ?
कोई माशूक़ है इस पर्दये ज़ङ्गारी में ॥"

जिनकी वक्तृताओं के प्रत्येक वाक्य गम्भीर अर्थ और राजनैतिक व्यंग से भरे रहते, जिनके बुद्धि वैभव का वारापार न था, जिनके विचार परम असम्भव होने पर भी केवल प्रलाप नहीं प्रतीत होते थे, उनके युनीवर्सिटी ऐक्ट के पास करने की लीला और उसमें दोष देख उसके संशोधन का व्यापार कुछ और का और ही भाव भासित कर चला। श्रीमान् अपने दोषों पर पश्चाताप

न कर दीन भारतीयों की निन्दा कर कर गालियाँ देने लगे, और बङ्ग अङ्ग भंग कर तो मानो प्रजाओं के हृदय ही को भङ्ग कर डाला। किन्तु प्रजाओं की चिल्लाहट की आहट से उन्हें ऐसी घबराहट हुई कि वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और अन्त को उसी दोष में लार्ड किचनर से लड़ ऐसे परास्त हुये कि बस, असंख्य मन्सूबे मन के मनी में रक्खे घर जा पहुँचे। हाँ, चलते-चलाते एक दिन समस्त बङ्गाल को उपवास करा गये। परन्तु उसी सम्बन्ध से वहाँ की प्रजा के मन में एक नवीन उत्साह का उदय भी हुआ, और कुछ ऐसा अपूर्व उलट फेर उपस्थित होने लगा कि जिससे समस्त संसार में एक नवीन चिन्ता और चर्चा फैल चली। यथा,—

आनन्द अरुणोदय।

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समक्ष अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तव उस नेताका॥
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती!
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती॥
उद्यम रूप सुखद मलयानिल दक्षिण दिशा से आता।
शिल्पकमल कलिका कलाप को बिना विलम्ब खिलाता॥
देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा सुगन्ध फैलाता मन मधुकर ललचाता॥
वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
विद्वेषी उलूक छिपने का कोटर बनी उदीची॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा लखाई।
खग 'वन्दे मातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥
तजि उपेक्षालस निद्रा उठ बैठा भारत ज्ञानी। इत्यादि॥

इसी प्रकार उसके सच्चे हितैषी भी उसकी वर्तमान दशा कृषि पर यों समालोचना कर चले; यथा,—

शुभसम्मिलन।

"भई वृद्धि बंचि घोर तर कुटिल नीति हैमन्त।
कियो कृपा करि कोउ विधि जौ विधि वा को अन्त॥
प्रविस्यो साहस को सिसिर फैलावत आतङ्क।
कम्पित करि निज दर्प सों विद्वेषी जन रङ्क॥

विरति विदेसी वस्तु सन सीत भीत अधिकाय ।
शुभ सुदेस अनुराग मय कुसुम समूह सुहाय ॥
कियो प्रफुल्लित सस्य सों सिल्प सुगन्ध बढ़ाय ।
स्रम जीवी मधु मच्छिकन को जनु प्रान बँचाय ॥

आनन्द को अति यह विषय संसय कछू जामैं नहीं ।
पर भयङ्कर हेमन्त सों यह सिसिर सोचहु सहजहीं ॥
कृषि हानि प्रद उत्पात या को धरस जाहि कहीं कहीं ।
तुम लखहु, ताके समन हित करियै जतन अति बेगहीं ॥

निज प्रमाद पाला परयो जहँ तहँ धीरज धारि ।
छमा वारि सींचिय तुरत आगत दोष निवारि ॥
राज कोप के उपल सों सावधान अति होय ।
रहियै रच्छक बीच सो सकत नास करि सोय ॥
राज भक्ति को अति बृहत तासों छप्पर छाय ।
ऊपर वाके राखियै जासों भय मिटि जाय ॥" इत्यादि ।

कहिये यह कैसी कुछ विचित्र ईश्वरी लीला है ! अस्तु, यद्यपि अब ईश्वर की कृपा से इस शिक्षानुसार प्रमाद बन्द है, किन्तु कदाचित् उद्योग नहीं ।

सभा समाज ।

नैशनल काँग्रेस इक्कीसवें वर्ष बनारस में पहुँच अपने यौवनाविर्भाव की अनोखी छटा दिखा कर दर्शक मात्र का मन मोहित करने में समर्थ हुई ! वास्तव में आगे कभी ऐसा उत्साह उसमें नहीं दिखलाई पड़ा था । यों ही इण्डस्ट्रियल कान्फ़रेन्स, सोशल कान्फ़रेन्स, राजपूत महासभा, नागरी लिपि वा एक लिपि प्रचारिणी सभा, आर्य्य समाज, नागर सभा, यवन सभा, बङ्गालियों की स्वदेशी प्रचार सम्बन्धी सभा, कलवार महासभा तक तो वहीं हो गई और कहाँ-कहाँ किसकी-किसकी महासभायें नहीं हुईं । किन्तु काशी ही में अब के दो अनहोनी सभायें भी हो गईं, अर्थात् भारत धर्म्म महा-मण्डल और पण्डित मदन मोहन मालवीय प्रस्तावित भारतीय विश्वविद्यालय स्थापिनी सभा, जिसमें अपूर्व प्यारा उत्साह बरसता लखाता था। प्रयाग में इस कुम्भ पर जिसे हिन्दू धर्म्म का महामेला कहना चाहिये वही सनातन-धर्म्म महा सभा के रूप में अति विशाल आकार धारण कर आर्य्य प्रजा मात्र को उत्साहित और आश्वासित करने में समर्थ हुई । ईश्वर शीघ्र उसे

कृतकार्य्य करे। भारत धर्म्म महामण्डल ने भी बडे ही धूम धाम से वहाँ अपना ठाट दिखलाया। सभाये प्रायः दोनो सग हुई। किन्तु दोनों एक होकर भी सर्वथा एक न हुई। तौ भी विरोध नही हुआ, यही हर्ष का विषय है। यदि दोनो यथावत अपने अपने कार्य्य मे सच्चे चित्त से सलग्न रहै तो अवश्य ही देश के वास्तविक सौभाग्य की हेतु होगी।

नागरी।

अवश्य ही नागरी भाषा ने अपने बडे-बडे सेवक और सहायक इन दोनों वर्षों मे खोये, जिनके नाम स्मरण कराकर हम अपने पाठको को पुनः शोकाकुल करना नही चाहते, तौ भी कई नागरी के पत्र-पत्रिकाओं ने अपने कई अशों में उन्नति की।

यद्यपि प्राय नागरी भाषा के पत्रों की परस्पर वादाविवाद परिपाटी सम्प्रति अति विकृत रूप धारण करती जाती है, क्योकि लोग निज पक्ष समर्थन और विपक्ष के खण्डन से केवल चुभता चुटकियो ही पर सन्तोष नहीं करते, वरञ्च अपने वाक्य-बाणों से प्रतिवादी का मर्म भेदन करना ही कृत कार्य्यता का कारण मानने लगे हैं। किन्तु प्रत्यक्ष गालिप्रदान द्वारा विजय लाभ को वासना बडी ही लज्जास्पद और शोकजनक है। वह न केवल हमारे पत्र वा सम्पादक अथवा पत्रप्रेरकादि ही, वरञ्च हमारी भाषा के भी गौरव हानि की हेतु है। शोक से कहना पडता है कि हमने कई प्रतिष्ठित पत्रों मे देश के परम प्रतिष्ठित वरञ्च पूज्य पुरुषो तथा सम्भ्रान्त कुल कामिनिया के सम्बन्ध मे भी ऐसे ऐसे घृणित वाक्यो के प्रयोग होते देखे हैं, जिसका स्मरण हमे अद्यावधि दु:खदायक होता। क्या देश के सुशिक्षित और सभ्य कहलानेवाले समुदाय की ओर से स्वदेश और स्वभाषा के सेवकों की सेवा का अब यही पुरस्कार मिलने का समय आ गया है। अत्यन्त शोक से प्रकाशित करना पडता है कि गत वर्ष हमारे नगर के कई नवशिक्षित लेखकों ने भी कुछ दिन पर्य्यन्त ऐसी ही रुचि के बशवर्ती हो महीनों कई पत्रो के अनेक कालम कलुषित करके हमारे परिताप के हेतु हुये थे। आज भी हम कई पत्रो मे ऐसे ही वादाविवाद और मनबहलाव की धूम देखते हैं। इसी से उनके सम्पादकों, और पत्र प्रेरकों से सानुरोध यह प्रार्थना करते हैं, कि—अवश्य ही वादाविवाद समाचार पत्रों का धर्म्म है, उसे जहाँ तक सम्भव हो आप लोग प्रचरित रक्खैं, परतु मर्य्यादा का उल्लङ्घन न

करें, भगवान के निहोरे किसी व्यक्ति विशेष की अन्तरात्मा को ऐसी अनुचित चोट न पहुँचायें कि जो सभ्यता वा न्यायानुमोदित न हो, अथवा जो शिष्ट और सहृदयों की दृष्टि में घृणास्पद वा निज भाषा के मान में बट्टा लगाने का हेतु हो।

नागरी प्रचारिणी सभायें भी कुछ न कुछ कार्य्य करती ही रहीं, किन्तु बङ्गाल के सुयोग्य अग्रगण्यों द्वारा एकलिपिविस्तार सभा संगठन होना अवश्य ही उसके लिये शुभलक्षण है।

सामान्य।

विगत वर्ष के जाड़ा पाला, ओलों की वर्षा वा अनावृष्टि की क्या कथा कही जाय, कि निरन्तर ऋतुओं में विलक्षण दुष्काल और प्लेग विशूचिकादि रोगों का क्या कहना है इसका तो मानो भारत अड्डा ही हो रहा है और उसके दूर होने की भी आशा केवल ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकती है।

पत्रिका।

यदि हम आनन्द कादम्बिनी के बीते वर्ष के कृत्यों पर ध्यान देते हैं तो उसमें सम्पादकीय लेखों में सम्मतियों को छोड़ गद्य लेख में केवल दिल्ली दर्बार में मित्र मण्डली के यार, पद्य में संगीत सुधाञ्जलि से वन्दना विन्दु योंही वाराङ्गना रहस्य नाटक। परिहास में पशुप्रपञ्च मात्रप्रकाशित हो सका। किन्तु हाँ, ३ सामयिक कवितायें अर्थाथ काशी काँग्रेस के अवसर पर—'शुभ-सम्मिलन' प्रयाग के भारत धर्म्म महामण्डल और सनातन धर्म्म महा सभा के महोत्सवों पर 'आनन्द अरुणोदय' तथा भारत में श्रीमान् प्रिन्स आफ़ वेलम् के शुभागमन पर 'आर्य्याभिनन्दन' का निर्माण, नागरी भाषा और इस देश की आर्य्य प्रजा के सामान्य उपहार स्वरूप प्रशंसित श्रीमान् और जन सामान्य को समर्पित होकर समयानुसार कादम्बिनी के संग भी वितरित हो उसके पाठकों के मनोरञ्जन की हेतु हुई।

अनेक सहृदय स्वभाषामर्मज्ञ और सुयोग सज्जनों ने उसे पाकर अपना असीम आनन्द भी प्रकाशित किया है, जो निस्संदेह हमारे परितोष और उत्साहवर्धन का हेतु हुआ है।

सहायक संपादकों के लेखों में, निज अनुज श्रीयदुनाथप्रसाद अनुवादित 'विन्ध्याटवी में महर्षि जावालि' श्रीहरिश्चन्द्र लिखित 'आषाढ़ का आरंभ'

और 'फाल्गुन' तथा चिरञ्जीवी श्री नर्मदेश्वर प्रसाद लिखित जान फ़ीसू'। प्रेरित;कलापि कलरव में भारतेन्दु का पुराना पत्र और 'वर्णावली' के अतिरिक्त कई अन्य प्रबंध प्रकाशित हुये हैं, जिनका विशेष व्योरा वार्षिक मुद्रित सूचीपत्र में मिलेगा जिनके लेखक महाशयों के हम अति कृतज्ञ हैं।

अब हम अपने उन सहयोगियों की कृतज्ञता प्रकाश करके धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने हमारी असह्य असावधानी पर भी निज असीम उदारता का परिचय देते निरंतर अपने बहुमूल्य पत्रों को प्रेषण करते रहे। एवम् उन अनुग्राहक ग्राहकों का कि जो मूल्य भेज अनुग्रहीत किया है। उपसंहार में ईश्वर से यही प्रार्थना है, कि वह अब इन दोषों को दूर कर कादंबिनी को सब भाँति से सुसंपन्न कर इसको निज रासिकों को संतुष्ट करने की शक्ति दे।

× × × ×

धन्य उस! लीलामय जगदीश्वर का विलक्षण व्यापार, जिस का कहीं से कुछ वारापार नहीं लखाता, न कहीं से किसी प्रकार यह समझ में आता कि कब, कहां से, किस भांति पर क्या कर दिखलायेगा और किसे कहां से कहां पहुँचायेगा। क्यों और किस प्रकार उसका कौन सा कार्य्यारम्भ होगा और क्या करने वालों से कब क्या करा देगा। नास्ति, से अस्ति शून्य से सृष्टि, शान्ति से विविध व्यापार और कठिन कोलाहल बात की बात में उत्पन्नकर परम अशान्ति और विलक्षण विनोद के व्याज अचिन्त्य परिणाम प्रगट कर वह अपने अलौकिक शक्ति का परिचय देता है कि जिसे न केवल मनुष्य, वरञ्च सुर और असुर भी समझ कर मुग्ध होते कि उन्हों ने क्या समझा था और क्या हुआ, किस लिये क्या किया था और परिणाम क्या हुआ! इसी से अन्त को यही मानना पड़ता कि वास्तव में उद्योग का फल सर्वथा स्वाधीन नहीं है।

पौराणिक इतिहास के आरम्भ पर ध्यान दें, तो सहज ही समझ पड़ेगा कि आदि में अकस्मात् मधु कैटभ का अत्याचार और उनका संहार, देवासुर संग्राम और उन के पीछे के मनुष्य और राक्षसों के परस्पर नित्य के संघर्षण और जय पराजय से कैसे कैसे सामान्य कार्य्य परम कठिन और अति असम्भव सहज में सिद्ध हो, लोगों के अकथ आश्चर्य्य के कारण हुए हैं। हम आर्य्यों की यदि उस उन्नत दशा पर ध्यान दीजिये, कि जब सनातन वैदिक धर्म्म, जनके शासन से संग संसार के पृष्ठ पर एक छत्र अतिद्वीय साम्राज्य वैभव को प्रदर्शित करता था, तब क्या यह भी सम्भव समझ पड़ता रहा होगा कि कभी इसकी भी हीनावस्था दृष्टिगोचर होगी, कि जिसका कोई अन्य प्रतिद्वन्दी

ही नहीं था ? महाराज रघु की विजय दुन्दुभी गरज गरज कर दसो दिशाओं से पूछती थी, कि "क्या कहीं संसार में कोई ऐसा भी वीर वर्तमान है, जिसके गर्व कानन को जलाकर हमारा प्रतापानल तृप्त हो ? किन्तु कहीं से किसी का कुछ भी पता नहीं लगता था। अन्त समय तक भी अर्जुन के बाणों का संसार में शेष लक्ष्य न था।

राक्षसेन्द्र रावण को जिसके सम्मुख युद्ध में मनुष्य की तो क्या कथा, देवता भी नहीं खड़े हो सकते थे, क्या महाराज रामचन्द्र से कुछ भी पराजय की प्रतीति थी ? किन्तु उन्होंने समुद्र में सेतु बांध तापस ही रूप से पहुँच कर लंका सूनी कर दी ! वैसे ही यद्यपि एकही सनातन धर्म्म की पताका इस पृथिवी पर उड़ती लखाई पड़ती थी, किन्तु बात की बात में वह बात जाती रही और दूसरा ही बात बहना आरम्भ हुआ ! जब कि ब्राह्मण स्वार्थ लोलुप, तप, स्वाध्य, स्वाध्याय, परोपकारादि से हीन, राजा विषयपरायण और आलसी हो गये, तो उनकी अनुगामिनी प्रजा भी मनमानी कर चली। धर्म्म के नाम से पाप हो चला ! बुद्ध भगवान उत्पन्न हुए। भारत आकाश पर कुछ और ही रंग के बादल छा गये ! क्रमशः सनातन वैदिक धर्म्म का प्रकाश लुप्त सा करती, बौद्ध धर्म्म की जड़ दूर दूर के देश और द्वीपों में पहुंच कर दिग् विजय कर चली ! यद्यपि सत्य सनातन धर्म्म अत्यन्त हीनावस्था को पहुँच चला था, तौभी आर्य्यों का प्रतापादित्य अपने प्रखर आतप से दूर दूर के देशों को उत्तप्त करता ही रहा। प्रियदर्शी अशोक आदि की आज्ञायें भारत से भिन्न संसार के सबी प्रान्तों के नरपतियों द्वारा सादर शिरोधार्य्य की जाती थीं। किन्तु जब मूल न रहा, शाखायें कैसे हरी रह सकती हैं। सनातन, वैदिक धर्म्म के साथ ही भारत के भी अवनति का सूत्रपात हो चुका था। बौद्ध और जैन धर्म्म ने क्षत्रियों को शक्तिहीन और निर्जीव बना दिया। नवीन धर्म्मसुधार की चिन्ता ने चित्त में राजनैतिक विचार का स्थान नहीं रहने दिया। भारतीय साम्राज्य के असह्य प्रताप को लोग सहज समझने लगे और सिकन्दर से प्रलय पराक्रमियों को इधर आने का साहस हो चला।

अब दूसरी ओर यदि देखिये तो उस सनातन धर्म्म के, जिसका कहीं ठिकाना पता भी नहीं था, पुनरुद्धार के अर्थ यत्न करने का संकल्प अकस्मात् केवल दो ही चार मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ, जिसे कि उस समय के लोग केवल शेखचिल्ली के मनसूबे सा नितान्त फल शून्य समझते रहे होंगे, किन्तु उसी सामान्य उद्योग का यह प्रभाव हुआ कि जिस सनातन धर्म्म

विश्वास के प्रकाश करने में भी लोग सशंकित होते थे, प्राणपण पूर्वक उसके उद्धारार्थ व्रती हो चले, और यह कैसे कुछ आश्चर्य्य का विषय है कि जिस बौद्ध धर्म्म का विस्तार भारतीय सीमा के सहस्रों कोस दूर दूर तक फैल रहा था और यद्यपि संसार में आज भी उसके अनुयायियों की संख्या सब मतों से अधिक है तथा जिस मत के बहुतेरे मूल सिद्धान्तों ही को लेकर ईसाई आदि मत गढ़े गये, वह अपने जन्म स्थान भारत से उसी लघु उद्योग द्वारा जिसकी कृतकार्य्यता की कदापि किसी को कुछ भी आशा न थी, प्रायः लुप्त हो गया कि जहाँ की एक अंगुल भूमि भी उससे शून्य न थी।

अब बिचारिये कि तब सनातन वैदिक धर्म्म के यों निर्मूल होने अथवा उसके निर्मूल होने पर फिर बौद्ध धर्म्म के यहाँ से उच्छिन्न होने, एवम् सनातन धर्म्म के पुनः प्रचार पाने की कब किसे आशा हो सकती थी। परन्तु समय और ईश्वरेच्छा के अनुसार ऐसी ही अघटित घटनायें हुआ करती हैं कि जिसे मनुष्य समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।

अब तनिक और देखिये, कि यद्यपि बौद्ध धर्म्म का नाश तो भारत से हुआ, परन्तु सनातन वैदिक धर्म्म का वह रूप जैसा, कि पूर्व समय में था, फिर यहाँ ठीक उस प्रकार पर प्रचलित न हो सका, क्योंकि अपौरुषेय वेदविहित, त्रिकालदर्शी ऋषि मुनियों से उपदेशित धर्म्म में नवीन आचार्यों की काट छांट ने कुछ का कुछ करना आरम्भ किया। मानो नवीन मत रचना की लोगों में टेंव सी पड़ गई, नित्य नये नये आचार्य्य हो चले और अपनी अपनी डफली में अपना अपना राग गा चले। बलात्कार निज निज मत विस्तार की लालसा बढ़ी; यों व्यर्थ नित्य कलह का उपक्रम आरम्भ हुआ, जिस कारण देश की राजनैतिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो उठी। बैर फूट की भरमार हुई, परस्पर मार झगड़े का व्यापार ही यहाँ के लोगों का एकमात्र आधार शेष रहा! जब प्रतिद्वन्दी अपने पराक्रम से पराजित करने के योग्य न ठहरा, लोग दूसरे देशों से भाड़े के वीर आह्वान करने लगे यह न जाना कि यह उसे मारकर हमें कब जीता छोड़ेगा! परस्पर उसके सहायक हो हो कर एक दूसरे का नाश करके ये कृतार्थ हो चले। विदेशी व्याघ्रों को यों अलभ्य लाभ रुधिर का स्वाद चखा पराधीन हुए और यहाँ यवनों का राज हुआ।

लोग अपने किये का फल भोग करने लगे, मार काट से तृप्त होते हुए वह कष्ट अनुभव कर चले कि जिसे उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था

तथापि ये साहसहीन नहीं हुए और कदर्य्यता का दोष अपने ऊपर आने न दिया। यवन जेता भी यहाँ सुख की नींद न सो सके, वे केवल पाशव बल से देश को निष्कण्टक न कर सके, वरञ्च अपने नवीन क्रूर धर्म्माभास के भ्रम में पड़े उत्पात करते, बलात् प्रजा के धन, धर्म्म, प्राण और प्रतिष्ठा पर निरन्तर आक्रमण करने के कारण एक प्रकार के लुटेरे वा देश के बैरी से बने रहे। इसीसे मुगल सम्राट अकबर ने, जो बड़ा ही चैतन्य नीति निपुण, तथा धर्म्म के वास्तविक सिद्धान्तों को समझता था, अपने मुसल्मानी मत की स्वाभाविक जघन्यता और क्रूरता तथा मिथ्याविश्वास को छोड़, राजनीति की वह परिपाटी प्रचारित की, कि यदि सचमुच वह उसके वंशधरों से कुछ दिनों और भी निर्वाह की जाती, अथवा यदि औरंगजेब के स्थान पर कहीं दराशिकोह दिल्ली के राज सिंहासन पर बैठा होता और दो चार पीढ़ी भी वैसे ही नीति निपुण शान्ति स्वभाव सहृदय सम्राट हुए होते, निश्चय सारा भारत हिन्दू मुसलमान उभय जाति के भेद भाव और द्वेष से शून्य हो गया होता किन्तु अदूरदर्शी औरङ्गजेब आर्य्यधर्म्म के लोप करने और भारत को अरब बनाने की लालसा में मुगल साम्राज्य को गारत करने का उपक्रम आरम्भ कर चला। उसने अकबर से मतिमान की नीति को निकम्मी समझ, केवल कुआन के कथन पर कान दे यही अनुमान कर लिया कि बिना खड़े होकर चिल्लाये स्वर्ग का द्वार कदापि नहीं खुल सकता! वह काफिरों को खुदा का बन्दा न मानकर अपना बन्दा समझ, वही पुराने जङ्गलीपन के आचार वाले पिछले शासकों की उद्दण्डता का अनुकरण कर मुसलमानी राज्य के उत्पात को भूली प्रजा के मन में पुनः पहिली आशङ्का उत्पन्न कर, असन्तोष की आग भड़का, अपने सहायकों को शत्रु बना, प्रशान्त देश में फिर मार काट आरम्भ कर भारत से मुसल्मानी राज्य का मानो अन्त कर चला।

अब यदि कोई उस समय के देश की स्थिति पर दृष्टि दे यह विचार करता, कि क्या मुसल्मानी शासन से ग्रस्त इस देश की चिर पराधीन प्रजा के वैमनस्य वृक्ष से कभी इस फल की भी आशा हो सकती है कि वह पुनः अपना स्वाधीन साम्राज्य स्थापित करेगी; तो उसे कब यह सम्भव समझ पड़ता? किन्तु नहीं, ईश्वर की इच्छा तो है, उसी वैमनस्य और आत्मोद्धार की उग्र इच्छा ने एक छोड़ यहाँ दो ऐसे ऐसे प्रबल हिन्दू राज्य स्थापन कर दिये कि जिन्हें साम्राज्य कहने में भी किसी को संकोच नहीं हो सकता, अर्थात्

महाराष्ट्रों का दक्षिण और सिक्खों का पञ्जाब में। मुसल्मानी द्वेषाग्नि को जाग्रत और यवन दर्प का उपहास करती सी शूकर के चिन्हवाली ध्वजा फहराती "वाह गुरू की फतह" की पुकार के संग मानो मुसल्मानी शासन का न केवल अन्त बतलाने लगी, वरञ्च अन्त को सचमुच अन्त ही कर दिया। किन्तु शोक से फ़िर उसी महाशक्ति का स्मरण आता है कि जो सर्वथा अघटित घटना घटित करती कि वे दोनों महाराज्य स्थापित होकर भी स्वप्न की सम्पत्ति के समान स्वल्प ही समय में विलीन हो गये और सात समुद्र पार से आयी एक वणिक मण्डली यहाँ के लोगों के परस्पर वैर विरोध की सहायता पाकर अकस्मात् इस बड़े देश की स्वामनी बन बैठी। इसी से यह प्रतिपन्न होता है कि कदाचित ईश्वर ने उस बड़े शासन के नाश करने ही के अर्थ यह रचना रची थी, वा ऐतिहासिक जनों को यह शिक्षा देने के लिये कि देखो किस प्रकार निर्बल से सबल का सर्वनाश होता और कैसे कैसे प्रबल पराक्रमशाली सम्राटों का भी तनिक तनिक सी त्रुटि के व्याज से नाम तक मिटता, एवम् परम सामान्य और असहाय जनों को भी बिना प्रयास साम्राज्य प्राप्त करा दिये जाते कि जिसका स्वप्न में किसी को भाव भी नहीं होता?

निदान जिस प्रकार फूट के वश इस देश के निवासियों की सहायता पाकर मुसल्मानी राज्य यहाँ स्थापित हुआ था, उसी प्रकार अङ्गरेजी राज्य भी जम चला। मुसल्मानी राजा के दुःखों से प्रजा अति उद्विग्न थी, कम्पनी के शान्त शासन को पा यहाँ के लोग मोहित हो उठे। परन्तु कुछ दिनों के बीतने और राज्य के स्थिर हो जाने पर उसके अनेक कर्म्मचारियों के अत्याचार, स्वार्थान्धता के व्यवहार तथा प्रमाद के फल ने बात की बात में उसके अधिकार को भी हटा, यहाँ ब्रिटिश साम्राज्य को स्थापित किया और कम्पनी जहाँ की थी, वहीं जा बैठी।

अंगरेज़ी राज्य ने वास्तव में प्रजा का बहुत कुछ उपकार किया, वरञ्च सच तो यों है कि मानो भारत का उसने अनेक अंशों में काया पलट ही कर दिया। शान्त शासन से स्वस्थ, शिक्षा विस्तार से पाश्चात्य विद्या और विज्ञान अर्जन कर यहाँ की प्रजा चैतन्य हुई। एक प्रकार की शिक्षा ने एकही प्रकार के मत और योग्यता के कुछ लोग समान रीति से देश के सब प्रान्तों में सुसम्पन्न करके उन्हें पश्चिमी रीति नीति और वर्तमान राज प्रबन्ध प्रणाली के समझने के योग्य बनाया, जिसके लिये भारतीय जन ब्रिटिश साम्राज्य

के चिर कृतज्ञ हैं और सदैव रहेंगे, किन्तु वे यह समझ कर अति चिन्तित और व्यग्र होने लगे कि—

विलायती प्रजा मण्डली प्रायः चारोवर्ण और छतीसो जाति के कार्य्य करके इस देश के अन्न धन को चूस अपने पेट पालती है। इस देश के सब प्रकार के उद्यम और व्यापार तथा उच्च सेवा पर भी केवल उन्हीं सबों का अधिकार है, जिस कारण अब यहाँ के लोग सब प्रकार निकम्मे और दरिद्र, रोटियों के दुःख से मरते और विदेशी उनके भाग को खा खा कर मदान्ध होते जाते हैं। शासक लोग केवल यहाँ कुछ दिनों के लिये आते, उनमें जो न्यायी और उदार होते यथाशक्ति हमारे हित के विषय में भी कुछ उद्योग करते किन्तु यदि उससे भारतीयों का कुछ वास्तविक लाभ सम्भव होता, दूसरे सकीर्ण हृदय अधिकारी आकर उसे मटियामेट कर देते और जिससे उन के देश निवासियों के स्वत्व में हानि पहुँचे, ऐसे कर्य्य करने का तो किसी को साहस ही कब हो सकता है! यों यद्यपि राजप्रतिनिधि और शासकों को अपने कार्य्य से शासित और शासनकर्ता उभयपक्ष की प्रजाओं को प्रसन्न करना सर्वथा असम्भव है, तौ भी उदार शासकों के द्वारा जो कुछ इस देश का हित हुआ है, उसके धन्यवाद के सहित, उच्च राजकर्म्मचारियों तथा स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया की उदार आज्ञाओं और वरदानों के बल पर, जिसे वे वेद वाक्य सा सत्य और अटल तथा जिसपर वे अपनी सब उन्नति की आशा रखते, उचित रीति से अपने दुख और आवश्यकताओं की पुकार मचाने लगे। जिसकी चिल्लाहट को सुन अनेक संकीर्ण हृदय राजकर्म्मचारियों को आश्चर्य होने लगा कि यह विपरीत वायु कैसा बह चला।

क्योंकि गवर्नमेण्ट ने जब यहाँ अँगरेजी भाषा की शिक्षा का प्रचार किया, इसलिए कि किसी देश में विदेशी राजा को तब तक उसके शासन में सुविधा नहीं होती, जब तक कि वह निज भाषा का प्रचार उस देश में न करें, तो बहुतों को यह आशा थी कि लोग अँगरेजी पढ़कर निज धर्म्म कर्म्म से अश्रद्धा प्रकट करते, अपने अचार विचार से मुख मोड़ेंगे। इनके विचार में अँगरेज़ों का गौरव और उनके राज्य का महत्व अधिक होगा। अँगरेजों को देवता और अपने को हिन्दुस्तानी लोग जङ्गली और असभ्य समझेंगे, वेदों को पुरानी गँवारी गीत और शास्त्रों को ब्राह्मणों का भोले हिन्दुओं के फँसाने का बागजाल मान, ईसाई मत की उत्कृष्टता देखकर उस पर मोहित हो क्रस्तान हो जायँगे! यद्यपि कुछ न कुछ ऐसा ही हुआ, तौभी

यह किसने समझा था कि वेद के उच्छिष्ट भाग से बने बौद्ध मत की शिक्षा से उत्पन्न खृस्तानी मत की दाल इस धर्म्म की मूल भूमि भारत में कब गल सकती है। जिन लोगों से समस्त संसार ने धर्म्म ज्ञान पाया, क्या उनके सन्तान धर्म्म के विषय में भी अपने त्रिकालदर्शी ऋषियों के सब अटल और अकाट्य सिद्धान्तों को भूल समान्य मनुष्यों के निर्मित मार्ग के अनुगामी होंगे। वह न केवल धर्म्म वरञ्च किस विषय में किसी दूसरे के दिखलाये मार्ग पर आंख बन्द किये अन्धों की नाईं कदापि बहुत दिनों तक न चलते जायँगे वरञ्च जो जैसा और जितना है, उसको वैसा और उतना हीं समझेंगे। वहाँ के दैवी मस्तिष्कवाले जिस विद्या का अभ्यास करेंगे, उसी के आचार्य्य बन उसके सार तत्व की व्याख्या कर निज शिक्षकों को चकित कर उन्हीं से पूजित होंगे।

सारांश संसार का कोई कार्य्य वा पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिसमें छुद्र गुण ही गुण हों और दोष का कहीं से कुछ भी पुट्ट न हो, वा केवल गुणांश शून्य दोष ही दोष हों। सुतराम् यद्यपि अँगरेजी विद्या के प्रभाव से शिक्षित भारतीयों के आचार विचारादि में कुछ २ परिवर्तन हुआ, किन्तु उसी के द्वारा इन लोगों ने पाश्चात्य ज्ञान से अपने विचारों में सुधार और उसके अनेक नवीन विज्ञानों से लाभ उठाना भी आरम्भ किया। अँङ्गरेजी राज्य प्रबन्ध की त्रुटियों के संशोधन और उसके अनेक संकीर्ण हृदय कर्म्मचारियों की कूट नीति से अपनी रक्षा की युक्ति सोचने और पश्चिमी रीति के शासन की इच्छा करने लगे। इसी भाँति यद्यपि रेल, तार और डाक से अङ्गरेज़ी माल की बिक्री बढ़ी और यहाँ के अन्न और धन को विदेश भेजने में सरलता हुई; किन्तु उसी के प्रभाव से दूर दूर के प्रदेश निकट से हो गये और प्रजा को गमनागमन तथा अन्य अनेक प्रकार की सुविधायें भी हुईं। समाचार पत्रों और सभाओं की वक्तृताओं की स्वतंत्रता प्रदान से प्रजा की आन्तरिक इच्छा यदि गवर्नमेण्ट को ज्ञात होने में सरलता होने लगी, तो उसी के संग अनेक भिन्न २ मत के लोगों के मत में एकता भी हुई और देश की दुर्दशा के प्रच्छन्न कारणों का ज्ञान सर्वसामान्य जनों में सुगमता और शीघ्रता से फैला। विविधि स्वच्छन्द न्यायालयों के द्वारा अस्त्र शस्त्रादि का युद्ध बन्द हो, लेखनी और जिह्वा की लड़ाई का अभ्यास बढ़ा एवम् लोगों के व्यर्थ अर्थ नाश की चाल चली, किन्तु कभी कभी न्यायालयों के वर्ण भेद पक्षपात और अन्यथाचार से प्रायः उसका भरमाला भी खुल कर लोगों की अश्रद्धा का हेतु हुआ। विविधि राजसभाओं में प्रजा के प्रतिनिधियों के समावेश से

यद्यपि देश के विरुद्ध होने वाले राजनैतिक विषयों में सर्व सामान्य को अपने प्रतिनिधियों ही का दोष समझने अथवा उनकी असावधानी पर व्यर्थ की लाञ्छना का अवसर था, किन्तु क्रमशः लोगों को यह भी निश्चय हो गया कि प्रजा के प्रतिनिधियों का समावेश केवल विडम्बना मात्र है, वस्तुतः जो राजकर्म्मचारी लोग चाहते हैं, वही करते हैं।

निःसंदेह भारतीय प्रजा स्वभाव ही से राजभक्त है, क्योंकि वह आर्य्य राजाओं को छोड़ अकबर से सहृदय यवन सम्राट को भी पूजती थी। हमारी स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया में उनकी माता से न्यून भक्ति न थी, जिन्हें वे लोग देवी कह कर पुकारते थे। वर्तमान और उनके युवराज एवम् समस्त राज परिवार में उन्हें यदि अधिक नहीं तो इङ्गलैण्डीय प्रजा से सौ गुनी भक्ति अवश्य है। अङ्गरेज़ी राज्य को भी वे सदैव अपने सिर की शोभा मानते और जानते कि ऐसा शान्त और न्यायी राज यूरप में दूसरा नहीं है, किन्तु यह सोचकर उन्हें अति हताश होना पड़ा कि वर्तमान प्रणाली के हमारे सम्राट वास्तव में साक्षी गोपाल अथवा मंदिरों के ठाकुर जी से अधिक शक्ति नहीं रखते। वे केवल सिंहासन की शोभा ही की सामग्री मात्र हैं, करने धरने, खाने पीने एवम् प्रमाद वा धक्का देने के अधिकारी, मुखिये, समाधानी, झपाटिये अथवा पुजारी स्वरूप राजकर्म्मचारी ही लोग हैं। सुतराम् ठाकुरजी में भक्ति होते हुये भी, इनके अत्याचारों से धैर्य्य खोकर भक्तों को अश्रद्धा उत्पन्न होई जाती है। इसी से ठाकुरजी की कृपा और भक्ति दोनों प्रायः फल शून्य होकर केवल महन्त और पुजारी ही के अच्छे और अधम होने पर सामान्य भक्तों के सन्तोष वा रोष अथवा प्रसन्नता और अप्रसन्नता का अटल सम्बन्ध है।

बहुत दिनों तक तो अङ्गरेज़ी राज प्रतिनिधि 'देश के नाडीज्ञान के विचार' नीति निर्धारण और प्रबंध की पुष्टता आदि में व्यस्त, स्वातन्त्र्य विस्तार और कुछ देशसुधार के प्रयत्न करके अपने राज्य की नींव जमाते थे। प्रजा भी भयङ्कर अत्याचार के स्थान पर शांति की कांति देख मोहित, रामराज्य का अनुमान करती क्रमशः नित्य नई उन्नति की आशा लगाये, बृटिश गवर्नमेण्ट के गुण गाती १८५८ ई० वाले महारानी विक्टोरिया के अनुशासन पत्र वा विज्ञापन को ब्रह्मलिपि सा अटल मान अपना सर्वस्व समझे थी। किंतु पिछले राजप्रतिनिधियों की अनेक चालों को देख वह उसे केवल लड़कों को फुसलाने वाली बातें अनुमान करने लगी। प्रथम दिल्ली दर्बार में वह बहुत बड़ी २

आशा कर न केवल उन्हीं से हताश हुई, वरञ्च आगे के लिये भी नितान्त निराश हो "वदाम्यहम, ददामि न" का अर्थ समझ चली। यों लार्ड लिटन के समय से प्रजा के विश्वास का ह्रास आरम्भ हुआ और प्रेस एक्ट से देश में अधिक असन्तोष बढ़ा। यद्यपि लार्ड रिपन के राज्य ने उस विश्वास को पुनः परिवर्तित किया, किन्तु एलबर्ट बिल ने बिल्कुल ही भ्रम दूर कर देश में दूसरे ही मत का प्रचार किया। मानो तबी से राजनैतिक उद्योग करना आवश्यक माना गया। क्योंकि यह विश्वास दृढ़ हुआ कि अँगरेज़ जाति में भी अवश्य ही सच्चे उदार तथा सहृदय जन वर्तमान हैं और वे निष्पक्ष हो प्रजा का हित भी करनेवाले हैं।

यों जातीय कांग्रेस बैठने लगी और प्रति वर्ष प्रजा अपने दुखड़े गा चली। संयोग वश गवर्नमेण्ट ने भी हमारी आशा वर्धनार्थ एकाध सुधार कर दिये। इधर कुछ लोग क्रमशः सफ़ल मनोरथ होने का भी स्वप्न देखने लगे, तो उधर इस बढ़ती हुई राजनैतिक बाढ़ को रोकने की चिन्ता हो चली। उच्च शिक्षा घटाने का उद्योग हुआ। लार्ड कर्ज़न आये, उनकी आकाश पाताल मिलाने और जी लुभानेवाली बातें सुन लोगों ने समझा कि बस, अब सब ठीक हुआ जाता है। ऐसा राजप्रतिनिधि "न भूतो न भविष्यति"। जब दूसरा दिल्ली दर्बार हुआ तो लोग प्रथम दर्बार की कसर कोर की काट छांट देख मुग्ध क्रुद्ध हुए। लाट जी बारम्बार ब्रह्मा की सृष्टि का एक बारही दवामी बन्दोबस्त कर डालने की डींग मार चले। लोग सुन २ कर चुप रहे, किन्तु अन्त को उनके आचरण देख बहुतही उद्विग्न हुये। लाट महाशय भी विलायत की हवा खा आकर विशेष उत्साह से अपने विचारे कार्य्य कर चले। उन्होंने यहाँ के शिक्षा विभाग का मूलोच्छेद करना, भारतीयों के अर्थ बची खुची कुछ सेवा वृत्ति को भी अपने भाइयों के अर्थ दे देना, बङ्गालियों की बढ़ती जातीय उन्नति के मूलोच्छेदनार्थ बङ्ग का अंगभंग करना स्थिर किया, तब कहीं यहाँ के लोगों का भ्रम दूर हुआ। क्योंकि—"उघरहिँ अन्त न होइ निबाहू। काल नेमि जिमि रावण राहू॥" यहाँ के विज्ञ लोग श्रीमान् की कूटनीति और कार्य्यों की समालोचना और उन का तीव्र प्रतिवाद कर चले। लाट महाशय सुन २ कर जामे से बाहर हो गालियां बकने लगे! विरोध और भी बढ़ चला। उनके क्रोध की आग और भड़की "क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥" का प्रत्यक्ष फल देखने में आया कि उसी व्यामोह में पड़ आप लार्ड किचिनर से लड़कर घर सिधारे

और चलते चलाते बङ्ग भंग के संग प्रजा की भक्ति और विश्वास तथा बृटिश राज्य की शान्त स्थिति के मूल में ऊष्ण जल दे गये! वंगीय प्रजा अपने प्रबल प्रतिवाद का कुछ भी फल न देख अत्यन्त हताश हो गई। अन्त में लोगों की जो कुछ आशा भारतामात्य के न्याय पर अड़ रही थी, मिस्टर जान मारली ने उस आशा की भी जान मार ली।।

निदान बंग देश ने सब प्रकार की आशा त्याग कर स्वावलम्बन की ठान ली और विवश हो उन्होंने अपने उद्धार के उपाय में सर्व प्रथम स्वदेशी द्रव्य स्वीकार और विदेशी वस्तु बहिष्कार की शपथ खा ली कि जो वास्तव में विदेशी अनुशासकों के प्रमादनिद्रा के भंग करने के अर्थ एक अति चोखी चुटकी थी। प्रथम तो अनुशासकों ने इसे केवल प्रजा प्रलाप समझा, किन्तु जब देखा कि बात की बात में सब लोग चैतन्य हो विधिवत् इसका अनुष्ठान कर चले, तो छक्के छूट गये। दूसरों की जातीय उन्नति के संहारकारी गुरु घण्टाल जी ने इसे भेद और दण्ड नीति के अवलम्बन से दबाने की युक्ति बतला कर अपने देश की अटल हानि वरञ्च अवनति का सूत्रपात कर मानों उस भड़की अग्नि में घी की आहुति दे चलते हुए और बिलायती भाँट वा भाँड़ से एङ्गलो इण्डियन समाचार पत्र उनकी हां में हां मिलाते, तालियां बजा - कर हर्ष प्रकट करने लगे। जिसका फल यह हुआ कि वह सामान्य बङ्गदेशीय विचार समस्त भारत में फैल गया और कदाचित् देश के शिक्षित मात्र का इस विषय में अब एकही मत है जो कभी मिटता नहीं दिखाता, वरञ्च दिन दूनी तो रात चौगुनी उन्नति करता चला ही जा रहा है। अब कौन कह सकता है कि इसका फल शासक जाति विदेशीय वणिक् समूह के अर्थ जिसके हाथ में वास्तविक साम्राज्य-रथ की डोर है, उत्कट हानि जनक न होगा? फिर जब उन्हें अपने इन अदूरदर्शी मित्र स्वरूप परिणाम शत्रुओं की अटपटी चालों का ज्ञान होगा, तो उनकी कोपाग्नि में पड़ इनकी क्या गति होगी, समझना सहज है। कौन कह सकता है कि ये वर्तमान राजकर्मचारी जो अपनी कूट-नीति के प्रबन्ध से उत्कट कीर्ति की लालसा कर रहे हैं, अति भयङ्कर अप-कीर्ति की पश्चाताप शिला के नीचे पड़ न कुचले जायँगे।

अब फिर यह विचार उपस्थित होता कि बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेल जो वणिक मण्डली यहाँ व्यापार के लिये आई और अकस्मात् सम्राट् बन बैठी, अपनी अदूरदर्शिता, अहंकार और उद्दण्डता के अभिमान के कारण अधि-कार से च्युत हुई और राम राम कह जो फिर किसी प्रकार यहाँ के लोगों की

सहायता से भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित हुआ, जिसका उद्देश्य बारम्बार राजा और बड़े-बड़े राज्याधिकारियों से प्रकाश रूप से यही बतलाया गया कि "हमारा राज्य यहाँ केवल भारत के हित साधन के अर्थ है, अपने लोगों के लाभ के अर्थ कदापि नहीं ;" क्या यह सब केवल हमारे भोले भाईयों के फुसलाने ही के अर्थ मिथ्या वाग् जाल रचना थी! अवश्य ही इस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता; वरञ्च यही अनुमान होता कि वास्तव में कहनेवालों ने तो करने हीं के लिये इसे कहा था, परन्तु वे कर न सके। और करनेवाले स्वार्थान्ध हो अपनी इच्छानुसार कर चले, जिन्हें कोई रोकने में समर्थ न हुआ और न होता दिखलाई देता है, यद्यपि देश में घोर असन्तोष फैलता जा रहा है। क्योंकि भारतीय प्रजा जिस के दो अथवा तीन भाग किये जा सकते हैं, सब इस पर सहमत है कि अंगरेज़ी राज्य में दरिद्रता और दुःख बहुत बढ़ गया है, यदि उसका कुछ शीघ्र प्रतीकार न हुआ तो यह देश नष्ट हो जायगा। दुष्काल, महँगी तथा रोग बढ़ता चला जाता और प्रजा उच्छिन्न होती जा रही है, एवम् निरन्तर सर्कारी कर की अधिकता सब के धैर्य्य का लोप कर रही है। अब बिना सन्देह के सब गँवार लोग भी जिनकी संख्या शिक्षितों से कहीं अधिक है, कहने लगे हैं कि देश का अन्न और धन अंगरेज लोग लूटे लिये जा रहे हैं। वे अति चिन्तित और उद्विग्न होकर अपने शिक्षित भाइयों से पूछते कि—बताओ, किस भाँति निस्तार होगा! जिन्हें वे अपने यत्न से दूर करने की आशा दिलाते हैं।

शिक्षित मण्डली दो भागों में विभक्त हो गयी है। एक शान्त वा धीर दलवाले और दूसरे उग्र वा अधैर्य्य दल के लोग। अर्थात् जो बाईस वर्ष पर्य्यन्त कांग्रेस कर के अपनी आवश्यकताओं की पुकार मचा अब गवर्नमेन्ट की कृपा और न्याय से हताश हो, स्वावलम्बन पर तत्पर हो अपने उद्धार का उपाय आप करना चाहते और जिनके अन्य अनुष्ठानों के संग मुख्य स्वदेशी स्वीकार तथा विदेशीय वस्तु बहिष्कार है। शान्त नीति वाले यद्यपि और सब बातों में उनसे सहमत हैं, तौभी वे गवर्नमेन्ट से अभी अपनी आवश्यकताओं की प्रार्थना करते ही जाने के पक्षपाती हैं, योंही यद्यपि कैसे ही अधीर क्यों न हो गये हों, तौभी कोई ऐसी बात कि जिनसे अनुशासक वा राजकर्म्मचारी जन रुष्ट हों, कहना नहीं चाहते। हमारी समझ में यह भेद केवल राजनैतिक बुद्धि से अत्यन्त न्यून और केवल कहने ही सुनने के अर्थ है, वास्तव में आवश्यकता और उद्देश्य दोनों के एक ही हैं। सबी अपने

दुःख दूर करने और सुख स्वाच्छन्द के समान अभिलाषी हैं। सारांश अब तीनों प्रकार की प्रजाओं की अधीरता अन्तिम सीमा पर्य्यन्त पहुँच चुकी है, तौभी राजा और प्रजा उभय पक्ष के समान अशुभकारी अनेक संकीर्ण हृदय अधिकारी यही कहते कि—"देश में सुख और शान्ति है! यह व्यर्थ का झूठा आन्दोलन कुछ लोगों का दबाकर हम शान्त कर देंगे।" आश्चर्य है कि अनेक उच्च कर्म्मचारी जन भी इन्हीं झूठी और थोथी बातों पर विश्वास करते चले जाते हैं?

अब देखिये कि यद्यपि ये तीनों दल की भारतीय प्रजा इस प्रकार अधीर और आर्त है, तथापि उनमें केवल निज दुःखमोचन के अतिरिक्त कोई अंगरेज़ी राज्य के हटाने की इच्छा नहीं रखता। इसी भाँति हमारे वर्तमान सम्राट् तथा अनेक उच्चाशय अंगरेज़ों में भी ऐसे सज्जन हैं, जो चाहते कि भारतीत प्रजा के संग उचित न्याय किया जाय और कदापि स्वप्न में भी कोई अन्यथाचार न हो, तौभी भारतीय प्रजा के संग साम्राज्य के अनेक अनुशासकों की ओर से ऐसे ऐसे कार्य्य होते कि जिनमें उनको अपने धैर्य्य और धर्म्म का संभालना भी असम्भव प्रतीत होता है, फिर इसे विधि की विडम्बना छोड़ और क्या कह सकते हैं?

यहाँ इस पचड़े के गाने से अभिप्राय केवल इतना ही है कि मनुष्य सर्वथा-हित जानकर भी उसको करना नहीं चाहता, करने के अर्थ उद्यत होकर भी उसे नहीं कर सकता और सर्वथा ईश्वरीय इच्छा ही के वश रहता है। बड़े बड़े शक्तिशाली सम्राट और महामात्य भी अपने उद्दिष्ट साधन में सर्वथा समर्थ नहीं हो सकते, और न यह समझ सकते कि क्या करने से क्या फल होगा।

अब यदि हिन्दी साहित्य सम्बन्धी इतिहास पर ध्यान देते, तो यहाँ भी केवल उसी अधिकार का प्रचार पाते है। देखिये, एक समय वह था जब कि इने गिने केवल तीन जने नागरी वा हिन्दी के लेखक, वा ग्रन्थकार थे। अथवा यों कहिये कि एकमात्र राजा शिव प्रसाद उसके परमाचार्य्य थे। जिन्हों ने उस समय जो लिखा, आज तक फिर वैसी पुष्ट, सरस और धारावाही हिन्दी कोई न लिख सका। कुछ लोग तब से अब तक पारसी शब्दों को मिला कर निज लेख में वह लालित्य लाने के अभिलाषी रहे, किन्तु केवल इसी एक बात से उस नबात की मिठास कैसे मिल सकती है? उनके समक्ष उनके उत्तराधिकारी और शिष्य, अथवा समकक्ष वा दूसरे आचार्य्य भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र जी के संग जब हम लोग उनकी सेवा में सतशिक्षालाभार्थ उपस्थित होते, तो सदा यह चिन्ता खड़ी रहती कि उर्दू बराबर आगे बढ़ती चली जाती और हिन्दी की उन्नति की कुछ आशा नहीं दिखाती। कुछ दिन पीछे जब भारतेन्दु की पुस्तकों की संख्या अधिक हो चली और राजा साहिब को उसपर अपनी सम्मति प्रकट करने का अवसर मिला, तो वह यही कहते थे कि अधिक संस्कृत मिश्रित हिन्दी ठीक नहीं और न इसका प्रचार सम्भव है। किन्तु अब देखते हैं तो इतने बड़े अनुभव शाली विद्वान के मत के विरुद्ध दृश्य देखने में आता कि हरिश्चन्द्रीय हिन्दी का अनुकरण कर देश में विशुद्ध नागरी भाषा ही आज प्रचलित हो रही है, योंही जिस हिन्दी का सम्यक प्रचार भी असम्भव प्रतीत होता था उसे अब लोग राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करते हैं।

दूसरा समय वह था कि जब बाबू हरिश्चन्द्र ने 'कवि वचन सुधा' को मासिक से पाक्षिक और फिर साप्ताहिक पत्रिका स्वरूप दे अपनी लेखनी की पुष्टता दिखलाते हुये अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ प्रकाशित कर लोगों को यह विश्वास दिलाया कि हिन्दी यदि अच्छी लिखी जाय तो उसके भी पाठक देश में हैं। यद्यपि 'बालाबोधिनी' तथा 'भगवद्भक्तितोषिणी' नाम की दो और पत्रिकायें भी उन्हों ने निकालीं थीं, परन्तु मुख्य 'कवि वचन सुधा' थी, जो वास्तव में कवि वचन सुधा बरसाती, योंही 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' अपनी अनोखी चमक दमक से दूसरी भाषा के प्रेमियों की आखों में चकाचौंध मचाती थी। यद्यपि उनकी ग्राहक संख्या न्यून थी, उसमें भी दाम देनेवाले बहुत ही स्वल्प, और यद्यपि न द्रव्य, लेख, वा अन्य साधनों की न्यूनता के कारण क्योंकि उनके सम्पादक बहुत बड़े धनी, उदार, विद्या रसिक, वैतनिक और विद्यानुरागी अनेक सहायकों से संयुक्त, उत्साही सज्जन थे; लेखनी भी उनकी अहर्निश चला ही करती थी, तौभी वे पत्र पत्रिकाये न तो निरन्तर निकलती और न प्रायः समय से; जिस कारण उन्हें बारम्बार दुःख होता अन्त को इसी दोष के दूर करने को उन्हें इन पत्रों को दूसरों को सौंप देना पड़ा। यह कैसे आश्चर्य्य का विषय है कि बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी के सिद्धहस्त गद्य लेखक और एक अच्छे आशुकवि थे, किन्तु इन दोनों मे कहीं अधिक उनमें पत्र सम्पादक होने की एक विशेष योग्यता थी कि जो बहुतही विलक्षण थी, तथापि उनके पत्रों की तो यह दुर्दशा कि छपाई देने भर को भी मूल्य न मिले और ऐसे लोग कि जो दस पंक्ति भी सीधी और शुद्ध हिन्दी न लिख सकते,

रद्दी पत्रो को भी निरन्तर निकाल कर मालामाल हो गये ! अवश्यहाँ आरम्भ मे बाबू साहिब ने इन पत्रों को केवल द्रव्योपार्जन के लिये नहीं निकाला था, तौभी अन्त पर्य्यन्त इनकी ऐसी दशा न हो सकी कि उनकी इच्छानुसार ये अपने बल पर आप चल सकते ! निदान औरों के हाथों पड यद्यपि वे समय से निकलने लगे, और उन के लिये उनकी आय भी यथेष्ट थी, किन्तु उनसे उस लेख लालित्य का स्वाद जाता रहा जिनसे उनका मान था, सुतराम् उनका निकलना और बन्द रहना लोगों की दृष्टि में समान था। साराश बाबू हरिश्चन्द्र तो फुटकर पुस्तकें लिखकर अपनी लेखनी की लालसा मिटा चले और उनके अन्य सहायक लेखको मे से कई लोगो ने अपने स्वतन्त्र पत्र निकाले और यही मानो इस आनन्द कादम्बिनी के प्रादुर्भाव का भी हेतु हुआ, जैसा कि— उसके आरम्भ मेघ में कहा गया था,—

"प्रथम यहाँ रसिक समाज के रसिकों की बडी उत्कण्ठा थी कि, इस उत्तम नगर से कोई नागरी भाषा का ऐसा पत्र निकाले, कि जिस के द्वारा इस भाषा का जौहर दिखाया जाय और उक्त समाज के सभ्यों के वचनामृत की वर्षा कर दूर दूर के प्रेमियों को सुखी करै, और एक हिंन्दी भाषा में पञ्च "प्रहसन पत्र" निकालने के लिये बडे धूमधाम से विज्ञापन कविवचनसुधा आदि पत्रों मे दिया, और सौ ग्राहक हो जाने पर प्रकाश करने की प्रतिज्ञा की थी, पर पञ्च को पञ्चपरपञ्च जान के केवल पञ्च ग्राहको के स्वीकार पत्र आये, और इसी प्रपञ्च मे पञ्च का प्रपञ्च ज्यों का त्यों रहा। फिर बराबर दिल का तकाजा क़लम से होता रहा, कभी प्रेस ऐक्ट के डर से डराते, और कभी अपने देशी भाषा के समाचारपत्रों की दशा दिखलाते और समझाते।***

"सच पूँछो तो जब से 'कवि वचन सुधा, से सुधा का स्वाद "सुधा सुरपुर" मे जा बसा और हरिश्चन्द्रचन्द्रिका की चन्द्रिका का चमकीलापन और मनोहरता का गुण मोहनपन के परदे से ढँप गया, और उस प्राणोपम परमप्रिय हरिचन्द्र ने कि जिसे भारतेन्दु क्या ससार सूर्य्य कहना योग्य है, अपनी लेखनी को आनन्द के कमलदान विश्रामालय में स्थान दिया, दिया वे मन्दिर सी दशा को भाषा प्राप्त भई, सैलानी दिल घबराने लगा, उँगलियाँ कलम उठा कहने लगा कि अरे न सोलह आने तो खैर पाई ही सही, पर कुछ न कुछ करतूत कर अपने भाषा के रसिकों को आश्वासन देना अवश्य है"

पाठक समझ सकते है कि कादम्बिनी का प्रादुर्भाव केवल उन प्रशमित पत्रो के अभाव मे हिन्दी प्रेमियों की चटपटी दूर करने, वा यो कहिये कि वसन्त की प्यारी चन्द्रज्योत्सना सेवन से आह्लादित, अकस्मात ग्रीष्म के उत्ताप से सन्तप्त हृदय स्वभाषा रसिको को वर्षा बलाहकावली के मनोहर दृश्य से सन्तुष्ट करने, अथवा स्वर्गीय सुधा धारा के प्यासों को साँसारिक सुधा, सलिल सीकर ही की वर्षा कर आश्वासन देने के अर्थ था, और यद्यपि अब आगे से कही अधिक नागरी भाषा का प्रचार हो चला है, दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र पत्रिकाओ की सख्या सैकडो तक पहुच गयी है, जिनमे कइयो के रङ्ग रूप और आकार प्रकार उन के समान देखने मे आते, विचित्र चित्र विचित्र होने और मुद्रण की उत्कृष्टता मे कोई उन से अच्छे और सुन्दर भी क्यों न हों, किन्तु "वहिरेव मनोहराः।" उनके भीतर के पत्रे पत्रे उलट-पुलट कर देखने पर जब अद्यापि कही उस रस का लेश नही मिलता, तो कादम्बिनी मे भी यदि केवल उस अश की न्यूनता रहती, तो कुछ विशेष आश्चर्य्य का विषय न था। यद्यपि इसमे वह स्वाद सदैव, सुलभ था, क्योंकि हमारे निज परिवार के अतिरिक्त न केवल उन पत्रो के अधिकाश सहायक सुलेखकों ही से कादम्बिनी को समान सम्बन्ध था, वरञ्च स्वयम भारतेन्दु भी इसे अपना ही पत्र समझते, लेख भेजते और बहुत प्रेम रखते थ, और यद्यपि इसके विषय मे हमारे और उन के मत मे सदा भेद भी रहा किया, जैसा कि वह इसका आकार पाच फार्म और मूल्य पाच रुपये वार्षिक चाहते थे, किन्तु हम केवल छोटे आकार को विशेष सरस करने और बिना श्रम और सहायता के स्वयम् लिखकर भी सदैव समय पर प्रकाशित कर देना सहज समझने के कारण उनसे सहमत न थे, क्योंकि इसका उद्देश्य केवल कुछ अनोखी लेखनियों का लालित्य लखाना ही मात्र था, और यद्यपि अवश्य ही उसके इस छोटे आकार से सदैव बडा ही मान पाया क्योंकि न केवल उसी समय के सामयिक पत्र और हिन्दी के प्रेमी तथा सुलेखकों ने इस पर अपना हार्दिक हर्ष प्रगट किया, वरञ्च ईश्वर की कृपा से अद्यावधि सब सहृदय स्वभाषा प्रेमी जन इस पर वैसोही कृपा दिखलाते चले आते हैं, तौभी आश्चर्य्य और शोक पूर्वक यही कहना पडता है कि हम अपनी इच्छानुसार इसे अद्यापि वैसी न बना सके जैसी कि चाहते थे। न इसमे उस प्रकार का प्रचार दे सके जैसा कि विचार किये थे। यदि कभी उसका आरम्भ किया भी, तो बस आरम्भ ही रह गया! यों जिन आवश्यक

सुधारो के पश्चात् इसके आकार की उन्नति का आरम्भ समझते थे, अब तक उसका अवसर न आया ? क्योंकि और तो और, प्राय सदैव इस मे कुछ नीरस और अनावश्यक अश आता ही रहा जो इसके छोटे आकार मे अधिक जॅचता, और ऐसा होने पर भी अन्य प्राप्त लेखों के लिये स्थान सकोच का कारण होता, जिस से न केवल अनेक सुलेखको के सदैव अनमने होने, वरञ्च हमारे भी खेद का हेतु होता रहा, जैसा कि इस मेघ मे यह राम कहानी कि जो मुख्य वक्तव्याशके सकोच का कारण हुई है। ऐसेही प्राय सामयिक मेघोचित केवल अपने ही लेख पूर्णत समावेशित न हो सकते और न यह समय से प्रकाशित ही हो सकती।

प्रथम काशी मे इसके छपने का प्रबन्व था एवम् यद्यपि आरम्भ अवसर के होने से और भी कई कठिनाइया होतीं, जिससे यह अनुमान होता कि यह केवल घर का स्वतन्त्र यन्त्रालय खोलने से जाती रहेगी, परन्तु उस न्यूनता की पूर्ति पर भी पूर्ववत व्यवस्था देख अधिक खेद होता। अपनी शिथिलता और अनवधानता को यदि दूर करते—क्योंकि इसके सम्पादन और सशोधन मे हमें 'प्राय. किसी अन्य का सन्मेल असह्यसा होता—तौभी जब कृतकार्य्य न होते तो विशेष विसमित होना पडता, जैसे कि बीते वर्ष यदि कुछ यह समय से निकली, तो प्रबल प्लेग के प्रकोप से कई मास तक यन्त्रालय खोलने ही का अवसर न मिला। जब हम लोग बाहर से आकर यहा एकत्रित भी हुए, तब विवाहादि के कारण यदि कुछ दिनों, तो अनेक रोगादि के कारण कुछ दिनों और भी इसकी सुध भूली रही। साराश भारतेन्दु के पत्रों के और कई गुण इसमे चाहे न आये हों, परन्तु कुछ दोष तो अवश्य ही आया ! कौन जाने कदाचित् उनकी ममत्वबुद्धि का इसे केवल यही एक प्रसाद मिला हो, जिस के मिटाने की वारम्बार चेष्टा की गयी पर यदि कुछ दिन वह दोष एक रीति से दूर भी होता, तो दूसरी भाँति से पुन. आकर हमारे खेद का कारण होता रहा ! कई बार इस के विषय मे कई प्रकार के परिवर्तन भी करने पडे जिसका विवरण और आख्यान भी कई बार हम इसी अवसर पर कर चुके हैं ! कई बार इसे बन्द भी कर दिया और दूसरे के हाथों प्रबन्ध भी दे दिया·था, किन्तु उसमे यह बडी कठिनाई आ पडती कि फिर लेखनी इस की ऐसी सुध भूल जाती कि लिखने का नाम भी न लेती और तब फिर कुछ चारा न चलता। यद्यपि हमारी भाषा की दो एक मासिक पत्रिकाओं को छोड सब मे यह दोष दीख पडता है तौभी प्रायः चित्त मे सहसा

यही अनुमान उपस्थित होता कि क्या इस के विषय में विधि का विधान भी कुछ ऐसा ही है ? यद्यिपि यह विचार कर बहुत दुःख होता, तौभी यह सोचकर कि श्रीमान् लार्ड कर्जन और फ़ुलर महाशय आदि एवम् और बहुत बड़े बड़े लोग भी जब अपने अपने विचारे अनुष्टानों में कृतकार्य्या न हुए, तब हम लोगों का निज विचारानुसार अपने कार्य्या में न कृतकार्य्या होना भी कुछ विशेष आश्चर्यदायक नहीं है।

अतएव आगामि से अब अपने पुरुषार्थ द्वारा उन सब मनोरथों की सिद्धि की चिन्ता का त्याग कर केवल ईश्वरेच्छानुसार इसके उन्नति वा सुधार की आशा रख स्वयम् निमित्त मात्र रह इसके चलाने की इच्छा करते हैं। कौन जाने कि अपने इसी टेढ़े प्रयत्न द्वारा इसमें सिद्धि प्राप्त हो, क्योकि यदि हमारी गवर्नमेण्ट की साम्प्रतिक उग्र-नीति का फल भारतीयों की स्वत्व प्राप्ति प्रार्थना की पुकार और मचलाहट वा उसके राजकर्म्मचारियों के यों कठिन दण्ड विधान से प्रजा की स्वदेशी वा वहिष्कार प्रतिज्ञा दूर होना अथवा इसी विदेशीय वस्तु वहिष्कार के द्वारा यहाँ के लोगों को स्वारज्य सा अलभ्य लाभ सुलभ है तो क्या हमारे पूर्वोक्त प्रयत्न से पूर्व अभिलाषित मनोरथों का सिद्ध होना कुछ दुःसाध्य है ! अतः उसी ईश्वर का समरण कर कि जो कैसे कार्य्या से क्या फल उत्पन्न करता जिसे मनुष्य कदापि नहीं समझ सकता है, हम इसके विषय में पुनरपि यत्नवान होते हैं।

अवश्य ही लेखनी बहक कर बहुत दूर पहुँचकर लौटी है, तो भी सूक्ष्मतः कुछ आवश्यक विषय कहने के पूर्व हम अपने अनुग्राहक ग्राहक गण तथा सहयोगी समूह से इस त्रुटि की क्षमा प्रार्थनानन्तर उनकी पूर्ववत कृपा दृष्टि वृष्टि की आशा रख यह निवेदन करते हैं कि अगामि से कादम्बिनी में स्वदेशी काग़ज़ और मसि कार्य्य में लाने का कारण केवल साम्प्रतिक देश में वेग से फैलता हुआ स्वदेशी अनुराग मात्र है। इसी प्रकार इसके प्रबन्ध बिषय में जो कुछ हेर फेर करना उचित समझा गया है, अनुष्ठान के पूर्व उसका अख्यान अनुचित जानकर हम न कहना ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि ईश्वरेच्छानुकुल होने से वह सबको स्वयम् दृष्टिगोचर होगा। इसी प्रकार अपने गत वर्ष के कार्य्य और आगामि के अर्थ विचार दोनों की कथा न कह हम केवल अपनी और अपने प्रिय पाठकों की मङ्गल कामना कर अब इस लेख को समाप्त कर "आदिमध्यवसानेषु हरिः सर्वत्र गीयते।"

के अनुसार ईश्वर को बारम्बार नमस्कार करते हैं—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥

चैत्र १९६४ वैक्री आ० का०

नवीन वर्षारम्भ

मङ्गलमय परमेश्वर की कृपा से किसी प्रकार विगत वर्ष को बिता कादम्बिनी आज अष्टम वर्षारम्भ मे निज इष्टदेव उसी सच्चिदानन्द घन परमात्मा को बारम्बार प्रणाम कर यह निवेदन करती है कि यद्यपि व्यतीत वर्ष न केवल अकेले उसी के अर्थ वरञ्च सामान्यत. समस्त भारतवर्ष को अत्यन्त अनिष्ठ और दुखित बीता जिसमे कि भाँति भाँति के उत्पात देश में होते रहे कि जो अद्यावधि समाप्त होते नहीं दीखते। प्लेग, विशूचिका और शीतलादि रोगों के आधिक्य के अतिरिक्त अवर्षण दुष्काल और महर्घता ने वह समा दिखाया कि जिसे यहाँ के लोग कभी काहे को भूलेंगे! तिसमे हमारा युक्त प्रदेश तो मानो नितान्त ही कातर हो उठा, जहाँ की कथा ही अकथ और अवर्णनीय है। यद्यपि उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं, क्यो कि कदाचित् ही कोई ऐसा भाग्यवान पाठक होगा कि जिसको इसकी दशा ज्ञात न हो, तौ भी अन्यत्र इसके वृतान्त पढने की उन्हे सुविधा दी गई है। शोक इन सब से बढकर देश में राजनैतिक उपद्रव की वृद्धि और आधिक्य का है कि जो क्रमश: विस्तार पाता चला ही जाता है, जिसे अब यदि हम यह कह दे कि वह क्रमश: समस्त भारत मे व्याप्त हो गया है, तौभी कदाचित् कुछ अन्यथा न होगा! बङ्ग भङ्ग बीज के स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशी बहिष्कार व्रत रूपी जो दो पत्ते निकले, तो उसमे अनेक सकीर्ण हृदय राज्यधिकारियों की ओर से प्रजादर्पदमन नीति के सग उग्र दण्डविधान का फूल फूला, जिसमें कि अब उत्कट उपद्रव का फल लगकर देश की सामान्य प्रजा और राज्यधिकारियों को भी कठिन कटु स्वाद चखा कर वह उद्विग्न मानस कर चला है! अनेक असन्तुष्ट भारत सन्तान कदाचित विरुद्धाचरण की भरमार न सहकर अब विरुद्धाचरण पर तत्पर हुए हैं! यों उनका उत्पात और अनेक अदूरदर्शी राज्याधिकारियों का कठोर दण्डविधान दोनो देश के दुर्भाग्य और दुर्दशा के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं! तौभी शोक कि उभय पक्ष से लोग अग्रसर ही होते चले जाते हैं! यदि एक पक्ष दो पग आगे बढता तो दूसरा चार पग और आगे जा पहुँचता है! नही जानते कि इसकी रुकावट कब होगी, क्योंकि देश की ऐसी स्थिति सर्वथा उसकी/सब प्रकार से हानि-

कारी है। किन्तु जहाँ तक अनुमान हो सकता है उससे तो यही निश्चय होता कि केवल कठोर दण्ड से अब इसका दमन असम्भव है, कारण कि प्रजा की आवश्यकता की प्रार्थना न सुनने ही से इसकी उत्पत्ति हुई है और कठोर दण्ड-विधान ही से इसने बढ़ कर रक्तबीज का स्वरूप धारण किया है! सो प्रजा की आवश्कतायें अभी पूर्ववत जैसी की वैसी ही है। उनकी पुकार और मचलाहट भी विगत वर्षों से अधिक और राज्यधिकारियों की "प्रसन्ने दमरी-दद्यादप्रसन्ने वराटिका" की बोल भी वैसी ही है। सारांश उभय पक्ष की ऐंठन कुछ अधिक ही होती जाती, कुछ भी ढिलाई का लक्षण दिखाई नहीं पड़ता! इसी प्रकार देश में भाँति भाँति के दुखों की अधिकाई भी बढ़ती ही जाती है! यद्यपि सब लोग उसके दूर करने का यत्न करते ही थके जाते और आगे के लिये नये उत्साह में उसके हटाने के प्रयासी होते लखाते हैं। अब देखना है कि ईश्वर कब किसे सिद्धि देता है।

वस्तुतः गत वर्ष हिंदी जगत को भी अत्यन्त हानिकारी हुआ कि जिसमें उसने अपने अनेक अमूल्य रत्न खोये। क्योंकि मुन्शी उदित नारायण लाल और बाबू राधाकृष्ण से सच्चे हिंदी के उपासक और ग्रन्थकार, पण्डित माधव प्रसाद मिश्र तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त से प्रौढ़ सुलेखक और पत्र सम्पादकों का वियोग अवश्य ही उसकी न्यून क्षति नहीं कही जा सकती; योंही पं० कालीशंकर व्यास अथवा गो० वामनाचार्य्य गिरि आदि पनपते पौधों का सूख जाना भी उसके लिये शोकजनक हुआ है।

"बागे दुनिया में बाग़बाने अजल दिल को तकलीफ हमेशा देता है।
गुञ्चये नाशि-गुफ्तः को अफ़सोस! जब कि चाहे है तोड़ लेता है॥"

यद्यपि इस वर्ष नागरी भाषा के अनेक नवीन सम्वाद पत्र और मासिक पत्रिकायें प्रकाशित हो चली हैं, 'भारतवासी' 'भारत' 'हिन्दी हिन्दू पञ्च' और 'सम्राट' तथा पत्रिकाओं में 'देवनागर' 'कमला' नृसिंह 'माड़वारी' आदि का प्रकाशित होना हमारी भाषा के अभ्युद्रय के साक्षी हैं। किन्तु शोक से कहना पड़ता है कि जैसे सुलेखक इस भाषा की सेवा छोड़ चले जाते, नवीन उत्पन्न होते नहीं दिखलाते हैं। सम्प्रति सामयिक पत्रों में राजनैतिक और अनेक ऐतिहासिक तथा विद्या विषयक लेख भी अच्छे प्रकाशित होते तौभी अधिकतः अनुवाद से ही विशेष पूर्ति होती। यद्यपि इन में अनेक प्रयोजनीय विषय होते, जिन का हमारी भाषा में आना हर्षदायक है, किन्तु

फिर भी शोक से कहना पड़ता है कि साहित्य सम्बन्धी वास्तविक पुष्टि का अभाव देखने में आता और किसी न किसी प्रकार पत्र पूर्ति का प्रयास ही झलकता कि जो उस उन्नति के उत्साह को बहुत कुछ फीका बनाता है। बहुतेरे नवीन लेखक तो अपने लेखों को पुष्ट और मनोरञ्जक बनाने के प्रयासी होने के स्थान पर अट्ट सट्ट कुछ लिखकर किसी प्रकार छाप देने ही से अपने को कृतार्थ मानते, वे सर्व सामान्य के सन्मुख अपने ऐसे उपायन को उपस्थित करने में भी कुछ संकोच नहीं करते कि जिस से वे उनके मनोरञ्जन के स्थान पर अश्रद्धा उत्पन्न हो जाने की भी आशंका करते हैं! हमारी भाषा की उन्नति का सच्चा आरम्भ दिवस तबी होगा कि जब योग्य लोग सच्चे श्रम से उसकी कुछ सजावट की चिन्ता करेंगे। अनेक मासिक पत्र कविता विषयक भी निकलते हैं। कई के स्थान पर यदि एक ही पत्र निकले, किन्तु उसमें ग्रन्थाकार पुष्ट पद्य प्रबन्ध निकलें, तो विशेष लाभदायक हो। पूर्तियां भी यदि अच्छे विषय और अच्छे अच्छे पूरकों के परिश्रम की छँटी प्रकाशित हों तो इन अनेकों से एक भी सराहनीय हो। योंही उपन्यासों तथा उसके पत्रों की यद्यपि आज भरमार है किन्तु हम उसे अपनी भाषा की उन्नति नहीं कह सकते, वरञ्च बहुतेरों की भाषा शैली तो उलटी हताशा लाती। यद्यपि इनमें भी प्रायशः अनुवाद ही से अधिक सहायता ली जाती और वह कुछ अन्यथा नहीं, किन्तु यदि प्रकाशतः अनुवाद स्वीकार किया जाय। योंही नवीन रचनाओं में गद्य काव्य की झलक लाने, कुछ परिश्रम स्वीकार कर मस्तिष्क लड़ा विशुद्ध भाषा और भाव के संग विद्या और शिक्षा लाने से भाषा का उपकार सम्भव है, न कि केवल ऐसी कहानियों के लिख डालने से कि जैसे लोग प्रायः ज़बानी कहा करते और जिनके पढ़ डालने के पीछे केवल नेत्रों को कुछ कष्ट होने वा समय व्यर्थ जाने के अतिरिक्त पाठकों को और कुछ लाभ न हो। अब यदि हम सामान्य हिन्दी भाषा भाषी प्रजा के कर्तव्य पर ध्यान देते हैं तो सब से अधिक हताश होना पड़ता कि उनका अनुराग अपनी भाषा के विषय में अभी बहुत ही न्यून है। अवश्य ही करोड़ों हिन्दी बोलनेवालों में अब सहस्रों ऐसे लोग मिलेंगे कि जो सामयिक समाचार जानने वा कहानियों से मन बहलाने के अर्थ दो चार रुपये वार्षिक व्यय उठा पत्र पाठकों में निज नाम लिखा लें, किन्तु वास्तविक साहित्य मर्मज्ञों की संख्या तो कदाचित् सैकड़ों से अधिक होनी असम्भव है। उसमें से समर्थ उत्साहदाता जन तो

आकाश कुसुमवत् कदाचित ही हों कि जिन्हें हम नहीं जानते, न हम ने सुना कि अमुक महाशय ने अमुक सुलेखक के दो चार सहस्र की, कौन कहे दो चार शत मुद्रा भी देकर उसके उत्साह को बढ़ाया हो, कि जिसमें उससे प्रतिस्पर्धियों को उस से अधिक श्रम कर विशेष लाभवान होने का उत्साह होता। यदि विक्रम और भोज से उदार गुणग्राहक न होते तो कालिदास सरीखे कवि कदाचित न होते, यदि शहंशाह अकबर महाराज जयसिंह न होते, फ़ैज़ी, अबुलफ़ज़ल या बिहारी लाल को लोग न जानते। आज जब हिन्दी का एक भी प्रसिद्ध उदार आश्रयदाता नहीं है, तो उसकी उत्कृष्ट दशा का उलहना भी व्यर्थ है।

जब सहृदय गुणग्राहकों ही की न्यूनता हो तो उस गुण का अभाव अथवा उसकी हीनावस्था होनी कुछ विचित्र नहीं। जब किसी वस्तु के उत्तम गुणों की पूछ नहीं होती, तब प्रायः उत्तम गुण का अभाव होता ही है। प्रत्यक्ष ही देख पड़ रहा है कि देश में नक़ली और झूठे माल की भरमार हो रही है। कच्चे सलमे सितारे और गोटे पट्ठे की टोपी, झुकाए भाँति-भाँति के नक़ली कमख़ाब आदि के कपड़े और, झूठे दुशाले वा सेलूहे डाटे नगर के टुच्चे आज नव्वाबज़ादों की शान का अनुकरण कर रहे हैं। विलायती पीतल और नाना प्रकार के कच्चे नग और मोतियों के आभूषणों को पहन कर दरिद्र स्त्रियाँ रत्न जटित स्वर्णालङ्कार की लालसा सस्ते में पूर्ण करतीं रजताभरण के स्थान पर जर्मनी चाँदी के कड़े छड़े-झनकारतीं धनी कुलाङ्ग-नाओं वरञ्च रानियों से आँखें लड़ाती इठला रही हैं; जिन्हें देख उन्हें अपने सच्चे और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों के धारण करने में भी हतोत्साह होना पड़ता है। सारांश झूठों से सच्चों की मान मर्य्यादा में भ्रम उत्पन्न होता ही है और प्रायशः झूठे सच्चों का स्थान भी ले लेते हैं! सदैव झूठों से सच्चों को हानि होती ही चली आ रही है। जिसकी माँग बढ़ी है उसी की बहुतायत से सृष्टि है। झूठे और सच्चे माल की कटत से कच्चे वा ठोस पदार्थ तथा शिल्प नैपुण्य की न्यूनता होती और उसके कारीगर हतोत्साह होते हैं, क्योंकि उनकी कारीगरी की बिक्री घटती है, सस्ती वस्तु अनेक मध्यस्थित लोगों को अपनी ओर खींच ही लेती हैं। भारतवर्ष का सर्वनाश इसी से हुआ है, विदेशी झूठे, भड़कीले तथा सस्ते माल ने यहाँ के व्यवसाय मात्र को डुबो दिया है। आज भी स्वदेशी वस्तु व्यवहार के प्रश्न पर लोग यही उत्तर देते कि "तनिक स्वदेशी चीजें महँगी मिलती हैं।" परन्तु वे यह नहीं जानते कि

जब तक लोग इस घाटे को न सहेंगे, कभी इस मृतप्राय देशी शिल्प का उद्धार न होगा। साराश जैसे देशी शिल्प के पुनरुद्धारार्थ कुछ क्षति सहकर भी लोगो को उसके बचे खुचे वा नवसिखुये कारीगरो का उत्साह बढाना परमावश्यक है, उसी प्रकार हमारी हीन दशा मे पडी इस देश भाषा के निपुण कारीगरों की कारीगरी को भी जब तक लोग कुछ घाटा सहकर, विशेष मूल्य और पुरस्कार देकर सादर स्वीकार न करेंगे, उसकी उन्नति अनहोनी है। जब तक असामान्य साहित्य के असामान्य प्रेमी न होंगे उस की न्यूनता न मिटेगी। यही कारण है कि योग्य जन उससे उदासीनता दिखला रहे हैं। क्याके वे अपने परिश्रम के फल प्राप्ति की आशा नही रखते। सर्व सामान्य की सहायता पाने का भी समय अभी ठीक नही हुआ, क्योंकि प्रचरित साहित्य ही के प्रेमी अभी गिने चुने कुछ उत्पन्न हुए हैं। हमारी देश भाषा को जो कुछ आश्रय भी मिलता है, वह भी न उसके मुख्य जन्मस्थान से वरञ्च अधिकाश अन्य प्रातों से, जिसका प्रधान कारण उसके निज देश मे प्रचार की न्यूनता है। शोक से कहना पडता है कि देश मे अब यद्यपि कई नागरी प्रचारिणी सभाओं की सृष्टि हो गई है, किन्तु कदाचित् वे अपने नाम के अर्थ को भी भूल सी गई हैं, क्योंकि दो एक मासिक पत्र निकाल वा पुस्तकें छाप ही कर वे अपने कर्तव्य को पूरा समझती हैं। काशी की सभा मुख्य है, उसके कई ग्रन्थो का निर्माण और प्रकाशित करने का व्यापार भी निन्दनीय नहीं, हिन्दी ग्रन्थो की खोज और कोशो के निर्माण का प्रयत्न भी उसका उचित है, तौभी राम राम कह किसी प्रकार न्यायालयो मे नागरी के प्रवेश का जो परम असम्भव अधिकार प्राप्त हुआ है, उसके प्रचार प्रयत्न मे सर्वथा उदासीनता दिखाना उसका कितना बडा अपने मुख्य उद्देश्य से च्युत होना है। जिस प्रकार सभा आज नागरी प्रचार का नाम सार्थ करना चाहती है, वह तो समय के प्रभाव से स्वयम् हो रहा है, किन्तु मुख्य उद्देश्य उसका राज कार्य्यालयों मे नागरी का प्रचार देना ही होना चाहिये। आशा है कि वह अपने अन्य कार्य्यों को छोडकर भी इस के अर्थ विशेष यत्नवान होगी और सयोग से उस दुर्लभ राजाज्ञा को नष्ट होने से बचायेगी कि जो बडे बखेडों स भाग्यत प्राप्त हुई है। इसी प्रकार अन्य नागरी प्रचारिणी सभाओ को भी उचित है कि वे काशी की सभा को प्रधान बना अपना एकमेव यही उद्देश्य रक्खे और अपनी भाषा का कुछ सच्चा उपकार करने मे प्रवृत्त हों, न कि मिथ्या कीर्ति लाभार्थ एक नई सख्या

बढ़ाने में। क्योंकि जब तक राजकार्य्यालयों में नागरी का सम्यक् प्रचार न होगा हमारी भाषा का प्रेम सर्व सामान्य में कदापि न होगा।

अस्तु, यद्यपि अपने देश के संग देश की भाषा की ऐसी स्थिति कब उत्साहित कर सकती है कि हम अपने पाठकों को विशेष अनुरक्त करने में प्रवृत्त हों और यदि हों तो हिन्दी की हीन दशा कब उसे उभरने देती कि जो उसके विपरीत फलप्रद हो, और यद्यपि जब ईश्वरेच्छानुसार स्वाभाविक कादम्बिनी की प्रयत्न शून्य वृष्टि ही का अभाव देश में हाहाकार मचा रहा है तब आनन्द कादम्बिनी की वर्षा की प्रयत्नसाध्य न्यूनता कुछ विचित्र नहीं, एवम् यद्यपि प्रायशः इस निष्फल प्रयास पर विशेष हताश होना भी पड़ता, तौभी जब यथा साध्य यत्न करके भी आनुषंगिक हेतुओं से अकृत-कार्य्यता होती तो अधिक खेद होता हमारे पाठक घबरायँ नहीं क्योंकि वे हमारे पूर्व कथनानुसार देख रहे हैं कि किस प्रकार असम्भव कार्य्य उसकी कृपा से चटपट सम्भव होते हैं कि जिसे कोई कदाचित् स्वप्न में भी सम्भव नहीं मानता था। अतः वे उसी ईश्वर पर निश्चय रख यह कामना करें कि वह कादम्बिनी को सब विघ्नों से रहित और सब सद्गुणों से युक्त कर उन के मनोरञ्जन की हेतु करे। भारत के सब दुखों को दूर कर उनके और हमारे हृदय में हर्ष भरे। ईश्वर ऐसा ही करे।

भयंकर दुष्काल

भारत में चारों ओर आज हाहाकार मच रहा है। युक्त प्रदेश इस भयङ्कर दुष्काल का केन्द्र और हमारा यह प्रान्त उसका भी मानो हृदय हो रहा है। कौन कह सकता है कि कितने अभागे कङ्गाल आज विकराल काल के गाल में जा रहे हैं? कितने दीन और अनाथ बालक, बालिका और विधवायें पेट की ज्वाला को न सँभाल अपने धर्म्म और प्राण विसर्जन कर रही हैं। लोग जलते पेट का एक कोना भरने योग्य अन्न के लिए भी मुहँ बाये सोचते हैं कि क्या करें और कैसे भरें। उनके शरीर सूखकर अस्थिपञ्जरावशिष्ट रह गये हैं। कोई उन्हें एक मुट्टी कुत्सित अन्न का भी देनेवाला नहीं दीखता। यद्यपि आजन्म जिन्होंने कभी यह निन्दनीय कार्य्य नहीं किया था, तौभी आज केवल भिक्षा माँगने के अतिरिक्त और कोई उपाय उन्हें नहीं सूझता है। जिन्हें यह साहस भी नहीं वे केवल यमराज ही का आह्वान करते हैं। ये भारत की पवित्र भूमि के वे लोकोत्तर सुसन्तान हैं कि जिन्हें आज कल के पापी

समय की निर्लज्जता और जघन्यता का व्यवहार ज्ञात नहीं और जिनके जीने की अवधि घर के कुछ बचे खुचे गहने कपड़े और बरतन भाँड़े की बिक्री ही की समाप्ति तक अटल है ! किन्तु जब उन्हें कोई आधे चौथाई दाम पर भी लेनेवाला ढूढ़ने से नहीं मिलता तब उनकी व्याकुलता की सीमा कैसे रह सकती है ? क्योंकि सामान्य और सम्पन्न लोगों को भी जब आज अपना व्यय निभाना कठिन प्रतीत होता है, तब ऐसा क्रय वा व्यापार सहायता वा परोपकार किसी से कैसे हो सकता है ? केवल कुछ धनिकों के अतिरिक्त ६ और ७ सेर की बिक्री के अन्न से कब किसे पेट भर भोजन प्राप्त हो सकता है ? हाय ! भारत की रत्नगर्भा वसुन्धरा ! तेरी यह कैसी दुर्दशा है ?

यद्यपि १८९७ ई० का दुष्काल बड़ा भयङ्कर माना गया था, जिसका किञ्चित वर्णन हमारी "हार्दिक हर्षादर्श" में इस प्रकार हुआ है;—

परयो अकाल कराल चहूँदिसि महा भयङ्कर ।
जस नहिं देख्यो, सुन्यो कबहुँ कोउ भारतीय नर ॥
कहैं अन्न की कौन कथा ? जब कन्द, मूल, फल ।
फूल, साग अरु पात भयो दुर्लभ इन कहँ भल ॥
हरे हरे वन तृन चरि सूखे बीज घास के ।
खाय अघाय न सके किए थल स्वच्छ पास के ॥
दूर दूर के कानन कढ़ि तरु पातन चूसे ।
तिनकी छालनि छोलि चले जनु सम्पति मूसे ॥
पहुँचे घर लै ताहि कुटि अरु पीसि पकाये ।
रुदत वृद्ध बालकन ख्याय कोउ भाँति चुपाये ॥
या विधि पसु गन के जीवन आधार हाय हरि ।
बिन चारे पसु मारि, जिए कछु दिन सँतोष करि ॥
पै जब याहू सों निरास ये भये अभागे !
लंघन करि करि त्राहि त्राहि हरि ! टेरन लागे !!
कृषिकारन की होय भयङ्कर दसा जबै इमि ।
भिच्छुक गन के रहैं प्रान फिर तौ भाषौ किमि ?
पेट चपेट चोर, डाकू बनि कितने धाये ।
लूटि पाटि जिन किते धनिक जन दीन बनाये ॥
मरे किते धन सोच, किते बिन अन्न, बिना जल ।
बिना वसन, गृह, शीत रोग सों ह्वै अति निर्बल ॥

हाहाकार मच्यो चारहुँ दिसि महा प्रलय सम।
बचे भारती नरन जियन की रही आस कम॥
खोय मध्यवित लोग, बसन, भूषन, पसु, गृह, थल।
मान बिबस मरिबो मान्यो भिच्छाटन सो भल॥
सहि न सके जब भूख पीर कातर हिय ह्वै करि।
सपरिवार करि आत्मघात गये सुख सो मरि॥

× × ×

जे धनहीन कुलीन दीन बिन काज परे घर।
बिना आय कोउ भाँति खाय बिन अन्न रहे मर॥
निराधार बिधवा परदावारी जे नारी।
बिना अन्न, धन, बिन गति भूखन बिलखनवारी॥
कुल मर्य्यादा बस अनसन व्रत मानहु ठाने।
बिना प्रकासे भेद मरन निज भल जिन जाने॥

× × ×

पकी पकाई रोटी निज हाथनि दिखरावत।
सहज पादरी लोग दुखिन के चित ललचावत॥
कुलाचार, मर्य्यादा, जाति, धर्म्महुँ प्रयास बिन।
लै लेते उनके द्वै द्वै रोटी दै द्वै दिन॥
कहते सब सो "हम कोटिन क्रस्तान बनाये।
प्रभु ईसू को मत भारत मैं भल फैलाये"॥
यूरप, अमेरिका वासी कब जानत यह बल?
समझत वह तो "यह इनके उपदेसहि को फल"॥

किन्तु इस बार के दुष्काल ने उसे भी भुला दिया और लोगों को यह निश्चय करा दिया कि बस अब दो एक दुष्काल की कसर और है, फिर तो भारत का वारा-न्यारा हो जाना ही अटल है। देश की ऐसी दुर्दशा देख प्रजा जैसी कुछ उद्विग्न हुई है उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं, तौभी उसका मूल कारण छिपा और उस पर दूसरी रंगत ला भारत के गारत करनेवाले लोग आज जिस बेसुरी तान को अलाप रहे हैं—यद्यपि वह उक्त कष्ट के घाव पर लवणकण विकीर्ण करना है, किन्तु जिस भारत के दुर्दैव ने यहाँ के लोगों पर यह तथा अन्य अनसुनी अनेक आपत्ति सकेल दी हैं,

उसी की यह भी कृपा मान मौन मार रही जाना पड़ता है! अवश्यही इस विषय में ईश्वर पर सर्वथा दोषारोप अयोग्य है, क्योंकि विशेष रूप से देखा जाय तो वास्तव में यह देश भी ऐसेही दण्ड के योग्य है—"क़ाबिल था इसी के व यही थी सज़ाये दिल" जहाँ के नितान्त निन्दनीय नर अद्यापि अपने हिताहित के विचार से विमुख प्रत्यक्ष सर्वनाश के विधान में भी उत्सुक और उससे त्राण पाने के यत्न में सर्वथा उदासीन से आसीन, अथवा गर्हित स्वार्थान्धता के कारण देश द्रोह कूप में गिरने के अर्थ लपके चले जाते हों, उनकी गति इसके विपरीत होनी ही मानो उस न्यायमय जगदीश्वर के कृत्य की विडम्बना प्रदर्शित करती। आगे को जाने दीजिये आज ही देश के कुलाङ्गार किस "यत्परोनास्तिनृशंसता" के करने में पश्चात्पद होते नहीं लखाते हैं! तब किस मुहँ से हम उसके वा किसी के अन्यथाचार का उपालम्भ दें? दूसरी बातों को भूल इसी के सम्बन्ध में जब हम देखते हैं कि गवर्नमेण्ट बहुत जाँच पड़ताल कर जब कुछ लोगों को नितान्त असमर्थ निराधार और अकिञ्चन जानकर आधा या चौथाई पेट भरने भर का सहारा देने को दो-दो तीन-तीन रुपये मासिक देती, तो सुना कि कहीं-कहीं उसमें से भी पटवारी आदि चौथाई वा अष्टमांश घूस लिये बिना नहीं रहते! जिस परगने में सर्कार ५०००) तक़ावी देनी चाहती है, डिप्टी साहिब बहादुर केवल दो हज़ार बाँट कर अपनी खैरख्वाही दिखानी चाहते, लोगों को डाँट-डाँट कर भगा उनका सर्वनाश करने में नहीं संकोच करते! तब हम क्या कहें, कुछ समझ नहीं सकते!! रहा भारत के दुःखों का गिनाना, सं तो मानो एक प्रकार व्यर्थ की बकवास है! हर्ष का विषय यदि कुछ है, तो बस यही है कि चिरप्रसुप्त भारतीय आर्य्य सन्तानों में से अब अनेकों की कुछ-कुछ निद्रा भङ्ग हुई हैं! यद्यपि उनमें से अधिकांश अभी प्रमाद मदिरा से उन्मत्त लेटे हुए उपेक्षा की जम्हाई ही ले रहे हैं! वे देश की अनुपमेय भयङ्कर दशा दिनकर की प्रखर किरिणों को देखने से भी अपनी आंखें बन्द किये उसी समाप्ति सन्ध्या तक उठने का अनुकरण कर रहे हैं कि जिसके पीछे कुछ कर्तव्य शेष न रहे और जिस समय जगने का संकल्प कर दुर्भाग्य की निद्रा में पड़ा उनका बड़ा भारी समूह संज्ञा शून्य हो सो रहा है! जैसा कि पं० दयाशंकर नसीम का कथन है कि—

"नसीम ग़फ़लत की चल रही है उमड़ रही हैं क़ज़ा की नींदें।
कुछ ऐसे सोये हैं सोनेवाले कि जागना हश्र तक नहीं है॥"

तौभी धन्य ईश्वर ! कि जिसका सर्वथा अभाव था, उसकी अस्तित्व दिखाई दे चली है। सच्चे स्वदेश भक्तों का भी समूह संगठन हो चला है। देश दशा पर न केवल विचार करनेवाले वरञ्च उसके अर्थ आत्मोत्सर्ग करनेवाले भी लखाई पड़ने लगे हैं ! चाहे उनकी संख्या अभी कितनी ही कम क्यों न हो, तथापि वे हमारे आश्वासन के हेतु स्वरूप हुए हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि अपने देश बान्धवों की ऐसी भयावनी दशा देख करुणा से कातर हो पंजाब से आर्य्य समाजी और बङ्गाल से ब्रह्म समाजी उनकी इस दीन दशा में सहायता और सहानुभूति दिखलाने तथा उनके धर्म्म और प्राण बचाने को दौड़े आए और भाँति-भाँति से उन्हें शारीरिक और आर्थिक सहायता दे रहे हैं। किन्तु शोक कि सनातन धर्म्मावलम्बियों के कानों पर मच्छर भी न भनके ! उन्होंने इस परम धर्म्मकार्य्य के अर्थ सब के आगे नहीं तो पीछे से भी पैर उठाना उचित न समझा ! क्या वे केवल धर्म्म के नाम से अधर्म्म करने और मिथ्या वागजाल फैलाकर सनातन धर्म्म के नाम से भी लोगों को घृणा उत्पन्न कराना चाहते हैं ? क्या ऐसे आपत काल के समय, इस महत्पुण्य कार्य्य में कहीं कुछ भाग लेते श्री भारत धर्म्म महा-मण्डल का नाम भी सुना गया ? अथवा कहीं की कोई धर्म्मसभा का कोई भी सभासद इस महत् परोपकार कार्य्य वा दीनोद्धारार्थ खड़ा हुआ लखाई पड़ा ? कोई वैरागी बाबा, महन्त, गोस्वामी वा सन्यासी अथवा पंडित जी—जो कि आजन्म धर्म्मांश ही का भोग लगाया करते वा दान का माल हजम करके परोपकार ही के गीत गाते रहते—कहीं इस महोपकार कार्य्य में प्रवृत्त दिखलाई पड़े हैं ? हाय ! इस दल का कोई एक मनुष्य भी तो कहीं कुछ कार्य्य करता दिखाता ? वे क्यों ऐसे कार्य्य में प्रवृत्त हों, इसमें फँसने से तो उनकी जमी हुई पाखण्ड की दूकानदारी में घाटा आता है। सामान्य प्रजा के दान की एक कौड़ी भी तो ये दूसरे किसी कैसे ही अच्छे सच्चे धर्म्म कार्य्य में जाने देना नहीं चाहते। हाय ! अपने यजमानों को इस महत्पुण्य कार्य्य में एक पैसा भी देते देख उनकी आंखों में तो शूल चलता होगा ! वह तो यही सोचते हैं कि यह हमारा भाग कंगालों के गालों में जा रहा है। अतः यथाशक्ति वे इसमें विघ्न डालने का उपाय करने के बदले इसमें सहायता कब करनेवाले हैं ? हरामी का माल खाते-खाते उनकी बुद्धि यहां तक भ्रष्ट हो गई कि वे यह भी नहीं सोचते कि जब हमारे यजमान स्वरूप इस आर्य्य जाति ही का नाश हो जायगा, तो हम कहां से फिर मालपूआ, कचौरी वा

दही पेड़े पर हाथ फेरेंगे ! मान लीजिये कि आज यदि कई लाख मनुष्य कृस्तान न होकर केवल दयानन्दीय मतावलम्बी हो जायँ, तो क्या वे इन्हें फिर भी कानी कौड़ी देंगे ? किन्तु क्या कहा जाय इनका तो बस यही सिद्धान्त हो रहा है कि—

"अभी तो आराम से गुज़रती है। आक़बत की ख़बर ख़ुदा जाने ॥"

यदि कोई इस मत का मनुष्य इस धर्म्म कार्य्य में पड़ा भी होगा तो वह केवल अँगरेज़ी विद्या के प्रभाव अथवा नवशिक्षित निज मित्र वा नेताओं के अनुरोध से न कि पूर्वोक्त धर्म्मधुरन्धरों की शिक्षा, उपदेश वा आदेश से।

हाय ! यह जो परोपकार महाव्रत वरञ्च लाखों आर्त मनुजों के जीव रक्षा का कार्य्य, जिसमें निज गाँठ से कौड़ी के व्यय का भी भय न था, वरञ्च केवल जन साधारण से ले, केवल कुछ शारीरिक श्रम कर अनन्त पुण्य और यश का भागी होना, विरक्तों—जिस अर्थ में कि इस शब्द का प्रयोग आज कल होता है—का कार्य्य था। उसमें कहीं उनका नाम नहीं सुन पड़ता, वरञ्च ईश्वर की दया से अपना उचित कर्तव्य विचार कर केवल कुछ गृहस्थ अपने समस्त कार्य्यों की हानि उठाकर इसमें बद्धपरिकर हुए निःस्वार्थ भाव से तत्पर लखाते हैं। दण्डकमंडली सन्यासी अथवा जैनीयती आज कहां हैं ? रामानुजीय मध्वादि सम्प्रदाय के धर्म्म-ध्वजी निज उदर पोषण के व्यापार को छोड़ माथे पर विविध मार्के के लगाने वाले कोई भी महन्त, महात्मा, साधु, अथवा वैष्णव आदि कहलानेवाले क्या आज इस धर्म्म की रङ्गभूमि में लखाई पड़ रहे हैं ? यदि लखाई पढ़ रहे है, तो आर्य्य समाजी, ब्रह्म समाजी ! अथवा खृस्तान लोग !! फिर कहिये महात्मा वे हैं कि आप ? कुम्भ के मेलों में पहुँच पहुँच कर जो सैकड़ों शंख और घड़ियाल बजाते, भाँति भाँति की ध्वजा और पता को फहराते अपने सण्ड-मुसण्डे भाइयों को सदावर्त और अन्नसत्र खोलने का डंका बजाते, क्या उससे कोटि गुण इस पुण्य काल के प्राप्त होने पर आज वे कहीं एक मुट्ठी भी अन्न किसी भूख से मरने वाले दीन दुखी को देते सुने जाते हैं ? भला इसमें तो अधिकांश देश के निकम्मे लोग वा जगत के ठगने वाले ही रहते। किन्तु क्या कोई पण्डित जी महाराज भी इस कार्य्य में भाग लेना तो दूर रहा इस विषय में कही धर्म्मोपदेश देते भी सुने जाते हैं ? हाय ! जो कार्य्य प्रधान रूप से ब्राह्मणों का था, उसे शूद्र और अन्त्यज करते लखाते हैं ! फिर इससे अधिक

परिताप का विषय और क्या होगा ? सच पूछिये तो ऐसे ही ऐसे परोपकारी कार्य्यों के करने से ब्राह्मणों को इतनी बड़ी प्रतिष्ठा मिली थी और निश्चय ऐसे कार्य्यों के अनुष्ठान से अब दूसरे लोग उसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होंगे। जो आज महात्मा कह कर पूजे जाते हैं पामर पापात्मा और पुरुषाधम अनुगित हो तिरस्कृत होंगे, क्योंकि प्रतिष्ठा कार्य्य के अनुसार मिलती है। अब तक देश पुरानी परिपाटी पीटता जाता था, उसे इनके सच्चे स्वरूप के ज्ञान का अवसर प्राप्त न था, किन्तु अब उसने अपनी दुर्दशा देखकर निज उपकारी और अपकारी एवम् स्वार्थी दल की दशा देखने का अवसर पा लिया है। वह कब केवल तुमारे बहकाने से यह मान लेगा कि—आर्य्य समाजी निन्दनीय हैं, उनसे देश और धर्म्म का कुछ उपकार न होगा ? वा भूख से मरते देश के कंगालों को दान देने की अपेक्षा तुमसे स्वार्थी, अर्थ लोलुप पण्डित, पुरोहित वा मालमस्त महन्त अथवा दुराचारी पण्डे पुजारियों को देना अधिक पुण्यदायक है।

अस्तु, "भारत के दुर्भिक्ष के इतिहास"* पर ध्यान देने से जाना जाता है कि अठारहीं शताब्दी में जबकि अंगरेज़ी इतिहास लेखकों के कथानुसार यहाँ मानों कोई राजा ही न था, सौ वर्ष के बीच यहाँ चार बार से अधिक दुष्काल नहीं पड़ा, किन्तु उनीसवीं शताब्दी में जब से अँगरेज़ी शासन यहाँ पुष्ट और विस्तृत हो चला दुर्भाग्यवशतः दुष्कालों की संख्या भी क्रमशः बढ़ चली। प्रथम २५ वर्ष में दस लाख मनुष्य और दूसरे भाग में ५ लाख मनुष्य क्षुधा से मरे। तीसरे भाग अर्थात् १८५० से ७५ ई० तक सर्कारी रिपोर्ट में जाना जाता है कि अंगरेज़ी भारत में ६ बार दुष्काल पड़ा और ५० लाख मनुष्य भूख से छटपटा छटपटा कर मर मिटे। उसके चतुर्थ भाग में जिसे अंगरेजी राज्य की पूर्ण यौवनावस्था कहनी चाहिए इस देश में अठारह बार दुर्भिक्ष की प्रचण्ड अग्नि जली, जिसमें प्रायः २ करोड़ ६० लाख मनुष्य स्वाहा हो गये ! केवल अन्तिम १० वर्षों में १ करोड़ ६० लाख मनुष्य अन्न के बिना तड़प तड़प कर मर गए !" फिर कौन कह सकता है कि इस दुष्काल में भूख से मरे हुओं की संख्या कहां तक पहुंचेगी ? जिस देश की ऐसी भयङ्कर दशा उपस्थित हो, उसकी स्थिति की क्या आशा हो सकती है ? "अवर्षण आगे भी होता ही था। भारत भूमि पूर्ववत्

*देश की बात से सार संग्रह

अद्यापि अन्न उगलती ही चली जाती है किन्तु हां, वह अन्न अब देश में रहने नहीं पाता। रेल और जहाज़ों पर लद लद कर सात समुद्र पार जा पहुंचता है।" जिस कारण भारतीयों को—

सुख सुकाल हूँ इन्हें अकालहि के सम भासत।
कई कोटि जन सहत सदा भोजन की साँसत॥

अवश्य ही भारत भूमि भारतीय प्रजा का पेट भर सकती है, न कि समस्त ससार का। परन्तु आजकल तो यूरप आदि महाद्वीपों को इसे अन्न देकर ही कल मिलेगी चाहे भारत की प्रेजा मरे या जीये। आज यदि भारत साम्राज्य इसका प्रबन्ध कर सकता तो सहजही बेड़ा पार था, परन्तु वह तो विलायती प्रजा की प्रजा है, उसकी इच्छा के विरुद्ध वह दम भी नहीं मार सकता, इधर भारत की प्रजा सर्वथा परतन्त्र है, उसे किसी प्रकार अपनी रक्षा करने का भी अधिकार नहीं। सरकारी लगान इतनी अधिक है कि जब तक किसान अपना अधिकांश अन्न न बेच दें, उसे कदापि दे नहीं सकते।

क्योंकि देश में केवल खेती और सेवा के अतिरिक्त और कोई उद्यम नहीं—देश के शिल्प का विदेशी वणिक कबी नाश कर चुके हैं ! हमारे देश के लोगों की वार्षिक आय का पड़ता मि० डिग्बी के लेखानुसार प्रति मनुष्य पीछे १५) वा १६) का पड़ता है, जब कि विलायती प्रजा की वार्षिक आय का पड़ता लगभग ४२ पौंड अर्थात् ६३०) का पड़ता है। फिर भारत के उद्धार का उपाय बिना कुछ यहाँ की प्रजा को आत्मशासन का अधिकार मिले और क्या है ? उसी की प्राप्ति की पुकार स्वरूप यहां के चतुरों ने स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशी वहिष्कार निकाला है, किन्तु देश की अधिकांश मूर्ख प्रजा अभी तक उसे समझ नहीं सकी है। केवल कुछ शिक्षित इस व्रत के व्रती हुए हैं जिन्हें भाँति भाँति की विपत्ति झेलनी पड़ती है, परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं।" वास्तव में भारत के उद्धार का अब यही एक उपाय है। इसी से सब को स्वदेशी ही का सत्कार और स्वीकार करना उचित है। जो लोग देश की रक्षा चाहते हैं उन्हें अब यही व्रत धारण करना चाहिए। घर घर फिर से चरखे और करघे चलाएँ। अपने यहाँ कपड़े बनाएँ और पहिनें। यथाशक्ति निज निज शिल्प की उन्नति करें। विदेशी वणिकों से अपने अन्न और धन की रक्षा करें। ईश्वर की

दया से इसी के सहारे विलायती प्रजा की आँखैं खुलेंग ः र वह भारत साम्राज्य को हमारे साथ उचित न्याय करने पर बाध्य करेगी एवम् महा-राणी विक्टोरिया की आज्ञा का पालन होगा और भारत में फिर सुख का समुद्र उमड़ेगा।

स्थानक समवाद

माला २] आनन्द कादम्बिनी फाल्गुन तथा चैत्र वि० सं० १६४२ [मेघ८६

(१)

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल, और चिरकाल पर्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं ईश्वर का भी क्या खेल है, कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेला पेल, और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।

(२)

श्रीमान् महाराज—लेफ्टेनन्ट गवर्नर भी आये, शिकार के बहाने जंगल में भी मंगल मचाये। पहाड़ों पर भी बाजारें लगीं, स्थानिक राजकर्म-चारियों के खैरखाहियाँ जगीं। कुछ लोग जो हरखाये तो अनेक बेगार से चिल्लाये नगर के टाउन हाल में ऐड्रस का तदबीर भी हुआ।

स्थानिक सम्वाद

माला ३] श्रावण तथा भाद्रपाद विक्रमीय सं० १९४४ [मेघ १—२

अब के पानी ने धोकर कजली को उजली कर डाला, ऐसी झड़ी लगी कि कोई घड़ी न अड़ी; सड़ी सड़क की कींच के बीच बिचारे मेले वाले दल-दल में फंसे बैल से बिलबिलाते म्युनिस्पिल के नाम को चिल्लाते रो रो कर दोहरी बरसात कर दी, भागने में पैर की सहायता व्यर्थ देख, पङ्क में पैरने से भी असमर्थ हो, बुधि खो, बिलखते, बन्दूक के छर्रे से बूंदियों के अघात सहते, मूं लटकाये अपने करम को झीखते थे। एक्के गाड़ियों की दौड़ से वह भचाभची मची कि मानों कींच के फव्वारे चलते थे कि जिनसे चलने वाले क्या कितने कोठे पर के लोगों के वस्त्र दागी होते थे, जिनपर वृष्टि से फैल कर रामरङ्गी रङ्ग हो मेलेपर जेलखाने के कैदियों की पलटन की छबि छा गई० अंधेरी कैसी छाई, कि वाह ! लालटैन सड़कों पर हई नहीं किन्तु उसके बदले ऐसे ऐसे गड़हे पद पद पर मौजूद कि जिसमे गिरे आदमी का डूब मरना यदि असम्भव होतो हो, परन्तु सचैलस्नान तो सर्व्वथा सुलभ है। फिर क्या भली चहल पहल मची, तेज हवा मशाल बुझाती थी, रंडियाँ घबराहट से 'डराती और उगतातीं; कींच की छींट और बौछार से पेशवाज बचातीं, लाभ से निराश होकर लजातीं—खिसातीं अपनी दुर्गति का तमाशा दिखातीं भी तमाशबीनों को तमाशा देखने को बुलातीं पर कौन किसकी सुनता था। हाँ जिनके रूप यौवन, और प्रेमियों का बाजार गर्म था, वहाँ छाते लगे, या योंही भीगते मरने को मौजूद, पर टरने से क्या मतलब सारांश दो चार वेश्याओं के अतिरिक्त और सबों के नसीब में नींबुआ नमक नसीब हुआ।

अब क्या करैं

कहिये ! अब क्या करै ? और क्या कहैं ? या सुनै ? अगर विलम्ब क्षमा प्रार्थना करै, तो क्या समझ कर इसलिये कि अनेक बार कहके भी सच्चा कर कभी न दिखाया, यदि चुप कर रह जाय तो आप लोग जो इसे बज्र दोष मानते हैं। मानो हम भी इसे मान से लिये अनुमान योग्य हो, आपके अनुमान को विशेष सम्मान सहित भवदीय हृदय मे स्थान देने का सामान करै।

रहा "कहैं" तो क्या ? क्या यह ? कि—कुछ दिन तक चारपाई पर चैन करते, डाक्टर साहब की नाजबर्दारी करते, सुधरते सम्हलते, बहलते, टहलते ही टहलते देखते क्या हैं कि—बसन्तोत्सव के उत्सव का चिन्ह न केवल पुष्पोद्यान हीं पर किन्तु सारे ससार पर उसका अधिकार सचार होने लगा, शरद की भोली सहनाई फिर सुनाई देने लगी वहार और बसन्त की छेड छाड पर फिर बहार आई, आत्मीय मित्र और सहचर आदि के घर माङ्गलिक समारम्भ के निमन्त्रण आने लगे, पटने से बीबी हैदर आई, गाई, बताई, रिझाई, और सिधाई, बीबी हुसना ने भी बनारस का बनारस दरसाया और चल दी। इधर सय्यद अहमद ने अपना तायफा लखनऊ मे तैयार कर लगे लोगों को हॅसाने डराने बहकाने और उसकाने, और फिर कूद कर अलीगढ जा धमके, मदरास गये प्रतिनिधि बिचारे भी बचकर लौट आये, निदान कितने आये और गये। अब लीजिये बसन्त आया होली की धूल उडी, वाह क्या सुन्दर बुढवामगल हुआ, अब क्या बसन्त आपही आगये, फिर क्या था— अमराइयों मे मौर से आम्र सोभायमान हुये, बाटिकाओं में गुलेलाला लहलहाये, इस नगरोद्यान मे भी धर्म्मतरु ने गोपालन प्रवन्ध रूपी सुमन बिकसाया—

उस नवीन सुमन की गन्ध, पराग, मकरन्द, सेवन के गुण और प्रभाव अन्वेषण और आख्यान अर्थ निगमागम कानन परिभ्रमण मे मन मलिन्द ऐसा आसक्त हुआ कि आज आपसे सम्भाषण का सयोग मिला, आप की जान आपके अपराधी तो अवश्य हैं। अतः आप ही से प्रश्न है कि बताइये क्या कहैं परिश्रम आप देखै, और हम "क्या कहैं"। अस्तु अबकी बार "क्या

कहैं" हो सका तो आगामि अंक में क्योंकि पेशगी पोस्टेज पोस्टआफिस गटकता जाता, प्रेस के कर्म्मचारी चाहे बैठे रहैं पर २६ तारीख को आना पाई शुद्ध चुकता चुकाते हैं, हमें लेख ऐसे मिल जाते, कि जो लिखने में शैतान कीआंत बनजाते, ग्राहक गण उगताते और तकाज़ों की झड़ लगाते, हम पत्रोत्तर भी हज्म जाते, क्योंकि आपी बताइये कि हम "क्या कहैं" ? निदान आशा वही है, देखा चाहिये कि अब आगामि में "क्या कहैं" गे । रहा "सुनै" । सो आशा है कि आप सबसे यह सुनैं कि—हाँ अब तो आप सब तरह ठीक हो गये । विशेष क्षमा प्रार्थना ।

आज तक अवश्य दोषी मैनेजर

———

पंच का विज्ञापन

नोटः—[कवि वचन सुधा मे (२५ जून १८७७) मे निकला था केवल लेखन शैली का द्योतक यह "पत्र का विज्ञापन" इस ग्रन्थ मे सनिविष्ट कर दिया गया है]—स०

सब से पहिले उसी को प्रणाम जिसने पचतत्व से यह प्रपच खडा किया और पचविंशति तत्वों मे पाँच-पॉच बेर दिखाई दिया। इस पचकोशात्मक पचानन वाहिनी क्षेत्र मे कोई हास्यरस का ऐसा प्रपच नहीं जिसके पढते ही एक कान क्या पचज्ञानेद्री पचामृत से लथपथ होकर, स्वर्ग से पाँचही अगुल दूर बच जाय और पचाङ्ग की भाँति 'अपनी करनी पार उतरनी' सब को उसी मे सूझे। इस हेतु मित्रों की पचायत से यह हुकुम निकला कि एक पच पत्र हिन्दी में छपै, छपै भी कैसा कि पढते ही पेट को चाहे नगाड़े की तरह बजालो, पचलौन बिना हॅसी पचै ही नही।

यह निश्चय होकर प्रकाश किया जाता है कि आगे से पचदश दिन पीछे प्रति पचमी को यह पच छपै और सारे पचों का सरपच बन कर एक बेर जिसकी आँख मे जाय उसके मुख से सिवाय हह के और कुछ न निकले। इसमे कोई सदेह नहीं कि सभ्य मर्यादा से पाँच अॅगुली बाहर न निकाल कर ऐसा पत्चम छेडना की लोग गग न लाकर अनुराग करै, बहुत कठिन है। हो तो पचमकार का निषेध पर लाग सुनते ही मानो रमपच (Rum punch) पीलें और पचवान के वेधे हुए पचभूत ऊत न होकर सुमार्ग पर चलैं, बहुत ही वरन फौलाद से भी विशेष कठिन है। प्राय: ऐसे विषय जिनसे परिहास हो पच महापाप के मूल होते हैं, और इसी के दिखाने को आज इस पच का जन्म समाचार लोगो को दिया जाता है कि नही ऐसा भी लेख हो सकता है जिससे हँसते हॅमते ससार का भला हो। अभी तो यह कहना लपोड़सखी है पर जब विद्या के महाभारत में परीक्षा होगी तब मालूम होगा कि लपोड़सख थे या पॉचजन्य। हृदय के पचपात्र मे सुनते ही पच पल्लव लहलहा आवै और लोग अपने बुरे कर्म्मों का इसको पचगव्य और पचतीर्थी समझे यही इच्छा है—आगे जो हो। पच प्राण इससे सतुष्ट होकर तुष्ट

हों इसी से यह पत्र बहुत शीघ्र ही पंचक मुहुर्त में जन्म लेगा जिसमें ईश्वर करै ऐसे ही चार और हों। यह हमारा पत्र मानो साक्षात पंच पाँडव होगा अर्थात धर्म्म सिखाने से धर्म्म का घर, घर की खबर लाने से वायु का, राजनीति सिखाने से इन्द्र का और लोगों के मूर्खतारोग दूर करने से अश्वनी-कुमार का इसमें असर है। नाम तो पांडु का हई है। युधिष्ठिर की तरह सत्य बोलैगा, भीमसेन सा पोंगा और बड़े पेट का होगा, अर्जुन सा निर्भय शूर और नकुल सहदेव सा मनोहर होगा और उपकारिता कुन्ती और मनो-हारिता माद्री से उसका जन्म होगा। पांचाली की भाँति अपनी प्रिय पत्री प्रतिमा से संयुत छठे नारायण की कृपा से महाभारत से युद्धों में भी पंचत्व न प्राप्त होगा इसी से पश्चिमोत्तर देश, बिहार, मध्य देश अवध और पंचनद इन पाँचों देशों से इसकी वृद्धि के उपाय होने चाहिए।

यह पचड़ा तो हुआ अब इसका वर्णन सुनिये। भाषा सहज से सहज विषय लोकोपकारी और आनन्ददायक, पत्र संख्या पंचदश, निकलने का अवसर पंचदश दिन पीछे, मूल्य पंचमुद्रा और महसूल पंचदश पैसा।

प्रेषित पत्र

सग्रह प्रेरित पत्र पर, लिखित पच अनुवाद।
हम उत्तर दाता नहीं, इनके सह सवाद ॥
मान्यवर श्री युत क० व० सु० सपादक समीपेषु !

महाशय,

किञ्चित् वृतान्त आज कल मिरजापुर का लेखन करता हूँ कृपा कर इसको अपने अलौकिक पत्र मे स्थान दे मुझे बोधित कीजिए।

जान्हवी कोप

ता० २ अगस्त को इस नगर मे क्या समस्त जिला मे जैसे श्री गगा जी ने कृपा की, कभी नहीं की थी, वहाॅ के वृद्धों के कहने से यह जान पडता है कि यद्यपि सवत् १६१८ मे गगा जी ने श्री बलदेव जी का चरण स्पर्श किया था तथा उस पार मे मझरा इत्यादि सब गाव तथा और कई पुर बह कर वहाॅ का समस्त भूमि जल मग्न हो गई थी और बहुत कुछ हानि भी भई थी परन्तु अब की बेर तो मानो श्री गङ्गा जी ने अपनी महिमा और कोप अपने तटस्थ मनुष्यों को दिखाया हाय ! हाय ! जब मैं उस आपत्तिका स्मरण करता हूँ तो रोमाच होता अ आँखों से अश्रु डब डबा आता है। ता० दूसरी के तीसरे पहर को जब मैं इस अकथनीय भयोत्पादक बाढ के अवलोकनार्थ गया था देख देख कर रोंगटे खडे हो ही कर शरीर कपायमान होती थ ' जिधर दृष्टि जाती थी यह ज्ञात होता था कि मानो भगवान घट घट अन्तर्याम अपने प्रजाओं को दुष्कर्मरत देख असह्य दु:ख को न सहन कर इस मिथ्याभाषण अथवा निन्दा द्रोह, जीवहिंसा अन्याय का फल दिखाया वा उन बिचारी भारतवर्षीय दीन स्त्रियों का दु:खमय रुदन सुन कर जिनको उक्त देश निवासी पुरुषों ने कारागार में डाल रक्खा है, आ प नाना प्रकार के विहारस्थल, नगर नदी, वाटिका पर्वत नाच रग देख कर आनन्दित हो और अपन प्यारी सुकुमारियों को चिडियों की भाँति पिजडे में बद रक्खै। आप एक रहते दस विवाह करैं, उन्हें एक के न रहते भ ' एक को तर-

सावैं, अर्थात् विधवा भए पर भी पुनर्विवाह न करने दें, आप तो ७० वर्ष के भी होकर बसन्त, शिशिर पावस के ऋतु में षोडशवर्षी को गले लगा के सोवैं और उसी घर में द्वादशबर्षी विधवा युवती अनंग के बाणों से घायल पड़ी विलखावैं, उसी की पुकार सुन क्रुद्धित तो न उठे हों और इस अपराध के फल देने पर तत्पर भए? अथवा श्री विन्ध्यवासिनी के बलि देने वाले महात्माओं पर अप्रसन्न तो न हुए, वा उन दीन गौओं की पुकार, जो खाय तो तृण और पिलावैं दुग्ध अपने बच्चों को हर जोतने को दें तिस पर भी मांस के अर्थ जीव जाने के भय से दीनमय पुकार सुन महाकोप को अवलम्ब कर इस संसार के नाश करने पर तत्पर हुए इस प्रला प्रलय को अपना महाप्रलय का नमूना दिखाया। नोन समुद्र के सदृश गङ्गा जी की बाढ़ और प्रलय मेघ के समान मूसल धार वृष्टि, चारों ओर से पानी पानी दीखता था, उत्तर गंगा जी का कोप, दक्षिण लोहंदी के पानी की झोंक पश्चिम उझला नदी की उमंग, पूरब किनारे ने जुदा ही रंग दिखाया, मानो महा प्रलय से संसार जल मग्न हो गया है, और यह मिरजापूर नगर भर केवल तीर्थराज के समान किञ्चित् जल के ऊपर बचा दिखाई पड़ता है। शहर की नहरैं सब बंद हो गई थी अनुमान होता था कि यदि यह पानी कुछ और बढ़ता तो समस्त नगर सत्यानाश हो जाता, लालडिग्गी का तालाब जिसमें हर साल का पानी तवे के बूंद के समान होता था अवकी गंगाजी का पानी या उसकी मोरी के द्वारा जल से पूर्ण कर दिया और शोभा देख पड़ती रही कि मानो मान सरोवर लज्जित होता था, टाडे के दरी से जल के सूक्ष्म परिमाणु बाढ़ के कारण श्री बाबू गुरुचरण लालजी के बंगले तक जो ठीक उसी दरी के पर्वत के ऊपर है, उड़ उड़ के आते थे और विचित्र शोभा दृष्टि गोचर होती थी। अष्टभुजी और काली खोह में तो जल प्रवाह और लताओं की लहलहाहट के कारण कैलाश भी झख मारता था। पार में महाराज बनारस के गड़गड़ी का बंगला तो मानों पानी का बताशा भया था, तथा कौन जो अयत्न मैली पुरानी कथरी के समान हो गया था, गङ्गा जी ने धोबिन का रूप धारण कर उसे भली भाँति धोकर चिकना कर दिया उसके निवासी मनुष्य खटमल आदि जीवों की भाँति वृक्षों पर दबके।

शुद्धि पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१७	भव्या	भव्याकाश के
५	२७	—	के
८	३	गहन	ग्रहण
११	२७	आपोने	आपने
११	२८	परिस्थितिया	परिस्थितियाँ
१४	१४	प्राचुय	प्राचुर्य
२१	८	निबंधी	निबंध
५७	२७	दोषारोप	दोषारोपण
६४	७	सहृश	सदृश
९४	२७	नरव्रे	नखरे
१२८	११	ढहर	ठहर
१३३	१८	मझरसखिये	समझ रखिए
१६१	९	शनैश्चर	शनिश्चर
२५१	२७	निजाकत	नजाकत
२७०	९	दुदसा	दुर्दशा
४९६	११	सवत्कृष्ट	सर्वोत्कृष्ट